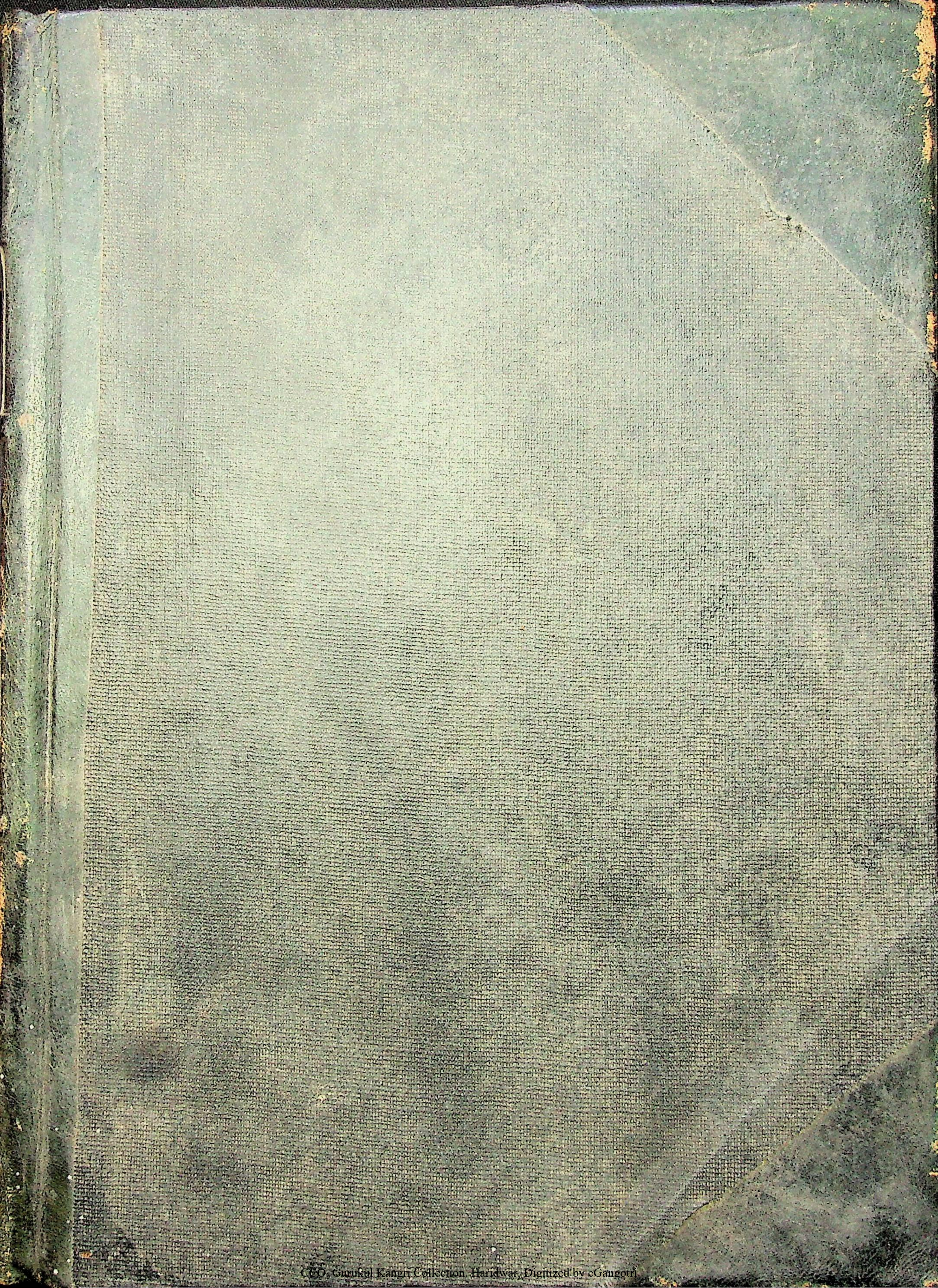
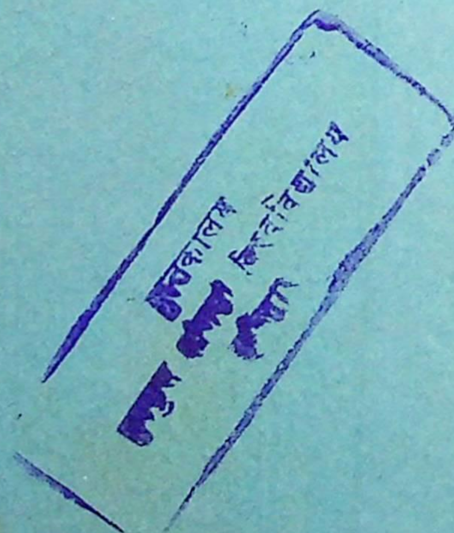
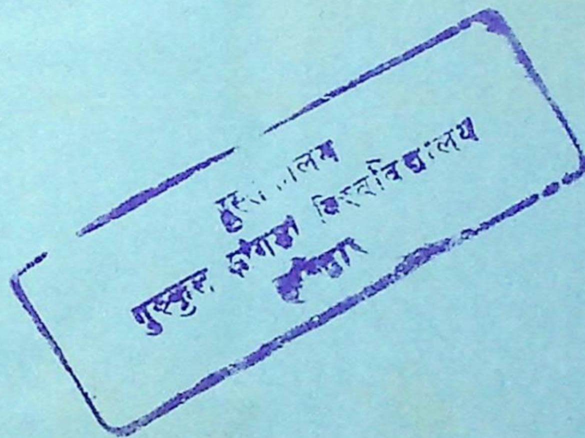




151413





६।४।१२.

गुर

विष
पुस्त
आर

वजि
तक

Registered No. B. 1463

वर्ष ५ अंक १
क्रमांक ४९



पौष सं. १९८०
जनवरी १९२४

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)



* स्वाध्याय के ग्रंथ। *

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध।
" मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। मू. १)

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध।
" एक ईश्वरकी उपासना। " मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण।
" सच्ची शांतिका सच्चा उपाय। " मू. ॥)

[२] देवता-परिचय ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)
(४) देवताविचार। मू. ≡)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। योग की दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया। मू. १॥)
(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)
(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)
(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)
(६) योग के आसन। मू. २)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग। मू. -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग। मू. =)
(६) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक। मू. ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। मू. १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग। मू. १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।-)
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ≡)
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)
(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू. ॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)
(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)
(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

वैदिक धर्म में विज्ञापन

"वैदिक धर्म" मासिक पत्र में विश्वास पात्र विज्ञापन मुद्रित करने का प्रारंभ हुआ है। हम हर एक विज्ञापन नहीं लेते, परंतु जो विश्वास रखने योग्य और हमारे ग्राहकों के लिये लाभ-कारी होंगे, वे ही विज्ञापन हम लेते हैं।

"वैदिक धर्म" मासिक पत्र में विज्ञापन छपाई के नियम निम्न लिखित हैं--

(१) विश्वास रखने योग्य विज्ञापन ही इस पत्रमें मुद्रित होंगे।

(२) जिन विज्ञापनों से ग्राहकों के लिये लाभ होगा, उसी प्रकारके विज्ञापन मुद्रित होंगे।

(३) औषधियोंके विज्ञापन लिये नहीं जांयगे।

विज्ञापन का मूल्य।

	१ वर्ष केलिये प्रतिमास	६ मासके लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ७)	रु. ८)
आधा पृष्ठ	रु. ४)	,, ४॥)
चतुर्थांश पृष्ठ	रु. २।)	,, २॥)

	३ मास के लिये प्रतिमास	१ मास के लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ९)	रु. १०)
आधा पृष्ठ	,, ५)	,, ६)
चतुर्थांश पृष्ठ	,, ३)	,, ४)

विज्ञापन का मूल्य पाहिले लिया जायगा।

(४) विज्ञापन छपते समयतक विज्ञापकको विना मूल्य "वैदिक धर्म" मासिकपत्र दिया जायगा।

"वैदिक धर्म" मासिक पत्रमें विज्ञापन देना बहुत लाभ दायक है, क्यों कि इस पत्रके अंक सब ग्राहक सुरक्षित रखते हैं। **मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा**



वर्ष ५
अंक १
क्रमांक
४९

पौष
१९८०
जनवरी
१९२४

वैदिकधर्म।

वैदिक तत्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

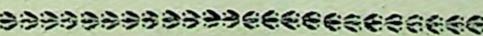
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय, मंडल औंध (जि. सातारा)

मातृभूमि।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥ सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ अथर्व. १२।१।१

"(सत्यं) सत्य, (बृहत्) बल, (ऋतं) न्याय्य व्यवहार, (दीक्षा) दक्षता, (तपः) द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति, (ब्रह्म) ज्ञान, और (यज्ञ) सत्कर्म ये सात गुण (पृथिवीं धारयन्ति) मातृभूमि को धारण करते है। उक्त सात गुणोंसे जिसका धारण हुआ है. ऐसी (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि, जो हमारे (भूतस्य भव्यस्य) भूत और भविष्य तथा वर्तमान अवस्था की (पत्नी) पालन करनेवाली है, वह (नः) हमारे लिये (उरुं लोकं) विस्तृत स्थान (कृणोतु) करे।

हे ईश्वर ! सत्य, बल, न्यायाचरण, दक्षता, सहन शक्ति, ज्ञान तथा सत्कर्म ये गुण हमारे अंदर बढें। हमारे इन गुणोंसे हमारी मातृ-भूमिके सन्मान की रक्षा हो और हमारी मातृभूमिके ऊपर हमारे लिये विस्तृत कार्य क्षेत्र प्राप्त होता रहे।



वैदिक धर्म का पंचम वर्ष।

कार्य की दिशा।

(१) आकारमें परिवर्तन।

वैदिक धर्म मासिक पुस्तक का चतुर्थ वर्ष समाप्त होकर इस अंक से पंचम वर्षका प्रारंभ हो रहा है। पूर्व निश्चय के अनुसार तथा ग्राहकोंकी संमति के अनुरूप इस के आकार में परिवर्तन करके द्विगुणित आकार में यह अंक मुद्रित होकर ग्राहकों के पास जा रहा है। और आशा है कि ग्राहक इसको पसंद करेंगे।

(२) ५० वां बृहत् अंक।

पूर्व निश्चय के अनुसार अगला अर्थात् ५० वां अंक इस मासिक का " विशेष अंक " होगा, और इस अंक में वैदिक धर्म के तत्वज्ञान पर विशेष लेख होंगे। इस विशेष अंकमें (१) अपने अंदर इंद्रशक्तिका विकास करनेका अनुष्ठान, (२) वैदिक आचार और कर्तव्य शास्त्र पर विचार, (३) उपनिषदों का रहस्यवाद, (४) सर्वांगचालन द्वारा आरोग्य सिद्धिका योगमार्ग, इत्यादि अनेक लेख होंगे। जिनका मनन करनेसे वैदिक तत्वज्ञानके साथ परिचय हो सकता है, तथा वैदिक धर्मका जिवन अमल में लानेके सुगम उपाय भी ज्ञात हो सकते हैं।

(३) ग्राहकोंका कर्तव्य।

प्रतिवर्ष " वैदिक धर्म " मासिक पत्रमें उन्नति और प्रगति हो रही है। तथापि ग्राहकोंसे योग्य सहायता मिलनेपर इसमें इंससे भी अधिक उन्नति करनेका विचार है। यदि प्रत्येक ग्राहक इस वर्ष " **दो नये ग्राहक** " बनानेकी सहायता करेगा, तो अगले वर्ष इससेभी अधिक उन्नति करके दिखानेकी हमारी तैयारी है। आशा है कि पाठक इसकी ओर विशेष ध्यान देंगे।

(४) धार्मिक लेखोंका उद्देश्य।

" **वैदिकधर्म** " मासिक का प्रारंभ होने तक अन्य धर्मके खंडन विषयक लेख ही पढने का अभ्यास जनताको था। अन्यधर्म का खंडन प्रायः रोचक प्रतीत होता है, पढकर समझनेके लिये मस्तिष्कको कोई कष्ट नहीं होते, तथा अपना धर्म श्रेष्ठ है, यह

जाननेसे एक प्रकारका समाधान भी होता है। यह सब ठीक है, परंतु केवल खंडन के लेख पढनेसे किसीभी मनुष्यकी धार्मिक उन्नति हो ही नहीं सकती, क्योंकि जो धार्मिक उन्नति है वह धार्मिक विचारोंको अपनानेसे ही होती है। इसलिये यह बात स्पष्ट है कि अन्योंके दोषोंका चिंतन करनेकी अपेक्षा मानवी उन्नति के साधक " **वैदिक धर्म** " के सद्गुणों-का ही मनन करना योग्य है। यही कार्य इस मासिकद्वारा हो रहा है और आगेभी होगा। पाठकोंकोभी अब परिचय हुआ है कि केवल चमकीले खंडनपूर्ण लेखोंकी अपेक्षा वैदिक धर्मके श्रेष्ठ तत्वज्ञानका बोध करानेवाले सीधे साधे लेख पढनेसे अपने जीवनमें ही कितना इष्ट परिवर्तन हो सकता है। यहां इसका पूर्ण स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक धर्म केवल शब्दोंका धर्म नहीं है, प्रत्युत यह " **पुरुषार्थ साधनका धर्म** " है।

(५) पुरुषार्थ साधन का धर्म।

वैदिक धर्म " पुरुषार्थ साधन का धर्म " होनेसे ही इसमें करनेके अनुष्ठान बहुतसे हैं, जिनका अनुष्ठान करनेसे हरएक मनुष्य अपनी उन्नतिका स्वयं साधन कर सकता है और अपने उत्कर्षका अनुभव भी कर सकता है। किसी की निंदा सुनने या करनेसे कोई लाभ होना संभव ही नहीं है। इसलिये धार्मिक मनुष्यको उचित है कि वह किसीके " दोषों के ऊपर दृष्टि " न रखे और सदा सर्वदा " गुणोंके ऊपर ही दृष्टि " रखे। सद्गुणोंको अपने अंदर स्थिर करे और उनको बढाने का यत्न करे। यही एक मानवी उन्नतिका सीधा और सरल मार्ग है।

(६) सच्चा उत्तर एक ही है।

दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह सच्चा उत्तर एक ही है। इससे भिन्न जितनी संख्याएं हैं सब गलत हैं। हमेशा सत्य थोडा होता है और असत्यकी गिनती भी नहीं हो सकती। इसी लिये वेद कहता है कि " असत्य को छोडकर सत्यको पकडो। " (य॰ १। ५) क्यों कि सत्य एक है और असत्य अनेक विध है। मानवी उन्नति के साधक वैदिक तत्व सीधे, सरल और निश्चित हैं। इस लिये इनका विचार सुगमतासे हो सकता है। अन्य मतमतांतरों में जो श्रेष्ठता है, उसका विचार अवश्य कीजिये, परंतु अनिश्चित असत्य के मंथन करने में आप अपने अमूल्य आयुका व्यय न कीजिये। क्यों कि जितनी आपकी आयु है, उससे भी अधिक विस्तृत्व आपके कर्तव्य का क्षेत्र है। जो यह बात जानता है,उसको व्यर्थ शब्दोंके आडंबर रचनेमें फुरसत ही कहां होगी ?

(७) ध्यान दीजिये।

जिस लेखके पढनेसे आपको अपने आजके कर्तव्य करनेका निश्चित ज्ञान होता है और कर्तव्य पालन करनेके सुगम उपायोंका बोध होता है, वही लेख सच्चा धार्मिक लेख है और वही उन्नतिके मार्गका दर्शक भी हो

सकता है । जो अन्य लेख केवल तर्कावडंबर से अथवा व्यर्थ झगडे झगडनेके वाग्जाल से परिपूर्ण होते हैं वे लेख वैसे ही निकम्मे होते हैं कि, जैसा बकरीके गलेके स्तन से दूध दोहने का प्रयत्न व्यर्थ होता है । जो लोग अपनी धार्मिक उन्नति करना चाहते हैं, उनको उक्त सावधानता के साथही अपना पठन पाठन करना चाहिये ।

(८) हमारा ध्येय ।

" वैदिक धर्म " मासिक का ध्येय आजके धार्मिक कर्तव्य बताना ही है । गत अंकों के लेख पुनः पढ कर देखिये, उन लेखोंसे आपको अपने आज के कर्तव्यों का पता लग सकता है । अपनी उन्नतिके निश्चित मार्ग का बोध हो सकता है और सीधा आचरण का मार्ग आपके सन्मुख उपस्थित हो सकता है । ये लेख कभी पुराने नहीं होते । जो लेख केवल गत कालीन बातों का ही विचार करते हैं, वे लेख पुराने होते हैं, जो लेख भविष्य कालकी केवल शाब्दिक आशा बढानेवाले होते हैं वे कच्चे होते हैं । परंतु जो लेख पाठकोंको आजके कर्तव्य बताते हैं, वे लेख अभिनव भावनासे पूर्ण होते हैं । शताब्दियां व्यतीत होनेपर भी उन शब्दोंका वीर्य वैसाही नवीन होता है जैसा कि लिखनेके समय होता है ।

(९) वैदिक धर्म का सनातनत्व ।

वैदिक धर्मका यही सनातनत्व है । वेदके मंत्रोंमें जो विचार और आचार लिखे हैं, वे उक्त कारणसेही सदा अभिनव हैं । वे न कभी पुराने होते हैं और न कभी कच्चे होते हैं । जो सदा वीर्यवान् और ओजस्वी होते हैं, वेही सनातन हो सकते हैं । जिनकी उपयोगिता आज है, परंतु कल नहीं थी और न आगे रहेगी, उनको सनातन नहीं कहा जा सकता । प्रिय पाठको ! वैदिक मंत्रोंमें यह सनातनता देखिये और अनुभव कीजिये ।

" वैदिक धर्म " मासिक पढनेसे यह अनुभव आप स्वयं प्राप्त कर सकते हैं ।



काल योग।

(१) योग और काल योग।

कई लोग समझते हैं कि, केवल "चित्तवृत्तियोंकी स्वाधीनता" करनेसेही योग सिद्ध होता है, परंतु यह पूर्ण अंशसे सत्य नहीं है। चित्तकी वृत्तियां स्वाधीन होनेसे आत्माकी स्वरूप स्थिति होती है, यह योगकी अंतिम अवस्था है; यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये शरीरकी अन्य शक्तियां जैसी स्वाधीन करनेकी आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीरके बाहिर रहनेवाली शक्तियोंको भी स्वाधीन करना चाहिये, अन्यथा योगकी सिद्धता नहीं होगी। भोजन, खानपान, रहना सहना समयानुकूल वर्ताव करना, ऋतुके अनुकूल दिनचर्या रखना आदि अनेक बातें हैं जिनकी ओर साधकका ध्यान अवश्य जाना चाहिये। इसी भावको ध्यानमें धर कर श्रीमद्भगवद्गीतामें निम्न उपदेश दिया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु॥ युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ भ. गी. ६। १७

"जिसका आहारविहार नियत है कर्मोंका आचरण नपा-तुला है, और सोना जागना परिमित है, उसको यह योग दुःख घातक अर्थात् सुखावह होता है।"

इस श्लोकमें "वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्योंको नियमबद्ध करनेका उपदेश है।" (१) भोजन, खानपान, आहार विहार, सोना, जागना, बैठना, उठना आदि वैयक्तिक कर्म हैं, तथा (२) अन्य कर्म सामाजिक अथवा समुदायके संबंधसे होते हैं। इन दोनों कर्मोंको नियम-बद्धताके साथ करना चाहिये। सामान्यतः सबके लिये यह उपदेश उत्तमही है, परंतु जो योगसाधन करना चाहते हैं उनको इस बातकी ओर विशेष ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि किसी प्रकारसे "अनियम" हो जाय, तो योगमें बाधा होती है। तात्पर्य जैसी अंदरकी शक्तियां नियममें बांधनी चाहियें, उसीप्रकार बाह्य परिस्थितिकोभी नियमोंसे बांधकर रखना चाहिये। अर्थात् "अपने सब व्यवहार नियमपूर्वक तथा स्वाधीनता पूर्वक करनेका नाम योग है" और सर्व साधारण मनुष्योंको यह बडा लाभकारी है। परिस्थितिके आधीन स्वयं न होते हुए अपने आधीन सब परिस्थितिको करनेका तत्व यहां मुख्य है।

पंच स्थूल भूत, पंच सूक्ष्म भूत, पंच-कर्मेंद्रिय, पंचज्ञानेंद्रिय, दश प्राण, शरीरके सब अंदरके और बाहिरके अवयव, अंतःकरण चतुष्टय अर्थात् मनबुद्धि चित्तअंहकार आत्मा

ये पदार्थ जैसे हैं, उसी प्रकार काल और दिशा अर्थात् समय और स्थान येभी दो पदार्थ हैं। शरीर के अवयवों इंद्रियों और अंतःकरणके साथ योग का संबंध है यह सब जानतेही हैं, परंतु " काल " अर्थात् समय के साथ भी योग का संबंध है,इस बात को बहुत थोडे लोग जानते हैं, इसलिये इस लेखमें "काल योग " का विचार करना है। काल के विषयमें वेदमें जो मंत्र हैं, उनमेंसे थोडे यहां देखने आवश्यक हैं; इसलिये उनका विचार यहां करता हूं—

(२) योग्य समयमें योग्य कर्म।

उत प्रहामतिदीव्या जयाति
कृतं यच्छ्वघ्नी विचिनोति काले।
यो देवकामो न धना रुणद्धि
समित्तं राया सृजति स्वधा
वान् ॥ ऋ. १०।४२।९

उत प्रहामतिदीवा जयति
कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले॥
यो देवकामो न धनं रुणद्धि
समित्तं रायःसृजति स्वधाभिः॥
अथ. ७।५२।६; अ २०।८९।९

" (१) (उत) निश्चयसे जो (अति-दीव्या, अति-दीवा) आगे बढनेवाला प्रगतिशील व्यवहार चतुर है वह (प्र-हां) संकटों को (जयाति) जीत लेता है।

(२) (श्वघ्नी=स्व+घ्नी) आत्मघातकी भी (यत्) यदि (काले) योग्य कालमें (कृतं वि चिनोति) उत्तम कर्म करता है, तो वह भी विजय पाता है।

(३) जो (देव-कामः) देवोंके समान शुभ इच्छा धारण करनेवाला और (स्व-धा-वान्) अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाला होता है वह (धनानि=धनं) धनको अपने पास (न रुणद्धि) रोक नहीं रखता, इसलिये (इत्) निःसंदेह (तं)उसको ईश्वर (राया सृजति) धनके साथ आगे बढाता है। "

इस मंत्रमें तीन उपदेश हैं—(१) जो अपनी शक्तिसे आगे बढता है, वह संकटों के पार होता है, (२) **आत्मघातकी भी योग्य समयमें उत्तम कर्म करेगा, तो उसको भी यश प्राप्त होगा,** फिर आत्मोन्नति करनेवाला योग्य समय में उत्तम कर्म करेगा, तो उसको विजय प्राप्त करनेमें शंका ही क्या है ? तथा (३) शुभ इच्छा धारण करनेवाला अपनी शक्तिसे स्वावलंबन पूर्वक कार्य करता हुआ जो अपने पास ही धनको बंद नहीं रखता, अर्थात् जो धनको योग्य रीतिसे श्रेष्ठ कार्योंमें लगाता है, उसको अधिकाधिक धन प्राप्त होते हैं।

इस मंत्रमें योग्य समयमें योग्य कार्य करनेका कितना महत्व है, यह बात उत्तमतासे बताई है। **आत्मघातकी भी योग्य समयमें एकाध कर्म योग्य रीतिसे करेगा तो वह निःसंदेह यशका भागी होगा।** इतना योग्य समयमें योग्य कार्य करनेका महत्व है। तथा इस विषयमें और थोडेसे मंत्र देखिये-

(३) समयपर सवारी करो।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः
सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः॥
तमारोहन्ति कवयो विपश्चित
स्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

अ. १९।५३।१

"(कालः) समयरूपी एक घोडा चल रहा है, जिसको (सप्त-रश्मिः) सात लगामें हैं और सहस्रों आंखे हैं, वह जरा रहित और (भूरि-रेताः) बडा प्रभावशाली है, तथा (तस्य चक्रा) उसके चक्र सब भुवन ही हैं। जो (विपाश्चितः कवयः) विद्वान और दिव्य दृष्टिसे युक्त होते हैं वे (तं आरोहान्ति) उस पर सवार होते हैं।"

इसका तात्पर्य यह है कि, जो समयरूपी घोडेपर सवार होते हैं, और उसके सब लगाम अपने आधीन रखते हैं, वेही सिद्धि को प्राप्त करते हैं। समय को अपने आधीन रखनेका महत्व इससे अधिक वर्णन होना अशक्य है। मंत्रमें और कहा है कि, "जो ज्ञानी और दूरदर्शी होते हैं, वे ही उस कालरूपी घोडेपर सवार होते और उसको अपने आधीन रखते हैं," अर्थात् जो अज्ञानी तथा अविचारी होते हैं, वे कालको अपने आधीन नहीं रख सकते; इसलिये वे उस कालरूपी घोडेके पांवोंके नीचे गिरते हैं, और नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। तथा और देखिये—

(४) देवताओंका समय विभागके अनुसार व्यवहार।

कालो भूतिमसृजत काले तपति
सूर्यः। काले ह विश्वा भूतानि
काले चक्षुर्विपश्यति ॥ ६ ॥
काले मनः काले प्राणः काले
नाम समाहितं ॥ कालेन सर्वा
नंदन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥
काले तपः काले ज्येष्ठं काले
ब्रह्म समाहितं ॥ कालो हि
सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्
प्रजापतेः ॥ ८॥ अ. १९।५३
कालादापः समभवन् काला-
द्ब्रह्म तपो दिशः ॥ कालेनो-
देति सूर्यःकाले निविशते पुनः
॥ १ ॥ कालेन वातः पवते
कालेन पृथिवी मही॥ द्यौर्मही
काल आहिता ॥ २ ॥

अ. १९।५४

"समय अभ्युदय करता है, इसलिये (काले) नियत समयमें सूर्य तपता है और नियत समयमें सब भूत अपने कार्य करते है। आंखभी समयमें देखती है। मन प्राण और नाम भी समयमें कार्य करते हैं। योग्य काल आनेसे सब प्रजायें आनंदित होती हैं। योग्य काल में ही तप, श्रेष्ठत्व और ज्ञान होता है। इस प्रकार काल सबका ईश्वर है। यहांतक कि वह (प्रजापतेः पिता) प्रजापालन करने वालेका भी पिता है।"

"समयसे जल बनता है, समयसे ज्ञान और तप होता है। योग्य नियत समयमें सूर्य उदय होता है, और नियत समयमें पुनः अस्त हो जाता है। नियत कालसे वायु चलता है, और यह बडी पृथ्वी और बडा आकाश भी नियत समयसे ही होते हैं।"

इसप्रकार समयकी बडी शक्ति है। इसलिये जो इसको अपने आधीन करता है, वह इस से भी बडा प्रभावशाली होता है, वेद यहां उपदेश देता है कि, यद्यपि काल बडा शक्ति शाली होनेके कारण उसके अनुकूल होकर ही सब चलते हैं; तथापि " जो (विपश्चितः) ज्ञानविज्ञानसे युक्त बनते हैं, और जो(कविः)अतीन्द्रियार्थ दर्शी अथवा सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेवाले होते हैं,वे इस कालको अपने वशमें लाते हैं और अपनी इच्छानुसार उसको चलाते हैं" समयको अपने अनुकूल बनानेकी युक्ति इस प्रकार इन शब्दोंद्वारा कही है। (१) ज्ञान विज्ञानसे युक्त होना और (२) सूक्ष्मदृष्टिसे परिस्थितिका निरीक्षणकरना, ये दो गुण हैं जिनसे समयको अनुकूल बनाया जाता है।

दूसरी बात यह है कि, (१)सूर्य जैसा बडा प्रभावशाली देव भी निश्चित समय विभागसे आता है, यहांका कार्य करता है और अपने विश्राम के लिये पुनः नियत समयविभाग में ही वापिस जाता है। (२) अन्य गोल तथा सब चंद्रादि ग्रह उपग्रह भी अपने समय विभाग के अनुसार ही यहां आकर कार्य करते हैं।

(३) मेघराज जैसा बडा देव भी अपने समय विभाग के अनुसार जब वर्षा करता है, तब सब ठीक होता है, जब समय विभागके अनुसार कार्य नहीं करता, तब सब धान्यादि बिगड जाते हैं। (४) तात्पर्य पृथिवीसे लेकर द्युलोक पर्यंत जितनीं देवतायें हैं, सब अपने समय विभाग के अनुसार ही कार्य करती हैं। यह देवोंका व्यवहार देख कर मनुष्यों को भी अपना समय विभाग बना कर उसके अनुसार कार्य करना चाहिये। देखिये, ये देव भी जिस समय, समय-विभागके अनुसार कार्य नहीं करते, उस समय बडी अनवस्था हो जाती है; तो आप विचार कर सकते हैं कि, यदि मनुष्य भी अपना समय विभाग न बनायेगा और उसीके अनुसार कार्य न करेगा, तो उसकी उन्नति कैसे हो सकती है ?

सब विश्व समय विभागमें बंधा हुआ है, यह ज्योतिषविद्यासे अनुभव करके मनुष्यको भी चाहिये कि,वह अपने समयको विभागों में विभक्त करके उसके अनुसार अपने कार्य करे, और उन्नतिको शीघ्र प्राप्त करे। **"समयविभाग के अनुसार ठीक रीतिसे कार्य करना ही 'कालाश्व' पर सवार होना है और उसीको अपने आधीन रखना है।"**

(५) यश प्राप्तिका मार्ग।

वैयक्तिक शक्तियां जो मन और प्राण आदिक हैं , उनको भी समय

विभागके अनुसार कार्य करनेका अभ्यास होगा, तो ही उनसे योग्य और श्रेष्ठ कार्य होगा । इसीका नाम " काल- योग " है ।

समय विभागके अनुसार मानसिक कार्य करने चाहिये और समय विभागके अनुसार ही प्राण के संयम का कार्य करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही (नाम) यश होता है , यह बात---

काले मनः काले प्राणः काले
नाम समाहितं । अ १९ । ५३।७

इस मंत्रमें सूचित की है । मनुष्यकी उन्नतिका यही मूलमंत्र है। वैसे विचारसे देखा जाय , तो मन और प्राण ये दो ही शक्तियां मुख्यतया मनुष्यमें है । मनके आधीन सब इंद्रियाँ हैं, और प्राणके आधीन संपूर्ण अवयव हैं । इसलिये समयविभाग के अनुसार योग – साधन करके उनको समयानुकूल कार्य करने वाले बनाने से मनुष्य यशस्वी हो जाता है। समयविभाग के अनुकूल कार्य करना और अपनी संपूर्ण शक्तियों का उपयोग समयविभागके अनुसार करना ही यशके मंदिर में प्रवेश करना है। नियमानुसार कार्य करनेका इतना महत्व है। अपना समय विभाग बनाकर, उस नियमके अनुसार अपने सब कार्य प्रतिदिन करनेसे मनुष्य यशस्वी होता है , तात्पर्य यशस्वी बनना मनुष्यके आधीन है । यदि यह सत्य है , तो हरएक मनुष्यको अपना समय विभाग बनाना अत्यंत आवश्यक ही है ।

(६) अपना समय -विभाग बनाओ ।

नियम के अनुसार कार्य करनेका अभ्यास आपको होना चाहिये । "यम और नियम" का पालन इस से ही प्रारंभ होता है । जो अपने बनाये नियमोंका पालन नहीं करता, उससे योगका साधन होगा ही नहीं, क्योंकि " नियम पालन" के अभ्याससे ही योग सिद्ध हो सकता है । इसलिये सबसे प्रथम अपना समय विभाग बनाइये । यह कार्य कल पर न छोडिये, आजही बनाइये । आपको अपने चार प्रकारके समय विभाग बनाने चाहियें । (१) दैनिक, (२) साप्ताहिक, (३) मासिक तथा (४) वार्षिक ।

प्रतिदिनका समय विभाग सबसे प्रथम बनाइये । इसमें प्रातःकालमें उठने के बाद फिर रात्रीको सोने तक का समय विभाग हो। जितने कर्तव्य आपको प्रति दिन करने होते हैं, उनको इस समय विभागमें नियत कीजिये । स्वाध्यायमंडल के कार्य कर्ताओंका समय विभाग निम्न प्रकार निश्चित किया गया है । (१) ब्राह्म मुहूर्तमें ३॥ बजे उठना, (२) ३॥ से ४ बजे तक प्रातःस्मरण, ईश्वर भजन, और दिनके कार्य करनेका विचार करना, (३) ४ से ४॥ बजे तक शौच मुख मार्जनादि, (४) ४॥ से ५॥ बजे तक आसन , व्यायाम स्नान आदि, (५) ५॥ से ७ बजे तक आसन, प्राणायाम ध्यान धारण।

पूर्वक संध्या ईश्वरोपासना, (६) ७ से ८ तक शुद्ध वायुमें भ्रमण, (७) ८ से ९ बजे तक डाक के पत्रोंकी व्यवस्था, (८) ९ से १० तक स्वाध्याय, (९) १० से ११ तक पत्रोंके उत्तर लिखनेका कार्य, (१०) ११ से १ तक भोजन, विश्राम और ध्यान, (११) १ से ५॥ बजेतक वेदार्थविचार, लेख-लेखन आदि, (१२) ५॥ से ६॥ तक भ्रमण,(१३)६॥ से ८ तक संध्योपासना, (१४) ८ से ९॥ तक भोजन, विश्राम, ग्रंथावलोकन आदि, (१५) ९॥ से ३॥ तक निद्रा। इसप्रकार यहां का समयविभाग है। पाठक गण अपने कर्तव्योंके अनुसार अपना समयविभाग बना सकते हैं। परंतु जिसप्रकार समयविभाग बनाया जायगा, उसीप्रकार कार्य करनेका निश्चय करना चाहिये।

कईयोंको नियत कार्य होते हैं इसलिये वे समझते हैं कि, समयविभाग बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं है;परंतु यह बडीभारी भूल है। समय विभाग बनानेसे अपना ही समय बढ जाता है; इसके अतिरिक्त **'मैंने नियम किया था और उस नियमके अनुसार मैं चल रहा हूं"** यह भावना जो मनमें जागृत रहती है उसका मनके संयमपर बडा भारी परिणाम होता है। इस शुभ परिणाम के लिये हरएक को आवश्यक है कि, वह समय विभाग बनावे और नियमपूर्वक उसका पालन करे।

अपने आपको प्रतिदिन जो कार्य करने होते हैं, उनको समयमें बांटना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा समयविभाग करनेके पश्चात् प्रत्येक विभागसे कुछ समय की बचत हो सकती है या नहीं, इसका विचार कीजिये। प्रत्येक विभागमेंसे यदि आप पांच पांच मिनिट निकालेंगे, तो आपको प्रतिदिन घंटा आधा घंटा किसी उपयोगी कार्यके लिये मिल सकता है। समयका मूल्य बडा है, इसलिये उसको व्यर्थ खर्च करना योग्य नहीं है। गया हुआ समय फिर नहीं आसकता। इस लिये विचार पूर्वक उसका उपयोग करनेकी आवश्यकता है। यही **"समयरूपी अश्व पर सवार होना"** वेदकी भाषामें है।

जैसा दैनिक समयविभाग दिनके कार्योंका होता है, उसी प्रकार सप्ताह में करनेके कार्योंका साप्ताहिक समय विभाग, एक महिनेमें करनेके कार्योंका मासिक समय विभाग, और एक वर्षमें करनेके कार्योंका वार्षिक समयविभाग कीजिये। इस प्रकार समयविभाग बनाना यह व्यर्थ नहीं है। समयविभाग पहिले बनना चाहिये, इसलिये यह निश्चय करना आवश्यक होता है कि, " मैं इतना कार्य एक सप्ताहमें, इतना एक मासमें, और इतना एक वर्षमें अवश्य करूंगा।" मान लीजिये कि आपको पांचसौ पृष्ठोंके पुस्तक का एक वर्षमें अध्ययन करना है, इसलिये दो पृष्ठोंका अध्ययन प्रतिदिन करना आवश्यक है। इससे करीब ८।९ महिनों में उस पुस्तक का अध्ययन समाप्त होगा और शेष समय वही पुस्तक दुबारा देखने के लिये मिलेगा

इस प्रकार ये समयविभाग बन जानेसे बडा लाभ होता है। तथा अपनी उन्नतिका निश्चय स्वयं हो जाता है।

(७) फिर सोचिये।

आपका समयविभाग बन जानेके पश्चात् एक मास तक उसके अनुसार ही अपने कार्य नियम पूर्वक कीजिये। और बीच बीचमें सोचिये कि, अपने समयका अधिक उत्तम उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। यदि किसी स्थानपर आपका समय व्यर्थ खर्च होता हो, तो उसका भी ख्याल रखिये और एकमास के अंतमें अपना समयविभाग फिरसे शुद्ध और निर्दोष बनाइये।

स्मरण रखिये कि, "अपनी आयु ही बडा भारी धन है," वेद कहता है कि इसको कोई भी व्यर्थ न खोये, देखिये—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि
मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्॥
ऋ. १०।१८।४

"मैं सब जीवों के लिये यह आयुकी अवधि देता हूं,इनमें से कोई भी (अ—परः) नीच बनकर (एतं अर्थं) इस धनको न खो बैठे।" इस प्रकार अपनी आयुका मूल्य मानना चाहिये, और उसका व्यर्थ खर्च न करनेके विषयमें अथवा उसका उत्तम पुरुषार्थोंके ही कार्योंमें योग्य प्रकारसे खर्च करनेके विषयमें बडी सावधानता रखनी चाहिये। तथा और कहा है —

आयुः पृथिव्यां द्रविणम्॥
तै.आ.(आंध्र) १०।३६

"इस पृथ्वी पर आयुष्यही सच्चा धन है।" अर्थात् धनका व्यय जिस प्रकार बडी सावधानी के साथ करना चाहिये ; उसी प्रकार अपनी आयुका भी उत्तम पुरुषार्थोंमें व्यय करना चाहिये और उसके घंटों और मिनिटोंका भी ठीक ठीक हिसाब रखना चाहिये; क्यों कि धनसेभी आयुका महत्व अधिक है, इसका कारण इतना ही है कि,आयुका योग्य उपयोग करनेसे धन कमाया जा सकता है, परंतु कितना भी धन खर्च किया, तोभी आयु खरीदी नहीं जा सकती। इसलिये धनकी अपेक्षा अधिक सावधानता के साथ आयुके दिनों, घंटों और मिनिटोंका योग्य हिसाब रखिये।

उक्त प्रकार महिने दो महिनों में सोच विचार करके अपना समयविभाग बिलकुल ठीक बनाइये और जैसा बनायेंगे, वैसाही ठीक ठीक मिनिटोंके हिसाब से अपना कार्य करते जाइये। ऐसा करनेसे आपको एक मासमें ही पता लग जायगा कि, समयविभाग बनाने के पूर्व प्रतिदिन जितना कार्य होता था, उससे अधिक कार्य अब होने लगा है। इस रीतिसे समयविभाग बनाने के कारण आपकी शक्ति बढ जाती है अथवा आपकी आयुही उस प्रमाणसे बढ जाती है। समय विभाग बनानेके पूर्व आपका स्वाध्याय तथा अन्य पठन पाठन अथवा अन्य कार्य कितना होता था, और अब कितना हो रहा है, इसका विचार और तुलना करनेसे आपको स्पष्ट

पता लग जायगा कि, इस दृष्टिसे कितना सुधार हुवा है।

(८) उन्नतिका ध्यान कीजिये।

समय के योग्य उपयोगसे ही अपनी उन्नति होनी है। इसीका नाम "काल-योग" है। इसका पालन करनेके समय अपना सब समय अपनी उन्नति का साधक हो रहा है वा नहीं, इसका वारंवार विचार कीजिये और जो समय व्यर्थ जाता हो, उसको कार्य में लानेका यत्न कीजिये। यदि आप अपने अध्ययन का एकाध पुस्तक सदा अपने पास रखेंगे, और फुरसत मिलते ही उसको देखते जांयगे, तो आपको बडा फायदा हो सकता है। अथवा किसी अन्य प्रकार आप अपना फालतु समय उत्तमसे उत्तम प्रयोगमें ला सकते हैं।

इस प्रकार करनेका यत्न करनेसे एक दो मासोंमेंही प्रत्यक्ष उन्नति दीखने लगती है। तथा व्यवस्थासे कार्य करनेका तेज भी चेहरेपर दिखाई देता है। जो मित्र यौंही गप्पें उडानेके लिये जिस समय चाहे आपके पास आकर बैठते थे, वे ही अब आपसे डरने लगेंगे, और आपका समय बडा कीमती है, इतनी बातभी आपके मित्रोंके ध्यान में आगई, तो समझिये कि उनकी भी उसमें उन्नति है। जैसा किसीको अपना समय खोना नहीं चाहिये, वैसाही दूसरेका समय व्यर्थ खर्च करना भी बहुत ही बुरा है। यदि कोई मनुष्य दुर्व्यसनों में अपना पैसा नहीं खर्च करता है, परंतु दूसरेके पैसेसे व्यसन करता है, तो उसमें जैसा दोनों का नुकसान है, उसी प्रकार दूसरेका समय व्यर्थ लेने में भी दोनों का नुकसान है।

मित्र उनको ही कहना चाहिये, जो अपना और दूसरे का भी हित करता है। जो अपने दोष दूर करता है, और जो मित्रके भी दोष दूर करनेकी सहायता करता है, उसको सच्चा मित्र कहना योग्य है। अपने आपको इस प्रकार का मित्र बनाइये। व्यर्थ समय खोनेवाले मित्र न बढाइये। इससे आपका और उनका भी नुकसान है।

(९) अपना उद्धार स्वयं कीजिये।

स्वयं अपना उद्धार करनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। तभी उन्नतिकी संभावना हो सकती है। इस विषयमें वेद स्पष्ट कह रहा है-

उद्यानं ते पुरुष नावयानं
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममम्हतं सुखं
रथमथ जिर्विर्विदथमावदासि॥
अथ. ८।१।६

(१) हे पुरुष! तेरी (उत् - यानं) उन्नति होनी चाहिये, कदापि (न अवयानं) अवनति नहीं होनी चाहिये (२) इसलिये तेरे (जीवातुं) दीर्घ जीवनके हेतु तुम्हारे अंदर दक्षता उत्पन्न की है। (३) इस दक्षताके साथ इस अमृत मय सुखयुक्त रथपर आरूढ हो जाओ, और (४)

महाभारत।

वेद और महाभारत।

महाभारत का महत्व।

(१) महाभारत का महत्व अनेक दृष्टियोंसे है।

आर्योंका प्राचीन इतिहास जाननेके लिये हरएक को महाभारत की शरण लेनी पडती है। भारतीय वीरोंके अद्‌भुत चरित्र महाभारत में ही देखने चाहिये। प्राचीन आर्योंका राजकीय, सामाजिक तथा आध्यात्मिक उत्क्रांतिका संपूर्ण इतिहास यदि देखनेकी इच्छा है, तो महाभारतही देखना चाहिये। अर्थात् इतिहासिक दृष्टिसे महाभारत का अभ्यास होना आवश्यक है।

(२) महाभारतमें राजनीति तथा सामान्य नीति इतनी विस्तृत रूपसे लिखी है कि आर्य-नीतिशास्त्रका अभ्यास करने वालेको महाभारत जैसा दूसरा कोई ग्रंथ नहीं है।

(३) धर्मशास्त्र तथा अध्यात्म शास्त्र के विषय में भी लेखकों और वक्ताओंके लिये प्रमाणवचन महाभारत में ही विपुल मिलते हैं। इसी लिये महाभारतको "पंचम वेद" भी कहते हैं। इस कारण इसके अध्ययन करनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

व्यास महर्षिकी प्रतिज्ञा।

(१) वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे अपने वेदमंत्रोंकी "गुप्त विद्या" के साथ महाभारत तथा अन्य पुराण आदि ग्रंथों की "व्यक्त विद्या" की तुलना करें। भगवान व्यास महर्षिजीकी प्रतिज्ञा है कि

"जो वेदकी विद्या है वही महाभारत के मिषसे वर्णन की हैं।" इस लिये आवश्यक है कि वेदके कौनसे भाग का किस रीतिसे रूपांतर महाभारत में हुआ है और उसमें इतिहासिक भाग कहां और कितना है, इसका स्पष्ट विचार हो।

(२) इस तुलनात्मक अध्ययनसे हमें एक यह लाभ होगा कि जो वेदमूलक कथाएं अन्य पुराणोंमें हैं, उनकाभी वैदिक मूल हमें विना आयास मिल सकेगा।

महाभारत बडा ग्रंथ है।

महाभारत बहुतही बडा ग्रंथ है, साधारण लोग उसको खरीद नहीं सकते। इसके अधिक मूल्यके कारणही महाभारत पढनेकी इच्छा करनेवाले बहुतसे पाठक चुप रहते हैं और खरीदनेका नाम नहीं लेते।

एक युक्ति है।

जिस युक्तिसे हरएक पाठक महाभारत खरीद सकता है।और किसीको भी किसी प्रकारकी कठिनता नहीं हो सकती।

हम प्रतिमास १०० पृष्ठ मूल महाभारत और उसका सरल भाषानुवाद मुद्रित करना चाहते हैं। एक वर्षमें १२०० पृष्ठ ग्राहकोंको दिये जांयगे। कागज और छपाई बढिया होगी। चित्रभी दिये जांयगे।

वार्षिक मूल्य।

वार्षिक मूल्य मनी आर्डरसे ६) रु. और वी. पी. से ६।।=) होगा।

इस रीतिसे यह ग्रंथ थोडेंही वर्षों में समाप्त होगा और विना आयास हरएक ग्राहक को मिलता जायगा। जो ग्राहक बनना चाहते हैं शीघ्र अपना मूल्य भेज दें।

विदेश के ग्राहक।

विदेश के ग्राहकों के लिये मू. ८) रु. होगा।

सस्ताईकी कमाल!!!

आज कल मूल संस्कृत महाभारत जितने मूल्य में मिलता है, उस से भी न्यून मूल्यमें हम "मूल महाभारत और भाषामें भाषांतर" देना चाहते हैं। यह सस्ताईकी कमाल है। यह ग्रंथ इतना सस्ता इस समय तक किसीने दिया नहीं है!!

पाठक इस अवसर से अवश्य लाभ उठावें। संभवतः इसका मूल्य आगे बढ जायगा। जो प्रारंभसे ग्राहक होंगे उनकोही इस सुविधासे लाभ हो सकता है।

नमूनेके पत्र विनामूल्य भेजे जांयगे। आप अति शीघ्र निम्न पतेपर पत्र लिखिये। और अपने नगर में ग्राहक जितने हो सकते हैं बनानेका अवश्य यत्न कीजिये।

आपका कर्तव्य

महाभारत जैसे अत्युत्तम ग्रंथका शुद्ध, सुंदर, और उत्तम मुद्रण करके अत्यंत सस्ते मूल्यमें देनेका यत्न हम कर रहे हैं। अब आपका कर्तव्य है कि आप ग्राहकोंकी संख्या बढाकर हमारे उद्देश्य की पूर्ति करें।

मंत्री--स्वाध्याय मंडल, औंध
(जि. सातारा)

महाभारत--विराट पर्व।

प्रथमोऽध्यायः।

जनमेजय उवाच= कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥ १ ॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखिताऽवसत् ॥ २ ॥
वैशंपायन उवाच– यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप ॥ ३ ॥
तथा तु स वराँल्लब्ध्वा धर्माद्धर्मभृतां वरः।
गत्वाश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत् ॥ ४ ॥
कथयित्वा तु तत्सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः।
अरणीसहितं मंथं ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ॥ ५ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
सन्निमंत्र्यानुजान्सर्वान्मध्यमं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
द्वादशैतानि वर्षाणि स्वराष्ट्रात् प्रोषिता वयम्।
त्रयोदशोऽयं संप्राप्तः कृच्छ्रः परमदुर्वसः ॥ ७ ॥
तत्र कौन्तेय त्वरितो वासमर्जुन रोचय।
संवत्सरमिमं यत्र वसामोऽविदिता परैः ॥ ८ ॥

विराटपर्वमें--पांडवप्रवेश पर्व ॥

महाराज जनमेजय बोले—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ वैशंपायन! हमारे पितामहके पितापांडवलोग दुर्योधनके भयसे पीडित होकर विराटनगरमें छिपकर कैसे रहे थे, और सदा ब्रह्मवादिनी महा भाग्यवती पतिव्रता द्रौपदीने कौन दुःख सहकर अज्ञातवास किया? (१–२)

वैशंपायन मुनि बोले,–हे नृपते! तुह्मारे पूर्वज पांडवलोग, जिस प्रकार छिपकर विराट नगर में रहे थे, सो कथा हम तुमसे कहते हैं॥ धर्म धारियों में श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर वरप्रदानोंको प्राप्त कर आश्रममें आये, और ब्राह्मणोंसे सब कथा सुनाई॥ कथा कहकर महाराज युधिष्ठिरने वह अरणी सहित मंथ ब्राह्मणों को देदिया॥ फिर महामनाधर्मराजने सब भाइयोंको बुलाकर कहा, हम लोगोंको राज्यसे निकले हुए, बारह वर्ष बीत गये, अब यह तेरहवां वर्ष अत्यंत कठिन और अतिदुःख देनेवाला आया है॥ इस तेरहवें वर्ष में जिस स्थानमें हमको कोई शत्रु न जान सके, तहां

अर्जुन उवाच—तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप ।
अज्ञाता विचरिष्यामो जनानां भरतर्षभ ॥ ९ ॥
किंतु वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित् ।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किंचित् स्म रोचय ॥ १० ॥
सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्ना परतः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥ ११ ॥
दशार्णा नवराष्ट्रं च मल्लाः शाल्वा युगंधराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विस्तीर्णं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥ १२ ॥
एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ॥
यत्र वत्स्यामहे गूढा संवत्सरमिमं वयम् ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच-- एवमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः ।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत्तथा न तदन्यथा ॥ १४ ॥
अवश्यमेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
संमन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतो भयम् ॥ १५ ॥
मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्षेत्स पांडवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सुमहायशाः ॥ १६ ॥

निवास करना चाहिये । हे कुंतिपुत्र अर्जुन तुम उस स्थानको हमको बतलाओ ॥(३-८)

अर्जुन बोले-राजन्! धर्मके वरदानसे जब हम लोग जिस किसी स्थानमें रहेंगे, तब भी कोई हमको नहीं जान सकेगा, तथापि हम आपके रहने योग्य राज्योंका वर्णन करते हैं । ये सब स्थान रमणिय और गुप्त हैं, इनमेंसे जहां आपकी इच्छा हो तहां रहिये। कुरुराज्यों को छोडकर और भी ऐसे रमणीय राज्य हैं जिनमें अन्न और जल बहुत मिल सकते हैं। पांचाल, चेदी, मत्स्य, शूरशेन, पटच्चर, दशार्ण नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगंधर, कुंन्ती, और सुराष्ट्र, इन राज्योंमें जिसमें आपकी इच्छा हो वहीं हम सब एक वर्ष रहेंगे ॥ (९–१३)

पंडुपुत्र युधिष्ठिर बोले-हे महाबाहो! तुमने जो कहा वह सब ठीक है, जो कुच्छ भगवान् धर्मने हमको वरदान दिये हैं, वे सब कभी मिथ्या नहीं हो सकते, हम सब लोगोंको उचित है, कि परस्पर संमति करके और निर्भय होकर किसी एक रमणिय और सुखद स्थानमें निवास करें ॥ मत्स्यदेशका राजा विराट धार्मिक, विद्वान, बूढा, महायशस्वी तथा बलवान् है वह निःसंदेह हमारी रक्षा कर सकता है ॥ इसलिये उसी विराटके

(जिर्वि :) दीर्घायु बनकर (विदथं) जीवन युद्धमें सफलता प्राप्त करनेके सुशब्द कहो।"

"जीवन की दक्षता" धारण करनेका उपदेश वेद यहां दे रहा है। समय विभागके विना यह " जीवन की दक्षता " कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । इस प्रकार की दक्षताके साथ कार्य करनेसे निःसंदेह अपनी उन्नति होगी और कदापि अवनति नहीं होगी। इस प्रकार सोच सोचकर अपनी उन्नतिके तत्व आप स्वयं ढूंढ कर देखिये और अपने अंदर उनको ढालते जाइये। इस प्रकार आपका आयुष्य "वैदिक जीवन " से भरपूर होगा, और आप न केवल अपनी परंतु अन्योंकी उन्नति साधन करके आदर्श पुरुष बन सकते हैं।

सदा यह नियम ध्यानमें रखिये कि,— "**मनुष्य अपना उद्धार आपही करे, अपने आपको कभी भी गिरने न दे। क्यों कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही अपना बंधु या स्वयं अपना शत्रु है। जिसने अपने आपको जीत लिया, वह स्वयं अपना बंधु है; परंतु जो अपनी उन्नति नहीं करता, वह स्वयं अपने साथ शत्रुके समान वैर करता है।" (भगवद्गीता. ६।५, ६)**

केवल विचार ही करते न रहिये, उससे कुच्छ भी बनेगा नहीं। नियमके अनुसार योग्य रीतिसे सत्कर्म कीजिये। करनेसे ही आपका अनुभव बढ जायगा। इसलिये प्रयत्न करनेकी बडी भारी आवश्यकता है। गुरुने आपको कुच्छ उपदेश दियाभी होगा, तो उसके केवल श्रवण करनेसे ही कार्य नहीं होगा, प्रत्युत उसके अनुसार आचरण करनेसे ही जो बनना है, बनेगा। इसलिये आप प्रयत्न कीजिये, केवल विचारमें ही न रहिये।

परंतु यह न समझिये कि प्रयत्न के पूर्व बिलकुल सोच ना नहीं चाहिये। "**विचार, उच्चार और आचार**" यह क्रम है; पहिले विचार होता है, पश्चात् इच्छा होनेपर उस का उच्चार किया जाता है, तत्पश्चात् आचरण होता है। इसलिये सोचनेकी आवश्यकता है। परंतु कई लोग सालोंसाल सोचनेमें ही खर्च कर देते हैं और कुच्छ भी करते नहीं। यह बहुत बुरा है। कोई कार्य करनेसे पूर्व उसके विषयमें अच्छी प्रकार सोचना चाहिये, और उसके संपूर्ण पहलुओंका ठीक विचार करके, जब मनमें ही उस विषयमें पूर्ण निश्चयहो जायगा, तभी उसको करना चाहिये।

प्राचीन समयमें " **यज्ञविधि**" से इसका उत्तम उपदेश मिलता था। यज्ञ करनेवाला " मैं यह यज्ञ करूंगा " ऐसा मनमें प्रथम निश्चय करता था। तत्पश्चात् मित्रों द्वारा उसकी साधन सामग्री वह ठीक प्रकार इकठ्ठी करता था। यज्ञस्थान ठीक करके पहिले योग्य स्थानमें सब सामग्री-रखता था और पश्चात् इष्ट मित्रोंके साथ यथाविधि यज्ञ करता था। इसमें समय विभाग और पहिले सोचनेका उत्तम उपदेश है। इसके अतिरिक्त " मूहूर्त "

पर कार्य करनेका भी इसमें बडा बोध मिलता था। "

(१०) निश्चित मुहूर्तपर कार्य करना।

धर्म का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक संस्कार और प्रत्येक यज्ञ यागादि इष्टियां निश्चित और नियत मुहूर्तपर ही करनेकी आर्योंकी परंपरा सबको विदित है। ठीक उस मुहूर्त के समय वह कार्य अवश्य होना ही चाहिये। समय – विभाग के अनुसार अपना कार्य करनेका उत्तमउपदेश इसमें है। परंतु शोककी बात है कि, लोग धार्मिक संस्कारोंके लिये ही मुहूर्त निश्चित करते हैं, और अन्य कार्य समयविभाग का निश्चय न करके जैसा चाहे वैसा करते हैं! 'समयविभाग का महत्व' जैसा वैदिकधर्ममें है, वैसा कदाचित् ही किसी अन्य धर्म में होगा। परंतु यह मुहूर्त निश्चित करनेकी प्रथा आजकल प्रायः लुप्त हो गई है और इसी कारण समयका महत्व वैदिकधर्मियों के मनमें से चले गया है। ' वैदिक धर्म' की जागृतिके साथही वह पुनः स्थापित होगा।

समयविभाग निश्चित न करनेके कारण प्रत्येक मनुष्यका इतना समय व्यर्थ जाता है कि,उसका विचार करनेपर अत्यंत आश्चर्य होगा। परंतु इसका विचार बहुत थोडे वैदिकधर्मी करते हैं! केवल वैदिक धर्मका अभिमान धारण करनेसे कुछभी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ; परंतु वैदिक उपदेशके अनुसार वर्ताव करनेसे ही अभ्युदय होना है। इसलिये अपने सब कार्यों के लिये मुहूर्त नियत कीजिये और उस निश्चित मुहूर्त पर ही वह नियत कार्य कीजिये।

समयविभाग के अनुसार कार्य करनेसे मनुष्य थोडे समयमें बहुत कार्य कर सकता है, और किसीभी कार्य करने के समय उसकी गडबड नहीं होती; क्यों कि उसने पहिले सब विषयोंमें सोचा होता है कि, इस समयमें यह होगा और उसके बाद वह होगा।

जो अपने सब व्यवहार इस प्रकार करेगा, उसको मनकी शांति भी प्राप्त होगी, घबराहट दूर होगी और उसका उत्साह कायम रहेगा। इसलिये करनेके पूर्व अच्छी प्रकार साधक बाधक रीति से सोचिये, समयविभाग बनाइये, सब साधन इकट्ठे कीजिये और निश्चित समयपर निश्चित रीतिसे शांतिपूर्वक अपने कार्य कर लीजिये! यही उन्नतिका सीधा और आसान मार्ग है। संपूर्ण सृष्टि समयविभाग के अनुसारही चल रही है, आपको भी उस सृष्टिके अंदर कार्य करना है, इसलिये समय — विभागके अनुसार ही कार्य करना अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा हानी होगी।

(११) अपने समय की अमूल्यता।

अपना समय व्यर्थ है ऐसा समझना मूर्खता है ; अपने समयका मूल्य अपने मासिक आय के समान ही मानना अज्ञान का द्योतक है। वास्तविक बात यह है, कि

अपने समय को बहुमोल समझकर उसका सदुपयोग करनेकी तैयारी करनी चाहिये। किसी समय एक घंटेमें आप जो कार्य करते हैं, उससे शतगुणित आमदनी हो जाती है। इसलिये अपने समय को सदा बहुमूल्य समझना उचित है।

समय व्यर्थ खोनेके लिये नहीं है, "आपके सब समयका व्यय आपकी उन्नति के कार्यों में ही होना चाहिये।" इसलिये प्रतिदिन के अपने कार्य में जितना आवश्यक है, उतना ही समयका व्यय कीजिये और अन्य श्रेष्ठ कार्य के लिये अपने समयकी बचत कीजिये। यदि प्रतिदिन घंटा भर का समय आपके पास बेचगा, तो उसको आप अधिक उपयोगी कार्य में लगा सकते हैं। प्रतिदिन एक घंटेका बचाव होनेसे सालमें १५दिन मिलेंगे; इसप्रकार आप अपनी आयुकी गिनती कर सकते हैं। समझ लीजिये कि इतनी आपकी आयु बढ गई है!! यह बचा हुआ समय यदि आप ईश्वरके ध्यान करनेमें लगायेंगे तो आपको अमृतत्व प्राप्त हो सकता है, अथवा आप दुनयावी कामों में लगायेंगे तो आपको धन आदिकी प्राप्ति हो सकती है। दोनों से आपकी अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि होगी इसलिये अपने समय का ख्याल हर दिन रखिये।

अपनी इष्ट अवस्था सुगम रीतिसे और शीघ्र प्राप्त करना आपको अत्यंत इष्ट है, इसलिये विचार पूर्वक आपको अपना समय-विभाग बनाना ही चाहिये।

(१२) समय विभाग में मुख्य बातें।

अपना समयविभाग बनाने के समय निम्न लिखित मुख्य बातें ध्यानमें रखिये। (१) निद्राके लिये छः सात घंटे अवश्य रखने चाहियें (२) व्यायाम के लिये एक दो घंटे रखिये। (३) भोजन, स्नान और विश्राम के लिये दो तीन घंटे अवश्य अलग राखिये। (४) विश्रांतिका समय ऐसा राखिये कि जो आपको हर दो तीन घंटों के बाद मिल सके। (५) शेष १२ घंटों में अपनी उन्नतिके ही उद्योग योग्य विभागके अनुसार राखिये। इसप्रकार आपका समयविभाग बन जायगा, तो आरोग्यके साथ आपकी उन्नति भी सिद्ध होगी।

आपको ऐसी योजना करनी चाहिये कि अपना उद्देश्य शीघ्र और बिना विघ्न सफल हो जाय। अपना अभ्यास, अपनी घर की व्यवस्था, अपना आहार विहार, अपना आराम, अपनी कुटुंबकी व्यवस्था, अपनी जातीय तथा सामाजिक व्यवस्था, आदि के विषयमें आपको ऐसा योग्य प्रबंध करना चाहिये कि, आपकी उन्नति शीघ्र हो सके, विघ्न कम हों और सिद्धि त्वरित मिले।

आपके सहायकारी कार्य कर्ता जो होंगे, वेभी आपके नियमानुसार कार्य करनेवाले ही रखिये, अन्यथा उनके कारण आपका समय व्यर्थ चला जायगा।

आप विचार करेंगे तो आप अपने सब रहने सहनेमें योग्य व्यवस्था कर सकते हैं। इस विषयमें सदा यह बात मनमें

राखिये कि, " आप ही अपने आपको बना अथवा बिगाड सकते हैं । "

न आपको दूसरा उठा सकता है, और न गिरा सकता है। समयको सुव्यवस्थासे कार्य में लानेका गुण यदि आपमें परिपक्व होगा, तो वही गुण आपको सहस्रों अन्य कार्योंमें लाभ देगा, क्यों कि मन एक ही रीतिसे सर्वत्र कार्य कर सकता है। जो मन समयकी सुव्यवस्था कर सकता है, वही मन अन्यत्र दुर्व्यवस्था देख भी नहीं सकता। इसलिये " आप अपने मन को उत्तम नियम—बद्ध व्यवस्थामें रखिये। " तथा--

ॐ क्रतो स्मर, क्लिबे स्मर, कृतं स्मर। यजु. ४०।१५

" (१) हे (क्रतो) पुरुषार्थ करनेवाले मनुष्य ! (ॐ) आत्माका विचार कर, (२) (क्लिबे) अपने सामर्थ्य बढानेका विचार कर, और (३) (कृतं) किये हुए कर्म का विचार कर। "

यह वेदकी आज्ञा यहां हर एक को स्मरण रखनी चाहिये। (१) परमेश्वरकी भक्ति, (२) अपने सामर्थ्यको बढानेकी महत्वाकांक्षा और (३) अपने पूर्व कर्मोंका निरीक्षण करके अपनी उन्नति का मार्ग निश्चित करना चाहिये।

गत समय में मैनें कैसा बर्ताव किया, और उसका परिणाम कैसा हुआ; इसका विचार करकेही अपना भविष्यका कर्तव्य निश्चित करना चाहिये और उसका निश्चित समयविभाग से ही अनुष्ठान करना चाहिये।

(१) कालरूपी एक बडा शक्तिशाली घोडा चल रहा है।
(२) उसको सात लगामें हैं और
(३) उसपर सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी ही सवार होते हैं और आगे बढते हैं।

ये तीन बातें पूर्वोक्त (अ. १९।५३।१) मंत्रमें कहीं हैं। उस घोडे पर सवार होनेका उपाय इस लेखमें बताया है, और आगे प्रगति करने की विधि भी देखी है। अपनी आयु का जितना काल है, वह एक दौडने वाला घोडा है। क्षणमात्र भी किसी स्थानपर ठहरता नहीं है, और न किसी की प्रतीक्षा करता है। वह निरंतर गतिमें है। सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी, जो अपनी उन्नति करना चाहते हैं, वे युक्तिसे उस पर बैठ जाते हैं और कभी अपने आपको उसके पावों के नीचे नहीं गिराते। और सात लगामोंसे उसको अपने आधीन करते हैं। आंख, नाक, कान, मुख, त्वचा, चित्त, और मन इन लगामोंको अपने आधीन करनेसे उस कालरूपी अश्वका संयम होता है और यह अपने आधीन होता है। और जब वह आधीन होगा, तब आप अपने इष्ट स्थानपर शीघ्र ही पहुंच सकते हैं। इसलिये प्रियपाठको ! आप इस समयको अपने आधीन कीजिये और अपनी शीघ्र उन्नति सिद्ध कीजिये।




सूर्यभेदन--व्यायाम।

(संख्या ४)

गत तीन लेखोंमें सूर्यभेदन व्यायामोंके साधारण स्वरूप का वर्णन किया है। पूर्वोक्त तीनों प्रकारके सूर्यभेदन व्यायाम सर्व साधारण स्त्री पुरुषोंके उपयोगी हैं। उनमें भी पहिलेसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा विशेष कठिन है। अब चतुर्थ प्रकारके सूर्यभेदन का विचार करना है, यह व्यायाम संपूर्ण सूर्यभेदनके विविध भेदोंमें विशेष महत्व रखता है। यदि हरएक मनुप्य अन्य प्रकारोंके सूर्यभेदन व्यायाम करनेके पूर्व अथवा पश्चात् इसको थोडासा करेंगे तो उनको इसका महत्व उसी क्षण पत लगजायगा। जो विशेष बलवान् हैं वे इसको विशेष संख्यामें कर सकते हैं, और निर्बल मनुष्योंको यह अल्प संख्यामें करना योग्य है। अन्य सूर्यभेदन व्यायामों की संख्या बहुत करनेपर इसका अभ्यास थोडा अर्थात् दस पांचवार भी पर्याप्त है, परंतु दूसरे सूर्य भेदन व्यायाम न करनेकी अवस्थामें यह अपनी शक्तिके अनुसार करनेसे उत्तम लाभ होता है।

शरीरके संपूर्ण स्नायुओंपर इसका विशेष परिणाम होता है, इसलिये यह सूर्यभेदी व्यायाम संपूर्ण शरीर के लिये अत्यंत उपकारक है। तथापि अशक्तोंको इसका अभ्यास प्रारंभ में अत्यंत थोडा करना चाहिये, अभ्यास बढनेपर जितना चाहे उतना कर सकते हैं। इसकी विधि निम्न लिखित क्रमानुसार है —



(१) नमस्कारासन।

हाथ जोडकर सीधा खडा होनेसे यह आसन बनता है। इसका वर्णन कई वार पूर्व आगया है। इसके पश्चात---

(२) ऊर्ध्वनमस्कारासन।

ऊर्ध्व नमस्कारासन करना चाहिये। पेट आगे बढाकर हाथ जितने ऊपर ले जा सकते हैं ले जाइये!



इसके नंतर—

(३) हस्तपादासन।



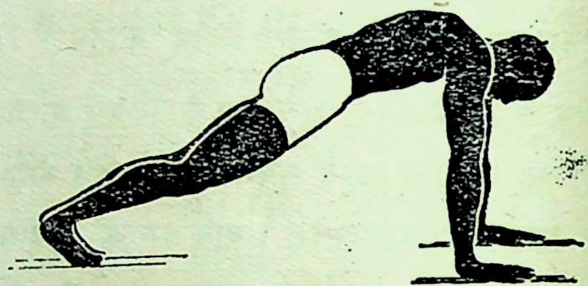
करना आवश्यक है। ऊर्ध्व नमस्कारासनके समय फेंफडोंमें पूर्ण श्वास भरना चाहिये और इस हस्तपादासनके समय उच्छ्वास छोडना चाहिये तथा पेट अंदर की ओर अच्छी प्रकार खींचकर पांवोंके पास हाथ जमीन पर रख कर अपना सिर घुटनोंको लगाना चाहिये। तथा घुटने सीधे रखने चाहिये। इस आसनमें एक दो सेकंद ठहरनेके पश्चात्—

(४) एकपाद प्रसरणासन।



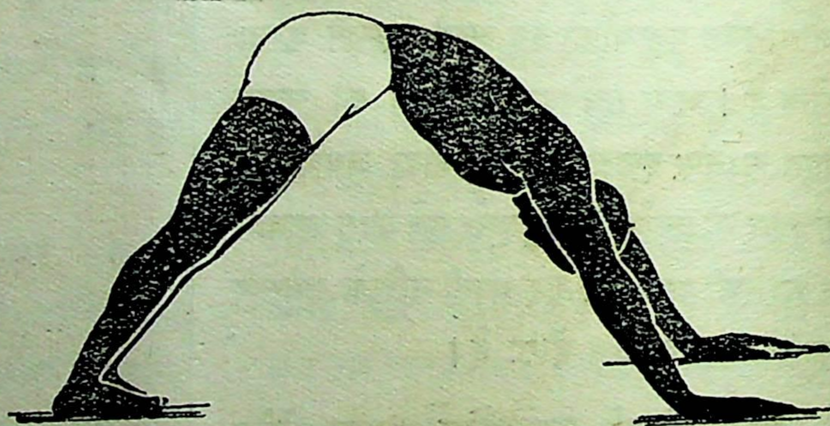
एकपाद प्रसरणासन कीजिये इसके नंतर—

(५) द्विपाद प्रसरणासन।



दोनोंपाव पाछे ले जाकर द्विपाद प्रसरणासन कीजिये। तदनंतर—

(६) भूधरासन।



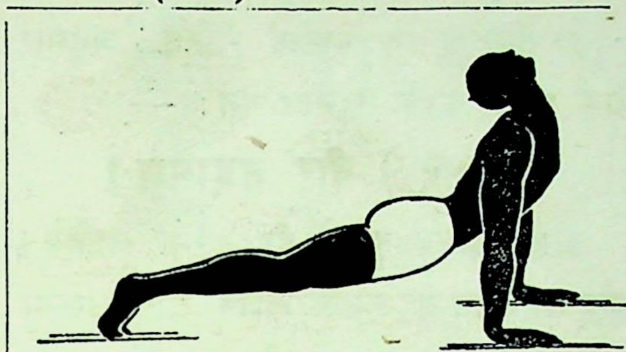
भूधरासन करना चाहिये। इसमें दो हाथ और दो पावों के तळवोंपर सब शरीर रखना चाहिये। घुटने सीधे, हाथ सरल, पेटका अंदर आकर्षण, ठोढी कंठमूलमें स्थिर करनेका यत्न विशेष ख्यालसे कीजिये। इसके पश्चात्—

(७) चतुरंग प्रणिपातासन



चतुरंग प्रणिपातासन कीजिये। इसमें दो पांव के अंगूठे और हाथ के तलवे भूमीपर स्पर्श करने चाहियें। ये चार अंग भूमिको लगते हैं इसी लिये इसको चतुरंग प्रणिपातासन कहते हैं। इसमें सब शरीर भूमिके समांतर रहना चाहिये, भूमि और शरीर में चार छः अंगुल का अंतर रहना चाहिये। इस आसन पर एक सेकंद ठहर कर पश्चात्—

(८) सर्पासन।



सर्पासन कीजिये। फणी सांप जैसा अपना फणा उठाता है उस प्रकार कीजिये। और पुनः—

(९) भूधरासन।

पूर्ववत् भूधरासन कीजिये। तत्पश्चात्—

(१०) द्विपाद प्रसरणासन और

(११) एकपाद प्रसरणासन।

पूर्वोक्त प्रकार ठीक पद्धतिसे कीजिये। इसके पश्चात्—

(१२) वीरभद्रासन।



वीरभद्रासन कीजिये। एकपाद प्रसरणासनमें जो पांव जहां होते हैं, वहां ही रख कर हाथोंसे उर्ध्व नमस्कारासन करनेसे यह आसन बनता है। इसमें हाथ ऊपर ले जा कर उनसे ऊपर की ओर नमस्कार करना चाहिये, जैसा ऊर्ध्व नमस्कारासनमें किया करते हैं। पेट जितना हो सके उतना आगे बढाना चाहिये। पिछले पांवका घुटना भूमिके समीप लेजाना चाहिये, परंतु उसका स्पर्श भूमिपर नहीं होना चाहिये। इस रीतिसे यह आसन इस समय करना चाहिए। इस विधिमें यही आसन मुख्य है, इसलिये इसको करनेके समय पूर्वोक्त सब ही बातोंका अवश्य ख्याल करना चाहिए। इसमें एक सेकंद ठहरनेके पश्चात् —

(१३) एकपाद प्रसरणासन।

(१४) द्विपाद प्रसरणासन

और-

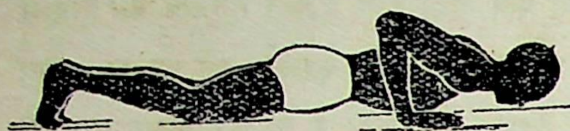
(१५) भूधरासन।

ये तीनों आसन पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ही ठीक विधिके करने चाहिये इनके नंतर—

(१६) द्वादशांग प्रणिपातासन।

द्वादशांग प्रणिपातासन करना आवश्यक है। दो पांव, दो घुटने, हाथ, छाति और मुख मिलकर आठ अंग पूर्वोक्त अष्टांग प्रणिपातासन में लगते हैं। इतने आठ अंग भूमिको लगाने के पश्चात् क्रमपूर्वक

दायां और बायां कान, सिर तथा ठोढी भूमिको



लगानेसे द्वादशांग प्रणिपातासन होता हैं। इसको उत्तम प्रकार करके—

(१७) सुप्त उष्ट्रासन।



उष्ट्रासन करना चाहिये। नाभि और उसके आसपासका चार अंगुलका प्रदेश भूमिपर टिका कर पीछेसे अपने हाथोंसे पांवोंको एडीके नीचे पकड लीजिये। और ऐसा कीजिये कि नाभि के आसपासका चार अंगुल का प्रदेशही भूमिको स्पर्श करे और सब शरीर ऊपर हो जाय। हाथोंसे पांव और पांवोसे हाथ अच्छीप्रकार खींचे जांय। इसको सुप्त उष्ट्रासन कहते हैं।

इससे नाभि प्रदेश तथा पेटको बहुत लाभ पहुंचता है। इस आसनमें दो तीन सेकंद ठहर कर पश्चात्—

(१८) सर्पासन।

पुनः पूर्ववत् सर्पासन कीजिये और क्रम पूर्वक निम्न आसन यथा पूर्व कीजिये—

(१९) भूधरासन।

(२०) द्विपाद प्रसरणासन।

(२१) एकपाद प्रसरणासन।

ये तीन आसन पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ठीक प्रकार करके तदनंतर पुनः —

(२२) वीर भद्रासन।

वीर भद्रासन पूर्ववत् ही करना चाहिये। परंतु इस समय यह ख्याल विशेष रीतिसे रखना चाहिये कि जो पांव पूर्व वीरभद्रासनके समय पीछे था वह आगे रहे और आगे का पीछे रहे। पूर्वोक्त एकपाद प्रसरणासनमें भी यही ख्याल प्रधानतया रखना चाहिये कि, जो पांव पूर्व समय आगे था, वह इस समय पीछे रहे।

इसका कारण यह है कि, इस प्रकार हेरफेर के साथ करनेसे शरीरके सब स्नायुओंका अच्छी प्रकार व्यायाम हो जाता है और इस सूर्यभेदी व्यायाम से अधिक से अधिक लाभ हो सकता है। इसलिये पाठक हेरफेर से पांवों को तथा अन्य अंगोंको कार्य में लानेके विषय कभी न भूलें। इसके नंतर —

(२३) एकपाद प्रसरणासन।
(२४) द्विपाद प्रसरणासन।
(२५) चतुरंग प्राणिपातासन।
(२६) सर्पासन। (२७) भूधरासन।
(२८) द्विपाद प्रसरणासन।
(२९) एकपाद प्रसरणासन।
(३०) हस्तपादासन।
(३१) नमस्कारासन। और अंतमें-
(३२) ऊर्ध्व नमस्कारासन करें।

(क्रमशः)



वैदिक कर्तव्यशास्त्र।



(लेखक — श्री पं. धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार)

प्रथम सिद्धांत।

भ्रातृभाव तथा मित्रदृष्टि।

परमेश्वर को पिता तथा मनुष्यमात्र को भाई माननेका जो उच्च सिद्धान्त है, उसको सबसे पहले बाइबलमें ही प्रकाशित किया गया है, अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थमें इस उच्च भाव की कल्पना न थी, यह ईसाई मतका दावा है !! किन्तु निष्पक्षपात दृष्टिसे वेद के निम्न लिखित मंत्रोंपर क्षणभर भी विचार किया जाए, तो वेदके अन्दर परमेश्वर की न केवल पितृरूपेण किंतु साथ ही मातृरूपेण कल्पना की गई है, यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगा। उदाहरणार्थ —

(१) यो नः पिता जनिता यो विधाता।
ऋ. १० । ८२ ।३

(२) स नो बंधुर्जनिता स विधाता।
यजु. ३२ । १०

(३) त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नः।
ऋ. १।३१।१०

(४) स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव।
ऋ १।१।९

इत्यादि स्थलोंमें परमेश्वर के लिये पिता शब्दका प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट है। परमेश्वर सबका समानरूपसे एक ही पिता है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यजुर्वेद में—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
य. ११।५

यह मंत्र आया है, जिसमें सब प्राणियों को एक ही अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र बताया गया है। ऋग्वेद तथा सामवेद में आये हुए —

त्वं हि नः पिता त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ॥
ऋ. ८।९८।११ ॥

इस मंत्र में तो साफ तौर पर परमेश्वर को पिता, माता, बताते हुए उस से सुखकी प्रार्थना की गई है। परमेश्वर को पिता मानते हुए सब मनुष्यों और प्राणियों का भ्रातृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है; तथापि यदि स्पष्ट वेदमंत्र की अपेक्षा समझी जाय,

तो ऋग्वेद का निम्न लिखित मंत्र पेश किया जा सकता है । — ऋ. ५ । ६० । ५

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, ।
संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय ॥

इस मंत्रका देवता मरुत् है, जिसका मनुष्य-वाची होना श्री सायनाचार्यनेभी, "**मनुष्यरूपा वा मरुतः।**" इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट स्वकिार किया है। मंत्र का अर्थ यह है कि=(एते)ये सब मनुष्य (भ्रातरः) भाई हैं (अज्येष्ठासः)इनमें से कोई जन्मसे –बडा नहीं (अकनिष्ठासः) कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब (सौभगाय) ऐश्वर्य वा उन्नति के लिये (सं वावृधुः) मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढते हैं। सार्वजनिक भ्रातृत्व (वा Universal Brotherhood) के उच्च सिद्धान्त का इस मन्त्र में जितनी उत्तमतासे प्रतिपादन है उतना बहुत ही कम दूसरे ग्रन्थों में पाया जाता है!! परमेश्वर को पिता और प्राणिमात्र को परस्पर भाई मानने का स्वाभाविक परिणाम सब प्राणियों को मित्र दृष्टिसे देखना है । इसी लिये वेदमें प्रार्थना की गई है—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ य० ३६ । १८

अर्थात् सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टिसे देखें, मैं सब प्राणियों को मित्रदृष्टिसे देखूं, हम सब परस्पर मित्रदृष्टिसे देखें। इससे बढ कर मित्रदृष्टि की शिक्षा देनेवाला उपदेश और क्या हो सकता है ? इसी प्रसंग में "**अनमित्रं नः पश्चादनमित्रं न उत्तरात् ।**" अथर्व० ६ । ४० । ३ यह वेद मंत्र द्रष्टव्य है, जिसमें सब दिशाओं में रहने वाले प्राणी हमारे मित्र बनें, शत्रुता का सर्वथा नाश हो जाए, यह प्रार्थना की गई है द्वेषभाव उपर्युक्त सार्वजनिक भ्रातृत्व अथवा विश्व प्रेम के सर्वथा विरुद्ध है। इस लिये वेद में स्थान स्थान पर द्वेषभाव को दूर करने के उपदेश और प्रार्थनाएं पाई जाती हैं । उदाहरणार्थ—

(१) "**विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ।** यजु. २१।३ । अर्थात् हमारे से सब प्रकार के द्वेष भाव को दूर कर दो।

(२) यजु. १२।४६ "**युयोध्यस्मद् द्वेषांसि**" यह प्रार्थना है जिसका अर्थ हमारे से सब द्वेष युक्त भावों को दूर कर दो ऐसा है ।

(३) "**आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम**"
ऋ. ५ । ४५ । ५

यह प्रार्थना है, जिसका भाव यह है कि, हम (सनुतः) सदा (द्वेषांसि) द्वेषभावों को (आरे दधाम) दूर रखें ।

(४) **अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम ॥** यजु० १२ । २९ ॥ अर्थात् हम सब द्वेष रहित द्युलोक और पृथिवी लोक को स्वीकार करते हैं, अथवा ये दोनों लोक द्वेषरहित हों। द्वेषक इन लोकों से समूल नाश हो जाएं, यह भाव यहां अभिप्रेत मालूम होता है ।

(५) **स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुत-र्युयोतु ॥** अथर्व २० । १२५ । ७

अर्थात् सब की रक्षा करनेवाला परमेश्वर द्वेष के भाव को हमसे सदा दूर रखे।

(६) इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्व देवाः। बाधतां द्वेषो अभयं नःकृणोतु सुवीर्यस्य पतयःस्याम॥ अथर्व०२०।१२५।६॥

अर्थात् सर्वरक्षक सर्वज्ञ परमेश्वर हमारे लिये सदा सुखदायक हो। वह हमारे द्वेष भाव को दूर करके हमें निर्भय बनाए, ता कि हम उत्तम वीर्य के रक्षक स्वामी होवें।

इस प्रकारके हजारों मन्त्र वेदोंसे उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु लेख विस्तारके भयसे हम इस विषय में अन्य प्रमाण देने की आवश्य कता नहीं समझते। द्वेष भाव को दूर करने की प्रार्थना वेदमें कितने साफ शब्दोंमें पाई जाती है, इस बात को दिखाने के लिये इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं। द्वेष भाव को दूर करके परस्पर व्यवहार करना चाहिये, इसके अन्दर ही यद्यपि प्रेमभाव की वृद्धि का उपदेश पर्यायरूपेण आ जाता है, तथापि स्पष्टतया इस भावके द्योतक दो तीन वेद-मंत्रों को उद्धृत करना यहां अनुचित न होगा।—

(१)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥ ऋ० १०।१९१।४

इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

(वः) तुम सब मनुष्यों का (आकूतिः) संकल्प (समानी) समान हो, वः (हृदयानि) समाना) तुम सब के हृदय समान हों, (वः) तुह्मारा (मनः) मन (समानं अस्तु) समान होवे, (यथा) जिससे (वः) तुह्मारा (सु सह असति) मिलकर अभ्युदय हो सके। इस पर टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं।

(२) यजुर्वेदका मत्रं इस प्रकार है—

" यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना असत्॥ य० ३०। ८६

अर्थात् हमारा व्यवहार इस तरह का हो, जिससे (सर्व इत् जनः) सब के सब मनुष्य (नः संगमे) हमारे संग में (अनमीवः) नीरोग तथा (सुमनाः) उत्तम मन वाले अर्थात् प्रीतियुक्त (असत्) हो जाएं।

(३) अथर्ववेद तृतीय काण्ड के ३० वें सूक्त में इसी बात को बहुत ही साफ शब्दों मे बताया गया है, जिसमें से दो मंत्रों को यहां उद्धृत किया जाता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि, मैं (वः) तुह्मारे अन्दर (स-हृदयम्) समानहृदय और (सांमनस्यं) समान प्रीति युक्त मन तथा (अ-वि-द्वेषं) द्वेषका सर्वथा अभाव (कृणोमि) स्थापित करता हूं, (अघ्न्या) गाय (जातं वत्सं इव) जैसे नये बछडेको प्यार करती है, वैसे तुम (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे के साथ (अभि हर्यत) प्रेम करो।

(४) अथर्व के उसी सूक्तका ४ र्थ मंत्र इस प्रकार है--

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अर्थात् (येन) जिस ज्ञान को प्राप्त कर के (देवाः) विद्वान् लोग (न वियन्ति) विरोध को नहीं प्राप्त होते, (नो च मिथः विद्विषते) और न परस्पर द्वेष करते हैं, (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषोंके लिये (तत् ब्रह्म संज्ञानं)वह बडा विस्तृत ज्ञान (कृण्मः) देते हैं । यहां वैदिक ज्ञानसे अभिप्राय है, जो सम्पूर्ण विरोध भाव को हटाकर परस्पर प्रीति के भाव को निरन्तर बढाने वाला है ।

(५)

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव।
अति गाहेमहि द्विषः॥ ऋ० २।७।३॥

ऋग्वेदका यह मंत्र इस प्रकरणमें विशेषउल्लेख करने योग्य है। इस का अर्थ यह है कि, हे परमेश्वर! (उदन्याः धारा इव) जिस प्रकार जल की धाराएं एक स्थान को छोड दूसरे स्थान पर जाती हैं, उस प्रकार (वयम्) हम (त्वया) तेरे आश्रय से (विश्वा उत द्विषः)सब के सब द्वेष युक्त भावों से (अति गाहेमहि) पार चले जाएं। परमेश्वर का आश्रय लेते हुए, सम्पूर्ण द्वेषभाव का नाश करके सब मनुष्यों को परस्पर मित्रभाव की वृद्धि करनी चाहिये,यह मंत्र का स्पष्ट आभिप्राय है।

(३) ऋग्वेद ३।२०।१ का निम्न लिखित मन्त्र विद्वान् लोग केवल अहिंसायुक्त व्यवहार कोही पसन्द करते हैं,इस बात को साफ जाहिर करता है, जो इस प्रकार है—

सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः सजोषसो अध्वरं वावशानाः॥

अर्थात् (सुज्योतिषः)उत्तम विद्या प्रकाश युक्त (सजोषसः)परस्पर समान प्रीतियुक्त (अध्वरं वावशानाः)अहिंसामय व्यवहार की कामना करने वाले वा उसे पसन्द करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (नः शृण्वन्तु) हमारी प्रार्थना को सुनें । "अध्वर" शब्द की निरुक्ति यास्क मुनिने '**ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः,**' ऐसी बताई है, जिस से अध्वर शब्द का अहिंसा मय व्यवहार ही मुख्य अर्थ है, यह स्पष्ट प्रमाणित होता है ।

इस प्रकार अहिंसा धर्म के मुख्य मुख्य तत्त्वों का मूल वेदमें किस प्रकार उत्तम रीति से पाया जाता है,यह देखा जा सकता है । इस विषय के आक्षेपों तथा शंकाओं का आगे विचार किया जाएगा ।

(क्रमशः)



विषय सूचि।

वैदिक धर्म के नियम।

[१] " वैदिक धर्म " प्रतिमास पहिली तारीख के दिन प्रकाशित होगा।

[२] सबके अंक देख भालकर एकही दिन डाक खानेमें दिये जाते हैं। तथापि किसी कारण किसीको किसी मासका अंक न मिले, तो उसी मासके अंतमें निम्न लिखित पतेपर विदित करनेसे पुनः भेजा जायगा। परंतु एक दो मासके पश्चात् पिछले अंक मिल नहीं सकेंगे, क्यों कि पिछले अंक शीघ्रही समाप्त हो जाते हैं।

[३] ग्राहक अपने पत्रोंपर अपनी " चिट संख्या " अवश्य लिखें, नहीं तो उनके पत्रोंका योग्य उत्तर मिलना कठिन होगा। " चिट संख्या " वह होती है, जो पतेपर ग्राहकोंके नाम के साथ लिखी होती है।

[४] **ऊर्दू पढनेवाला यहां कोई नहीं है, इसलिये कोईभी महाशय ऊर्दूमें पत्र न लिखें। ऊर्दूमें लिखे पत्रोंका उत्तर देना हमारे लिये अशक्य है।**

[५] " वैदिक धर्म " का वार्षिक मूल्य मनी आर्डरसे ३॥) रु. है और वी. पी.से. ४) चार रु.है। विदेशके लिये ५) रु. है। **मूल्य मनीआर्डर द्वारा भेजनेमें ग्राहकों का लाभ है।**

[६] मूल्य भेजने तथा प्रबंधके संबंधका सब पत्र व्यवहार " मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि.) सातारा " के नामसे करना चाहिये।

[७] " वैदिक धर्म " में प्रकाशनार्थ लेख, कविता आदि, तथा " वैदिक धर्म " के परिवर्तनार्थ पुस्तकें, और मासिक पत्र आदि " संपादक-वैदिक धर्म, औंध (जि. सातारा) " के नाम आने चाहियें।

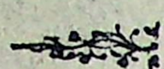
[८] लेखक अपने लेख कागजके एक ओर ही लिखें, और जहांतक हो सके वहांतक यत्न करके " सुवाच्य " लिखनेकी कृपा करें। जिससे लेख के मुद्रणमें कोई अशुद्धि होनेकी संभावना नहीं होगी।

[९] लेख जहांतक हो सकें वहांतक छोटे हों। उनमें झगडोंके शास्त्रार्थ और ईर्ष्या द्वेष के भाव न हों। **लेख में कुछ विशेष विचारकी तथा पाठकोंके हित की नवीन बात अवश्य हो।**

[१०] **" वैदिक धर्म " में केवल अनुवाद के तथा अन्यत्र मुद्रित लेख छापे नहीं जांयगे। और मुद्रण विषयमें अंतिम निश्चय संपादक ही करेंगे।**

मंत्री-स्वाध्याय मंडल. औंध [जि.]

मुद्रक तथा प्रकाशकः--श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि.सातारा)



आसन।



संध्योपासना " आदि सब धर्मकृत्योंमें सबसे प्रथम " आसन " लगानेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आसनोंका महत्व। आसनोंका महत्व उतनाही है जितना, कि आरोग्यका महत्व है। आरोग्यके साथ आसनोंके व्यायामोंका घनिष्ठ संबंध है। शरीरके सब आंतरिक अवयवों और अंगों तथा नसनाडियोंका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् प्राचीन काल के ऋषि मुनि और योगियोंने इस आसन पद्धतिकी सिद्धता की है।

आसनोंके अभ्यास से लाभ।— आसनोंसे आरोग्य प्राप्तिका अनुभव होता है। यह बात केवल श्रद्धा अथवा अंध--विश्वाससे ही माननेकी नहीं है। इस समयमें भी सहस्त्रोंकी संख्यामें अनेक लोगोंने इन आसन के व्यायामसे अपूर्व लाभ उठाया है।

स्वयं अनुभव लीजिये।— जहां स्वयं एक दो मासके अंदर ही अनुभव आ सकता है, वहां तर्कका और दलीलोंका काम ही क्या है? अनेक असाध्य बीमारीयां इस पद्धतिके आसनोंके व्यायामसे दूर हो गईं हैं। औषधिके सेवन की आवश्यकता नहीं है, इसमें व्यय कुछ भी नहीं है। केवल प्रातिदिन १५ अथवा २० मिनिट कुछ आसन आप करते जाइये, आपको आठ दस दिनों के अंदरही इससे आरोग्यका अनुभव निःसंदेह हो जायगा।

इसमें कोई कठिनता नहीं है।— कई लोग ख्याल करते हैं कि आसन करनेमें बडी कठिनता होती है। परंतु ऐसा वस्तुतः नहीं है। आसनोंका अभ्यास बडा सुगम है। आप जितना सुगम चाहते हैं उससेभी सुगम है। इसीलिये इस अभ्याससे इस समयभी ७० और ७५ वर्षके वृद्ध पुरुष लाभ उठा रहे हैं।

स्त्रियों के लिये लाभ।

स्त्रियोंको प्रसूतिके बहुत कष्ट होते हैं। इसका एक मात्र उपाय आसनोंका अभ्यास ही है। अनेक स्त्रियोंने इसका अनुभव लिया है, जिससे यह निश्चय पूर्वक और बलपूर्वक कहा जाता है कि, जो स्त्रियां नियम पूर्वक आसनोंका व्यायाम करेंगी और विशेषतः गर्भवती होनेपर करने योग्य आसन करती जायंगी, तो उनको प्रसूतिके कष्ट कदापि नहीं होंगे।

स्त्री और पुरुषोंके लिये लाभकारी।

इस प्रकार यह आसनोंका व्यायाम स्त्रियों और पुरुषोंके लिये लाभकारी है।

आसनोंका पुस्तक।

इस आसनोंके पुस्तकमें अनुभवके सब आसन दिये हैं, आसनोंके तत्त्वका वर्णन किया है और नवीन आसन बनानेकी भी विधि बताई है। पुस्तक सर्वांग सुंदर, सचित्र और अत्यंत सुगम है।

मूल्य केवल २) दो रुपये हैं। डाकव्यय अलग होगा. अतिशीघ्र मंगवाइये।

मंत्री---**स्वाध्याय मंडल, औंध** (जि. सातारा)

Registered No. B. 1463

क्रमांक ५०



वैदिकधर्म



वर्ष ५. माघ. सं. १९८०

अंक २ फर्वरी. स. १९२४





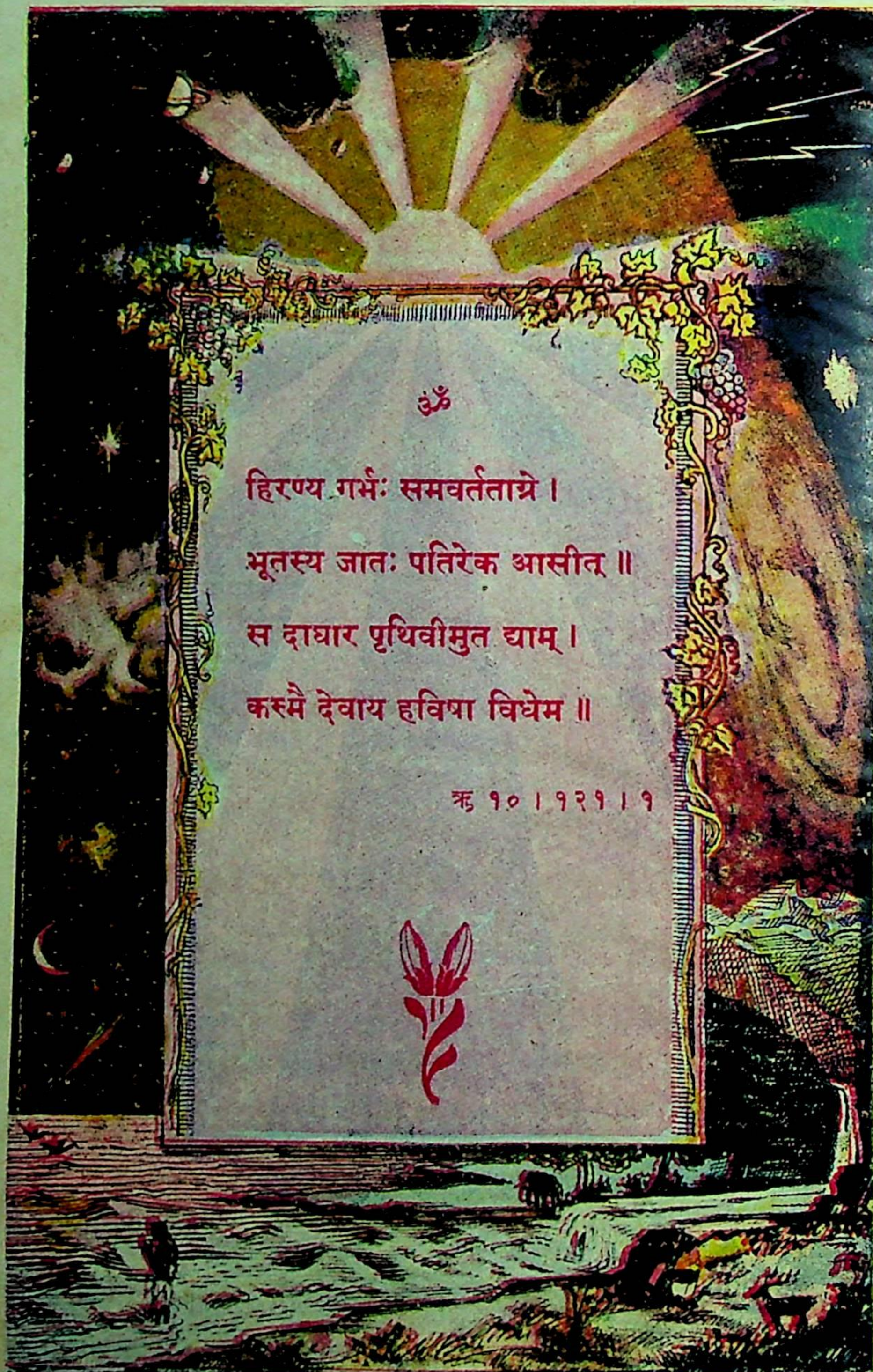


संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

मूल्य रु. १)

विषय सूचि।

"वैदिक धर्म" का विशेष अंक।





वर्ष ५
अंक २
क्रमांक ५०

माघ १९८०
फर्वरी १९२४

वैदिकधर्म।

वैदिक तत्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

निर्वैरता।

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु॥ नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ अ. १२।१।२

(यस्याः) जिस मातृभूमिके (मानवानां) मनुष्योंके (मध्यतः) अंदर (उत्–वतः) उच्चता, (प्र–वतः) नीचता तथा (समं) समता के विषय में (बहु) बहुत (अ-सं-बाधं) निर्वैरता है, और (या) जो (नाना-वीर्या) विविध वीर्यगुणोंसे युक्त (औषधीः) वनस्पतियोंको (बिभर्ति) धारण पोषण करती है, वह (नः पृथिवी) हमारी मातृभूमि (नः प्रथतां) हमारी कीर्ति को (राध्यतां) सिद्धता करे॥

मातृभूमिके अंदर जो ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर तथा अशिक्षित लोग रहते हैं, उनमें परस्पर वैर नहीं होना चाहिये। एक उच्च और दूसरा नीच यह भाव किसीके अंदर न हो। इस प्रकार की मातृभूमि जिसमें विविध प्रकारकी औषधियां भी उत्पन्न होती हैं, वह हमारा यश बढानेवाली हो।

* धर्मका तत्व। *

धर्मका तत्व—

धर्म क्या वस्तु है और धर्म कहां रहता है, इसका विचार जैसा आर्य शास्त्रोंमें किया है, वैसा विस्तृतरूपसे किसी अन्य ग्रंथमें किया नहीं है। धर्मके लक्षण विविध मतवाले आचार्योंने अनेक प्रकार किये हैं, दार्शनिकोंने तथा स्मृतिकारोंनें भी धर्मका स्वरूप विशद करनेका बहुतही यत्न किया है। इतना होने पर भी "धर्म" के अंदर अनंत झगडे खडे होगये हैं और हो रहे हैं !! क्या यह आश्चर्य नहीं है ?



ऐसा क्यों होता है ?—

धर्मका संबंध हरएक मनुष्यके साथ है, हरएक "**मानव**" के साथ धर्मका संबंध होनेसेही धर्मका नाम आर्यशास्त्रोंमें "**मानव-धर्म**" कहा है। जबसे मनुष्य उत्पन्न हुआ है, उसी समयसे उसके साथ "धर्म" आ रहा है। और यह धर्म मनुष्यके अंतःकरणमें रहता है। इसीलिये धर्मके लक्षणोंमें "**आत्म प्रतीति**" यह अंतिम लक्षण माना गया है। श्रुति, स्मृति, सदाचार अर्थात् सत्पुरुषोंका आचरण, और आत्मसंतुष्टि यह चार प्रकार का धर्म–लक्षण है। इस मनुवाक्यमें अंतिम कसौटी "**आत्म संतुष्टि**" कही है। इसका मुख्य तात्पर्य, धर्मका मुख्य वसतिस्थान मनुष्य के हृदयमें है, यही है। कोई आर्य-धर्मशास्त्र-कार इस कसौटी को दबाना नहीं चाहता। परंतु जो लोग सच्चे धर्म को नहीं जानते, वे इसीको गौण मान कर, अन्य प्रमाणोंको अधिक महत्व देकर आत्मप्रतीतिको दबाने लगते हैं!! "**आत्मा न दबने वाला**" होनेके कारण इसी हेतुसे झगडे खडे होते हैं, आप धर्मोंके इतिहासोंमें इसकी सत्यता देखिये। धर्म की क्रांति होनेका कारण यही है।



आत्मविकास का अवसर।—

हरएक मनुष्यका आत्मा उन्नति प्राप्त करनेके लियेही इस देहमें आया है। आत्माकी सदिच्छाको दबाया नहीं जा सकता। इसलिये जिस धार्मिक, राजकीय तथा सामाजिक विषमताके कारण आत्मापर दबाव आने लगता है, उसी समय वह आत्मा उस दबाव को हटानेका यत्न करता है। इसी कारण धार्मिक–क्रांति, राज्यक्रांति अथवा सामाजिक क्रांति होती है। अनंत कालके मानवी इतिहास में यही एक तत्व कार्य कर रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि, जो मनुष्य उक्त प्रकार

क्रांति होनेके पक्षपाती नहीं हैं, उनको उचित है, कि वे अपनी पराकाष्ठा करें और धार्मिक सामाजिक तथा राजकीय केंद्रोंमें जो जो विषमता है, उसको दूर करें और समता स्थापन करें। अन्यथा क्रांति अपरिहार्य ही है।

समता ही धर्म है।–

समता ही धर्म है, और विषमता अधर्म है। यदि आप अपने समाजमें धर्म है या नहीं है, इसकी परीक्षा करना चाहते हैं, तो उस समाजमें "**समता**" है या नहीं इसका विचार कीजिये। इस प्रकार अपने धर्म में समता कितनी है और राज्ययंत्र में कितनी समता है, इसका विचार कीजिये। जाती जाती की विषमता सामाजिक अशांतिके मूल में होती है। जाति संबंधसे उत्पन्न हुई हुई विषमता जबतक रहेगी, तब तक सामाजिक शांति रहनी अशक्य है। अर्थात् जबतक यह जातीय विषमता रहेगी, तबतक सत्य धर्मका पालन कभी भी नहीं हो सकता। इसप्रकार यह विषमताही धार्मिक अशांति का मूल कारण है।

कर्तव्य ही धर्म है।––

धर्म शब्दकी लंबी चौडी व्याख्याएं बहुत होचुकीं हैं, परंतु उनसे कोई बोध साधारण मनुष्यको नहीं होता। इस लिये साधारण मनुष्यके मनमें शीघ्र बोध हो जाय, ऐसी धर्म की सरल व्याख्या होनी चाहिये। "धर्म" शब्दके जो गूढ और सूक्ष्म भाव हैं, वे किसी अन्य शब्द से व्यक्त नहीं होते, यह सत्य है; तथापि "**कर्तव्य**" शब्दमें धर्मका बहुतसा भाव आता है। इस लिये "**कर्तव्य करना**" **ही धर्म है**। जिस अवस्थामें जो मनुष्य होगा, उस अवस्थामें उसका जो मुख्य कर्तव्य होगा, वही उसका उस समय का धर्म है। मनुष्य अपने कर्तव्य नहीं करते, इसलिये कर्तव्य हीनतासे जो दोष उत्पन्न होता है, वही विषमताका मुख्य हेतु है, और यही विषमता सर्वत्र दुःख उत्पन्न करती है।

विषमताकी व्याप्ति।––

इस विषमताकी व्याप्ति देखिये। जिस समय शरीरमें धातुओंकी विषमता होती है, उसी समय रोगों की उत्पत्ति होती है, जिस समय मनमें विषमता होती है उसीसमय मन का क्षोभ होता है, मस्तिष्क में विषमता होनेसे मनुष्य पागल बनता है, कुटुंबमें तथा परिवार में विषमता होनेसे गृहकलह होते हैं, जाति जाति की विषमता बढनेसे जातियों के द्वेष और झगडे होते हैं, राज्याधिकारों की विषमता होनेसे राजकीय हलचल घोररूप धारण करती है, आबहवाकी विषमता के कारण भयानक व्याधी अकाल आदि उत्पन्न होते हैं, भूमि के आंतरिक रसोंकी विषमता के कारण भूचाल होते हैं। इसप्रकार सर्वत्र जगत् में विषमतासे उपद्रव और समतासे सुख होते हैं,। जिस मार्गमें विषमता अधिक अर्थात् उच्चनीचता अधिक होती है, उसीमार्ग में पतन का डर अधिक होता है। यह नियम सार्वभौमिक है।

धर्ममें पुरुषार्थ ।—

वैदिक धर्म में चार पुरुषार्थ करनेका उपदेश है। कई तार्किक लोग कहते हैं कि " पुरुषार्थ " क्यों कहा है ? और " स्त्री--अर्थ " क्यों नहीं कहा ? क्या स्त्रियोंको धार्मिक पुरुषार्थ करनेकी आज्ञा नहीं है ? ये तार्किक कहते हैं कि धर्मकी आज्ञा लिखने वाले पुरुष होनेके कारण उन्होंनें अपने अभिमानसे " पुरुषार्थ " करनेकी आज्ञा कही है ! ! यदि धर्मग्रंथ की लेखिका स्त्रियें होतीं तो वे पुरुषार्थ शब्दका कदापि प्रयोग नहीं करतीं ! ! !

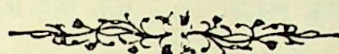
इन तार्किकों की धन्यता है !—

तर्कका कुल्हाडा क्या करेगा और क्या नहीं, इसका पता लगाना कठिन है । " पुरुषार्थ" शब्दके अर्थका पता न होते हुए ही जो तर्कसे मनमाने अनुमान कर रहे हैं, उनपर परमेश्वर ही दया कर सकता है ! ये समझते हैं कि " पुरुष " शब्दका अर्थ " नर "ही है, परंतु यह बडी भारी भूल है । " पुरुष " शब्द " पुर + उष् " (पुर + वस्) शब्दोंसे बनता है, जिसका मूल अर्थ (पुरि) नगरी में (उष्-वस्) वसने अर्थात् रहने वाला है। जो नगरमें रहता है, जिसको " नागरिक " कहते हैं, वह " पुरुष " शब्दसे बताया जाता है । तात्पर्य यह है कि "पुरुष" शब्दका मूल अर्थ " नागरिक " है । नगरमें रहनेवाले नागरिकों में जैसे नर होते हैं, उसी प्रकार नारियें भी होतीं हैं । इन नागरिकों का जो (अर्थ) प्रयोजन अथवा उद्देश्य होता है, उसका नाम है " पुरुषार्थ " । नागरिकोंका कर्तव्य इस शब्दसे बताया जाता है। यह शब्द पुरुषों का तथा स्त्रियोंका भी कर्तव्य बताता है।

समता का मार्ग ।–

इसलिये समताके धर्म मार्ग का अवलंबन करना अत्यंत आवश्यक है । समताका मार्ग ही सत्य धर्म मार्ग है। पाठक इस दृष्टिसे अपने धर्मका विचार करें, और जाननेका यत्न करें की अपना आजका कर्तव्य क्या है ? तथा उस धर्मके सम-मार्ग का आक्रमण करके अपनी तथा सब अन्योंकी उन्नति करके यश के भागी बनें ।

इंद्र शक्ति का विकास।



(१) मनुष्य जीवन का उद्देश्य।

मनुष्यका जीवन इसलिये है कि, वह **अपने अंदरकी दैवी शक्तिका विकास करे।** प्रत्येक मनुष्यके अंदर बीज रूपसे अनेक दैवी शक्तियां हैं, और प्रत्येक शक्ति बीज रूप होनेके कारण उसका विकास संभवनीय है। हरएक बीज, बीज होनेके कारण ही, आंतरिक शक्तियोंके विकास के लिये ही निर्मित हुआ है। अनुकूलभूमि और योग्य जलवायुकी उत्तम परिस्थिति प्राप्त होतेही उस बीजका विकास होनेका प्रारंभ होता है। स्वभावधर्मसे ही इसप्रकार हरएक बीज विकसित होने लगता है, परंतु कई बीज भूनने-वालेके हाथमें चले जाते हैं, और भूने जाते हैं। इस प्रकार उनके विकासका मार्ग बंद हो जाता है। परंतु कई बीज उत्तम मालीके पास पहुंचनेके कारण योग्य खाद आदिके विशेष प्रबंधसे इतने उन्नत और विकसित होते हैं कि, उनको देखकर देखने वालेके मनमें बडाही आश्चर्य युक्त संतोष उत्पन्न होता है!!!

यही तीन अवस्थाएं मनुष्य के लिये भी होती हैं। हरएक मनुष्यमें दैवी शक्तियोंके बीज हैं। कई मनुष्य योग्य शिक्षाके अभाव के कारण यथा कथंचित् स्वयमेव बढते हैं। कई लोगों की शक्तियां गुलामी की भयानक आगसे भूनी जाती हैं, और उनके विकासमें प्रतिबंध होता है। परंतु कई मनुष्य योग्य गुरुके पास योग्य राजाके सुयोग्य शिक्षाप्रबंध में रहनेके कारण विशेष विकसित होते हैं। इस भूमंडलके अनेक देशोंमें जो जनता वि-भक्त हुई है, उसमें ये त्रिविधि जन पाठकोंको दिखाई देंगे। तात्पर्य यह है कि मनुष्यके विकास के लिये उत्तम शिक्षा प्रबंध की अत्यंत आवश्यकता है। इसीलिये कहा है कि—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत॥

कठ ३।१४

" उठो, जागो और श्रेष्ठों को प्राप्त करके उत्तम बोध प्राप्त करो। " अर्थात सुयोग्य गुरुसे ही उत्तम ज्ञान प्राप्त करके सावधानताके साथ प्रयत्न करनेसे शक्तिका विकास संभव है

३

(२) अपने अंदर की शक्तियाँ।

पाहिले कहा ही है कि अपने अंदर अनेक शक्तियां हैं, आंखमें सूर्यशक्ति है, मुखमें आग्नेयी शक्ति है, नाकमें आश्विनीशक्ति है, हृदयमें इंद्र शक्ति है, फेंफडोंमें रौद्री शक्ति है, यहां ही मारुत शक्ति है, उसी प्रकार हरएक अवयव में एक एक देवताकी शक्ति बीजरूप अथवा अंशरूप है। जिस प्रकार आगकी एक चिनगारी होती है, उसी प्रकार सूर्यादि विशाल देवताओं की एक एक चिनगारी हमारे देहमें अपने योग्य स्थान में रही है। इस चिनगारी को प्रदीप्त करना ही उस शक्तिका विकास है।

बीजरूप शक्तियां अनेक हैं और हरएक शक्तिका विकास करनेके मार्ग भी भिन्न ही हैं। एक एक शक्तिके विकास के विषय में जो अनंत बोध वेदमें आगये हैं, उनका विचार करने के लिये बडे बडे ग्रंथ लिखनेकी आवश्यकता है। यह विषय योगका है, और वास्तवमें देखा जाय, तो "**योग शास्त्र शक्ति विकास का ही एक विशेष शास्त्र है।**" मनुष्य जीवन की उन्नतिके साथ इसीलिये योगका घनिष्ठ संबंध है। योग, संयोग, नियोग, वियोग, अधियोग, सुयोग, प्रयोग, उद्योग, अभियोग, उपयोग, अतियोग आदि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वे वास्तवमें योग के ही रूप हैं; परंतु उनके अर्थ विभिन्न हुए हैं, इसलिये अब उनका संबंध योग के साथ स्पष्ट रूपसे दिखाई नहीं देता!! तथापि उनके मूल भाव देखने पर उनका संबंध योग के साथ ही विदित हो सकता है। अस्तु।

तात्पर्य यह है कि "**मनुष्यकी शक्ति विकसित करने का नाम योग है,**" और हरएक शक्ति विकसित करनेके प्रयोग भिन्न भिन्न हैं, यही बात यहां देखनी और ध्यान में धारण करनी चाहिए।

(३) अपने अंदर की इंद्र शक्ति।

जिस प्रकार अपने अंदर विविध देवताओं की अंशरूप शक्तियां हैं, उसी प्रकार "**देव राज इंद्र की अंशरूप शक्ति भी हमारे अंदर विद्यमान है।**" बाह्य जगत् में सब देवताएं गौण हैं और इंद्र मुख्य है; इसी लिये उसको देवराट् अथवा "**देवराज**" कहते हैं। ठीक इसी प्रकार अपने शरीरमें भी विविध देवताओंके अंश हैं, और उनका मुख्य अधिष्ठाता इंद्रका अंश है। दोनों स्थानोंमें इंद्र का मुख्य होना एक जैसा ही है।

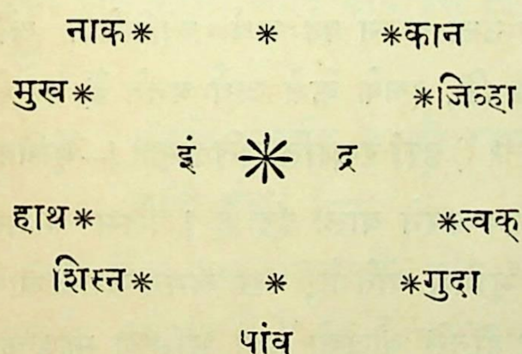
इसी इंद्र की शक्ति इंद्रियोंमें आकर कार्य करती है। जिस प्रकार राजाकी शक्ति ओहदेदारोंमें आकर संपूर्ण ओहदेदारोंका कार्य करती है; ठीक इसी प्रकार देवराज इंद्र की शक्ति इंद्रियोंमें आकर कार्य कर रही है; इसी लिये इन अवयवोंको "इंद्रिय" कहते हैं। इंद्रिय शब्दका अर्थ ही यह है, देखिये—

इंद्रियमिंद्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिंद्रदत्तमिमि वा॥

पाणिनीयअष्टा. ५।२।९३

"(१) जो इंद्रका चिन्ह है, (२) जो इंद्रसे दृष्ट है, (३) जो इंद्रने उत्पन्न किया है, (४) इंद्र जिसका सेवन करता है, (५) इंद्रने जो दिया है, वह इंद्रिय है।"

हमारी इंद्रियां ही अंदरकी इंद्रशक्तिको जाननेके चिन्ह हैं, इन चिन्होंसे ही सूचित होता है कि इनके मध्य स्थानमें इंद्र महाराज बैठे हैं, जो इंद्र अंदर बैठा है वह इन इंद्रियोंके सुराखोंसे अपने अभीष्ट विषयको देखता है, अपने अभीष्ट विषय को देखने और प्राप्त करनेके लिये ही उस इंद्रने ये सुराख अथवा इंद्रिय बनाये हैं, इन इंद्रियों से ही वह सेवा लेता है, तात्पर्य इंद्र की दी हुई शक्ति ही यहां है। ये भगवान् पाणिनी महामुनिके दिये हुए अर्थ देखने और विचार करने योग्य हैं। इन से निश्चित हो जाता है कि, मध्य में इंद्र है और उसकी शक्तियां चारों ओर फैल कर इंद्रियों में कार्य कर रहीं हैं —



देवराज इंद्र के चारों ओर इस प्रकार अन्य देव अर्थात् इंद्रियां रहतीं हैं। इसीलिये "वेद" और उपनिषदोंमें इंद्रियोंके लिये "देव" शब्द प्रयुक्त होता है, क्यों कि देवों का राजा अंदर है और अन्य देव बाहिर हैं। अस्तु। इन इंद्रियोंसे आंतरिक इंद्र का ज्ञान होता है। इस इंद्र की जो शक्ति, अथवा सच कहा जाय, तो अंशरूप शक्ति, जो हमारे अंदर है उसका विकास करना चाहिये। इसका विकास करने के लिये ही यह मनुष्य जन्म है। यदि इस जन्ममें मनुष्यने इस बीजरूप शक्तिका विकास करनेका यत्न किया, तो इस जन्मका सार्थक हुआ। नहीं तो जन्म व्यर्थ गया, ऐसा ही समझना चाहिये।

(४) इंद्र और स्वर्ग।

इंद्र स्वर्ग में रहता है, संपूर्ण देव उसके साथ रहते हैं, यह बात सब लोग जानते हैं। यदि इंद्रियां ही देवगण हैं और देवोंका राजा उन के बीचमें हृदय में निवास करता है, तो यह निश्चित ही है, कि सच्चा स्वर्गधाम हमारे हृदयमें ही है। जहां इंद्र है, वहां ही स्वर्ग है। हमारे हृदयमें इंद्र है, इस लिये हृदय के अंदर ही स्वर्गधाम है। इसकी सिद्धता करनेके लिये प्रमाणांतर देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, उक्त बातों का विचार करनेसे ही इसकी सिद्धता होती है। वेद में भी यह बात कही है —

**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या॥
तस्यां हिरण्ययःकोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥**

अथर्व. १०।२।३१

" आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त **यह अयोध्या देवोंकी नगरी है।** उसमें जो हिरण्मय कोश है वही तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है।'

दो आंख, दो नाक, दो कान, एक मुख, शिस्न और गुदा ये नौ द्वार इस "**शरीर रूपी अयोध्या नगरी**" के हैं। इस नगरी में हृदय स्थानमें एक कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है।

४

इस शरीरमें पूर्वोक्त नौ स्थानों में इंद्रिय शक्तियां हैं। इसको " इंद्रिय-संस्थान " कहते हैं। मंत्र में जो आठ चक्रोंका वर्णन है, वह " मज्जा-तंतु-संस्थान "के आठ केंद्र हैं। जिस प्रकार एक एक इंद्रिय में अद्भुत शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार हरएक मज्जाकेंद्र में विलक्षण शक्ति है ! हरएक स्थानकी शक्ति विकसित करने के उपदेश वेदमें हैं, इनका ही विचार इस लेख में करना है। चूंकि संपूर्ण केंद्रोंमें एक ही इंद्र शक्ति पहुंचती है और वहां का कार्य करती है, इसलिये एक इंद्र शक्ति का विकास होनेसे, उसका परिणाम संपूर्ण शक्ति केंद्रोंपर होता है। इससे पाठकोंके मनमें यह बात आचुकी होगी, कि इंद्र शक्तिका विकास करना मुख्य है और इसका ही विचार मुख्यतया इस लेख में करना है। तथापि जिन लोगोंको विशेष शक्ति-केंद्रों का ही विकास अभीष्ट है, वे अपने अभीष्ट केंद्र का ही विकास कर सकते हैं। इस बातका विचार किसी अन्य लेखमें किया जायगा। यहां इस मुख्य इंद्र शक्तिके विकास का ही विचार करना है।

(५) इंद्रके गुणधर्म।

अपने अंदर हृदय स्थानमें जो चालक इंद्र शक्ति है, उसके गुण धर्म देखने जाहियें। उस शक्तिके गुणधर्म जानने के विना उसका विकास करना अथवा विकास का प्रयत्न करना भी अशक्य है। इंद्र देवताके सूक्तों में इसी के गुण धर्म वर्णन किये गये हैं, और उनका संक्षेपसे वर्णन यास्काचार्य जी ने अपने निरुक्तमें किया है। यही निरुक्तका संक्षिप्त वर्णन यहां देखिये —

इन्द्र इरां दृणातीति वेरां ददातीति वेरां दधातीति वेरां दारयत इति वेरां धारयत इति वेन्दवे द्रवतीति वेन्दौ रमत इति वेन्धे भूतानीति वा। तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तादिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते। इदं करणादित्याग्रयणः। इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण, इञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा-दरयिता वा यज्वनाम्॥ निरु.दै.४।१।८।

" इरा " शब्दके अर्थ " (१) भूमि, (२) वाणी, (३) जल, (४) अन्न, (५) आनंद, सुख, " ये हैं। इन अर्थों को लेकर उक्त वचन का अर्थ कीजिये। और देखिये कि, इसके कैसे अर्थ बनते हैं —

(१) **इरां दृणाति इति इन्द्रः।**—भूमिका विदारण करने वाला इंद्र है। जिस समय बीज भूमिमें बोते हैं, उस समय जलके साथ संबंध होनेसे बीजको तथा भूमिको फाड कर अंकुर ऊपर आता है। इतना कोमल अंकुर होते हुए भी वह कठिण भूमिको फाडकर ऊपर उठता है, यह जिस शक्तिसे होता है वह " **इन्द्र शक्ति** " है। हरएक बीजमें इन्द्र शक्ति रहती है, यह इन्द्र शक्ति बीजमें ही कैद या बंद रहना नहीं चाहती। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही कठिनसे कठिन भूमिको फाड कर और सब प्रतिबंधोंको तोड कर ऊपर उठती है !! यही इंद्र शक्तिका

विकास है। जिस पिता वृक्ष का वह बीज होता है, उस पिता के समान अथवा उससे भी अधिक विस्तृत बननेकी इच्छाशक्ति प्रत्येक बीजके इंद्रके अंदर है, और इसलिये वह भूमिके प्रतिबंध को तोड कर ऊपर उठनेका प्रयत्न करती है।

(२) इरां दारयत इति इंद्रः।– भूमिको फाडनेवाला इंद्र होता है। इसका भी तात्पर्य ऊपर लिखा ही है।

(३) इरां ददाति, दधाति, धारयते वा स इन्द्रः।—

जो जल देता है और धारण करता है वह इंद्र है। मेघ स्थानीय विद्युत् इस प्रसंग में इंद्र है, मेघमें जल उत्पन्न करना, मेघोंसे जलकी वृष्टि करना आदि कार्य इस बिजुली के हैं।

(४) इंदवे द्रवति, इन्दौ रमते इति इंद्रः।—

इंदुके लिये जल छोडता है और इन्दुमें रमता है, वह इंद्र है " इंदु " का अर्थ है– "सोम, चंद्र, रस, बिंदु "। यहां रस अभीष्ट है। वनस्पतियोंका रस इंदु है। वनस्पति के रस के लिये स्रवता है और वनस्पतिके रसमें रमता है यह कार्य इंद्रका है। **वनस्पतिके रस में इंद्र शक्ति रमती है,** यह बात यहां पाठक ध्यानमें धारण करें, क्यों कि इंद्रशक्ति के विकास के अनुष्ठानमें इस बातका विशेष संबंध आने वाला है। (इसी लेखमें आगे " **वारुणी पांन** " का प्रयोग देखिये)

(५) इन्धे भूतानि इति इन्द्रः।–

भूतोंको प्रदीप्त करता है वह इंद्र है। पदार्थ मात्रका रूप इसी इंद्र शक्तिके कारण है। विशेषतः पदार्थ का तेज इंद्रके कारण ही है। सूर्यचंद्रादिकों का तेज, वनस्पतियों का जीवन, पशुपक्षी और मनुष्यों में जो जीवनकी तेजस्विता है, जो मरनेके बाद नहीं होती, वह इंद्र का ही तेज है। यही " **जीवन की बिजली** " है, जो प्राणियों और वृक्षोंमें दिखाई देती है।

(६) प्राणैः समैन्धंस्तादिन्द्रस्येंद्र त्वम्।––

प्राणोंसे जो तेज उत्पन्न होता है, अथवा प्राणोंसे जो बढता है, वही इंद्रत्व है। पाठक यहां इस बातका स्मरण रखें, कि इंद्रशक्तिका विकास करने के अनुष्ठान में प्राणायाम का विशेष महत्व है, क्यों कि प्राणोंसे ही इंद्रकी दीप्ति बढती है।

(७) इदं करणात् इन्द्रः।—

यह बनाता है, इसलिये इसको इन्द्र कहते हैं। इस शरीरको करनेवाला तथा इस शरीरमें शक्तिकी न्यूनाधिकता सिद्ध करने वाला इंद्र है, इसी लिये इन्द्रशक्तिका विकास करनेसे मनुष्यकी शक्ति बहुत ही उन्नत होती है।

(८) इदं दर्शनात् इन्द्रः।—

इंद्र इसको देखता है। दर्शक और द्रष्टा इंद्र है। यहां देखने वाला तथा करने और बनाने वाला इंद्र है।

(९) इंदति ऐश्वर्यवान् भवतीति इंद्रः।— ऐश्वर्यसे युक्त होता है, वह

इंद्र है। प्रभुत्व स्वामित्व आदि भाव इस अर्थ में हैं। देवोंका यह राजा है, यह बात पूर्व स्थलमें बताई गई है, इसलिये इस अर्थ के विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

(१०) इन् शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा इन्द्रः।—

शत्रुओं का विदारण अथवा नाश करनेवाला इंद्र है। अर्थात् संपूर्ण विरोधियों को दूर भगाने वाला यह है। इस का इतना सामर्थ्य है। शरिर में रोग, व्याधी, बुरे विचार, आदि अनेक शत्रु हैं, उनको दूर करनेकी शक्ति इस इंद्र में है। इसीलिये इस इंद्र की शक्ति विकासित करनी चाहिये; जिससे संपूर्ण आपत्तियों का नाश होगा और परम आनंद प्राप्त होगा। यही विकास का महत्व है।

पूर्वोक्त व्युत्पत्तियों का आध्यात्मिक भाव ही इस लेखमें अभीष्ट है, इसलिये उतना ही यहां दिया है। पूर्वोक्त व्युत्पत्तियों को परमात्म विषयक तथा अन्य विषयों के अर्थ यहां अनावश्यक होनेके कारण उनका यहां विचार नहीं किया, उनको पाठक स्वयं जान सकते हैं, इन अर्थों के अतिरिक्त इंद्र शब्दके निम्न अर्थ भी यहां देखने चाहियें—

(१) स्तनयित्नुरेवेन्द्रः।

बृ.उ. ३।९।३

(२) इन्धं संतमिंद्र इत्याचक्षते।

बृ. उ. ४।२।२।

(३) इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा ।

प्र. उ २ । ४

(४) तमिदंद्रं संतमिंद्रमित्याचक्षते।

ऐ. उ . ३ । १ ४

(१) मेघों मे गर्जना करनेवाली विद्युत् ही इंद्र है (२) प्रदीप्त होता है उसको इंद्र कहते हैं (३) तेज से युक्त इंद्र प्राण ही है (४) इस शरीर में छिद्र करने के कारण इसको इंद्र कहते हैं।

ये सब अर्थ इंद्र की विलक्षण शक्ति बता रहे हैं। वनस्पति के रस में, मेघों में, सूर्यचंद्रमें, तथा प्राणियों में इस प्रकार इंद्र शक्ति है। इस का अनुभव हरएक को करना चाहिये। इंद्रशक्ति के विकास के लिये इसके विज्ञानकी अत्यंत आवश्यकता है। इसप्रकार इंद्र के गुणधर्म जानने के पश्चात् अब इंद्रके स्थान का विचार करेंगे—

(६) इंद्र लोक।

जहां इंद्र का स्थान है, वही इंद्र लोक है, इंद्र देवोंका राजा है और देव इंद्रियां ही हैं; इसलिये यह स्पष्ट होता है कि इंद्रियोंके मध्यमें किसी स्थानमें इंद्रका लोक है। इसीलिये इसका मध्यस्थान निरुक्तमें कहा है—

वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः ॥

निरु. दै. १।२।१

" वायु तथा इंद्र अंतरिक्षस्थानीय देवताएं हैं। " अंतरिक्ष ही मध्यस्थान है। जो बाह्य जगत्में " **अंतरिक्ष** " है, वही शरीर में हृदय, " **अंतः करण** " आदि है। इस विचार से भी सिद्ध हो रहा है कि, **इंद्र शक्ति का मुख्य केंद्रस्थान " हृदय " है**। इस विषयमें और निम्न वचन देखिये —

अंतरेण तालुके य एष स्तन इवालंबते सेंद्रयोनिः ॥ तै.उ. १।६।१

" तालु स्थान के अंदर ऊपर मस्तिष्कमें स्तन के समान जो एक भाग है, वह इंद्रयोनि अर्थात् इंद्रशक्ति का उत्पत्तिस्थान है । " तथा —

कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतींद्रलोकेषु गार्गीति ॥

बृ.उ. ३।६।१

" देव लोक इंद्रलोक के आधारसे रहे हैं । " अध्यात्म में देवका अर्थ इंद्रिय है, इसलिये " **देवलोक** " का अर्थ " **इंद्रिय स्थान** " है। इन इंद्रिय स्थानोंका संबंध पूर्वोक्त इंद्र स्थान से है, जो मस्तिष्कमें स्तन जैसा है, और जो तालुके ऊपर है, ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है । इन वचनों का विचार करनेसे पता लगता है कि, इंद्र शक्ति का उत्पत्ति-स्थान यह मस्तकमें तालुके ऊपरका जो स्तन जैसा भाग है, वह है और उसका कार्य करनेका स्थान हृदय है । तात्पर्य यह है कि हृदयसे लेकर मस्तक तक जो स्थान है, वह "**इंद्रलोक**" है । इसलिये यदि इंद्रशक्तिका विकास करना है, तो उक्त स्थान की शक्तियोंकी वृद्धि करनी चाहिये ।

पूर्वोक्त निरुक्तके वचनमें कहाही है कि, इंद्र और वायु ये दो देव मध्यस्थानमें रहते हैं। दोनोंका निवास एकत्र है। वेदमें इस बात की द्योतक देवता " **इंद्र-वायू** " है। अध्यात्ममें अपने शरीरमें भी यह बात प्रत्यक्ष है, फेंफडों में प्राणवायु रहता है और हृदयमें इंद्र रहता है, तात्पर्य छातीमें ही ये दोनों देव रहते हैं । " **रुद्र, वायु, प्राण, मरुत्** " ये शब्द प्राणवाचक हैं, इससे इंद्रवायू,इंद्रामरुतौ आदि द्विवचनी देवताओंका आध्यात्मिक अभि-प्राय स्पष्ट हो जाता है । इतने लेख से पाठकों को पता लगाही होगा कि इंद्र शक्तिका मूल केंद्र कहां है और उसकी व्याप्ति कहां तक है ।

(७) इंद्रके पर्याय शब्द ।

साधारणतः संस्कृत भाषाका और विशेष-तः वैदिक मंत्रोंका प्रत्येक शब्द विशेष गूढ अर्थ धारण करता है। प्रत्येक शब्द एक अथ-वा अनेक विशेष गुणोंका बोध करता है ; इसलिये इंद्रवाचक शब्दोंका यहां मनन करना आवश्यक है, इससे इंद्र शक्तिके गुणधर्मोंका विशेष ज्ञान मिलसकता है,और उसके विकास-का मार्ग भी ज्ञात हो सकता है । इसलिये अन्य विचार करनेके पूर्व इंद्रके पर्याय शब्दोंका ही विचार यहां करेंगे ।—

(१) **मरुत्वान्**= मरुत् जिसके साथ होते हैं अर्थात् प्राण जिसके साथ रहते हैं । प्राणोंसे युक्त ।

(२) **मघवान्** =सुख, धन, ऐश्वर्य आदिसे युक्त ।

(३) **विडौजाः** = (विट्+ओजाः) प्रजाओंमें जिसका बल है । प्राणियों में जिसकी शक्ति दिखाई देती है । अथवा व्यापक शक्तिवाला।

इसका पाठांतर " बिडौजाः " ऐसा भी है । इसका अर्थ (भिद्+ओजाः) तोडने वाला, फाडनेवाला, बल जिसके पास है, यह

है । इस अर्थकी तुलना पूर्वोक्त नैरुक्त अर्थके साथ कीजिये ।

(४) **शुनासीरः**= (शुनः)वायु अथवा प्राण और (सीरः शीरः) सौर्य तेज, अर्थात् प्राण और तेजसे युक्त।

(५) **पुरुहूतः** = बहुत प्रशंसनीय।

(६) **पुरंदरः** =स्थूल सूक्ष्मादि शरीरों-का भेदन करके अपनी शक्तिका विकास करने वाला। प्रतिबंधों को तोड कर बाहेर आने वाला ।

(७) **जिष्णुः** = विजयी।

(८) **शक्रः** = शक्तिमान् ।

(९) **शतमन्युः** =(शत) सौ (मन्युः) क्रतु करनेवाला ।

(१०) **शतक्रतुः**= सौ वर्ष पर्यंत यज्ञ करनेवाला ।

(११) **सुत्रामा** =(सु) उत्तम (त्रामा) रक्षक

(१२) **वृषा** = बलवान्

(१३) **स्वराट्** = अपने बलसे चमकने वाला ।

(१४) **आखंडलः** = भेदन करनेवाला।

(१५)**तुराषाड्**=त्वरासे युक्त,वेगवान् ।

ये इंद्रके नाम इंद्रशक्तिके गुण धर्मोंका भावं बता रहे हैं । जो इंद्रशक्ति हृदयमें है, उसमें (१) प्राण धारण करनेकी शक्ति है इसलिये इस शक्तिके विकसित होनेसे दीर्घ-काल तक प्राणोंकी धारणा हो सकती है, और दीर्घायु प्राप्त हो सकती है । (२) इसमें सुख होता है, इसलिये इंद्रशक्तिके विकास से मन आनंद पूर्ण हो जाता है और अनंत आपत्तियों में भी उसके मुखपर प्रसन्नता दिखाई देती है; (३) सब प्राणियों में जो बल है, वह इसीका होनेके कारण इंद्रशक्ति का विकास होनेसे बल बढ जाता है; (४) प्राण और तेज इंद्रके साथ सदा रहते हैं, इसलिये इंद्र शक्ति का विकास होनेसे प्राण का बल बढता है, और तेजस्विता भी बढती है; (५) यह अद्भुत शक्ति शाली होने से ही सब विद्वान इसकी प्रशंसा करते हैं, जिसके अंदर विलक्षण इंद्रशक्तिका विकास होता है, उसकी भी, सर्वत्र प्रशंसा होजाती है; (६) इसीकी प्रबल शक्तिसे शरीरोंमें सुराख हो कर इंद्रियां बनी हैं, इसलिये निश्चय हो जाता है कि यह इंद्रशक्ति अधिक विकसित हो जानेसे इंद्रियोंकी शक्तियां भी अधिकाधिक विकसित होती हैं। (७) इंद्र सदा विजयी है, अर्थात् इसका मुकाबला इसके शत्रु नहीं कर सकते। इसलिये स्पष्ट है कि इंद्रशक्तिके विकसित होनेसे उस मनुष्यके भी संपूर्ण शत्रु नष्टभ्रष्ट हो जायंगे, रोग दूर होंगे और उसका सर्वत्र विजय होगा । (८)इतना शक्तिमान् यह है। (९–१०) सौ वर्ष इस शरीर में रह कर इसको अनेकानेक पुरुषार्थ करने हैं। (११) इस से उत्तम संरक्षण होता है, (१२) बल बढता है और (१३–१५) दूसरेके सहारेके विना अपनेही बल से वह पुरुष, कि जिसमें इंद्र शक्ति का विकास हुआ है, अल्प समयमें बहुत ही कार्य करता है, और उसका पुरुषार्थ परिणामकारी होता है ।

इतने अनुमान इंद्रके पर्याय शब्दोंसे हमें विदित हो सकते हैं । इंद्रका प्रत्येक शब्द एक अथवा अधिक गुणोंका प्रकाश कर रहा है इसलिये जो गुण उक्त शब्दों से व्यक्त होते हैं, वे इंद्रमें हैं । यदि ये गुण इंद्रमें हैं, तो इंद्र शक्तिका विकास होनेसे इन गुणोंका विकास होना आवश्यकही है। जिसप्रकार मीठे आमके बीजका विकास होकर उसका वृक्ष बननेपर उसको मधुर फल आते हैं; ठीक उसीप्रकार इंद्रका जो अंशरूप बीज हमारे अंदर है, उसका विकास होनेपर उसके वैसेही गुण होंगे, जैसे मूल इंद्रशक्तिमें होते हैं। शक्ति विकास का यही अर्थ है ।

पूर्वोक्त इंद्रवाचक शब्दोंके जो अर्थ दिये हैं, वे अपने विषयके लिये आध्यात्मिक दृष्टिसे जितने आवश्यक हैं, उतने ही दिये हैं । आत्म परमात्म विषयक अर्थ उन शब्दोंमें हैं, उनका इस विषयके साथ संबंध न होनेसे यहां आवश्यक नहीं हैं । अस्तु । इतने विचार से पाठकों को इंद्रशक्तिकी ठीक कल्पना हो गई होगी, इंद्रशक्ति का स्थान हृदय है, उसका उत्पत्तिस्थान मास्तिष्कमें स्तन जैसा अवयव है और यह शक्ति विकसित होकर पूर्वोक्त गुण धर्मोंसे युक्त होती है । इस शक्तिका विकास होनेसे मनुष्यका सामर्थ्य बहुतही बढ जता है ।

(८) इंद्रशक्तिके विकासके चिन्ह ।

इंद्र शक्तिका विकास होनेसे किन किन शक्तियों की किस प्रकार उन्नति होती है इसका पता अंशरूपसे इससे पूर्व बतायाही है, अब उस विकासके बाह्य चिन्होंका थोडासा विचार करना है ।

(१) जिसके अंदर इंद्रशक्ति का विकास होने लगता है, उसका आरोग्य पूर्वकी अपेक्षा अच्छा रहने लगता है, रोग प्रायः दूर रहते हैं, और नीरोगताका आनंद उसके अनुभवमें रहता है ।

(२) शरीर लाघव इतना हो जाता है और उसमें उत्साह, फूर्ति तथा अंगपाटव इतना होजाता है कि, उसको थकावट आती ही नहीं । जिस अवस्थामें दूसरे मनुष्य थक जाते हैं,उस अवस्थामें भी उसका कार्य करनेका सामर्थ्य कम न होते हुए बढता ही जाता है।

(३) इसके उत्साहके साथ शारीरिक शक्तिका कोई भी विशेष संबंध नहीं होता । उसकी शारीरिक शक्ति कम हो,अथवा अधिक हो उसका उत्साह एक जैसा रहता है । इंद्रशक्तिका विकास जिनमें हुआ होता है, वे शरीर से निर्बल भी हुए, तभी उनकी मानसिक उत्साह शक्ति बहुतही विलक्षण होती है ।

(४) उनके आंखमें विलक्षण तेज दिखाई देता है, तथा उनका सब इंद्रियसंघात निर्दोष रहनेके कारण उनको इंद्रिय संयम सुगम होता है ।

(५) उसके विचार, वक्तृत्व और पुरुषार्थ में जीवित भाव दिखाई देता है । निरुत्साह उसके पास नहीं ठहर सकता। और वह जनतामें एक विलक्षण स्फूर्तिका केंद्र बनकर रहता है ।

(६) सच्ची जागृति उसके जीवनमें

दिखाई देती है। वह मृत्यु से भी नहीं डरता, और किसी भी प्रलोभनमें नहीं फंसता। उसका संपूर्ण जीवन " धीरोदात्त " वृत्तिसे परिपूर्ण रहता है।

(७) इसका वक्तृत्व थोडा ही होता है, परंतु उसका परिणाम वडा ही गहरा और चिरकाल रहनेवाला होता है। शब्द गिने-चुने होते हैं, तथापि गंभीर अर्थसे परिपूर्ण होते हैं।

(८) उसके शब्दमें वीर्य रहता है, विचारोंमें अपूर्वता रहती है, तथा कृतिमें विलक्षण औदार्य रहता है।

(९) उसकी शक्तियां विकसित होतीं हैं, परंतु उसकी वृत्ति उच्छृंखल नहीं होती। वह शांति और गंभीरताका पुतला, धैर्य और वीर्य का आधार स्तंभ, नवजीवन का स्रोत, वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय सुधार का जनक, उत्साह मय जीवन का चालक और सार्वजनिक भाव का प्रचारक होता है।

(१०) सारांश यह है कि, वह केवल अपने लिये ही जीवित नहीं रहता, प्रत्युत उसका जीवन परोपकार पूर्ण " **मित्र दृष्टि-का आदर्श** " रूप रहता है।

इसप्रकार थोडेसे चिन्ह हैं, जो इंद्रशक्ति के विकास होनेके समय प्रारंभ में ही दिखाई देते हैं। इन गुणोंका प्रादुर्भाव होनेसे पाठकों को पता लग सकता है कि, इंद्रशक्ति विकसित होने लगी है। इसके सिवाय अन्यभी वहुतसे चिन्ह हैं, उनका विचार आगे क्रमशः हो जायगा।

(९) इंद्रतत्त्व क्या है ?

जगत् मे व्यापक जो जो तत्त्व हैं उनके अल्प अंश हमारे शरीर में रहे हैं। जगत् में अनेक तत्त्व हैं, उनमें से इंद्र तत्त्व भी एक है, और यह तत्त्व सब तत्त्वों में मुख्य है। आत्माको छोडकर सब अन्य तत्त्व इसी इंद्र तत्त्वके आधार से रहते हैं। एक मूल माया शक्ति इस इंद्रके ऊपर है, अन्य सब शक्तियां इसके नीचे और इसके आधीन हैं। इसलिये इसका बल बढ जानेसे अन्य शक्तियां जो इसके नीचे हैं, बलवान होतीं हैं, और इसका बल घटनेसे संपूर्ण शक्तियां निर्बलसीं हो जातीं हैं !

जिनके जीवनमें उदासीनता दिखाई देती है, जो आलसी होते हैं, सुस्ति जिनपर छाई रहती है, जो पुरुषार्थका जीवन व्यतीत नहीं करते, जिनके आंख और मुख निस्तेज और मरियल से होते हैं, समझ लीजिये कि वहां इंद्रशक्ति घट रही है। इस प्रकार जिस इंद्र शक्तिके घटजाने से मनुष्य मनुष्यत्वसे गिरता है, और बढ जानेसे अपने मनुष्यत्वकी उन्नति करता है, उस इंद्रका वर्णन वेदमें सेकडों मंत्रोंमें हुआ है। इसलिये विचार करके देखना चाहिये कि, उसका स्वरूप क्या है! पूर्वोक्त उपनिषद्वाक्यके अंदर स्पष्ट कहा है कि, " **विद्युत् ही इंद्र है।** " इसी लिये " **इंद्र-वज्र** " का अर्थ विद्युत्का आघात समझा जाता है। विश्वव्यापक सूक्ष्म विद्युच्छक्ति ही इंद्र है, परंतु जो विद्युत् दीप जलाती है और यंत्रोंको घुमाती है, वह इस सूक्ष्म इंद्र

शक्तिका निर्जीव स्थूल स्वरूप है। यहां जिस इंद्र शक्तिका विचार चल रहा है वह निर्जीव स्थूल शक्ति नहीं है, प्रत्युत सजीव सूक्ष्म इंद्र शक्ति है, जो चेतन सृष्टिके अंदर अंशरूपसे विराजमान होकर विलक्षण कार्य कर रही है!!!

बाह्य जगत् की संपूर्ण शक्तियां हमारे देहमें आकर रहती हैं, यह वैदिक सिद्धांत है। "**पिंड ब्रह्मांड की समता**" इसी दृष्टिसे है। ब्रह्मांड में जो विशाल रूपसे अनेक तत्व हैं, वेही सूक्ष्मरूपसे शरीरमें हैं। इसी प्रकार विश्वव्यापक सजीव सूक्ष्म इंद्रशक्ति अंशरूपसे हमारे शरीरमें रही है, यह एक अल्पसी चिनगारी है। इस छोटीसी चिनगारी की शक्ति बढानी चाहिये, इसी उद्देश्यसे वैदिक धर्ममें योगशास्त्रकी प्रवृत्ति होगई है, और विविध उपायोंकी योजना ऋषिमुनियोंने की है। इस शक्ति के विकाससे क्या हो सकता है, इसका वर्णन उपनिषद्में निम्न प्रकार आया है ––

शतं देवानामानंदाः।
स एक इंद्रस्यानंदः॥ तै. २।८।१

"देवों के सौ आनंदों के बराबर इंद्रका एक आनंद है।" इसका तात्पर्य अध्यात्ममें यह है कि, इंद्रियोंके सौ आनंदोंके समान इंद्रका एक आनंद है। मनुष्योंको जो सुख इंद्रियशक्तियों के विकास से हो सकता है, उससे सौगुणा अधिक सुख इंद्रशक्तिके विकाससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है!!! यदि मनुष्य सुख और आनंद ही चाहता है, तो उसको उचित है कि, वह एक गुणा सुख प्राप्त करने की अपेक्षा सौगुणा आनंद प्राप्त करनेका यत्न करे। सौगुणा आनंद प्राप्त करने के उपाय ही वेदके इंद्र सूक्तों में वर्णन किये हैं, इतनाही नहीं, प्रत्युत इससेभी अधिक आनंद प्राप्त करनेके उपाय हैं, परंतु यहां इस लोकके आनंदका ही विचार करना है। इसलिये **इंद्र लोक-- "इंद्र तत्व"** - का निश्चय करते हुए यह यहां बताया है, कि यह सूक्ष्म सजीव अथवा जीवन पूर्ण विद्युत् तत्व है, और वह सर्वत्र व्यापक है।

मनुष्यके जीवन के लिये सूक्ष्मसे सूक्ष्म तत्वोंकी आवश्यकता अधिकाधिक है। अन्न, जल और वायु ये तीन पदार्थ मानवी जीवनको सहायक हैं। अन्न स्थूल है, उससे जल सूक्ष्म और उससे अति सूक्ष्म वायु है, इसीलिये अन्न से जल और जलसे वायु की आवश्यकता मनुष्यके लिये अत्यधिक है। अन्न न मिलनेपर मनुष्य तीन मास तक प्राणधारण कर सकता है, जल न मिलनेपर मनुष्य केवल सप्ताह तक मुश्किलसे प्राणधारण कर सकता है, तथा प्राण वायु न मिलनेपर थोडसे क्षणोंमें मनुष्य मर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि, स्थूल तत्व की अपेक्षा सूक्ष्म तत्त्वकी आवश्यकता मनुष्यके लिये कितनी अधिक है!! इंद्रतत्व के साथ जीवन का सत्व रहनेके कारण इसकी आवश्यकता सबसे अधिक है, यह बात पूर्वोक्त युक्तिसे ही सिद्ध हो सकती है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

जीवन के लिये जिसकी अत्यधिक आवश्यकता है, उस तत्वका अपने अंदर विकास करनेसे अपना जीवन सुखमय और आनंद पूर्ण हो सकता है, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। इसीलिये इंद्रशक्तिका विकास करनेकी आवश्यकता है।

(१०) इंद्र और सूर्यका प्रभाव।

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः॥ आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥

ऋ. ८।१२।३०

" (यदा) जिस समय (दिवि) द्यु लोकमें (अमुं सूर्यं) इस सूर्यके प्रति (शुक्रं ज्योतिः) शुद्ध प्रकाश तुमने (अधारयः) धारण किया; (आत् इत्) उसी समय सब भुवन (ते) तेरे साथ (येमिरे) संबंधित हुए हैं। "

इस मंत्रमें स्पष्टतासे कहा है कि, सूर्यके अंदर प्रकाश शक्ति इंद्रकी दी हुई है। और इसीकारण सब भुवनोंका नियमन इंद्र कर रहा है, अर्थात् इंद्र सूर्यके अंदर प्रकाश तत्त्व रखता है, और सूर्यके द्वारा संपूर्ण भुवनों का नियमन करता है। सूर्यके अंदर इसप्रकार "**इंद्र तत्त्व**" कार्य कर रहा है। इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है कि, जो विद्युत् मेघोंमें होती है, वह इंद्रका स्थूलतम रूप है, इंद्रका वास्तविक रूप सूर्यकोभी तेज देनेवाला और सूर्यके अंदर व्याप्त है। तथा और देखिये—

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे॥ आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥

ऋ. ८।१२।२९

" जिस समय (मारुतीः विशः) प्राणयुक्त प्रजायें, हे इंद्र! तेरे साथ नियमबद्ध हो गई, उसीसमय सब भुवन तेरे साथ संबंधित हुए हैं। "

इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है कि, **प्राणसे जीवित रहनेवाली संपूर्ण प्रजायें इंद्रके साथ विशेष नियमसे बंधी हैं**। इससे पूर्व यही बात प्रमाणान्तरसे बताई गई है, वही इस मंत्रके प्रमाणसे अधिक प्रमाणित हो गई है। इंद्र अपनी शक्ति सूर्य में रखता है और सूर्य किरणोंद्वारा वह इंद्र शक्ति स्थिरचर सृष्टितक पहुंचाता है। **सूर्य किरणोंद्वारा यह इंद्र शक्ति वनस्पतियोंमें और प्राणियोंमें आती है और सबमें जीवनकी कला बढाती है**। इसी कारण सूर्यका प्राणियोंके जीवनके साथ संबंध वेदमें वर्णन किया है, देखिये—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

ऋ. १।११५।१

" सूर्य स्थावर जंगम का आत्मा है। " क्यों कि वही अपने किरणों द्वारा जीवन युक्त इंद्रशक्ति देता है, और जीवन की कला बढाता है। और देखिये—

सूर्यः कृणोतु भेषजम् । अ. ६।८३।१

" सूर्य औषध बनावे " अर्थात् सूर्य रोगोंको दूर करे।" पहिले बताया ही है कि, इन्द्र (इन + द्र) शत्रुओंका विदारण करनेवाला है। मनुष्यके जो अनेक शत्रु हैं,

जिनसे कि मनुष्यको हर समय युद्ध करना पडता है, उनमें " **रोग भी शत्रु ही है।**" इन रोगरूपी शत्रुओं का नाश सूर्य ही अपने किरणों द्वारा इंद्र शक्तिको चारों ओर फैलाकर करता है। यही " **सूर्य किरणोंके द्वारा रोग चिकित्सा है।**" इसीलिये कहा है कि—

सूर्यः पवित्रं स मा पुनातु॥
आप० श्रौ. १२।१९।६

" सूर्य पवित्रता करनेवाला है, इसलिये वह मुझे पवित्र बनावे।" अर्थात् सूर्य किरणों द्वारा पवित्रता होकर मनुष्य शुद्ध और पवित्र बनकर नीरोग हो सकता है। मानवी नीरोगताके लिये इस प्रकार सूर्यका विशेष संबंध है। और देखिये—

सूर्य शत-वृष्ण्यम्॥ तेना ते तन्वे शं करम्॥ अ. १।३।५

" सूर्य सौ प्रकारका (वृष्ण्यं) वीर्यका बल बढानेवाला है। उस से तेरे (तन्वे) शरीरके लिये (शं) सुख होगा।" तात्पर्य यह है कि, यदि मनुष्य सूर्य किरणोंका अपने आरोग्यवर्धन के कार्यमें उपयोग करेगा, तो उसका सौ प्रकारका बल बढ सकता है, क्यों कि जीवन साधन इंद्रशक्ति उसमें विपुल रहती है। तथा और देखिये—

इंद्र जीव, सूर्य जीव, देवा जीवा, जीव्यासमहम्॥ सर्वमायुर्जीव्यासम्॥
अ. १९।७०।१

" **हे इंद्र! तू जीवन शक्तिसे युक्त है, हे सूर्य! तू जीवनसे युक्त है, हे देवो!** आप जीवन शक्तिसे युक्त हैं। इसलिये मैं जीवित रहूंगा। मैं पूर्ण आयुतक जीवित रहूंगा।" इस मंत्रमें इंद्र, सूर्य तथा अन्य देवोंका मानवी जीवनके साथ संबंध स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है। **इंद्रसे सूर्यमें, सूर्यसे अन्य देवोंमें और वहांसे मनुष्यमें जीवन की शक्ति आती है।** इस क्रमका विचार करनेसे स्पष्टता पूर्वक पता लगता है कि, किस प्रकार मनुष्य अपनेमें इंद्र शक्ति बढा सकता है.. और अपनी जीवनकी कलाभी किस रीतिसे दृढ कर सकता है।—

सूर्यं चामुं रिशादसम्॥
अ. २०।१२८।१

" यह सूर्य (रिश+अदसं) क्षयका विनाशक है।" जो हिंसक, विनाशक, क्षय और नाश करनेवाला होता है, उसको " **रिश**" कहते हैं। इस प्रकारके (रिश) विनाशक क्षय बीजोंको सूर्य अपने किरणों द्वारा दूर करता है, और आरोग्य स्थापन करता है। यहां पाठक " **इंद्र**" (इन्+द्र) शब्दका जो अर्थ शत्रुविनाशक पूर्व लेखमें बताया है, उसका विचार करें। वही भाव इस मंत्रके " **रिशादस्**" शब्दसे व्यक्त हो रहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि इंद्रकी शत्रुविनाशक शक्ति ही सूर्यके द्वारा हमारे रोग रूपी शत्रुओंको भगा देती है!! इसी लिये दोनों देवताओंके कई नाम एक जैसे अर्थवाले हैं। वेदकी यह शैली पाठकोंको ध्यानमें धरने योग्य है, इससे कई गूढ उपदेशोंका पता लग सकता है। अस्तु।

उक्त मंत्रसे सूर्य प्रकाशके साथ प्राप्त होनेवाली जीवनपूर्ण इंद्रशक्तिका विशेष ज्ञान हो सकता है । तथा और देखिये—

सूर्यस्ते तन्वे शं तपाति ॥ अ. ८।१।५

" सूर्य तेरे शरीरके लिये सुख कारक तपता है । " यह मंत्र स्पष्ट शब्दों से बता रहा है कि, सूर्य किरणों में ऐसी कोई शक्ति है कि, जो शरीरमें सुख, आरोग्य और शांति स्थापन करती है । जो बाबु लोग अपने शरीरको अनेक कपडोंसे लपेट कर तंग कमरेके अंदर सदा बंद रखते हैं, उनको क्यों तपेदिक् अथवा क्षय होता है, इसका कारण इस मंत्रके अंदर स्पष्ट हो जाता है । शरीरका आरोग्य तब रह सकता है, जब उसका संबंध सूर्य किरणोंके साथ योग्य प्रमाणसे होता हो । **सूर्य किरणों में जो व्यापक इंद्रशक्ति है, उसीका यह प्रभाव है,** इसी लिये निम्नमंत्र में कहा है —

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ अ. ५।३०।१५

"अधिष्ठाता सूर्य अपने किरणोंसे तुझे मृत्युसे बचावे ।" इतनी इंद्रशक्ति सूर्य किरणोंके अंदर है, कि जो मनुष्योंको मृत्युसे बचा सकती है । वेद अपने मंत्रोंद्वारा दीर्घ आयुके विषयमें इतने स्पष्ट उपदेश दे रहा है, तथापि तंग शहरोंकी तंग गलियोंके तंग मकानों में तंग कमरों के अंदर निवास करनेवाले भी अपने आपको " **वैदिक धर्मी** " कह रहे हैं, यह कितना आश्चर्य है ? जो लोग समझते हैं कि, वैदिक धर्म शब्दों का ही धर्म है, वे कितनी गलती कर रहे हैं इसका स्पष्टीकरण उक्त मंत्रसेही होता है, । वास्तविक रीति से देखा जाय, तो **वैदिक धर्म "आचार प्रधान धर्म"** है । इसलिये जो बातें वेदमें कहीं हैं उनको आचारमें लाना चाहिये, और उनसे अपना अभ्युदय सिद्ध करना चाहिये । ऐसा जो नहीं करते, वे कितने भी विद्वान हुए तथापि निःसंदेह सच्चे वैदिक धर्मसे दूरही हैं !!! इस लिये हरएक पाठक इन मंत्रोंका विचार करे और अपने निवास स्थान ऐसे बनावे कि, जिनमें प्रतिदिन सूर्यकिरणोंद्वारा इंद्रशक्ति आसके । किसी प्रकारकी बीमारी हो, वह जहां विपुल इंद्रशक्ति रहती है, वहां से दूर भाग जाती है; इसीलिये वेदमंत्रोंमें सूर्य प्रकाश का महत्व वर्णन किया है । देखिये निम्न मंत्र —

सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदाभिशस्त्यै ॥ य. २।७

"किसी प्रकार के भी दोष से अर्थात् विनाशक बीमारीसे सूर्य तेरा रक्षण करे।" सूर्यलोक का इससेभी अधिक महत्व है, जिसका वर्णन निम्न मंत्रमें हुआ है—

सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥ अ. ८।१।१

"सूर्यका भाग अमृतलोक ही है ।" जहां अमृत रहता है वह अमृत-लोक है । **अमृत सूर्यकिरणोंमें रहता है,** इसलिये अमृत लोक सूर्य लोक ही है । यह अ-मृत लोक है, इसीलिये सूर्यकिरणों से बीमारियां दूर होती हैं, और आरोग्य प्राप्त होता है ।

इसका अधिक स्पष्टीकरण निम्नमंत्रसे होता है---

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायो-दानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ॥ सूर्य-स्त्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शंतमेन तया देवतयांऽगिरस्वद् ध्रुवे सीद ॥　　य. १५।६४

" (१) सब प्रकारके प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि की रक्षाके लिये, (२) (प्रतिष्ठायै) बलकी स्थिरता के लिये और (३) (चरित्राय) उत्तम आचार व्यवहारके लिये, सूर्य अपनी (मह्या स्वस्त्या) महती कल्याण मयी प्रभाके साथ तथा (शंतमेन) अत्यंत सुखदायक (छर्दिषा) उत्तम रक्षा के साथ तेरा पालन करे । उस (देवतया) देवता से (अंगि-रस्-वत्) अवयवों के पोषक रसोंसे युक्त होकर (ध्रुवे) स्थिरता में (सीद) रहो । "

सूर्यकिरणोंद्वारा इंद्रशक्ति की प्राप्ति हो कर मनुष्यका कितना कल्याण होना संभव है, इस का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है, इसलिये हरएक पाठक को उचित है कि वह इस मंत्र का विशेष अभ्यास करे । सूर्य-किरणोंसे जो इंद्रशक्ति प्राप्त होती है, उससे पाहिली और मुख्य बात यह होती है कि सब प्रकारके प्राण शरीरके अंदर सुरक्षित आर बलवान होते हैं । प्राणोंके बल से ही सब कुछ अन्य बल रहता है, इस लिये प्राणोंकी सुरक्षितता जिससे होती है, उस सूर्यप्रकाश की आवश्यकता मानवी जीवन के लिये कितनी है, इसका विचार हरएक मनुष्य ही कर सकता है । मुख्य पांच प्राण और गौण उप प्राण पांच मिल कर दस प्राण होते हैं, इन की शक्तियां संपूर्ण शरीरमें तथा संपूर्ण अवयवोंमें संचारित हो रहीं हैं । इन सबकी सुरक्षितता ठीक प्रकारसे सूर्य किरणोंकी इंद्रशक्तिसे होती है ।

दूसरी बात शरीरकी प्रतिष्ठाकी है । संपूर्ण अवयवोंकी स्थिरता, संपूर्ण शरीरका तथा सब अंगोंका बल आदि सुरक्षित रहने के लिये सूर्य प्रकाश की अत्यंत आवश्यकता रहती है । जो मनुष्य सदा तंग कमरेके अंधेरेमें बंद रहते हैं, उनके चेहरे पर फीका रंग आजाता है, खूनका लाल रंग कम हो जाता है और पांडु रोग की छाया सब शरीर पर फैलती है इसी लिये वेदकी आज्ञा है कि सूर्य प्रकाश से अपने शारीरिक बल-की सुरक्षितता करो ।

तीसरी बात जो सूर्य प्रकाशसे होती है वह यह है, कि मनुष्यके संपूर्ण व्यवहार चलने योग्य शरीरमें चपलता रहती है । यदि सूर्य कुछ दिन न रहेगा, तो सर्दीके कारण सब लोग सुकड जांयगे, और विविध प्रकारके कष्ट होंगे । इससे स्पष्ट हो रहा है, कि हमारी हलचल के लिये सूर्य प्रकाश की कितनी आवश्यकता है ।

सूर्य प्रकाशसे इंद्रशक्ति पृथ्वीपर आती है, और उसके कारण (मही स्वस्ति) बडी स्वस्थता प्राणिमात्रको प्राप्त होती है, सब प्राणियोंको उत्तम (शं) सुख प्राप्त होता है, (छर्दिः) सुरक्षितता मिलती है । यह सूर्य

किरणोंका प्रभाव है। इसलिये इस अपूर्व देवताके साथ रह कर मनुष्योंको उचित है, कि वे (अंगि-रस्-वत्) अपने अंगरसोंसे युक्त बनें, अथवा अपने अंगोंमें जीवन रस की अभिवृद्धि करें, और अपने जीवन को सुरक्षित तथा स्थिर करें।

इतने विवरण से पाठकों को पता लगा ही होगा, कि अपनी इंद्रशक्तिका विकास करनेके अनुष्ठानमें सूर्यप्रकाशका कितना विशेष संबंध है और किस रीतिसे सूर्यप्रकाशद्वारा उक्त लाभ होते हैं।

(११) इंद्रशक्तिका अधिक परिचय।

इंद्रशक्ति सूर्यकिरणोंद्वारा भूमंडलपर आकर जो विलक्षण कार्य करती है, उसका वर्णन वेदमंत्रो द्वारा पूर्व भागमें किया ही है। अब प्रत्यक्ष अनुभव का विचार करना है।

सूर्यकिरणमें उष्णता रहती है, परंतु यह उष्णता अग्नि की उष्णता से भिन्न है। सूर्य-किरणोंमें प्रकाश रहता है, परंतु यह दीपके प्रकाशसे भिन्न है। सूर्यकिरणमें गति रहती है परंतु यह गति वायुकी गतिसे भिन्न है। सूर्यकिरणकी उष्णतासे वृक्ष प्रफुल्लित होते हैं, सूर्यप्रकाशसे आंख योग्य रीतिसे अपना कार्य कर सकते हैं, और सूर्यकिरणोंकी गति से इतनी विलक्षण गति उत्पन्न होती है, कि जिसका मनुष्य उपयोगभी नही कर सकता। तथापि सूर्यकिरणोंमें जो "**जीवन देनेवाली इंद्र शक्ति**" है, वह और ही विलक्षण है। उष्णता, प्रकाश और गति हमें अन्यत्र मिल सकती है, परंतु उसके साथ साथ, जीवन-शक्तिसे परिपूर्ण इंद्रशक्ति जैसी सूर्यप्रकाशसे मिल सकती है, वैसी किसी अन्य पदार्थसे नहीं मिलती। इसीलिये सूर्यप्रकाशका महत्त्व वेदके मंत्रोंमें वर्णन किया है।

घरके अंदर यदि कोई पौधा लाकर रख-दिया, तो उसकी शाखाएं उस खिडकी की ओर झुकतीं हैं, जिससे कि सूर्यप्रकाश अंदर आता है। घरके बाहिर उद्यानमें जो वृक्षादि रहते हैं, उनकी शाखाएं उस तर्फ अधिक होतीं हैं, कि जिस तर्फसे उनको सूर्यप्रकाश अधिकाधिक मिलता है। सूर्यप्रकाश न मिला तो वृक्षों की प्रसन्नता भी न्यून हो जाती है। इतना सूर्यप्रकाशका महत्त्व है। और यह उस प्रकाश की उष्णता, प्रकाश और गति के कारण नहीं है, परंतु उसमें जो सूक्ष्म "**इंद्र शक्ति**" है उसके कारण ही है। यह बात ध्यानमें धरने योग्य है।

पाठक वृक्षादिकों पर सूर्यकिरणोंका प्रभाव देखें, और स्वयं अनुभव करें, कि यह बात सत्य है वा नहीं। क्यों कि आगे जो अनु-ष्ठान बताना है, उसके साथ इसका अत्यंत निकट संबंध है। जीवन शक्ति की वृद्धि करनेवाला भगवान् सूर्यनारायण है, वह अपने किरणों से यह कार्य कर रहा है, इसका अनुभव होने के पश्चात् अपने अंदर जीवन शक्ति अथवा इंद्रशक्ति वढानेके उपाय स्वयं ही ज्ञात हो सकते हैं, इसलिये निवेदन है, कि वैदिक उपदेश की सत्यता पाठक सबसे प्रथम देखें और अनुभव करें।—

(१२) सब शक्तियोंका मूल स्रोत।

संपूर्ण शुभ शक्तियोंका मूल स्रोत मंगल मय परमात्मा ही है। वेदमें यह बात स्पष्ट रूपसे बतानेके लिये ऐसी विलक्षण योजना की है, कि संपूर्ण देवताओंके वाचक शब्द उसी एक अद्वितीय परमात्माके वाचक होते हैं !! इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है, कि **सब दैवी शक्तियोंका मूल स्रोत परमात्मा है, और उसकी एक शक्ति लेकर संपूर्ण अन्य देवोंका देवत्व व्यक्त हुआ है !!** प्रस्तुत " इंद्र " के विचार करनेके समय भी यह बात ध्यानमें धरनी चाहिये, कि यह शब्द भी उसी मूल स्रोत परमात्माका ही वाचक है, और साथ साथ अन्य पदार्थोंका भी वाचक है।

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥ एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरि-श्वानमाहुः ॥ ऋ. १।१६४।४६

" इंद्रादि शब्द एक सद्वस्तुके ही वाचक हैं। " अर्थात इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान, यम, मातरिश्वा तथा अन्य देवता वाचक शब्दोंसे व्यक्त होनेवाली शक्तियां उसी एक आत्मासे जगत्में फैल रही हैं। इसलिये यदि आपको अपने अंदर इंद्र शक्ति का विकास करना है, तो आपको उचित है, कि उसके मूल स्रोत की भक्ति आपके मनमें सदा जीवित और जागृत रखिये, क्यों कि उसी मूल स्रोतसे वह शक्ति आपके अंदर आती है।

प्रत्येक शुभ गुणकी पराकाष्ठा ही परमेश्वर है, इस नियमानुसार इंद्र शक्तिकी पराकाष्ठा परमात्मामें ही है। आप परमात्माकी कल्पना उसको शुभ गुणोंकी पराकाष्ठाका केंद्र मान कर कर सकते हैं। यह परमात्मा जैसा जगत् में सर्वत्र व्यापक है, उसी प्रकार आपके हृदयमें विद्यमान है। आप प्रतिदिन संध्या करनेके पश्चात् अपने हृदयपर हाथ रखिये और " **वहां परमात्मा अपने संपूर्ण शक्ति-योंसे परिपूर्ण है** " इस बातका ध्यान कीजिये जहांतक हो सके वहां तक उसके साथ अपनी एकतानता कीजिये, और सब जगत् को भूलिये। यह एक उपाय है, कि जिससे अपने अंदर इंद्रशक्ति संचारित होने लगती है। यदि मन शांत रखकर आप उक्त प्रकार उपासना कर सकेंगे, तो आपको नवीन शक्ति स्फुरित होनेका अनुभव निःसंदेह आ सकता है। वेद भी कहता है--

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युद्ध्यमाना अवसे हवन्ते ॥ यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युत-च्युत् स जनास इंद्रः ॥ ऋ. २।१२।९

सब मनुष्य जिसके विना विजय प्राप्त नहीं कर सकते और युद्ध करनेके समय जिसकी प्रार्थना करते हैं, जो विश्वका प्रमाण हुआ है, और जो बलवान होनेके कारण न हिलने वालों को भी हिलाता है, हे लोगो ! वही इंद्र है। "

यह भावना मनमें धारण करते हुए अपने हृदयमें इंद्रशक्ति से संपन्न परमात्मकी

भक्ति कीजिये । भक्तिसे मन इतना तैयार कीजिये, कि आपके मनको परमात्माका अपने हृदयमें निवास स्पष्ट प्रतीत होने लगे। निरंतर ध्यान करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है । इसके पश्चात्—

(१३) अपने अंदर इंद्रशक्ति ।

अपने अंदर जो इंद्रशक्ति है उसका भी स्मरण कीजिये । प्रिय पाठको ! आप भी " इंद्र " हैं । इंद्र शब्द जैसा परमात्मा का वाचक है, उसी प्रकार " जीवात्मा " का भी वाचक है, इसलिये आप स्वयं इंद्र हैं । आपके अंदर बीज रूप जो इंद्रशक्ति है, उसीका विस्तार करना है । यदि आपके अंदर इंद्र शक्तिका बीज न होगा, तो बाहिरसे इंद्रशक्ति आकर वह आपके अंदर कार्य नहीं कर सकती । परमात्माके अमृतपुत्र आप हैं । जिस प्रकार पिताकी संपूर्ण शक्ति अंशरूपसे पुत्रमें आती है; उसी प्रकार परमपिता परमात्माकी व्यापक प्रचंड शक्तिका अल्प अंश आपके अंदर है, उस बिंदुरूप अंशमें परमात्माकी संपूर्ण शक्तियां सूक्ष्मरूपमें विराजमान हैं । इन सूक्ष्म और अल्प शक्तियोंका ही विकास करना है । विकास का प्रारंभ होनेके पूर्व आपको इस बातका पता होना चाहिये कि, " **अपने अंदर परमपिताके वीर्यका अल्पसा अंश है** " जिसका विकास सुनियमोंके द्वारा निश्चयसे होता है ।

उस प्रकार विकास का निश्चय होनेकी संभावना आपके मनके अंदर स्थिर और दृढ होनेके पश्चात् पुरुषार्थ प्रयत्नसे ही यह साध्य होगा, यह विश्वास रखिये । इस विषयमें किसी प्रकारकी संशयवृत्ति न रखिये । क्यों कि संशय ही विनाशका हेतु है । इसलिये आप पुरुषार्थ से सिद्धि मिल सकती है. इस बात पर विश्वास रखिये । इससे आपका मार्ग बहुत सुगम हो जायगा ।

जीवात्माका नाम "**क्रतु**" है, यह शब्द पुरुषार्थ का सूचक स्पष्ट है, वेदही आपको क्रतु कहता है, इसलिये अपने कर्तृत्वमें शंका करना आपको उचित नहीं है । ऐसा दृढ-निश्चय अपने मनमें स्थिर कीजिये कि, "**सब विघ्नोंको दूर करके मैं अवश्य इष्ट सिद्धि प्राप्त करूंगा ।**" उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम अपने अंदर बढानेसे मनुष्य हरएक प्रकारकी उन्नति प्राप्त कर सकता है, इस वैदिक सिद्धान्तको अपने मनके अंदर स्थिर करके अपनी इंद्रशक्तिका विकास करनेका दृढ निश्चय कीजिये ।

वैदिक धर्मका अमली जीवन व्यतीत करनेसे ही इंद्रशक्ति विकसित हो सकती है। किसी भी अन्य धर्मपुस्तकमें इंद्रशक्तिका उल्लेख नहीं है और वेदमें इस इंद्रशक्तिका वर्णन करनेवाले सहस्रों मंत्र विद्यमान हैं । इससे स्पष्ट है, कि इंद्रशक्तिका विकास करनेमें वेदसे कितनी सहायता मिल सकती है । यद्यपि वैदिक जीवन व्यतीत करनेसे इंद्रशक्तिका विकास होता है, यह सत्य है; तथापि "**वैदिक जीवन**" का स्वरूप क्या है, इस बात का बहुतही थोडे मनुष्योंको पता है, इसलिये

यह बात सारांश रूपसे इस लेख में बतानेका यत्न करना है।

(१४) आपका ध्येय "अभ्युदय" है।

सूर्य का उदय होता है, चंद्र और नक्षत्र उदय प्राप्त करते हैं; बीजसे वृक्षोंका उदय होता है, इस प्रकार सर्वत्र जगत् में अभ्युदय ही अभ्युदय है। हरएक सजीव पदार्थ में यह शक्तिका विकास देखिये और अनुभव कीजिये, कि यह **"अभ्युदय का नियम"** जगत् में कैसा कार्य कर रहा है! प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओंसे सूर्यचंद्रादिकोंका उदय हो रहा है, बीजसे वृक्ष बढ रहे हैं, वीर्य बिंदुसे प्राणियोंके शरीर विकास को प्राप्त हो रहे हैं, इस प्रकार सर्वत्र शक्तियोंका विकास हो रहा है। यदि संपूर्ण सृष्टिके अंदर शक्तिका विकास कार्य कर रहा है, तो अशक्त स्थितिमें रहनेसे आपका कैसा कार्य चल सकता है? आपको भी उचित है, कि आप अपनी शक्तिका विकास करें और अन्योंकी अपेक्षा अधिक विकसित होकर आदर्शरूप बनें। वेद भी कह रहा है कि-

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।

अ. ८।१।६

"हे मनुष्य! **उन्नत होना तुम्हारा कर्तव्य है,** अवनत होना नहीं है।" ध्यान रखो कि अभ्युदय, उन्नति, प्रगति ये ही शब्द आपके मार्ग दर्शक हैं। आप अन्य हीन बातों को अपने मन में न रखिये। आपके अंदर आत्मिक बल, बुद्धिकी शक्ति, मन का वीर्य, इंद्रियोंकी शक्तियां और शरीर की ओजस्विता कितनी बढ सकती हैं, उसकी मर्यादा अभीतक किसीनें निश्चित नहीं की है। आपके शरीरमें ऐसे शक्तिके केंद्र हैं, कि जिनका पता भी अभीतक किसी को लगा नहीं है, इससे स्पष्ट होता है, कि अपनी शक्तिके विकास का क्षेत्र आपके सामने अमर्यादित है। कोई हद नहीं है, और कोई मर्यादा नहीं है। इस लिये आपको अपनी हिंमत बढानी चाहिये और ऋषिमुनियोंके निश्चित किये हुए साधन मार्गसे आगे बढाना चाहिये।

आप अपने आपको और अपने राष्ट्रको अन्योंकी अपेक्षा, पीछे न रखनेका, अर्थात् आगे बढानेका यत्न कीजिये। हरएक कार्यक्षेत्रमें यह नियम ध्यानमें धारण कीजिये, कि आपको आगे बढना है, और विघ्नोंके साथ युद्ध करके विघ्नोंको दूर भगाकर अपना धर्म मार्ग निष्कंटक करना है। जो नियम अन्यान्य कार्यक्षेत्रोंमें है, वही अपनी इंद्रशक्तिका विकास करनेमें भी है। इसलिये इस बातको कभी न भूलिये।

बंधनोंसे पूर्ण मुक्ति ही आपका ध्येय है, इसको आप निर्वाण कहिये, मुक्ति समझिये, या कोई अन्य नाम दीजिये। **"पूर्ण स्वतंत्रता"** जिसको वेद **"स्व राज्य"** कहता है, वही आपका ध्येय है। आजकल जो "स्व-राज्य" शब्द राष्ट्रीय स्वतंत्रता का वाचक प्रसिद्ध है, वह इससे भिन्न है। वेदका "स्वराज्य" शब्द अध्यात्मदृष्टिमें आपके पूर्ण शक्तिविकास का ही नाम है। आधिभौतिक दृष्टिमें उसका अर्थ राष्ट्रीय स्वराज्य है, जिसका वैदिक तात्पर्य इतनाही है, कि राष्ट्रकी संपूर्ण शक्तियों

का विकास। जिस प्रकार राष्ट्रकी संपूर्ण शक्तियोंका पूर्ण विकास का भाव राष्ट्रीय स्वराज्य में है, उसी प्रकार अपनी संपूर्ण शक्तियोंके विकास का भाव आध्यात्मिक स्वराज्यमें है। अस्तु। अपने अनेक शक्तियोंमें जो मुख्य इंद्रशक्ति है, उसका विकास करनेका ध्येय इस समय आपको अपने सन्मुख धारण करना चाहिये। इतना निर्देश इस समय पर्याप्त है।

(१७) मृत्यु और अमरत्व।

हरएक के पीछे मृत्युका डर लगा हुआ है। परंतु मृत्यु, दुःख, कष्ट आदि जो हैं, वे हमारे उत्तम शिक्षक हैं। इस दृष्टिसे देखनेसे मृत्यु का महत्व ध्यानमें आसकता है। गलतियों और अशुद्धियोंसे बचाने की सूचना दुःखों और कष्टोंसे मिलती है। मृत्यु इस नश्वर जगत् की साक्षी दे रहा है, और **नश्वर जगत् में शाश्वत आत्मा है**, यह ज्ञान मृत्युको देखनेसेही होता है। मृत्यु न होगा, तो जंन्मभी नहीं होगा, पुत्रजन्म का उत्सव देखना है, तो पूर्वजोंकी मृत्यु अवश्य सहन करनी चाहिए। इसप्रकार मृत्यु हमारी उन्नति में विलक्षण सहायता करता है। वृद्ध होनेके कारण कार्य करनेमें असमर्थ हुआ हुआ शरीर दूर करके नवीन कार्यक्षम शरीर मिलने के लिये मृत्यु की अत्यंत सहाय्यता है। जो मृत्यु पुराने शरीर को दूर करता है, और नवीन शरीर के साथ योग होने में सहायता देता है, हमारी उन्नतिमें निःसंदेह अद्भुत सहायता करता है। इस दृष्टिसे सहायकारी मृत्युसे डरना उचित नहीं है। परंतु मृत्युके अंदर भी परमात्माका कृपाहस्त देखकर उसको भावी उन्नतिका सूचक समझना चाहिये। इसका यह भाव नहीं, कि हरएक मनुष्य अतिशीघ्र मरनेका यत्न करे, नहीं; हरएक मनुष्यको दीर्घ जीवन के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। परंतु किसी समय कारण वश मृत्यु प्राप्त होने लगा, तो उससे डरना नहीं चाहिये।

मनुष्यकी शक्ति विकसित करनेके लिये समय समय पर दुःखों, कष्टों और मृत्यु को भी आनंदसे स्वीकारना पडता है। सत्पक्षके ऊपर असत्पक्षका हमला होनेके समय सत्पक्षके साथ मिलकर असत्पक्षसे युद्ध करना होता है। यह आवश्यक कर्म ही है। यह आवश्यक कर्तव्य न किया, तो उन्नति अशक्य है। इसी प्रकार समाज, जाती और राष्ट्र के संरक्षण युद्ध आवश्यक होने पर उसमें अपना भाग अवश्य करना पडता है। इस प्रकारके धर्मयुद्ध करनेसे उन्नति और न करनेसे अवनति निश्चित होती है। इसलिये आत्मशक्तिका विकास करनेवाले को उचित है, कि इस प्रकारके धर्मयुद्ध के लिये वह सदा तैयार रहे। युद्ध के लिये तैयार होनेका अर्थ यही है, कि मृत्युके लिये ही सिद्ध होना। इस प्रकार के कार्योंमें मृत्यु भी उन्नतिका साधक होता है।

मृत्यु से उन्नति किस प्रकार होती है, यह प्रश्न यहां हो सकता है। इसका उत्तर यह है, कि " त्याग " भावसे उन्नति होती है,

यह सब शास्त्रकार मानते ही हैं । पूर्वोक्त प्रकार के धर्मयुद्धमें तथा अन्य प्रकारके सत्कर्मोंमें जो मृत्यु होता है, उसको स्वीकार करने के समय " सर्वस्व त्याग " करनेकी आवश्यकता है । यदि थोडेसे त्याग भावसे उन्नति होती है, तो सर्वस्वत्याग करनेसे कितनी उन्नति संभवनीय है, इसका विचार पाठक करें । त्याग भावसे जो संस्कार आत्माके ऊपर होते हैं, उन संस्कारोंसे आत्मिक बल बढता है, इस रीतिसे और इस क्रमसे जाती के हितके लिये आत्मसमर्पण करने के समय होने वाले मृत्युसे आत्मिक बल का विकास होता है, जो इंद्र शक्तिके विकास का प्रधान हेतु है ।

यहां कोई यह न समझे, कि इस प्रकारके सार्वजनीन कर्ममें देहपात होनेसे अपना सर्वस्व नष्ट हो जाता है । प्रत्युत इसप्रकार की मृत्युसे आत्मिक बल विलक्षण बढ जाता है, जो आगामी जन्म में विना मेहेनत प्राप्त होता है । इसप्रकार क्रमसे उन्नति होती है, इसलिये हरएक को उचित है, कि वह मृत्युमें परमेश्वर का शुभ मंगलमय हाथ देखे, और मृत्युको भी अपना सहायक माने ।

जगत् में मृत्यु है, इसलिये अमरत्व की प्राप्ति करनेकी अभिलाषा मनुष्यमें उत्पन्न होती है । व्यक्तिके पीछे मृत्यु लगता है, परंतु समष्टि को मृत्युका कष्ट नहीं होता । व्यक्ति मरण धर्मसे युक्त है, परंतु समष्टि अमर है । एक एक व्यक्ति मरती है, परंतु वह मनुष्य जिस जातीका एक अवयव होता है, वह जाती अमर होती है, इसलिये मृत्युसे तैर जाने और अमरत्व प्राप्त करनेका उपाय यह है कि, मनुष्य वैयक्तिक अहंकार को छोड दे और सामुदायिक जीवन अधिकाधिक व्यतीत करे । जितना सामुदायिक जीवन का क्षेत्र अधिक व्यापक होगा, उतना अमरपन भी अधिक होगा, यह बात यहां स्पष्ट हो गई है । अकेले रहनेमें मृत्यु और समुदायके रूपमें रहनेसे अमरपन इस प्रकार होता है । यह मृत्यु और अमरपनका संबंध देख कर उसको अपने जीवनमें ढालनेका यत्न हरएक को करना चाहिये ।

परमात्मा, जीवात्मा, मृत्यु और अमरपन का इस प्रकार संबंध विचार की आंखसे देखिये और अपनी शक्ति विकसित करनेके लिये परमात्माकी अपने हृदयमें भक्ति कीजिये; जीवात्माकी शक्तियोंका निश्चित ज्ञान प्राप्त कीजिये मृत्युकी सहाय्यता देखिये और सामुदायिक जीवनसे अमरत्वकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, इस बातका अनुभव कीजिये । इनके विषयमें आपका निश्चय हुआ, तो समझ लीजिये, कि इंद्रशक्तिका विकास करनेकी आपकी योग्य तैयारी हो गई है ।

(१६) इंद्र और वृत्र का युद्ध ।

वेदमें "इंद्र और वृत्र का सनातन युद्ध" वर्णन किया है । यह युद्ध सनातन है । इसी युद्धसे अंतमें इंद्रका विजय होता है और इंद्रकी शक्ति विकसित होती है । वृत्रको इंद्र क्यों मारता है, और इन दोनोंका सनातन युद्ध क्यों होता है, यह बात समझनेके लिये

वृत्र की कल्पना पहिले होनी चाहिये । सेकडों वेदमंत्र इस युद्ध का मनोहर वर्णन कर रहे हैं, वे सब मंत्र देखनेके लिये यहां स्थान नहीं है । तथापि इस लेखका कार्य केवल वृत्रका स्वरूप जाननेसे ही हो सकता है । "वृत्र" का स्वरूप इसी शब्दसे ज्ञात हो जाता है, जो चारों ओरसे घेरता है, उसको वृत्र कहते हैं । घेरनेवालेका नाम वृत्र है, घेरनेका अर्थ प्रतिबंध करनेसे है । इंद्र अपना प्रभाव बढाना चाहता है, उसको चारों ओर से घेरकर जो प्रतिबंध करते हैं, उनका नाम वृत्रासुर है । इसी लिये **प्रभाव बढाने वाले इंद्रको उचित है, कि प्रतिबंध करनेवाले के साथ युद्ध करे और उसका पराभव करके अपना प्रभाव बढावे** । इंद्र और वृत्रके युद्धका यही तात्पर्य है । अब इसका स्वरूप बाह्य सृष्टिमें तथा आंतरिक सृष्टिमें देखना चाहिये ।

पाठको! यदि आप अपने अंदर हृदयमें और बाह्य जगत्में अपनी विचार की आंख खोलकर देखेंगे, तो आपको पता लग जायगा, कि आपको प्रतिबंध करनेवाली शक्तियां अनेक हैं । आपकी प्रगतिमें जो प्रतिबंध डालते हैं, वेही आपके वृत्र हैं और उनके बीचमें आप ही इंद्र हैं । आपको उनके साथ सदा सर्वदा युद्ध करना अत्यावश्यक है । यदि आप इस युद्धसे पीछे हटेंगे, तो आपका पूर्ण पराजय हो जायगा और आपकी इंद्रशक्ति नष्ट हो जायगी । **परंतु यदि आप बाह्य और आंतरिक प्रतिबंधोंको तोडकर अपनी स्वतंत्रता सिद्ध करेंगे, तो आपके प्रभाव का दिव्य तेज चारों ओर फैल जायगा ।** यह इंद्र और वृत्रोंके सनातन युद्धका सारांशसे स्वरूप है । अब इसीका थोडासा विस्तार करना आवश्यक है । वेद कहता है कि—

अप्रतीतो जयति सं धनानि
प्रतिजन्यान्युत या सजन्या ॥

ऋ. ४।५०।९

"जो (अ-प्रति-इतः) जो पीछे नहीं हटता है, वही उन धनों को (सं जयति) उत्तम प्रकारसे प्राप्त करता है, जो धन (प्रति-जन्यानि) वैयक्तिक अधिकारके तथा (स-जन्यानि) समाजके अधिकारके होते हैं ।"

तात्पर्य यह है कि, वैयक्तिक और सामुदायिक विजय तब प्राप्त होगा, कि जब युद्ध करनेवाला वीर युद्धक्षेत्रसे पीछे न हटेगा । हरएक मनुष्य प्रतिक्षण युद्धमें है, इसी युद्ध को **"जीवन-युद्ध"** कहते हैं । इस जीवन युद्धमें जो प्रतिपक्षी है, वह, आपको प्रतिबंध करनेके कारण आप इंद्रकी अपेक्षासे, वृत्र है । इसलिये आपको उचित है कि, आप उसके साथ युद्ध करके उसका पराजय करें और अपना जय संपादन करें ।

यदि आप अपने चारों ओर देखेंगे, तो आपको सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें बीसियों शक्तियां आपकी उन्नतिमें बाधा डाल रहीं हैं, इसका अनुभव हो जायगा । तथा अपने शरीरके अंदरभी रोगादि तथा दुष्ट भावनादि अनेक असुर खडे हैं, जो

आपको प्रतिबंध कर रहे हैं। अपने आध्यात्मिक क्षेत्रमें रोग और दुष्टभाव, आधिभौतिक युद्धक्षेत्रमें सामाजिक और राजकीय प्रतिबंध करनेवाले, तथा आधिदैविक युद्धक्षेत्रमें भूचाल अवर्षणादि विघ्न आपको घेर रहे हैं, और आपको घेर कर आपको उठने नहीं देते हैं। इन प्रतिबंधक शक्तियोंका पराभव करना और अपने अभ्युदय की सिद्धि करना आपका यहां आवश्यक कर्तव्य है।

यदि आप इस पद्धतिसे विचार करेंगे, तो आपको पता लग जायगा, कि इंद्र और वृत्रका युद्ध मानवी जीवनमें भी सनातन युद्ध है। मनुष्यके हृदय स्थानमें जो इंद्रका अंशावतार हुआ है, उस को उचित है, कि वह अपने अभ्युदयके मार्गमें प्रतिबंध करने वाले इन वृत्रोंको पराजित करे, और अपनी उन्नति प्राप्त करे। वेदमें जो इंद्र और वृत्र के युद्ध का वर्णन है वह इस प्रकार सनातन युद्ध है, और जो हरएक मानव को करना है। जिस समय पाठक वृंद इस सनातन युद्ध का अनुभव करेंगे, उसीसमय वेदके मंत्रोंका सनातन उपदेश उनके ध्यानमें आसकता है, और तब पता लग सकता है, कि वेदका आशय कितना गंभीर है, और उसका संबंध मनुष्यके प्रतिदिनके व्यवहार के साथ कैसा है। अस्तु इस प्रकार प्रतिबंधकर्ता असुरोंके साथ होनेवाले सनातन युद्ध का स्वरूप है; अब इसीका अधिक विस्तारसे वर्णन करते हैं—

(१) प्रायः असुर अभाव रूप ही होतें हैं, जैसा "अ-सुर" यह शब्द ही **"सुरोंका अभाव"** बता रहा है। उसीप्रकार प्रकाशका अभाव, ज्ञानका अभाव धैर्यका अभाव इ० हैं। यद्यपिअभाव शब्दसे किसी वस्तुविशेषका बोध नहीं होता, तथापि ये अभावरूपी असुर स्वयं वस्तुरूप न होते हुए भी बडे प्रतिबंध खडे कर देते हैं। ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है। अज्ञान करके कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है, तथापि यह असुर हरएक मनुष्य के मन और बुद्धिके कार्य क्षेत्रमें आकर बडे प्रतिबंध खडे करते हैं। गाढ अंधकार प्रकाशका अभाव ही है, तथापि कई प्रकार की बाधायें इस अंधकारसे उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य वृत्र वास्तवमें तमः स्वरूपी अभाव रूपी होनेपर भी हर स्थानमें बाधा उत्पन्न करता है।

(२) आत्मिक कार्य क्षेत्रमें आत्मिक बलका अभाव होनेके कारण कई मनुष्य शक्तियां होते हुए भी सबसे पीछे पडे रहते हैं, क्यों कि उनके अंदर इतना हौसला नहीं होता, कि आगे बढें। केवल इस अभाव के कारण उनकी सब प्रकारकी उन्नति बंद हो जाती है।

(३) वृत्रादि असुरोंका स्वरूप वेदमें अंधकार मय वर्णन किया है। वेद कहता है, कि जहां वृत्र जाता है, वहां अंधेरा होता है; इसका तात्पर्य ऊपर वर्णन किया ही है। हरएक क्षेत्रमें जहां अभावरूप असुर भासमान होता है, वहां अंधेरा बढता जाता है। इंद्र प्रकाश का प्रतिनिधि है और उसके

विरोधी सब असुर अंधेरेके प्रतिनिधि हैं। इस जगत् में प्रकाश और अंधकारका युद्ध हमेशासे चल रहा है।

(४) मनुष्यके मनोभूमिमें उत्साह, फूर्ति, उद्यमशीलता, धैर्य, गंभीरता धार्मिक भाव आदि शुभ गुण प्रकाश से संबंध रखते हैं, ये इंद्रके सहचारी " **देवगुण** " हैं। निरुत्साह, आलस्य, सुस्ती, भय, हीनवृति, अधर्ममें प्रवृत्ति आदि संपूर्ण अशुभ दुर्गुण अंधेरेके साथ संबंध रखते हैं और ये सब वृत्रके सहचारी "**असुर गुण**" हैं। इनका विस्तार बहुत है, जिसको पाठक स्वयं जान सकते हैं।

यदि पाठक इंद्र सूक्तके मंत्र पढेंगे, तो वहां इंद्रका प्रभाव और उत्कर्ष दिखाई देगा। यदि पाठकोंके मन में इंद्रके मंत्रोंका भाव स्थिर हो जाय, तो उस मन में भी प्रभावयुक्त प्रतिभा स्थिर रूप से विराजमान हो जायगी और वहांसे चिंता और हीनता दूर हो जायगी। इंद्रसूक्तोंका भाव ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये हरएक स्थानके इंद्र शक्तिकी जैसी कल्पना होनी चाहिये, उसी प्रकार विरोधी असुरवृत्तिकी भी कल्पना होनेके लिये यहां नीचे एक कोष्टक देता हूं जिससे उक्त भाव अधिक स्पष्ट हो जायगा---

युद्धक्षेत्र।	इंद्र और उसकी विभूति ।	वृत्र और उसकी दुर्भूति
बुद्धि	ज्ञान	अज्ञान
मन	उत्साह, शिव संकल्प,	चिंता, हीन विचार,
इंद्रिय	इंद्रियकी शुभ प्रवृति,	इंद्रिय की हीन वृति,
शरीर	फूर्तियुक्त नीरोग शरीर. आरोग्य	आलस्ययुक्त रोग. रोग
कुटुंब	एक विचारसे रहनेवाला परिवार.	भिन्न विचारके कारण आपसमें झगडनेवाला परिवार
ग्राम	आरोग्य पूर्ण नगर.	रोगी गांव
राष्ट्र	प्रगति शील विजयी राष्ट्र.	अवनत जाति
समाज	अभ्युदय प्राप्त करनेवाला समाज	झगडनेवाला समाज
अन्न पान	जो हित कारक पथ्य और बल वर्धक भोजन और पेय है।	जो बलहारक रोग वर्धक खाना होता है।
बाह्य विश्व	सूर्य, विद्युत, दिन प्रकाश	मेघ. रात्री, अंधेरा

इस छोटेसे कोष्टकसे पाठकोंको इंद्र शक्ति और असुर शक्तिकी व्यापकता की और उनके सनातन युद्धकी कल्पना हो सकती है और यह कल्पना होनेके पश्चात् वे अपने आपको इस युद्ध क्षेत्रमें देख सकते हैं। जिस समय अपने आपको इस युद्धक्षेत्रमें पाठक देखेंगे, तब उनको इंद्रशक्ति बढानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं। अनुष्ठानका प्रारंभ होनेके पूर्व पाठकोंकी इतनी तैयारी अवश्य होनी चाहिये।

इस प्रकार इंद्रके शत्रुओंका सामान्य स्वरूप है। हरएक स्थानमें तथा अवस्थामें इनका वास्तव्य है और योग्य दक्षता न रखनेपर इनका हमला हो जाता है। यदि अपनी यथायोग्य युद्ध करने की तैयारी न रही, तो हृदय की इंद्रशक्ति दब जाती है। इस लिये इंद्रशक्तिका विकास करनेकी इच्छा करनेवालोंको सब प्रकारका पथ्य रखनेकी आवश्यकता है। यह पथ्य केवल खान पान का ही नहीं है, प्रत्युत सब प्रकारके अन्य व्यवहारोंमें भी रखना चाहिये।

ऋषिप्रणीत आचार शास्त्रोंमें इस पथ्य व्यवहारका विचार बहुत ही है, उसीका अतिसंक्षेपसे यहां सारांश लेता हूं—

(१७) इंद्रशक्तिका घातक खानपान।

शक्तिके पोषण करनेका विचार जहां चलता है, वहां खान पान का विचार सबसे प्रथम करना चाहिये। विशेषतः आजकल इस बात की अत्यंत आवश्यकता है, क्यों कि इस समय "आसुरी पदार्थ" आर्योंके खान पानमें इतने घुसगये हैं कि, उनको दूर करना कठिन हो गया है। जिन ऋषि-मुनियोंने आचार व्यवस्थापर इतना जोर दिया था, और खान पान व्यवस्था यहां तक पूर्ण बनाईथी कि, वे **"इच्छा-मरण"** की शक्ति बढा सके थे, उसी देशमें आज वह ऋषिव्यवस्था टूट गई और पूर्णतासे आसुरी खान पान चल पडा है!!! किया क्या जाय? परंतु ऐसा हुआ है, इसीलिये वैदिक धर्मियोंको अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिये। और इंद्रशक्तिका विकास करनेकी ऋषिमुनियोंकी रीति पुनः प्रचारमें लानेका यत्न करना चाहिये।

आजकलके खान पानमें चा, काफी, सोडावाटर, तमाखू, भंग, मद्य, तेलके तले चटपटे पदार्थ, विविध प्रकारके उत्तेजक मसाले, डब्बोंमें भरकर बेचे जानेवाले खानेके पदार्थ, अनेक प्रकारके खट्टे और तीखे अचार आदि अनंत पदार्थ निःसंदेह आसुरी पदार्थ हैं, जो पेटमें जा कर खून को बिगाड कर हृदयकी इंद्रशक्तिको हतबल कर रहे हैं; परंतु "फैशन" के शौकी मौज करते हैं और इस मौज के कारण अपना घात कैसा हो रहा है, इसकी कोई भी पर्वाह नहीं करता!!!

अखबारी दुनियांके अंदर **"काम उत्तेजक औषध"** की गोलियां और रस इतने बढ रहे हैं कि चतुर लोगोंको पैसा कमानेका दूसरा **"सभ्य धंदा"** ही मिलना अशक्य हुआ है!! इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। और यहां न इतना

विस्तृत स्थान है, परंतु अपथ्य खानपान की व्याप्ती बतानेके लिये यहां इस का नाम निर्देश करना आवश्यक हुआ, इसीलिये लिखा है।

मनुष्यका शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि आदि सब हमारे खान पान के साथ संबंध रखते हैं। आजकल मज्जातंतुकी निर्बलता का मूल कारण विपरीत आसुरी खान पान ही है। मस्तिष्क की कमजोरी का मूल कारण विपरीत आसुरी खान पान ही है। मस्तिष्क की कमजोरी का आदि कारण अपथ्य भोजनमें है। तथा प्रतिदिन जो विलक्षण बीमारियां बढ रही हैं, उनका हेतु वास्तविक रीतिसे अयोग्य खान पान तथा अयोग्य व्यवहारही है। परंतु " फैशन " की गुलामी के कारण मनुष्य इसका विचार नहीं करते और विपत्तिमें प्रतिदिन डूब रहे हैं। इस लिये वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे इस बातका विचार करें और स्वयं अनुष्ठान करके योग्य आचार विचार और व्यवहारका प्रचार करें।

अपना शरीर देवताओं का मंदिर है, इस देवगृह में कौनसा पदार्थ लाना और कौनसा न लाना, इसका विचार हरएक मनुष्य को करना चाहिये। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि इसी बातका विचार सबसे कम किया जाता है, जिसका परिणाम आज कलकी नाना प्रकारकी आधी और व्याधियां हैं !!!

देखिये उत्तम शुद्ध जल पीना शरीर स्वास्थ्य के लिये लाभदायक है, परंतु चा, काफी, सोडावाटर तथा अन्य प्रकारके शीत पेय बाजारों में बेचते हैं, और कोई इसको रोकनेवाला नहीं है ! ! कानून में " विष-प्रयोग " करके किसीके जीवितका थोडे कालमें नाश किया तो अदालतों में इस गुन्हेगार को दंड होता है; परंतु उक्त अपेय पानोंके दुकानदार अल्प प्रमाणमें " विष-प्रयोग " कर रहे हैं, और उसको किसी कानूनसे रोका नहीं जाता, इसलिये कि इनसे शीघ्र मृत्यु नहीं होता है ! ! ! क्या यह आश्चर्य नहीं है ? यदि ऐसी बात ऋषि कालमें कोई करता, तो निःसंदेह वह दंडका भागी हो जाता।

उक्त पेयोंके अंदर विशेष प्रकार के विष हैं, जो शरीरमें घुस कर हर प्रकारसे जीवन शक्तिको कम करते हैं। यही कारण है कि जिससे नवीन बीमारियां उत्पन्न हो रही हैं, जिनके नाम प्राचीन ग्रंथोंमें देखे भी नहीं जाते !

तमाखू, बीडी, सिगरेट आदिके विज्ञापन बडे बडे राष्ट्रीय वृत्तपत्रोंमें भी झडकते हैं, परंतु ये पत्रकार सोचते नहीं कि जिनके अंदर राजकीय भावना की जागृति करनेके लिये ये अखबार चलाये जाते हैं, उनकेही स्वास्थ्य की जड ये विज्ञापन काट देते हैं!!! धार्मिक और सामाजिक अखबारोंके विज्ञापनोंमें "ब्रह्मचर्य वटी, वीर्यवर्धक गोली और कामवर्धक गुटिकाएं" कम नहीं हैं!! जहां धर्मप्रचारके कार्यसाधक अखबार वाले अपने ग्राहकों के स्वास्थ्य की आहुति लेकर

अपना स्वार्थ साधन करनेकी तैयारी कर रहे हैं, वहां अन्योंकी अवस्था क्या विचार करनी है?

दवाईयोंके विज्ञापन तथा शरबतोंके इश्तिहार कोई कम घात नहीं कर रहे हैं। चरक और सुश्रुत पढनेसे पता लग सकता है, कि औषधिप्रयोग किस प्रकार और कितनी सावधानतासे करना चाहिये। परंतु आजकल ऋषिमुनियोंके नाम भी अखबारोंमें रगडे जा रहे हैं। इसका हेतु "द्रव्य कमाना" ही केवल है।

यह "द्रव्य की प्यास" जगत् में कितने अनर्थ करा रही है, इसका कोई ठिकाणा नहीं! इस लेखमें केवल सूचना मात्र लिखा है। पाठक सोचें और विचारें कि, शत्रुओंकी संख्या कितनी है। इन असुरोंकी विरोधी शक्तिका प्रतीकार करके पाठकोंको अपनी "इंद्रशक्ति" विकसित करनी है।

उक्त विचारसे पाठक यह न समझें कि बाजारोंकी मिठाईकी दुकानें और दूधवालोंके स्थान तथा छाबडीवालोंके व्यवहार सब उत्तम हैं। यद्यपि ये साक्षात् जहर नहीं बेचते, तथापि ये इतने अस्वच्छ और अपवित्र रहते हैं, और इनके दुकानोंमें इतनी गंधगी भरी रहती है, कि कोई भी अपने आरोग्य का हितचिंतक इनसे कोई पदार्थ लेकर खा नहीं सकता। इसलिये इनको स्वच्छता और पवित्रताकी दीक्षा देनी अत्यावश्यक है। इसे खान पानके विषयमें इस दृष्टिसे पाठक विचार करें और सोचें कि अपनी शक्ति क्षीण करनेके लिये किस मिषसे ये शत्रु बैठे हैं!!!

इंद्रशक्तिके घातक खानपानके विचारके अंतमें मांसाहार का विचार करना चाहिये। मांस भोजन करनेवाले जो लोग होते हैं उनको फीसदी ३६ बीमारियां अधिक होती हैं, और फलभोजियोंको उतनी कम होती हैं। इससेभी अधिक इस विषयपर लिखा जा सकता है, परंतु इतनाही यहां पर्याप्त है। इंद्रशक्ति का विकास करनेके अनुष्ठानके लिये नीरोग जीवनकी अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये जिस खानपानसे आधि और व्याधि बढ जाती है, वह खानपान सर्वथा दूर करना चाहिये। अब इंद्रकी साधक शक्तिका विचार करेंगे—

(१८) इंद्र और मरुत्।

इंद्र और मरुतोंका संबंध अत्यंत निकट है, इसकी साक्षी "**इंद्रा-मरुतौ**" यह वैदिक देवता दे रही है। इंद्रके सूक्तोंमें मरुतोंका और मरुतोंके सूक्तोंमें इंद्रका संबंध आता है। यह संबंध विचार करने योग्य है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये —

मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा
विश्वा पृतना जयासि ॥

ऋ. ८।९६।७

"हे इंद्र! तेरी मित्रता मरुतोंके साथ रहे, इसीसे तेरा विजय इन सब युद्धों में होगा" तथा —

मरुत्वाँ इंद्र वृषभो रणाय ॥

ऋ. ३।४७।१

(वृष-भः) बलवान् तथा (रणाय) युद्ध के लिये समर्थ होता है । " तथा—

मरुत्वान्नो भवत्विंद्र ऊती।

ऋ, १।१००।१

" मरुतों से युक्त इंद्र हमारा रक्षण करने वाला होवे । " और देखिये —

मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा ।

ऋ. ७।५६।२३

" मरुतोंके साथ होनेसे शूर और युद्धोंमें विजयी होता है । " इस प्रकार अनेक मंत्रोंमें वर्णन है । इसका तात्पर्य यहां देखना चाहिये । " मरुत् " शब्दका अर्थ अध्यात्म में " प्राण " और आधिदैवतमें " वायु " है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है । अधिदैवत के वायुका संबंध हमारे प्राणसे निश्चित है । अधिदैवत का वायु विश्वव्यापक प्राण है और अध्यात्मका प्राण शरीरके अंदरका प्राण है । इस प्रकार इनका अभेद संबंध है । तात्पर्य अपने प्रचलित विषयका विचार करनेके संबंध में — वैयक्तिक विकासका विचार कर्तव्य है, इस लिये — यहां " मरुत् " शब्दका अर्थ " प्राण " ही है । प्राण अनेक होनेसे ही मरुत् शब्दका बहुवचन उक्त मंत्रोंमें आया है, और वह सार्थ है । तात्पर्य यह है कि " **प्राणोंके साथ इंद्र का बल बढता है** " यह उक्त मंत्रोंका आशय है । इस प्रकार प्राणायाम का संबंध इंद्रशक्तिके विकास के साथ है । **प्राणायाम से प्राणोंका बल बढ जाता है और प्राणोंके बल बढने से अपनी इंद्रशक्ति विकासित होती है।**

प्राणोंका इंद्रके साथ वही संबंध है कि जो सैनिकोंका सेनापति के साथ होता है । मरुद्गण ये इंद्रके सैनिक होनेका वर्णन वेदमें है, इसका भी यही तात्पर्य है । जिस प्रकार निःशक्त सैनिकोंका सेनापति निर्बल होता है, ठीक उस प्रकार जिसके प्राण निर्बल होते हैं उसकी इंद्रशक्ति भी निर्बल ही होती है ।

पाठको! यहां देखिये कि वेदके मंत्र किस प्रकार आपका बल बढाने की सूचना दे रहे हैं । इस लिये आपको उचित है, कि आप इस ढंगसे वेदमंत्रोंका विचार कीजिये और शक्तिका विकास करनेके सनातन नियम जानकर उनके अनुष्ठानसे अपनी शक्ति विकसित करनेका पुरुषार्थ कीजिये ।

(१९) प्राणायाम की पूर्व तैयारी।

इस समय तक के विचारसे पाठकोंको पता लगा ही होगा, कि प्राणायाम एक उपाय है कि, जिससे इंद्रशक्ति विकसित हो जाती है । इसलिये क्रम प्राप्त प्राणायाम की पूर्व तैयारी का विचार करना है ।

स्थानशुद्धि—प्राणायाम का विचार करने के समय प्राणायाम की विधि जाननेके पूर्व किस स्थानपर प्राणायाम करना चाहिये, इस बातका ज्ञान अत्यावश्यक है । क्यों कि अयोग्य स्थानमें प्राणायाम करनेके कारण कई प्रकार की बीमारियां उत्पन्न होती हैं । ऋषिकाल की सब व्यवस्था अब रही नहीं और जो व्यवस्था आज कल प्राप्त हुई है, वह स्वास्थ्य सुख की दृष्टिसे अत्यंत हानिकारक है । ऋषिकालमें आयुके प्रथम के

२५ वर्ष गुरुकुलके अरण्यवासमें जाते थे । पचीस वर्ष के पश्चात् के २५वर्ष गृहस्थाश्रममें नगरमें व्यतीत होते थे । इनके पश्चात् अर्थात ५०वर्षकी आयुके नंतर की आयु प्रायः प्रस्थ और संन्यास के निमित्त वनमें ही व्यतीत होती थी । अर्थात् आयुका बहुतसा भाग वनके शुद्ध वायुमंडलमें व्यतीत होता था । परंतु आज कल बालपनसे लेकर मरनेतक का संपूर्ण आयुष्य तंग गलियोंके तंग कमरोंमें जाता है । इस प्रकारके कमरोंमें प्राणायाम करना कदापि उचित नहीं है ।

मकानके पास से गलीज नालियां और मोरियां चलरहीं हैं, वहां से अनेक मक्खियां कमरोंमें आरही हैं, दुर्गंध युक्त वायुसे मकान के कमरे भर रहे हैं, एक एक मकान में अनेक कुटुंब खींचा खींच करके निवास कर रहे हैं, इसप्रकारके स्थान प्राणायाम के लिये सर्वथा अयोग्य हैं ।

मनुष्य के उच्छ्वासका जो दूषित वायु बाहिर जाता है वह विषयुक्त होता है । उच्छ्वास का विषपूर्ण वायु किसीके फेंफडोंमें सदा जाता रहा, तो उसकी अकाल मृत्यु होने में कोइ शंकाही नहीं है । तंग गलियों में यही बात होती है ।

इसलिये प्राणायाम के लिये स्थान ऐसा चाहिये कि जहां वायु और सूर्य प्रकाश विपुल आता हो; जहां अपूर्व स्वछता और प्रसन्नता हो, घरके बाहिर अच्छा उद्यान हो। और उसमें विविध प्रकारके सुगंधित फूल विकसित हुए हों । तथा आसपास किसी प्रकारकी अशुद्धि न हो ।

इस प्रकार स्थानशुद्धिका विचार अवश्य करना चाहिये । स्थान एकांत हो, रम्य हो, प्रशस्त और निर्मल हो, तथा वहां उतने ही पदार्थ हों, कि जो इस इंद्रशक्तिके विकास के साथ संबंध रखते हों । जिस कमरे में रहना है, वह सब स्थान प्रतिदिन स्वच्छ और शुद्ध किया जाय और किसी प्रकार अस्वच्छता वहां न हो । क्यों कि जहां मलीनता होती है, वहां इंद्रशक्ति क्षीण होती है ।

यदि वृक्षके नीचे बैठनेके लिये स्थान प्राप्त होगा तो सबसे उत्तम है । स्थान प्रशस्त होनेके साथ साथ उपद्रव रहित होना चाहिये " घर " का नाम ही वेदमें " क्षय " है, इसलिये क्षय के साथ जितना कम रहा जाय उतना अधिक अच्छा है । घर के बाहिर रहनेसे सूर्य के द्वारा प्राप्त होनेवाली इंद्रशक्तिके साथ मनुष्यका संबंध आता है, इसलिये इंद्रशक्तिकी वृद्धि होनेमें सहायता होजाती है। वृक्षोंमें भी बड का वृक्ष इस कार्य के लिये बडा उपयोगी है । वड के रस के कई गुण हैं । इस वड में ऐसी एक विलक्षण शक्ति है, कि जो मनुष्यको दीर्घजीवी बना देती है । यह शक्ति इस वृक्षमें रहती है, इसीलिये वडका वृक्ष प्रायः अतिदीर्घ जीवी होता है । ऋषिमुनि वड के नीचे अथवा पास रहते थे, इसका कारण केवल इसकी छाया नहीं है, प्रत्युत उसके अन्य गुण ही हैं । पाठकोंमें जो वैद्य हैं, उनको इसका अधिक विचार करना चाहिये । अस्तु ।

स्थान शुद्धिका विचार करनेके समय और एक बातका अवश्य विचार करना चाहिये, वह बात "धूलि" है । घरमें झाडू लगानेके समय जो धूलि अथवा कचरा हवामें उडता है, तथा मार्गपरसे जो धूली वायुसे हवामें उडती हैं, कपडे झटकनेके समय जो कचरा उडता है, तथा इस प्रकार अनेक कारणोंके सबब जो धूली के कण हवामें उडते हैं, वे भी प्राणायामके लिये, और उसी प्रकार साधारण श्वास के लिये भी, हानि कारक हैं । यह धूलि फेंफडोंमें जा कर अनेक प्रकारके अनर्थ कारक रोग उत्पन्न करती हैं। इस लिये स्थान शुद्धि करनेके समय धूली न उडे ऐसा प्रबंध करना चाहिये । यह बात अनेक प्रकार से साध्य हो सकती है । झाडू देनेके पूर्व पानीका थोडासा छिडकाव करनेसे, अथवा लकडी का भूसा गीला करके उसको झाडूके पूर्व भूमिपर छिडकनेसे तथा कई अन्य उपायोंसे धूलि उडनेको रोका जा सकता है। शहरके निवास की अपेक्षा उद्यान का तथा वन का निवास अधिक आरोग्य वर्धक होने का कारण ही मुख्यतया यह है ।

वैदिक काल के घरोंके साथ उद्यान अथवा पुष्पवाटिकाएं अवश्य रहती थीं । "उद्यान-नगरी" की कल्पना वैदिक है । वेदमें "उद्यान" शब्दका अर्थ जैसा "बाग" है, उसी प्रकार उसका अर्थ उन्नति भी है । ऊपर चढना, उन्नत होना यह भी अर्थ "उद्यान" (उत्-यान) शब्दमें है । इसका तात्पर्य यह है, कि घरके साथ उद्यान और पुष्पवाटिका रहनेसे उस घरमें रहनेवालों कि उन्नति होनेमें सहायता होती है । घरके साथ उद्यान रहनेसे धूली की बाधा कम होती है, यह भी एक कारण है कि जो मनुष्योंकी आयु बढाता है । इसके अतिरिक्त भी अनेक लाभ हैं, जिनका उल्लेख यहां करनेको आवश्यकता नहीं है ।

वैदिक धर्मको आचरणमें लानेके लिये इस प्रकार उद्यान नगरी की रचना होनी चाहिये । यदि इसकी सिद्धता होनेमें देरी होगी, तो कमसे कम "इंद्रशक्ति" का विकास करनेके इच्छुकोंको उचित है कि वे मिलकर एक छोटासा सुरम्य स्थान नगरके बाहिर बनावें कि जहां इसका अनुष्ठान हो सकता है । तब तक हरएक पाठक अपने स्थानमें ही जहां तक हो सके वहां तक पवित्रता रखनेका यत्न करें और अपनी उन्नति सिद्ध करनेका पुरुषार्थ करें ।

(२०)आसन और प्राणायाम ।

उक्त प्रकार के पवित्र स्थानमें आसनोंका अभ्यास करना चाहिये अपनी "इंद्रशक्ति" बढानेके लिये "आसनोंका अभ्यास" अत्यावश्यक है । आसनोंसे जिस प्रकार शरीर निर्दोष हो जाता है, वैसा किसी अन्य व्यायामसे नहीं । आसनोंमें यह खूबी है कि श्वासों की संख्या न बढते हुए व्यायाम होकर नसनाडियों और स्नायुओंकी शुद्धता होती है, यह शुद्धता इंद्रशक्तिके विकासके लिये अत्यावश्यक है ।

शरीर शुद्धिके साथ बल संवर्धन की इच्छा हो तो "सूर्यभेदन" व्यायाम कर

सकते हैं । यह आपकी इच्छापर निर्भर है। यह कोई अत्यावश्यक बात नहीं है । परंतु आसनों और इस व्यायामके पश्चात् शीर्षासन करना अत्यावश्यक है, यह कमसे कम आधा घंटा तक करना चाहिये । अन्य आसनोंका अभ्यास यद्यपि लाभकारी है, तथापि प्रतिदिन आवश्यक है, ऐसी बात नहीं है; जैसा शीर्षासन प्रतिदिन अत्यावश्यक है। तथा इंद्रशक्ति वर्धनके लिये जो शीर्षासन करना होता है, उसमें श्वास जितना शांतिसे चलाया जाय उतना लाभ कारी होता है। अर्थात् वेगसे चलाना नहीं चाहिये । अभ्यास होनेपर शीर्षासन का श्वास पर इष्ट परिणाम होने लगता है । जो शीर्षासनके अभ्यासी हैं उनको पता है कि पंद्रह मिनिट शीर्षासनमें स्थिर रहनेके पश्चात् श्वास की गति स्थिर, शांत, गंभीर और मंद हो जाती है और यह अत्यंत इष्ट है । चित्तको स्थिर करनेके कार्यमें इस शीर्षासन से अत्यंत लाभ होते हैं । मज्जातंतुओंका स्वास्थ्य इससे प्राप्त होता है, जिनका मस्तिष्क कमजोर है, वे इस अभ्याससे बहुतही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसके अन्य लाभ बहुतही हैं, परंतु उनका उल्लेख यहां करने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार प्राण की गति शांत और गंभीर होनेके पश्चात् तथा आसनोंके अभ्यास का परिश्रम दूर होनेके नंतर प्राणायाम का समय आजाता है ।

यहां इस बातका स्मरण रखना चाहये कि यदि प्राणायाम का अभ्यास विशेष अधिक करना है, तो उस के पूर्व या उन दिनों में ऐसा कोई व्यायाम करना प्रशस्त नहीं है, कि जिससे श्वासों की संख्या अत्यधिक होती है । परंतु अपने कार्य के लिये अधिक प्राणायाम करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। साधारण प्राणायाम वह होता है कि, जो दिन में एकवार या दोवार ही किया जाता है । इस के लिये सुभे और शामका समय प्रशस्त होता है विशेष प्रणायाम का अभ्यास जो करना चाहते हैं, वे दिनमें चार बार करते हैं । और प्रतिसमय दो दो घंटे अभ्यास करते हैं । ऐसे विशेष प्राणायाम करनेवालों को ऐसा कोई व्यायाम करना नहीं चाहिये कि जिससे श्वासों की संख्या अधिक होती हो । परंतु हमारे कार्य के लिये इतना अधिक प्राणायाम करनेकी आवश्यकता नहीं है । सबेरे दस पंद्रह मिनिट और उतनाही शामको अभ्यास पर्याप्त है । इस लिये पूर्वोक्त प्रकार आसनों के अभ्यास के पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये ।

इंद्रशक्तिको बढानेवाले प्राणायामका अभ्यास करने के लिये सिद्धासन, सुखासन या बद्धपद्मासन प्रशस्त होता है । आसनं ठीक प्रकार लगाकर पीठकी रीढ ठीक सीधी रख कर गर्दन और सिर सम रेखामें रखना चाहिये । पश्चात् परमेश्वरका स्मरण करके **"मैं उस परमात्माके अंदर हूं और वह मेरे अंदर तथा चारों ओर बाहिर है"** इस विचारसे अपना मन भरपूर करना चाहिये । चार पांच मिनिट यह विचार

अपने मनके अंदर स्थिर करनेके पश्चात् "**अपने हृदयके अंदर जो बीजरूप इंद्रतत्त्व है**" उसका चिंतन कीजिये। हृदयपर हाथ रख कर कहिए कि "**इस मेरे हृदयके स्थानमें बीजरूप इंद्रशक्ति है, जा अंतरिक्षव्यापक इंद्रतत्त्वका अंश है, यह शक्ति प्राणशक्तिके आयामसे बढती है, इस लिये अब जो प्राणायाम मैं करूंगा, उससे मेरी इंद्रशक्ति बढ जायगी।**" यह भावना अपने मन के अंदर पांच मिनिट तक धारण कीजिये और इस बात पर विश्वास रखिये कि परम पिता परमात्माकी कृपासे आपकी इंद्रशक्ति अवश्य ही बढेगी। कृपा करके इस समय कमसे कम अपने मनके अंदर कुतर्क न रखिये। क्यों कि मनमें कुतर्क आने लगे तो परम-पिताके साथ अपने आत्माकी एकतानता नहीं होती, और जो शक्ति प्राप्त होनी है, वह प्राप्त नहीं होती। इसलिये इस समय कोई कुतर्क मनमें खडे न कीजिये।

इतना होनेके पश्चात् बाह्य मरुतोंका अंश ही अपने अंदर प्राण बना है और अपने प्राणकी शक्ति विश्वव्यापक मरुतोंकी सहायतासे बढ सकती है। इसके लिये प्राणायाम ही एक उपाय है, तथा जिस प्रकार मरुतोंसे इंद्रशक्ति बढती है, उसी प्रकार प्राणों के बलसे अपनी इंद्रशक्ति अवश्य बढेगी, क्यों कि बाह्य जगत् का जो व्यापक नियम है, वही अपने अंदरके छोटे विश्वमें भी कार्य कर रहा है। यह भाव एक दो मिनिट अपने मनमें स्थिर कीजिये। और मन शांत गंभीर और ईश्वरकी भक्तिसे परि-पूर्ण करके निम्न लिखित विधिके अनुसार प्राणायाम कीजिये।

नाकके द्वारा मंद वेगसे श्वास फेंफडोंके अंदर पूरा भर दीजिये, श्वास प्रथमतः उदरकी ओर के फेंफडोंके भागमें चला जाय और क्रमसे फेंफडोंके ऊपरके भाग पूर्ण भर जांय। इस प्रकार "पूरक" कीजिये। पूरक होनेके पश्चात् थोडासा "कुंभक" कीजिये। पश्चात् मंद वेगसे "रेचक" कीजिये। रेचकके समय एकदम श्वास न छोडदें। इस विषयमें ठीक प्रकार सावधानता रखिये, कि रेचकके समय बहुत घबराहट न हो, और एकदम श्वास न छूटे। यदि एकदम श्वास छोडना पडा, तो वह बल की हानि करता है। इसलिये रेचक मंद वेगसे ही होना चाहिये। पूरक और रेचक के समय नाकसे ही श्वासका आना और जाना होना चाहिये, परंतु श्वासके आने और जानेका आवाज नहीं होना चाहिये। यह प्राणायाम इंद्रशक्तिका विकास करनेके लिये ही खासकर है। इसमें "बाह्य कुंभक" की आवश्यकता नहीं है, "अंतः-कुंभक" भी बडी देर तक करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ये प्राणायाम प्रथम दिन दोचार किये जांय, और प्रतिदिन अथवा प्रति दो दिनोंमें एकदो बढाये जांय। जब अधिक संख्या अर्थात् दस या पंद्रह तक प्राणायामोंकी संख्या हो जाय, तब किंचित् कुंभक बढानेका विचार करना योग्य है। परंतु स्मरण रहे कि, अपनी शक्तिसे अत्यधिक कुंभक करना योग्य

नहीं, इसलिये शनैः शनैः प्राणको वशमें लाकर कुंभक का प्रमाण अपनी शक्तिके अनुसार रखिये। यह प्राणायाम शनैः शनैः बढानेपर १५ की संख्या पंद्रह दिनोंमें अथवा एक मास में हो जाती है। तत्पश्चात् १५ या २० मिनिटतक ही सवेरे और उतना शामको अभ्यास करना पर्याप्त है। इससे अधिक नहीं। इस अवधिमें जितने प्राणायाम होंगे, उतने पर्याप्त हैं। जैसा जैसा कुंभक बढेगा, उतनी प्राणायामोंकी संख्या कम होती जायगी, यह बात यहां पाठकोंके ध्यानमें आगई होगी। खाली पेट रहनेकी अवस्थामें यह अभ्यास करना योग्य है, प्राणायाम करनेके पश्चात् आधा घंटा व्यतीत होनेके पश्चात् खानपान किया जा सकता है, परंतु खानेके पश्चात् तीन चार घंटे उक्त प्राणायामका अभ्यास करना नहीं चाहिये।

आसनोंका अभ्यास पर्याप्त प्रमाणमें सवेरे करनेपर शामको फिर करनेकी जरूरत नहीं है। ऐसी अवस्थामें शामको केवल पंद्रह मिनिट शीर्षासन करना पर्याप्त है। शेष अभ्यास पूर्ववत् करना चाहिये।

इस प्रकार नियमपूर्वक पांच या छे मास तक अभ्यास करनेसे इंद्रशक्ति बढनेका अनुभव आने लगता है, विशेषतः बुद्धि और मानसिक शक्तिमें उन्नति स्पष्ट अनुभवमें आती है। इसके पश्चात् भी यह अभ्यास नियम पूर्वक चलाना चाहिये। और दिव्य इंद्रशक्ति जितनी बढाई जा सकती है, उतनी बढानी चाहिये। इसके अभ्यास करनेके समय वीर्य की रक्षा करनेसे बडे लाभ होते हैं। वीर्य रक्षा करनेके उपाय "ब्रह्मचर्य" पुस्तकमें पाठक देख सकते हैं।

(२१) प्रयत्नसे इंद्रशक्तिका वर्धन।

अपनी "इंद्रशक्ति" का संवर्धन करनेके अनुष्ठानके विषयमें वेदके अनेक मंत्र मनन करने योग्य हैं। उनमें से थोडे मंत्र यहां देता हूं—

इंद्रं वर्धन्ति कर्मभिः। ऋ. ९।४६।३

"पुरुषार्थ प्रयत्नोंसे इंद्रका सामर्थ्य बढाते हैं।" इस मंत्रसे यह स्पष्ट हो जात है कि, इंद्रशक्तिके संवर्धन के साधक जो कर्म हैं, वे करने से ही इंद्रशक्ति बढ जाती है। ऋषिमुनि लोग इसी रीतिसे अपनी इंद्र-शक्ति बढाते रहे। उस प्रकारके पुरुषार्थ प्रयत्न करनेपर इस समय भी चतुर लोग अपनी इंद्रशक्ति बढा सकते हैं। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये---

इंद्रं बलेन वर्धयन्। य. २१।३२

"बल के साथ इंद्रका संवर्धन करना है।" इस मंत्र भागमें पुरुषार्थ प्रयत्न बलके साथ करना चाहिये, यह बात स्पष्ट कर दी है। उपनिषद् भी कहता है कि—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

मुंड० ३।२।४

"बल हीन मनुष्य इस आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।" यह बात जैसी आत्माके विषयमें सत्य है उसी प्रकार इंद्रशक्तिकी वृद्धि करनेमें भी सत्य है। निर्बल मनुष्य किसी प्रकारकी उन्नति प्राप्त ही नहीं कर सकता,

इसीलिये वैदिक धर्ममें " बल-संवर्धन पर बहुतही जोर दिया है। शारीरिक, इंद्रिय विषयक, मानसिक और बौद्धिक बल के साथ जो योग्य प्रयत्न किये जाते हैं, उनके द्वारा इंद्रशक्ति वढ जाती है और यह बढी हुई इंद्रशक्ति फिर पूर्वोक्त बलोंको द्विगुणित करती है। यह अन्योन्याश्रय विचार करने योग्य है। बलसे इंद्रशक्ति बढती है और इंद्रशक्तिसे बल बढ जाता है। पाठको! इस नियमको प्रकार स्मरण रखिये। यह नियम आपकी उन्नति करेगा। इस विषयमें निम्नमंत्र देखिये —

इंद्र इंद्रियैः ......शर्म यंसत् ॥
ऋ. १ । १०७ । २

" इंद्र अपनी इंद्रशक्तियोंसे सुख देता है " इंद्रकी शक्ति इंद्रियोंमें आती है और वह सुख देती है, तथा इंद्रियोंके बलसे ही जो अनुष्ठान किया जाता है, उससे इंद्रका संवर्धन होता है। यह परस्पर सहाय्य करनेका प्रश्न अत्यंत महत्वका है, इस नियमके ऊपर ही कई सामाजिक और राष्ट्रीय नियम बने हैं। **परस्पर सहकारिताका उपदेश इस प्रकार वेद दे रहा है।** अस्तु। पूर्वोक्त रीतिसे इंद्रशक्तिका संवर्धन किया जाता है, इसमें प्रारंभ शुद्ध विचारोंसे साथ किया जाता है, अर्थात् अपने अंदर शक्ति पोषणके विचार धारण करना मुख्य बात है। हीन विचारोंको मनमें कोई स्थान देना नहीं चाहिये। इस विषयमें वेदकी आज्ञा स्पष्ट है, देखिये—

इंद्रं वर्धन्तु नो गिरः ।
ऋ. ८।१३।१६

" हमारी वाणी इंद्रशक्तिका संवर्धन करे।" वाणीसे संवर्धन करनेका उपाय यह है कि, उत्तम ओजस्वी भावोंके साथ ही हमारे मुखसे शब्द निकलें। कोई ऐसा शब्द हमारे मुखसे न निकले कि जिससे हीन भाव अथवा निर्बलताका विचार व्यक्त होता हो। इसमें मानस शास्त्र का एक बडा भारी तत्त्व है। जो भाव शब्दों द्वारा व्यक्त होता है, वह मनमें जम जाता है, इसलिये हीन भावनाके शब्द बहुतही बुरा परिणाम करते हैं, इस कारण वेद आपको बडी सावधानताकी सूचना दे रहा है। इस विषयमें और देखिये—

तमिद्वर्धन्तु नो गिरः सदावृधम्।
ऋ. ८।१३।१८

" सदा बढनेवाले इंद्रको हमारी वाणी बढावें।" अर्थात् हमारी वाणीमें ऐसा कोई शब्द प्रयुक्त न हो, कि जो इंद्रशक्तिका संवर्धक न हो। इसका तात्पर्य यह है, कि हम बोलने और सुननेमें यह सावधानी रखें, कि न हीन भावका शब्द बोला जाय, और न सुना जाय। लेखोंमें भी ऐसा कोई वाक्य न लिखा जाय जो नीच भावनासे भरा हुआ हो। जो मनुष्य अपनी इंद्रशक्ति बढानेके उद्योगमें हैं, उनको उचित है, कि वे चुने हुए उत्साह वर्धक शब्द बोलें, शक्तिके प्रोत्साहक ग्रंथ पढें, और ऐसे मित्रोंके साथ रहें, कि जो धीर और गंभीर विचारोंकी जागृति करनेवाले हों। कभी निरुत्साही मनुष्योंके

साथ सहवास न करें, क्यों कि इंद्रशक्तिका मनोभूमिका के साथही विशेष संबंध है। इसीलिये वेद कहता है—

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथा यथा मतयः सन्ति नृणाम्॥ इंद्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः॥

ऋ. १०।१११।१

"(१) हे (मनीषिणः) बुद्धिमान मनुष्यो! अपनी (मनीषां) बुद्धिको (प्र भरध्वं) प्रयत्न करके सुविचारसे भर दें! (२) मनुष्योंकी (यथा यथा) जैसी जैसी (मतयः) बुद्धियां होतीं हैं, वैसेही मनुष्य बनते हैं। (३) हम (सत्यैः कृतेभिः) सत्यपूर्ण शुभकर्मोंसे इंद्रको (एरयाम) प्राप्त करें। (४) वही वीर (विदानः) ज्ञानी और (गिर-वनस्युः) वाणी से सेवन करने योग्य है।"

इस मंत्रमें इंद्रशक्तिकी वृद्धि करनेके कई नियम उत्तम प्रकारस कहे हैं। (१) मन और बुद्धिको उत्तम विचारोंसे सदा भरपूर रखना, अर्थात् किसीभी समय कोई हीन विचार मनमें न लाना, यह पहिला आवश्यक कर्तव्य है। यह करनेका कारण यह है कि (२) मनुष्योंकी जैसी बुद्धि और मनः प्रवृत्तियां होतीं है, वैसाही मनुष्य होता है। इसलिये उत्साही विचारोंके साथ ही मनुष्यकी हरएक शक्ति बढती है और निरुत्साहके साथ शक्तिका क्षय होता है। यही कारण है, कि हरएक मनुष्यको अपनी विचारपरंपरा का अवश्य विचार करना चाहिये, कि यह विचारसरणी शक्तिवर्धक है, या शक्तिनाशक है। इस विषयकी वैदिक रीति यह है—

तमर्केभिस्तं सामभिस्तं गायत्रैश्चर्षणयः॥ इंद्रं वर्धन्ति क्षितयः॥

ऋ. ८।१६।९

"(तं इंद्र) उस इंद्रको अर्क, साम और गायत्रोंसे (चर्षणयः क्षितयः) पुरुषार्थी मनुष्य बढाते हैं।"

"अर्क, साम और गायत्र" ये तीन साधन हैं, कि जिनसे इंद्रशक्तिकी वृद्धि होती है। (१) "**गाय - त्र**" शब्द "प्राणोंका त्राण" करनेका भाव बता रहा है। प्राणोंका त्राण, प्राणोंका रक्षण, प्राणशक्तिका संवर्धन प्राणायामसे होता है, इसलिये यह शब्द प्राणायाम तथा प्राण रक्षणके अन्य नियमोंका सूचक है। (२) "**साम**" शब्द "शांति" का सूचक है, मन बुद्धि चित्त अहंकार तथा इंद्रियादिकोंमें जो चंचलता रहती है, उसको दूर करके उसके अंदर शांति और गंभीरता स्थापन करना इससे सूचित होता है। (३) "**अर्क**" शब्द उपासना, प्रकाश, वीर्य, ज्ञान, ज्ञानी, और अन्न का वाचक कोशोंमें है। यहां इंद्रशक्तिके संवर्धनके प्रकरणमें उपासना, ज्ञान, वीर्य और अन्न ये अर्थ सुसंगत हो सकते हैं।

इन तीनों अर्थोंका विचार करनेसे पूर्व मंत्रका यह तात्पर्य ध्यानमें आसकता है कि (१) प्राणका बल बढाने, (२) मनकी

चंचलता दूर करके उसमें एकाग्रता लाना और (३) ज्ञान पूर्वक उपासना करनेसे इंद्रशक्तिका संवर्धन होता है। ये तीन उपाय पाठकों को ध्यानमें धारण करने चाहिये। अब इसी विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

इंद्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्व-मार्यम् ॥ अपघ्नन्तो अराव्णः ॥

ऋ. ९।६३।५

" जो (अप्-तुरः) प्रयत्नशील पुरुषार्थी लोग (विश्वं आर्यं) विश्वको आर्य (कृण्वन्तः) बनाने वाले हैं और जो (अ-राव्णः) दान न देनेवालोंको अर्थात् अनुदार स्वार्थी मनुष्योंको दूर करते हैं, वे अपने पुरुषार्थसे (इंद्रं वर्धन्ति) इंद्रका संवर्धन करते हैं। "

(१) स्वार्थभाव को दूर करना और परोपकार शील धारण करना, (२) सब को आर्य अर्थात् प्रगतिशील बनाना और (३) स्वयं सतत अविश्रांत पुरुषार्थ करना, ये तीन सद्गुण हैं, कि जो इंद्रशक्तिको बढाने-वाले हैं। इसलिये जो इंद्रशक्तिकी वृद्धि करनेके इच्छुक हैं, उनको यह मंत्र विचार करने योग्य है। इसी विषयमें और एक मंत्र देखिये—

तमिद्विप्रा अवस्यवः प्रवत्वतीभि-रूतिभिः ॥ इंद्रं क्षोणीरवर्धयन् ॥

ऋ. ८।१३।१७

" (प्रवत्वतीभिः ऊतिभिः) उच्च रक्षणोंसे अपना (अवस्यवः) संरक्षण करनेवाले (वि-प्राः) ज्ञानी (क्षोणीः) मनुष्य (तं इंद्रं वर्धयन्) उस इंद्रको बढाते हैं। "

(१) सब प्रकारके संरक्षक नियमोंका पालन करके अपना संरक्षण करने की इच्छा करनी, (२) हरप्रयत्न करके अपनी उन्नति का विचार करना, (३) ज्ञानी बन कर पुरुषार्थ प्रयत्नसे उन्नतिका यत्न करना, ये गुण इंद्रशक्तिकी वृद्धि करनेवालोंमें अवश्य चाहिये। यह तात्पर्य पाठक ऊपरके मंत्रमें देख सकते हैं।

इन सब मंत्रोंका तात्पर्य यह है, कि अपनी शक्तिका विकास करनेकी प्रबल इच्छा, विकास करनेके लिये महान पुरुषार्थ करनेकी सिद्धता और सब प्रकारके योग्य साधनोंका सदुपयोग करनेसे निश्चयसे उन्नति होती है। इस विषयमें जो जो मंत्र ऊपर दिये हैं, उनका विचार हरएक पाठक करें और अपनी उन्नतिके नियम जान कर उनका आचरण करके अपनी शक्ति विकसित करें। वैदिक धर्मका जीवन अमलमें लानेका यही एक मात्र उपाय है। आशा है, कि वैदिक धर्मके प्रेमी सज्जन इसका अवश्य विचार करेंगे। अस्तु। इस प्रकार इंद्रशक्तिके विकासके नियम देखनेके पश्चात् अब इस मार्गके साधक पथ्यका विचार करना चाहिये।

(२२) पितापुत्र संबंध।

बाह्य सृष्टिमें जो पृथ्वी, आप, तेज वायु आदि तत्त्व हैं उनके अंश अल्प प्रमाणमें हमारे शरीरमें रहे हैं। मानो कि जगद्व्यापक जो तत्त्व हैं वे पितृरूप हैं और अपने शरीरमें

जो उन तत्त्वोंके अंश हैं वे उनके पुत्र हैं। पाठक जानते ही हैं कि पिता पुत्रमें विरोध नहीं चाहिये। वायु पिता है उसका प्राण पुत्र है, शुद्ध वायुके साथ इस प्राणका संबंध रहनेसे ही प्राणका बल बढता है, इसी प्रकार सूर्य प्रकाशसे चक्षुका आरोग्य होता है, तथा इतर तत्त्वोंके साथ हमारे शारीरिक तत्त्वांशोंका संबंध होनेसे ही हमारे शरीरका आरोग्य बल, तथा ओज स्थिर रहता है। अब देखिये कि तंग मकानमें बंद रहनेसे पूर्वोक्त पिता पुत्र संबंधमें पर्दा खडा होता है। इस कारण उनमें विरोध उत्पन्न होता है और यही विरोध मनुष्योंके अनारोग्यका कारण है। इसलिये मनुष्योंको आवश्यक है कि वे खुली हवा में तथा खुले प्रकाशमें जितना अधिक रह सकें उतना रहें, यह इंद्रशक्तिको बढानेका पहिला पथ्य है। यदि मनुष्य घरके बाहिर ही रहेंगे, तो उनको सौमें न्यानवे रोग हो ही नहीं सकते। आर्ष वैद्यकग्रंथोंमें स्पष्ट कहा है, कि—

" जबसे लोग मकानोंमें रहने लगे हैं तबसे रोग उत्पन्न हुए हैं। "

यह बिलकुल सत्य है। इसीलिये ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यास अर्थात् इन तीनों, आश्रमोंमें रहनेवाले लोग जंगलमें रहते हैं। वैदिक आश्रमधर्मका यह मुख्य तत्त्व है कि उसमें तीन चौथाई आयुष्यका भाग जंगलकी खुली हवामें व्यतीत होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें और इस तत्त्वका अमल जितना हो सकता है, अवश्य करें।

(२३) ऋतुओंका साक्षात्कार।

हरएक मनुष्य ऋतुओंको जानता है, परंतु बहुत थोडे विद्वान ऐसे हैं, कि जिन्होंनें वैदिक दृष्टिसे ऋतुओंका साक्षात्कार किया है। प्रायः सब लोग समझते हैं कि, दो मासका एक ऋतु है, और इस प्रकार सालमें छः ऋतु होते हैं। यह बिलकुल स्थूल दृष्टि है। वेदकी दृष्टि इससे भिन्न है। वेदकी दृष्टिसे ऋतु प्रतिदिन होते हैं, प्रत्येककी आयुमें होते हैं, प्रत्येक वर्षमें होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जातिके जीवितमें भी हैं। उदाहरणके लिये देखिये कि " **वसंत ऋतु** " का अवस्थान कितने स्थानोंमें किस प्रकार है। " वसंत ऋतु " दिनमें प्रातःकाल है, मानवी आयुमें ब्रह्मचर्याश्रम है, वर्षमें चैत्र वैशाख के दो मास हैं, जातिमें उदयोन्मुख वृत्ति है, इत्यादि प्रकार वसंत ऋतुकी विभूति है। इसका अनुभव करना चाहिये। इसी पद्धतिसे अन्य ऋतुओंकी विभूति भी देखनी उचित है। इसीको ऋतुओंका साक्षात्कार कहा है।

ऋतुओंका साक्षात्कार इस प्रकार करनेसे शक्तिवर्धनके कार्यकी ऋतुचर्या और दिनचर्या निश्चित करना सुगम हो जाता है। देखिये कि, दिनके प्रहरोंमें प्रातःकालका समय अधिक बल संपन्न और उत्साह पूर्ण होता है। इसी प्रकार वर्षमें वसंत ऋतु, आयुमें ब्रह्मचर्यकी आयु, तथा इसी प्रकार सब ही वासंतिक समय बल प्रद होते हैं। यदि आपको अपने अंदर इंद्र शक्तिका विकास

करना है, तो आपको उचित है कि आप इस समयसे लाभ उठायें। जो शक्तिवर्धन का अनुष्ठान करना है वह इस समय विशेष रूपसे करें और इस समयके सूर्यके इंद्रशक्ति पूर्ण किरणोंसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त करें। आर्ष ग्रंथोंमें जो दिनचर्या और ऋतुचर्या लिखी है, इसमें यही तत्त्व है इसलिये इसका आप भी अधिक विचार करके अपनी दिन-चर्या उक्त तत्त्वके अनुरूप बनाके जितना हो सकता है, उतना इंद्रका बल अपने अंदर बढाइये।

(२४) इंद्रशक्तिवर्धक खानपान।
वारुणीपान, सोमपान।

इससे पूर्व बताया जा चुका है कि इंद्र-शक्तिका नाशक खानपान कौनसा है, अब बताना है कि इंद्रशक्तिको बढानेवाला पथ्य कारक खानपान कौनसा है। इस विचारमें सबसे प्रथम " वारुणी-पान " का विचार करना चाहिये।

साधारणतः सब कोशोंमें " **वारुणी** " शब्दका अर्थ " मद्य " दिया है !! इसलिये पाठक " **वारुणी-पान** " का तात्पर्य " **मद्य-पान** " ही समझेंगे, तो कोई आश्चर्य नहीं है !!! परंतु वैदिक दृष्टिसे वारुणीपान का तात्पर्य और ही है। वेदमें वरुण देवता जलकी अधिष्ठात्री देवता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु।
अ. ५।२४।१२

" वरुण जलका अधिष्ठाता है, वह मेरा रक्षण करे। " इस मंत्रमें वरुणका जलके साथ संबंध बताया है, तथा और देखिये—

अपो निषिंचन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज ॥ अ. ४।१५।१५

" हे वरुण ! तू हमारा (पिता) रक्षक (अपः निषिंचन्) जलकी वृष्टि करता हुआ (अपां गर्गराः) जलके प्रवाह (श्वसन्तु) फैलें, इस प्रकार भूमिपर (अपः सृज) जल छोडो और हमारा (असु-रः) प्राणदाता बन। "

इस प्रकार वरुणका वर्णन वेदमंत्रोंमें है। वरुण ऊपरसे जो वृष्टिका जल भेजता है, वही " **वारुणी वृष्टि** " है। इस जलका पान करनेका नाम " **वारुणी पान** " है। मद्यका इसके साथ कोई संबंध नहीं है वृष्टिका जल पीना आरोग्य वर्धक है, इसीलिये वरुण के विशेषण (असु-र) प्राण रक्षण, (पिता-पाता) संरक्षक, इत्यादि वेदमें आगये हैं। जल के नामोंमें, (रेतः) वीर्य, (सु-क्षेम) उत्तम कल्याण, (भेषजं) औषध, (अ-क्षर) अक्षयकारी, (सुखं) इंद्रियोंको उत्तम अवस्थामें रखने वाला, (पवित्रं) शुद्ध, (अ-मृत) अमर, आदि शब्द आगये हैं। ये शब्द जलके गुण धर्म बता रहे हैं, वह जल वरुणदेवता द्वारा प्राप्त होता है, इसलिये उसको " **वारुण जल** " किंवा " **वारुणी-वृष्टि** " कहते हैं। वृष्टिका जल शुद्ध होता है, इसलिये उसका पीना आरोग्यवर्धक होता है। तथा इस वृष्टिजलमें अंतरिक्षस्थ इंद्रशक्ति-

युक्त प्राणभी अधिक होता है।

"**अमर-वारुणी**" नाम भी वृष्टि जलका है। अमर लोक अंतरिक्ष है, जहां मेघमंडल होता है, वहांसे जो जल आता है, अर्थात् वृष्टिद्वारा प्राप्त होता है, वही "अमर-वारुणी" है। वास्तवमें इस अमर लोकसे जो जल वृष्टिद्वारा प्राप्त होता है, उसीका नाम अमृत है। "**अ-मर**" लोक से जो मिलता है, वही "**अ-मृत**" होता है। तात्पर्य "**अमृत**" नाम वृष्टिसे प्राप्त "**जल**" का है! "अमर" और "सुर" ये शब्द एक अर्थवाले ही हैं। अमरलोक और सुरलोक का भाव एकही है। अमरलोकसे वृष्टिद्वारा "अमृत" अथवा "अमरवारुणी" का जल मिलता है, वही "सुर-लोक" से आता है, इसलिये उसको "सुरा" कहते हैं। सुरलोकसे जो वृष्टि आती है, वही "सुरा" है। निघंटुके जल वाचक नामोंमें "**सिरा, सुरा, सूरा**" ये पाठ हैं। जल वाचक सुरा शब्द का तात्पर्य वृष्टिजल ही है।

"**वारुणी, अमरवारुणी, सुरा**" ये शब्द एक समयमें "वृष्टि-जल" के वाचक थे, इसमें कोई शंका नहीं है। यद्यपि आज कलके कोशोंमें इनका अर्थ "मद्य" ही दिया होता है, तथापि पूर्वोक्त संबंध देखने से मूल अर्थका पता लग सकता है। परंतु यहां देखना है कि वृष्टिजल वाचक शब्द मद्यवाचक क्यों हुए? इसका कारण दोनोंके बननेकी समानता है। सूर्य किरणोंसे पृथ्वी परके जलकी भांप होकर ऊपर जाती है, और वहां कुछ काल ठहरकर शीतताके साथ संबंध हो जानेसे उसका जल बनकर वृष्टि होती है; इसी प्रकार मद्य बनता है। दोनोंमें समता "(१) द्रवकी भांप होकर ऊपर जानी और (२) उस भांपका फिर द्रवपदार्थ बनना" यह है। इसीकारण "वृष्टिजल" वाचक वारुणी, अमरवारुणी तथा सुरा शब्द "मद्य" वाचक बने हैं। अस्तु।

जिस "शुंडा यंत्र" से जलकी भांप और भांपका फिर पानी बनाते हैं और इस रीतिसे वृष्टिजलके अभावमें शुद्धोदक प्राप्त करते हैं, उसी प्रकारके यंत्रसे—अबकारी भट्टीसे— मद्य बनाया जाता है। प्रारंभमें यह "आप्-कारी" अर्थात् "जल बनानेका यंत्र" था जिसको आज कल "आब-कारी अर्थात् मद्यसंबंधी व्यवसाय कहते हैं!! आज कलकी बातोंको छोडकर हमें अपना विषय देखना है। उस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त है, कि वृष्टिका शुद्ध जल संगृहित करके रखा जाय और पीनेके कार्यमें उसीका उपयोग किया जाय, तो अमरत्व प्राप्त होगा, अर्थात् शीघ्र वार्धक्य नहीं होगा। जिन देशोंमें "आंधी" आकर हवामें धूली भर जाती है, उस देशकी वृष्टि अशुद्ध होती है। इसलिये जिस समय आंधीके विना वृष्टि होगी, अथवा जहां ऐसी वृष्टि होती है; वहां वृष्टिजल संग्रह करना उचित है। तथा प्रारंभकी वृष्टिका जल लेना योग्य नहीं है।

ये नियम आर्य वैद्यकमें देखने योग्य हैं इस प्रकार वृष्टिजल इकट्ठा करके सालभर बोतलोंमें भरकर रखा जा सकता है, और वह पीनेसे बडे लाभ हैं।

पर्याप्त वृष्टिजल न मिलनेकी अवस्थामें "शुंडायंत्र" द्वारा भांपका पानी बनाकर काममें लाया जा सकता है, परंतु इसको पीनेके पूर्व इसको प्राणवायुसे परिपूर्ण बनाना चाहिये। कई वार एक बरतनसे दूसरेमें गिरानेसे जल प्राणवायुसे मिश्रित हो जाता है। इसके पश्चात् वह पीने योग्य होता है।

परमेश्वरकी अद्भुत सृष्टिमें दयालु परमात्मानें कितने उपयोगी साधन मनुष्योंके उपयोगार्थ निर्माण किये हैं, परंतु मनुष्य ऐसा कुकर्मी बन रहा है, कि वह प्रायः उन सब साधनोंका दुरुपयोग करता है, और अवनत होता है। जिसप्रकार ईश्वर सूर्य किरणोंके द्वारा पानीकी भांप बनाकर उसको शुद्ध करके वृष्टि द्वारा शुद्ध जल हमारे पास भेज देता है, उसी प्रकार कई वृक्ष उन्होंने बनाये हैं, कि जो शुद्ध, स्वादु, और विविध औषधी रसोंसे परिपूर्ण रसदार फल देते हैं। नारियल का वृक्ष इनमें प्रमुख है। इसके ऊंचे होनेके कारण भूमिसे खींचा हुआ जल वृक्षके आंतरिक छाननियोंसे छाना जाता है, और शुद्ध होकर फलमें इकट्ठा होता है। यही बात संपूर्ण वृक्षोंमें है। नारियलका जल आरोग्य वर्धक, बल कारक और शनशः गुण वढानेवाला है। अनार, संगतरे, नारिंगी आदि फलों के रस उक्त कारण ही आरोग्य दायी हैं। इसके अतिरिक्त नारियल के वृक्ष का रस जो वृक्षके कंठसे लिया जाता है, वह भी बडाही उपयोगी है, परंतु शोक है कि नारियल, ताल आदि वृक्षोंके कंठरससे आज कल मद्य अर्थात् शराब ही बनाकर बेची जाती है और ताजा रस उपयोगमें नहीं लाते !! कितना पदार्थोंका दुरुपयोग हो रहा है !!! इस प्रकार अनेक वृक्षों, फलों तथा वल्लियोंका अंगरस "इंद्रशक्ति" का संवर्धक है। युक्तिसे इसका उपयोग करना चाहिये।

"**सोम रस**" इंद्रकी शक्ति वढानेवाला है और इसका वर्णन वेदमें सेंकडों मंत्रोंमें है। सोमवल्ली अंधेरेमें प्रकाशती है और चांदकी कलाओंकी क्षय वृद्धिके समान उस वल्लीके पत्तोंमें क्षय वृद्धि होती है। यह सोमवल्ली हिमालयके मौजवान पर्वतपर मिलती है ऐसा सुनते हैं। प्रयत्नशील पुरुषोंको उचित है, कि वे हिमवान पर्वतपर इसकी खोज करें और अपने देशमें उसको निर्माण करनेका यत्न करें। आजकल यह सोम वल्ली कहींभी प्राप्त नहीं होती। जो लोग आजकल "सोम रस" बेचते हैं, वह वैदिक सोमवल्लीका रस नहीं है! यदि यह वैदिक सोमवल्ली मिल जाय, तो उसका रस निःसंदेह इंद्रशक्तिकी वृद्धि करनेवाला है। इसलिये उद्यमी पुरुष इसकी अवश्य खोज करें।

कई विद्वान् पंडित "सोमरस" और मद्य को एकही मानते हैं। युरोपीयन पंडितोंने इसके विषयमें बहुत लंगती खाई है। वास्तव

में " **वारुणी** " और मद्यमें जितना भेद है उससे अधिक भेद " **सोमरस** " और मद्यमें है। पाठक इस विषयमें गलती न करें। इंद्रशक्तिका संवर्धन करनेके जो उपाय वेदमें वर्णन किये हैं, उन सबमें सोमका रस प्रधान स्थान रखता है, इतना ही कह देना पर्याप्त है। " सोमयाग " एक वैदिक याग संस्था है, जो केवल इंद्रशक्तिको बढानेके हेतुसे ही वेदमें लिखी गई है। परंतु उसका स्वरूपभी याज्ञिकोंने और ही बनाया है।

तु इन सब बातोंका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है, केवल दिग्दर्शनही यहां किया है; इससे पाठक ही विचार करें और समझें कि वास्तविक कल्पना कितनी उच्च और सरल है।

पेय पदार्थोंके विषयमें इतना लिखनाही यहां पर्याप्त है! खानेके पदार्थोंके विषयमें इतनाही पर्याप्त है, कि जो सात्विक भोजन है वह इंद्रशक्तिका वर्धन करनेवाला ही है। चावल, गेहूं, गायका दूध, घी, मक्खन, छाछ, लस्सी, आदि के साथ सब्जी आदि पदार्थोंका सात्विक भोजन पाठक जानतेही हैं। यद्यपि खानपान के विषयमें विशेष लिखना इस समय आवश्यक है, तथापि लेख विस्तार बहुत होनेके भयमें इतनाही यहां पर्याप्त है।

(२५) अंतिम शब्द।

वेदमें इंद्रशक्तिके संवर्धनके विषयमें सेंकडों मंत्र हैं, उन सबका यथा योग्य विचार करके विस्तृत लेख लिखनेका विचार है। परंतु उस पुस्तकके बननेमें कालावधि बडी लगनी है। इसलिये जो पाठक इस विषयका विचार करते होंगे उनको इस विशेष रीतिका विचार करनेकी प्रेरणा करनेके हेतुसे यह सारांशरूप लेख लिखा है। आशा है, कि इस विषयकी खोज करनेवाले पाठक अपने विचारका परिणाम अवश्य प्रसिद्ध करेंगे। एकही विषय अनेकों द्वारा विचारित होनेसे बडा लाभकारी होता है।

जो अन्य पाठक हैं, वे इस लेखमें लिखे विषयका अच्छी प्रकार मनन करें, और जो हो सकता है, उतना अनुभव करके अपनी शक्ति बढानेका यत्न करें। इसी विषयकी बहुत खोज करके अनेक लेख लिखनेका संकल्प है, उसकी पूर्णता के लिये अनुष्ठानी पाठकोंसे बहुत सहायता हो सकती है।

इस लेखमें जो बातें लिखी हैं, सबकी सब करनेके लिये सुगम और लाभदायी हैं। केवल काल्पनिक बात एकभी नहीं है। इस लिये पाठक निःसंदेह इनका अनुष्ठान कर सकते हैं। और जो जितना अनुष्ठान करेंगे, उनको उतना लाभ अवश्य होगा!

इंद्रशक्तिके संवर्धन का विषय अत्यंत गंभीर है और वेदका यह मुख्य विषय है। इसी हेतुसे इसकी गंभीरता बडी है। इस विषयके बहुतसे पैलुओंका विचार अभीतक हुआ ही नहीं है, और कई बातोंका विचार करनेके साधनभी उपस्थित नहीं हैं। इसलिये इस लेखमें उतना ही विषय लिखा है, कि जितना आज हो सकता है। इस विषयकी जितनी जितनी खोज होती जायगी, उतनी

उतनी लेखरूपसे प्रसिद्ध की जायगी। आशा है, कि सब पंडित जन इस अत्यावश्यक और प्रतिदिनके उपयोगी विषयकी खोजमें अधिकाधिक दत्तचित्त होंगे और इस प्रकार वैदिक धर्मको अमली जीवनमें ढालनेके प्रयोग में सहायक बनेंगे।

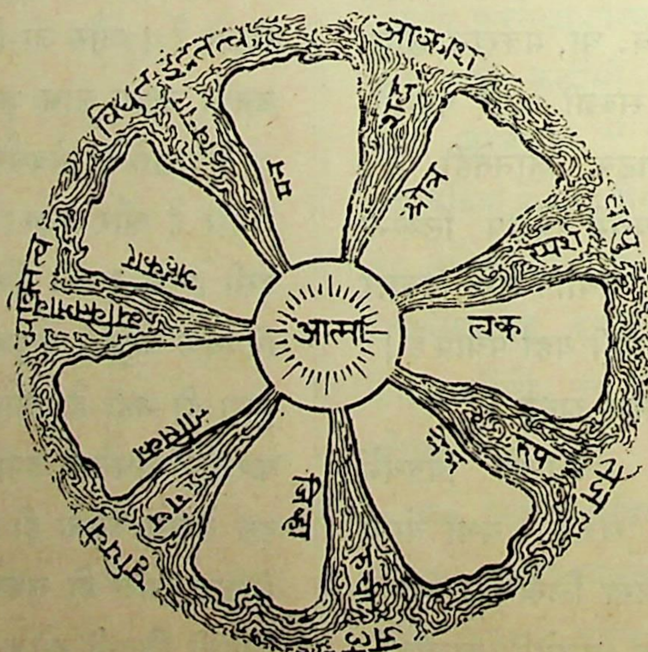
इन्द्रशक्तिके अभावके कारण आर्य जनतामें परमावधिकी उदासीनता आज कल दिखाई देती है। यह उदासीनता न केवल आर्यत्वसे गिरा रही है, परंतु मनुष्यत्वसे भी गिरा रही है। इस बातका विचार हरएक वैदिक धर्मीको करना सांप्रतमें अत्यावश्यक है।

केवल वैदिक धर्मका अभिमान किसी प्रकारसे भी हमें उठा नहीं सकता। जबतक हम वेदके उच्च तत्वोंको प्रतिदिनके आचरणमें लानेका यत्न न करेंगे, तबतक बाह्य अडंब-रोंसे किसीकी भी उन्नति होनेकी किंचित् भी आशा नहीं है।

इस लिये इस समयका हमारा कर्तव्य निश्चित रीतिसे यह है कि हम अपना वैय-क्तिक, सामाजिक, जातीय, राष्ट्रिय कर्तव्य जानकर उसको पूर्ण करनेके वैदिक मार्गोंका ज्ञान प्राप्त करके शीघ्रही उन मार्गोंके ऊपरसे आक्रमण करनेका यत्न करें। और सफलता प्राप्त करनेतक बीचमें प्रारंभ किये हुए सत्कर्मको न छोडें।

इंद्रशक्तिके संवर्धनके अनुष्ठानमें भी यही बात है। अनुष्ठान करते करते बीचमेंही स्तब्ध होनेसे जो हानी होती है, उसका वर्णन करना अशक्य है। इसलिये निश्चयके बलसेही अपनी उन्नति करनेके कार्य पूर्णता तक पहुंचाने चाहियें।

इसलिये हे प्रिय पाठको ! आप इंद्रशक्ति के संवर्धनका प्रयत्न कीजिये और अपने आपको वैदिक धर्मके उज्वल श्रेयके लिये योग्य बनाइये।

इंद्र तत्त्वका उगम  और उसका कार्यक्षेत्र

* जीवित और मृत्यु । *

(लेखक-म०लालचन्द्रजी)



और मृत्यु का अटूट सम्बन्ध है। जीवन के पश्चात मृत्यु और मृत्यु के पश्चात नवजीवन निश्चित है । यह चक्र परमात्माके अटल नियम के आधीन चल रहा है । यह सनातन संबंध है, और सदैव उसी प्रकार रहेगा । हम देखते हैं कि अन्न से जीवन होता है, पर स्वयं अन्न पृथिवी की उपज है, और पिछले अन्न का परिणाम मूत्र खाद ही उस की उत्पत्ति में सहायक होता है । संसारमें किसी वस्तु का भी वास्तव में नाश नहीं होता। जिसे प्रायः लोग नाश समझते हैं, वह केवल स्वरूप का परिवर्तन होता है । शरीर का नाश होना माना जाता है, पर वास्तव में शरीर के प्रत्येक अवयव अपने कारण में ही लीन हो जाते हैं । जब एक बत्ती जलती है, तो वास्तव में उस का नाश नहीं होता, बत्ती का जलने का अंश प्रकाशरूपमें परिवर्तन होकर, कुछ एक अंश धुंआ बन जाता है, और कुछ अंश शेष रह जाता है, संसार परिवर्तन शील है, पर यहां नाश किसी वस्तु का नहीं होता, सब के स्वरूप का परिवर्तन होता रहता है । जिसे अज्ञानी लोक नाश के नामसे पुकारते हैं। आप यही नियम अन्य स्थान में देखें । हम एक रुई का कपडा पहिनते हैं, कपडा मैला होजाता है, हम उसे फेंक देते हैं । देखा गया है कि अन्त को कपडा भी सडगल कर मिट्टी हो जाता है, और उस मिट्टीमें फिर वैसी ही रुई उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है! वह क्रम अटल है, यह परिवर्तन क्यों होता है? क्यों यह परिवर्तन अटूट है? उस बात पर विचार करने से मनुष्य अवाक्य हो जाता है, और उस परिवर्तन को नियम में रखनेवाली एक शक्ति को मानना पडता है । देखिये उस शक्ति का चमत्कार कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तन शील है और स्वरूप बदल कर नव जीवन को

हेतु बन जाता है। मैं जब कभी उस ओर ध्यान देता हूं, तो वेद भगवान् की सत्य आज्ञाओं का अनुभव होता है।

अब प्रश्न यह है, कि मनुष्य ने शरीर के स्वस्थ रहने पर्यन्त परमात्मा की आज्ञा में रह कर व्यक्ति और जाति की उन्नति करनी है। जीवन काल एक अवधि मानी जाती है, जिस में शरीर मन बुद्धिके सहारे हमने कार्य करना है। यह जो अहंभाव है यह ही बता रहा है, कि मैं नाशवान् नहीं हूं; किन्तु यह जो शरीर, मन, बुद्धि आदि मेरे हैं, उसे मैंने काम लेना है और परमात्मा की आज्ञामें स्वयं रह कर अपने आधीन जो शरीर, मन, बुद्धि हैं, उन्हें इतना पवित्र और स्वच्छ रखना है, कि परमात्माके यश में स्वयं उनके कारण तिरस्कृत न हो जाऊं। सब लोग जानते हैं, कि जो लोग अपने घर गंदे रखते हैं, अपने काम करने के पात्र गंदे रखते हैं, वो स्वयं कभी कार्य कुशल नहीं हो सक्ते और संसार में ऐसे लोग सदैव जीवन संग्राममें पराजित होते हैं। जिस सिपाही के पास सामान अच्छा नहीं वह उत्साह रखता हुआ भी पराजित होता है, सो यदि मनुष्य ने उन्नति करनी है तो वह कदापि रोगी शरीर और निर्बल मन बुद्धि के रखने से नहीं होनी। मुझे आरोग्य शरीर और श्रेष्ठ बुद्धि और मन की वैसी ही आवश्यकता है, जैसी कि एक घरमें रहने वाले को स्वच्छ घर और स्वच्छ सामान की है, वस्तुतः मुझे पवित्र शरीर और मन बुद्धि की जीवन की सफलता के लिये अत्यंत आवश्यकता है, परन्तु जैसे घरमें रहने वाला कभी भी अपने आप को घर नहीं कहता, उसी प्रकार उस शरीर में निवास करनेवाला मैं शरीर नहीं हूं, मैं तो उस शरीर का स्वामी हूं, यह शरीर मेरा है, मैं इस शरीर का नहीं हूं। मेरा इस शरीर पर अधिकार है, शरीर का अधिकार मुझ पर नहीं। जिस प्रकार एक सिपाई का अधिकार उसकी तलवार और बंदुक पर होता है, उसी प्रकार बलकी उस से भी अधिक अधिकार मेरा अपनी बुद्धि और मन पर है। बुद्धि और मन मेरे हैं मैं उनका नहीं हूं बुद्धि मेरे आधीन हैं, तो अवश्यमेव बुद्धि अपना कार्य ठीक करेगी और मन पर वह अधिकार रखेगी और मन इंद्रियों पर अधिकार रखेगा। ऐसी अवस्था में मेरी स्वस्थता होगी। इससे अन्य अवस्था, स्वस्थता नहीं कहला सक्ती। " **स्वस्थ रहते हुए मुझे शरीर को अधिक से अधिक काल तक कार्य करने के योग्य रखना है** " यह दृढ धारणा मैं करूंगा ऐसा पक्का निश्चय होना चाहिये। जैसे एक समझदार छात्र अपनी पुस्तक मैली नहीं करता, जिस प्रकार एक सफाई का दारोगा नाली को कीचड से सदैव साफ रखता है, ताकि जल प्रवाह न रुके, जिस प्रकार एक सद्गृहस्थी अपने घर को पवित्र रखता है, ताकि सब लोग कुशल रहें जिस प्रकार एक सिपाही अपने हथियार सदैव साफ रखता है, कि सदैव काम आ सकें, जिस प्रकार एक समझदार मनुष्य अपने कपडे और बर्तन ध्यान पूर्वक बर्तता है ताकि देर तक वर्त सके, जिस प्रकार प्रायः सब अपनी

चीजें ध्यान से रखते हैं, ताकि उनसे वो अधिक काल तक सुख ले सकें, उस से अधिक आवश्यक है कि मैं अपना शरीर मन बुद्धि पवित्र और बलवान बनाऊं ताकि मुझे अपने उद्देश्य की पूर्ति में अपने शरीर मन बुद्धि से पूरी सहायता मिल सके ।

इतिहास साक्षी दे रहा है, कि हमारे पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य सेवन और परमात्मा की भक्ति से अपने शरीर को चिरकाल तक कार्य करनेके योग्य बनाए रखा । उसे अपवित्र नहीं होने दिया। इतिहास से यह पता लगता है कि इस देश के लोग प्राय: १०० वर्ष तक अपने शरीर को बलयुक्त धारण करते रहे हैं । इतिहास यह भी बताता है, कि इस देश में बुढापे को दूर करने की रसायन थी । इतिहास से यह भी निश्चित है कि यहां के विद्वान् लोग इच्छामरणी हुआ करते थे ।

इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि इस देश में पिता के रहते पुत्र का देहान्त नहीं होता था । जो यह आवश्यक है कि पुन: ऐसी शिक्षा पद्धति का प्रचार हो, पुन: ऐसी जीवनचर्या का विधान हो जिससे कि फिर——

" **भूयश्च शरदः शतात्** " यजुर्वेद ।

की प्रार्थना धारणरूपमें आकर हम में से अधिकांश सौ वर्ष से अधिक अपने शरीर को स्वस्थ रखने में समर्थ हों, इसके लिये यह आवश्यक है कि देखा जाय किन कारणों से जीवन का ह्रास हो रहा है । मेरा तो यह अनुभव है कि अतिभोजन अथवा अधिकवार भोजन करने से जहां पाचनशक्ति कमजोर होती है वहां साथ ही कामवासना की वृद्धि होकर शरीर की आरोग्यता चिरस्थायी नहीं रहती । मेरा अनुभव है कि दिन रात में केवल दोवार भोजन करने और सूर्यभेदी व्यायाम करनेसे मुझे नवजीवन की प्राप्ति हुई है, और मैं स्वस्थ हूं । **मेरा अधिकार अपने शरीर पर है, मैं शरीर के आधीन नहीं** हूं । शरीररक्षण और शरीर मन बुद्धि की पवित्रता के लिये प्राणायाम बहुत सहायक होता है । यह अनुभव है कि प्राणायाम से कामवासना की कमी होती है और वीर्य की पुष्टि होती है । वेदमें यह शिक्षा आई है, कि विद्वानों ने ब्रह्मचर्य और तप से मृत्यु को परे हटा दिया । यह अक्षरशः सत्य है कि वेद के स्वाध्याय, आत्मपरीक्षण प्राणायाम, व्यायाम और योग्य आहार विहार से तुच्छ और हीन विचार मनमें नहीं ठहरते । पवित्र जीवन से वाक्सिद्धि भी हो जाती है, इस विषय में थोडासा मेरा भी अनुभव है । मित्र दृष्टि रखने से शत्रुता का नाश होता, है, यह भाव प्राणायाम के समय मैं ने अनुभव लिया और सत्य पाया । अब मुझे दृढ निश्चय हो चुका है कि ऋषियों के वाक्य पूर्ण अनुभव के पश्चात् लिखे गए हैं और उन के अनुसार जीवन चर्या करने से ही कल्याण हो सकता है । शरीर को अपने वश में रखना और उसे दीर्घकाल तक कार्य करने के योग्य रखना अत्यावश्यक है; और यह मनुष्य के आधीन है कि वह सदैव आरोग्य और स्वस्थ रहकर अपने आपको उन्नत करे । प्रत्येक मनुष्य का यह यत्न होना चाहिये कि वह

शरीर त्यागने से पहिले संसार की उन्नति के यज्ञ में अवश्य हवि देवे। जो मनुष्य उस महान यज्ञ में हविरूप नहीं होता वह कभी कृतकार्य नहीं कहा जा सकता।

जीवन की शोभा पवित्र और बलवान् होने में है। हीन, दीन रहते हुए बलवान् नहीं हो सकते और स्वार्थ की दुर्गन्ध अन्दर रखते हुए कभी पवित्र नहीं कहला सक्ते। मैं तो पवित्रता और बल को एक ही समझता हूं। आत्मिक बल वहां ही स्थिर रह सकता है, जहां हृदय पवित्र हो और जहां ईर्षा, द्वेष, कपट आदिको स्थान न हो। देखा गया है कि द्वेषी लोगों में आत्मिक बल तो होता ही नहीं, पर साथ ही उन की शारीरिक स्वस्थता भी बिगड जाती है। मृत्यु से भयभीत होना कायरों का काम है। "मैं अमर हूं" ऐसा दृढ भाव रख कर चिर जीवित रहने की प्रतिज्ञा करना प्रत्येक का धर्म है।

"जाति की रक्षा के लिये, धर्म की उन्नति के लिये, अपने यश के लिये कुल की वृद्धि और संसार के अभ्युदय और योगक्षेम के लिये मुझे पवित्र और बलवान् हो कर चिर जीवी होना है" ऐसी पक्की धारणावाले मनुष्य ही संसार का हित साधन कर सकेंगे। पवित्र और बलवान् होकर परमात्मा के यज्ञ में आत्मार्पण करने से ही सुफलता प्राप्त होगी॥

ॐ शम्

शीर्षासन का एक विचित्र अनुभव।

लेखक- श्री. गणपतराव गोरे आर्य्य, जेकबआबाद, सिंध।

मैं गत तीन वर्षों से सक्कर बराज डिव्हीजनमें सर्वे कर रहा हूं, इस वर्ष कच्छके रण के समीपही सर्वे हो रही है, सर्वे क्षेत्र थरपारकर के उजडे बयाबानों में है, जहां कि दस दस कोसके अंतरमें डाक्टर किंवा हकीम नहीं मिलता, पानी मिलना बहुत ही कठिन है !!

इन अवस्थाओं में कार्य करते हुवे हाजी साहब डिनों दारोगे को आक्टोबर १९२३ के मध्यमें अचानक पेटदर्द हुवा और, तीसरे दिन तडप तडप कर ७९ मील मिठडाऊ वाह के पडावपर मर गया !!!

आक्टोबरके अंतमें मेरी सर्वेपार्टी नं० २ भी उसी मंजिल पर आ उतरी, मेरे खलासियोंने उपरोक्त दारोगा के शोकमयी मौत का समाचार सुना ही था, पडाव पर पहुंचके जी तोड बैठे ! मौतकी तसबीर सामने खडी होने लगी !!

अचानक ३ नवम्बर १९२३ के सायंकाल के ३ बजे के समय खलासी मेरे तंबूमें

चिल्लाते आये कि "आदमी मरता है अगर कोई दवा कर सकते हों तो करो!" खलासी को जाकर देखा कि भूमी पर गडगंडा कर लेट तथा चिल्ला रहा है !! खब्बडबलोच के जीने की आस तो सभी खलासियों ने छोड रखी थी, मैं स्वयं भी बहुत घबराया, कोई वैद्य तो था नहीं के बीमारी का पता लगाता और औषधि देता! मैं कुछ दवाइयें मंगवा कर पास रखा करता हूं, परंतु पेट सूलकी औषधि मेरे पास उस समय नहीं थी। आपके "वैदिक धर्म" मासिक पत्रमें आसनोंके संबंधमें लेख पढा था, अवाचित विचार आया कि, इसे शीर्षासन तो करा कर देखूं! खब्बड बलोच का चिल्लाना और लोटना बराबर जारी था, फिर उसमें शीर्षासन करनेका बल तथा धैर्य्य कहां ? इस लिये दो खलासियों को कहा के इसको दोनों टांगोंसे पकडकर शिरके बल खडा करो !

बस ! उलटा टांगनेकी देर ही थी कि बीमार चंगा होने लगा ! चिल्लाना धीरे धीरे कम होता गया और एक मिनिटके अंदर अंदर उसने चिल्लाना बिलकुल ही बंद कर दिया !!! खब्बडका मुख नीचेकी ओर था और खलासियों की भीड छोलदारी में हो रही थी इस लिये चिल्लाना बंद होते ही मेरे तथा कई अन्य लोगोंके मनमें एकसाथ ही विचार आया कि खब्बड बलोचने प्राण त्याग दिये !! झट, नीचे झुक कर पूछा कि "अब कैसा लगता है ?" शांतिसे उत्तर आया कि दर्द कम हो रहा है !!! यह सुन कर सब प्रसन्न हुवे !

एकंदर दो या तीन मिनिट तक यह जबरदस्ती का शीर्षासन करने के पश्चात खब्बडने कहा--- "अब मुझे लिटा दो, दर्द बिलकुल बंद हो गया है !!!." उसे लिटाया गया, दूसरी कोई दवा नहीं की गई, आज ३ मास हुवे, अबतक भलाचंगा है.

दर्द गुर्देका था या पेटका अथवा इन दोनोंसे पृथक कोई अन्य विकार, यह मैं नहीं कह सकता !

परंतु तीन मिनिट के भीतरही मौतके मुंहसे निकल कर पूर्ण आरोग्यता पाना एक करामात ही तो थी !!!

खलासी कहने लगे कि यदि बाबू गणपतराव हाजर होते तो दारोगा भी कभी न मरता।

परंतु मेरे मनसे उस समय स्वाध्याय मंडल तथा मासिक पत्र "वैदिक धर्म" के लिये आशीर्वाद निकल रहे थे, कि जिनके पुण्य प्रतापसे मुझे इस तरह एक मुसलमान भाई की जान बचावे का औसर प्राप्त हुवा!!!

यह शुभ समाचार मुझे उसी समय आपको देना उचित था, परंतु अपने आलस्य के लिये क्षमा प्रार्थी हूं।

भवदीय
गणपतराव गोरे
सिव्हिल हास्पिटल के समीप
जेकबआबाद, सिंध.
JACOBABAD, SIND.

* वेदार्थ की आवश्यकता। *

(लेखक- श्री० पं० सत्यव्रत जी।

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पहिले इस विश्वास का होना आवश्यक है कि वह काम सार्थक है, निरर्थक नहीं। वैज्ञानिक कहा करते हैं कि कई प्राणी निरर्थक चेष्टाओं को करते हैं, उन की उस काममें इच्छा-अनिच्छा कुछ नहीं होती, पर वे ऐसे ही कई क्रियाओं को किया करते हैं; परन्तु मनुष्य की क्रियाओं की सार्थकता पर उन्हें भी कुछ सन्देह नहीं।

हम वेद के आशय को जानना चाहते हैं। परन्तु यदि वेदार्थ से पहाड खोद कर गणेश जी के वाहन की ही प्राप्ति की आशा रही, तो इतना प्रयास क्यों, किस लिए किया जाए? वेद हमारे मान्य तथा श्रद्धेय ग्रन्थ हैं, यह उत्तर किसी को सन्तुष्टि नहीं कर सकता, उस का मान्य वा श्रद्धेय होना उसी की युक्तियुक्तता को सिद्ध नहीं कर सकता। बाइबल ईसाईयों का मान्य तथा श्रद्धेय ग्रन्थ है, कुरान मुसल्मानों के खुदा का इलहाम है, ग्रन्थ साहब गुरु की सुधामयी वाणी का विकास है। सब को अपने अपने ग्रन्थों पर श्रद्धा तथा विश्वास है, पर इतने से ही उन की युक्ति युक्तता वा स्वतः प्रमाणता सिद्ध नहीं हो जाती, फिर वेद को भी श्रद्धा की रेतीली जमीन पर खडा करना किसी प्रकार भी उस के बचाव का साधन नहीं हो सकता। प्रश्न वहीं का वहीं अटका हुआ है 'वेदार्थ क्यों किया जाय?'

हम वेदार्थ इस लिये नहीं करते की हमें वेदों पर श्रद्धा तथा विश्वास है, पर हम वेदार्थ इस लिये करते हैं, हम उन्हें इस लिये जानना चाहते हैं, क्यों कि वेदमन्त्र कहता है: —

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये
साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ।
यजु. ३६।१॥

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि

जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।"

यजु. ३१।८॥

"यस्माद्दचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।

अथ० १०।७।२०॥

"यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।"

यजु. ३४।५।

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।" ऋ. १०।९०।९

वेद परमात्मा के दिये हैं। तब वेद स्वयं अपने आप को साक्षात भगवान का प्राण बताते हैं। हम वेदों को इस लिये नहीं जानना चाहते, कि वेद स्वयं अपने को परमात्मा का ज्ञान कहते हैं, परन्तु हम वेदों के सत्य अर्थ इस लिये जानना चाहते हैं क्यों कि 'ब्राह्मण' कहते हैं—

"स ऐक्षत त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि ऋतानि, हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभि संस्करवै।"

शत. १०।४।२।२१–२२।

भारद्वाजस्त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानं इन्द्र उपव्रज्योवाच 'भारद्वाज, यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम किमेतेन कुर्याः। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयामिति होवाच। तं ह त्रीन् गुरुरूपान विज्ञातानिव दर्शयांचकार। तेषां ह एकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भारद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वै एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वै एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः।अथ त इदमनूक्तमेव। एहि इमां विद्धि। अयं वै सर्वविद्या।"

तै० ब्रा० ३।१०।११।३–४

अर्थात् भारद्वाज मुनि अपने तीन जन्मों में वेदाभ्यास करते रहे। इतने काल के अभ्यास से मुनि को इतना ज्ञान हुआ, मानो कि तीन पर्वतों से ३मुष्टी भर ही चीज ली हो।

जहां वेद को ब्राह्मणग्रन्थ सिर नवाते हैं, वह उपनिषदें भी वेद ही की महिमा गाती हैं—

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं—

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः"।

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति?"

इस प्रश्न का उत्तर उपनिषद् देती है—

"द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवाऽपरा च। तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो

ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधि गम्यते । ”

“ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि । ”

हम वेद के सत्यार्थ का निर्णय इस लिये भी करना चाहते हैं, क्यों कि मनुस्मृति में लिखा है । —

“ यो ऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय : ॥ ”

मनु० २ । १६८ ॥

“ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर : ॥ ”

मनु० १२ । १०६ ॥

“ यः काश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः । स सर्वो ऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ”

मनु० २ । ८ ॥

“ वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ ”

“उपनीय तु यःशिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ”

मनु० २ । १४८ ॥

वेद का पठन पाठन करना अत्यन्त आवश्यक है। वेद बड़े रहस्य युक्त हैं । मनुस्मृति के १२ वे अध्याय में वेदको सब विद्याओं का मूल लिखा है ।

दर्शनकारों ने भी वेद से इन्कार नहीं किया । कणादमुनि लिखते हैं—

“ तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ”

‘ मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ’

सूत्र में वेद को प्रामाणिकता प्रतिपादित करते हैं । सांख्यकार का कुछ कह नहीं सकते पर उनके अनुयायी तो ईश्वर को न मानते हुए भी वेद से इन्कार नहीं कर सके। तभी सांख्य तत्त्व कौमुदी की पञ्चम कारिका में —

‘ आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ’

कहा ।

बहुत प्रपञ्च करने की जरूरत नहीं, नास्तिकों को छोड़कर कोई भी वेद को न मानने वाला नहीं मिलता । पुराण भी वेद के झण्डे के नीचे अपनी रक्षा समझते हैं । पुराण के बहुत प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि वह तो मदारी का थैला है उसमें जहां—

‘ वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना महाजनो येन गतः स पन्थाः ’

(वनपर्व ३१२।११५)

इत्यादि निराशा की उक्तियां हैं, वहां—

‘ दुर्लभा वेदविद्वांसो वेदोक्तेषु व्यवस्थिताः ’ (शांति॰ अ.२९८।

‘ तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते ’ (वन॰ २२०।३८

इत्यादि कथनों से वेद का महत्व भी

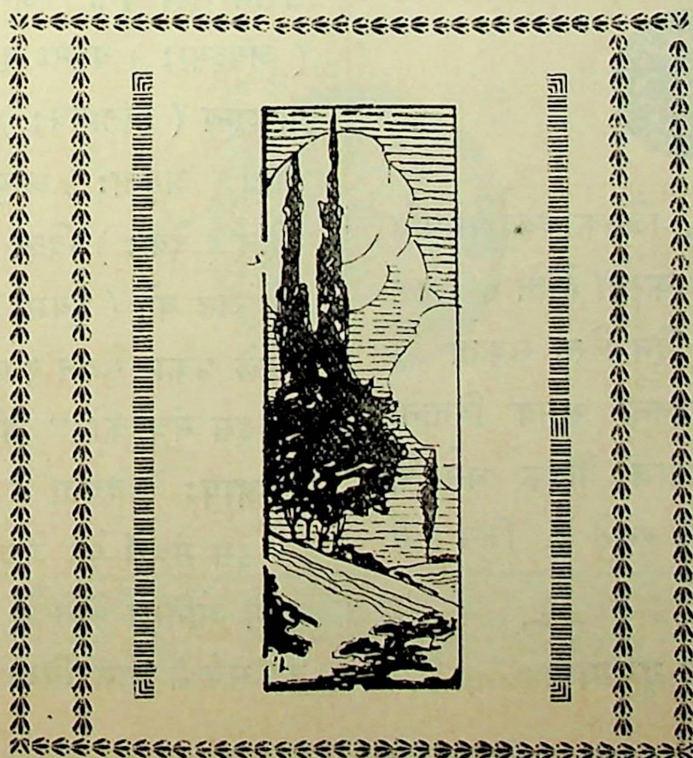
प्रतिपादन की है।

क्या अब वेदार्थ की आवश्यकता का उत्तर मिला ? हम वेद के सत्यार्थ जानना चाहते हैं क्यों कि वे स्वयं अपने आप को ईश्वरीय ज्ञान प्रमाणित करते हैं। हम वेद के सत्यार्थ जानना चाहते हैं क्यों कि ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा उपनिषदें उन्हें परब्रह्म परमात्मा के निश्वसित तथा सब विद्याओं के मूल बताते है। हम वेद के सत्यार्थ जानना चाहते हैं क्यों कि मनु तथा दर्शन उसी की ओर टिक टिकी बाजते हैं; भारतीय विद्याओं का प्रतिपादक एक एक ग्रन्थ उन्ही की तरफ उंगली किये सत्यप्रवाह के स्रोत का निर्देश कर रहा हैं।

हम योरपियन विद्वानों के कथनानुसार मान लेते कि वेदों में कुछ नहीं, वे बच्चों की बलबलाहट तथा जंगलियों के नाचने के गीत हैं, हम मान लेते कि वे सूरज चांद और तारों को देख आल्हादित गडरियों के हृदयोद्गार हैं; परंतु दर्शनों की तरफ ही, जो कि योरपियन विद्वानों को चक्कर मे डाल देते हैं, निगह उठाने से हमारी आशा टूट जाती है। उपनिषदों के गंभीर भावपूर्ण युक्तियुक्त उपदेश जब शोपनहार का सिर नीचा करते हैं तो दर्शनों और उपनिषदों का स्रोत क्या नाचने के गीतों का ही होगा, क्या उस में गडरियों की ही तानें आलापी गई होंगी ?

नहीं—नहीं, यह नहीं हो सकता। तभी वेदार्थ ज्ञान की जरूरत है, तभी हमारे ध्यान के इधर आकर्षित होने की आवश्यकता है।

वेदार्थ ज्ञान आवश्यक है। उस के लिये हमें जहां जहां से सहायता की आशा हो वहां वहां जाना परम आवश्यक है। अतः वेदार्थ के प्रथम साधन 'अन्यों के अनुभवों को अपने ज्ञानमें मिलाकर उसे बढाने' के लिये 'सहायता की आशा' यह शीर्षक देकर अगले लेख में विचार किया जायगा।









* ऋतावृध अमृत जल। *

(लेखक—प्राणपुरी)



जल ऐसी वस्तु है, जिसका व्यवहार प्रति दिवस प्रत्येक व्यक्ति को करना होता है। अन्न के विना तो प्राणी कई दिन विता सकता है, किन्तु जल के विना उतना समय विताना असंभव है। इस लिये आज वैदिक धर्म के पाठकों की भेंट एक मंत्र रखते हैं, जिस में जल का वर्णन है।---

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः। ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः॥

य. ४।१२॥

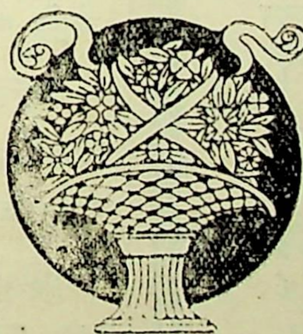
(पीताः) पीआ हुआ (आपः) जल (अस्माकम्) हमारे (अन्तरुदरे) उदर में (अस्मभ्यम्) अस्मदादि के लिये (सुशेवाः) उत्तम सुख युक्त (अनमीवाः) रोग रहित (अयक्ष्माः) यक्ष्मा न करनेवाला (अनागसः) पापशून्य (ऋतावृधः) सत्य, श्रद्धादि बढाने वाला (अमृताः) आयु वर्द्धक अर्थात् मृत्यु-रहित (देवीः) दिव्य गुण युक्त हो, (ताः) ऐसे जल को (यूयम्) आप लोग (स्वदन्तु) अच्छे प्रकार सेवन करने वाले (भवत) हों।

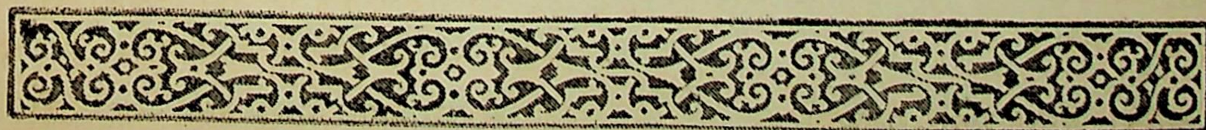
इस मंत्र का "**अंगिरस्**" ऋषि है और "**आपः**" देवता है।

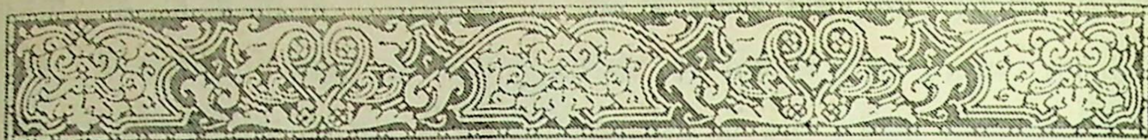
इस मंत्रमें पेय जल का वर्णन है, और ऋषि अंगिरस होने में यदि ऋषि को देवता का संबंधी मान लिया जाय, तो यही पता

चलता है, कि शरीर संबंधी जल अर्थात जो जल अंगोंका रस, भावार्थ शरीर में पीने से शरीर को सुखकारी होता है, इस मंत्र में उसी का वर्णन है, और वेद भगवान् उस जलका निम्न-लिखित विशेषण बताता है, " **सुशेवाः, अनमीवाः,अयक्ष्माः,अनागसः,देवीः, ऋतावृधः अमृताः** " मनुष्यों को चाहिये जल रूप से जिस वस्तु को पीएं, उसमें इन गुणोंकी ओर ध्यान दे दिया करें, यदि उसमें इनमें से कोई गुण हो, तब तो पी लिया करें, और यदि इसके विपरीत अवगुण हों, तो उसे छोड दें। इस समय जिन वस्तुओं को लोक पीते हैं, वह सुख के स्थान में दुःखदायी हैं। उदाहरणार्थ- उष्ण प्रदेश में चाय का विशेष प्रचार सुखदायी कभी भी नहीं हो सकता, और मद्यादि पेय पदार्थ भी जहां रोगरहित नहीं हैं, वहां यदि कोई दुराग्रह से उसे " **अनमीव और अनागस** " ही मानता हो, तो " **ऋतावृध** " से तो वह सर्वथा ही प्रतिकूल है; क्यों कि मद्य से ऋत की वृद्धि के स्थान में ऋत की हानि होती है। शार्ङ्गधर ने " **बुद्धिं लुंपत** " ही लिखा है। जब मद्य से बुद्धि ही नहीं रहती है, अथवा बुद्धि में विकार हो जाता है, तब साधन के अभाव से साध्य का अभाव अवश्य होगा। ऋत की वृद्धि उसी समय होगी, जब बुद्धि में कोई विकार न हो।

आज कल यदि इस मंत्र का विनियोग जल पीते समय आर्य करने लग जांय, तो ऋषिके आदेशानुसार (प्रार्थना का फल उसे मिलता है, जो वैसा ही यत्न करे, न कि भाण्डों की भांति केवल प्रार्थना करता जाय) इसके अर्थोंका उस समय ध्यान कर लिया करें, तो अपेय वस्तुओं के पीने से जो हानि होती है, उस से स्यात् कुछ व्यक्ति बच जांय। "









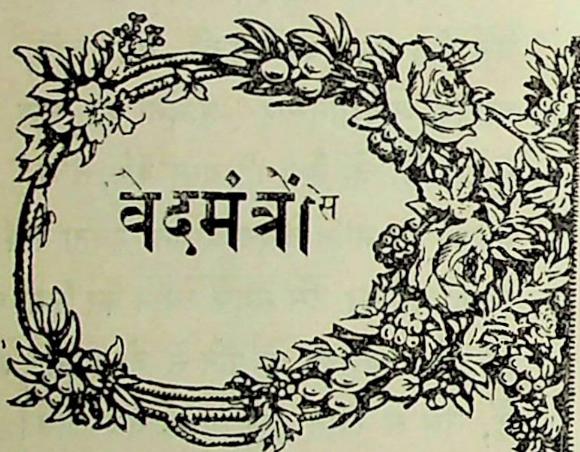


अभय ज्योति ।





लेखक—श्री० पं० देवशर्माजी विद्यालंकार ।



स्तुति करनेवाला कहता है —

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या
न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मा
नीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥
ऋ० २।२७।११

" न दायी तरफ कुछ दिखायी देता है, न बायी तरफ । न सामने, और हे आदित्यो ! न पीछे । चारों तरफ घोर अन्धकार है । परन्तु मैं चाहे कितना (पकने योग्य) कच्चा भी होऊं, और चाहे कितना (धीरज याने योग्य) कातर होऊं, तो भी, हे बसाने वाले आदित्यो ! तुम्हारे द्वारा ले जाया गया —

" मैं अभय ज्योति को प्राप्त हो सकूं "

क्या सचमुच हमारे चारों तरफ ऐसा ही अन्धकार है !!!

हम लोग तो अपने को बहुत सुजाखा समझते हैं, और अपने स्वल्पसे ज्ञानप्रकाशपर अकडते हैं, यही कहेंगे, कि हमें तो दायीं तरफ भी दिखायी देता है और बायी तरफ भी, आगे भी और पीछे भी, हमें तो और कोई ज्योति फोति की जरूरत नहीं ।

परन्तु जो ज्ञान की प्यास के मारे अकुला रहा है, जो अपने चारों तरफ ज्ञानालोक न पाकर घबडा उठा है, उस नम्र प्रार्थी की प्रार्थना तो उसी प्रकार है । पर इन दोनोंमें सच्चा कौन है ?

चलो सच्चे हमीं सही; परन्तु हमें उस जिज्ञासुकी व्याकुलता को जरा गहराई घुसकर अनुभव तो करना चाहिये, शायद अधिक सत्य वहीं हो ।

उसकी दृष्टि जिस प्रकार देखती है, उसे देखिये ।

पहिले तो इस विश्वमें वह पदार्थ ही कितना है, जिसे हम देख सकते हैं। अपने छोटेसे शरीरको ले जाकर (जो कि इस विश्व के सामने एक परमाणुके तुल्य भी नहीं है,) हम एक एक स्थान पर जावें और अपनी बिचारी इन्द्रियोंसे देखते फिरें, तो भी हम केवल भौतिक स्थूल जगत् को ही देख सकते हैं। इस स्थूल जगत्के अतिरिक्त जो इससे कमसे कम दस हजार गुना (यदि एक आधुनिक विद्वान् का कथन मान लिया जाय) जो सूक्ष्म जगत् है, और इससे भी बडा अभौतिक जगत् है, उसे तो छोड ही दीजिये !!

इस स्थूल जगत्में भी इस ग्रह (पृथिवी) के सिवाय और जितने अनन्तों लोक हैं, वे भी हम से विदाई ही मांगते हैं। इस भूमि पर भी तीन चौथाई भाग तो जरूर ऐसा है, जहां हमारी गती ही नहीं है। शेष जो यह स्वल्पसा हमारा गन्तव्य स्थान रहा है, वहां भी यदि हम सब जगह जावें, तो वही अपने चारों तरफ कुछ दूर तक (यंत्रोंकी सहायतासे कुछ और अधिक दूर तक) ही हमारी पहुंच है। यही हमारे प्रकाश की परिधि है। और बहुत किया, तो पढने सुनने और अनुमान करने के द्वारा (जो कि हमारे इसी स्वल्पसे प्रत्यक्षज्ञानके आधार पर और इसीके अनुपात में होता है) बहुतसा अप्रत्यक्ष ज्ञान भी पा लिया। तो भी उस अनन्त ब्रह्माण्डमें यह कितना है ? क्या इसीका नाम चारों तरफ देख सकना है ? सामने यदि कोई दीवार, पडदा या आड है, तो उसके पीछे क्या हो रहा है, इस विषयमें हम अन्धे हैं। यदि कोई वस्तु हमारे आंखों के अन्दर दे दी जाय, तो उसे भी हम नहीं देख सखते। इसी प्रकार हमारी सब इन्द्रियों का हाल है। बस, यही हमारे दृश्य पदार्थोंकी पूरी फहरिस्त है !! और यह भी तब, यदि हमारे इन ज्ञानों को '**देखना**' कहा जा सकता हो; क्यों कि हम रोज देखते हैं, कि हमारे ये सब ज्ञान भ्रम पूर्ण हो सकते हैं। भ्रम होना अन्धकार और अज्ञान की निशानी है, प्रकाश की किसी तरह नहीं। इन बातों को भी जाने दीजिये, जिज्ञासु को तो एक मोटी बात दीखती है, कि "**जहां प्रकाश होता है, वहां भय नहीं होता**"– भय हो ही नहीं सकता। महा आश्चर्य तो यही है कि, हम हमेशा प्रतिदिन भयपीडित और शंकाकुल रहते हैं, और फिर भी मुखसे कहते जाते हैं, कि हम प्रकाशमय लोकमें हैं !!!

आप अपनी मनमौजसे अपनी स्थितिको प्रकाशमय कल्पित करके बेशक आनन्दसे बैठे रहें, पर ज्ञानपिपासु को तो बडी घबराहट है, कि सामने भी कुछ नहीं मालूम होता, कि एक क्षण में दुनियामें क्या होनेवाला है; और पीछे भी स्वानुभूत विषयके अतिरिक्त क्या हुवा है, यह कुछ नहीं दृष्टिगोचर होता ! वर्तमान समयमें भी इधर उधरका सब संसार घोर अंधकारमें पडा डुबा है। मतलब यह कि अपने अनुभूयमान वस्तुको छोडकर शेष अनन्त ब्रह्माण्डका हम कुछ नहीं जानते। सच पूछे तो सारे दिगन्तों में व्याप्त घनघोर अंधकार के बीचमें उडते हुवे एक जुगुनूं के पटो में जितना

प्रकाश होता है, उसको सहस्रांश से भी हमारे ज्ञानकी तुलना हो सकती कठिन है !

जब मनुष्य अपनी इस दशा को अनुभव करता है, तब वह घबरा उठता है। उसका ज्ञानका गर्व टूट चुका होता है। वह इस अन्धकारमय कारागारसे छूटनेके लिये छटपटाता है। उस उस लोक को पाये विना जहां कोई भ्रम नहीं, जहां कोई भय नहीं, जहां प्रत्येक वस्तुका स्वरूप साफ साफ नजर आता है; उस स्थानको पाये विना चैन नहीं मिलती।

तब उसे यह आश्वासन मिलता है, कि मैं अभी चाहे कितना कच्चा क्यों न होऊँ, और चाहे कितना धैर्यरहित क्यों न होऊँ, तो भी एक के बाद एक आनेवाले आदित्यों की कृपासे मैं उस ज्योतिर्मय लोकको पहुंच जाऊंगा; जहां की मनुष्य " **अभय प्रतिष्ठा** " को प्राप्त होता है।

ये आदित्य देव कौन से हैं ? । हम जानते हैं कि रात्रि के बाद सूर्योदय होता है। इस रात्रि और सूर्य को, इस अन्धकार और आदित्य को सब लोग जानते हैं। परन्तु अज्ञानान्धकार की निशा के बाद भी ठीक इसी तरह " **ज्ञान आदित्य** " का उदय होता है। मनुष्य इन अज्ञान और ज्ञान के रात और दिनके बीच में से ऐसे ही गुजरता है, जैसे कि इन १२ घंटे के दिन और रातों में से। ये ही अज्ञानांधकार के बाद उदय होने वाले आदित्य हैं, जिन के द्वारा मनुष्य " **अभय ज्योति** " को उपलब्ध करता है। यह सच है, कि यह अज्ञानांधकार की रात बडी अन्धकारमय और भयावह होती है। परन्तु इस रात को गुजारे विना आदित्य का निर्भय प्रकाश भी नहीं निकलता। वैसे तो यह रात सभीपर कुछ न कुछ आती है। परंतु महान् होने वाले पुरुषों पर वह रात्रि भी महान् रूप में आती है, और **उन्हें महान् बनाती** है। बडे घोर और भयंकर रूप में आती है जिसके कि बाद उनके लिये उतने ही उज्वल और उतने ही अभयकारी आदित्य का उदय होता है। संसार के सभी सन्तों और महात्माओं को इस घोर रात्रि में से गुजरना पडा है। उस समय का उनका जीवन बार बार अनुशीलन करने-बार बार मनन करने योग्य है। एक समय आया है, जब कि उनके वेदनापूर्ण हृदयों ने इसी वेद मंत्र के शब्दों में क्रन्दन मचाया है, कि " न हमें इधर कुछ दिखाई देता है न उधर, न आगे और न पीछे, हम क्या करें " और अपनी इस परम निराशा की अवस्थामें अन्तमें आदित्य के उदय को पाया है ! शाक्यमुनि ' **बुद्ध भगवान्** , बनने से ठीक पहिले इसी भयंकर रात्रि में से गुजरे थे, और गुजर कर ही (बुद्ध) जागृत हुवे थे। **स्वामी दयानन्द** इसी रात्रि के घोरतम अन्धकार को अनुभव कर रहे थे, जब कि वे हिमालय की बरफ में अपने को लगाने का निश्चय कर रहे हैं, और जब कि अचानक सूर्य ने उदय हो कर उनके हृदय को प्रकाशित कर दिया! **ईसा मसीह** भी चालीस दिन तक इसी रात्रिमें रहे, और इसके बाद अटल

रूपसे आनेवाली ज्योति को प्राप्त किया। "इस रात्रि के बाद सूर्योदय का होना यह एक नित्य इतिहास है," जो कि संसार में हमेशा मनुष्य के जीवन में हुआ करता है।

वेद में जो बहुत जगह यह प्रार्थना आती है, कि —

"पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् "॥

ऋ. ६।५२।५

"ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् "॥

ऋ. ४।२५।४

'हम उदय होते हुवे सूर्य को देखते रहें, यह इसी आदित्योदय के विषयमें गूढ उक्ति है। गीतामें भगवान् कृष्ण कहते हैं—

'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्'　भ. गी. ५।१६

"जिन का कि ज्ञान उस पर वस्तु को ऐसा प्रकाशित कर देता है, जैसा कि सूर्य निकल आया हो।" यह इसी आदित्योदय का वर्णन है।

इन्हीं आदित्योदयों को प्राप्त होता हुवा धीरे धीरे पकता जाता है—धीरे धीरे धैर्यवान् होता जाता है। मनुष्य जितना पकजाता है, जितना धीर हो जाता है, उतनी ही भयंकरता वाली, उतनी ही घोर रात्रि उसके लिये आती है। जो महा पुरुष इतने पक्के और धीर हो जाते हैं, कि अन्तिम घोर रात्रि को सह सकते हैं, उनके लिये यह रात्रि अन्तिम वार परम घोर रूपमें आकर उनके लिये उस परम शुभ्र देदीप्यमान आदित्य को उदित करती है, जो कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। इसी का नाम यहां "**अभय ज्योति**" है।

ज्योति और भय यह विपरीत चीजें इकठी नहीं रह सकती। भय वहीं रहता है, जहां प्रकाश का आगमन नहीं हुवा। जहां वस्तुओंका ठीक ठीक स्वरूप नहीं दिखायी देता वहीं भय होता है। प्रकाश होने पर जब सब साफ साफ दीखता है, आगे पीछे सब तरफ वस्तुओं का स्पष्ट रूप दिखायी देता है, तब सब भय लीन हो जाते हैं। जिस महात्माके लिये ज्ञान आदित्य का उदय हो गया है—सब तरफ प्रकाश ही प्रकाश हो गया है उसे भय किधर से हों। आदित्य का राज्य हो जाने पर भय, भ्रम आदि भंगुर पदार्थ अंधकार प्रिय चोरों की तरह भाग जाते हैं!!

क्या हमारे भय दूर हो चुके हैं? क्या यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण नहीं है, कि हम अभी अन्धकारमें हैं। पर फिर भी हमें गर्व किस बात का है!! सच तो यह है कि, क्यों कि हम बिलकुल ही अंधेरे में हैं, इसलिये इसे ही प्रकाश समझते हैं-इसी लिये सन्तुष्ट हैं-इसी लिये हमें प्रकाश की इच्छा नहीं होती। यदि हमें कुछ भी प्रकाश दीख जाय, यदि उस अनन्त सूक्ष्म संसार का एक भी दृश्य हमारे दृष्टिगोचर होजाय, तो हम भौ चक्के रह जांय। हमारा सब ज्ञान का गर्व क्षणमें टूट जाय हमें ज्ञान पाने की प्रबल लालसा पैदा हो जाय, और ज्ञान पाने की प्रबल लालसा उस रात्रि के रूपमें परिज्ञात हो जाय, जो कि '**अभय ज्योति**' की जननी है।

इस लिये धन्य है, वे पुरुष जिन पर कि

यह "ज्योति" की जननी रात्रि आती है। और धन्य हैं वे पुरुष जिनका कि ज्ञान का गर्व टूटता है। क्यों कि यह रात ज्ञान का गर्व तोडने के लिये ही आती है। जैसे कि नया मकान बनाने के लिये पुराने खण्ड हर का ढाया जाना जरूरी है, जैसे कि बाग लगाने के लिये उस जगह उगे जंगल का कट जाना जरूरी है, और जैसे कि नया देह पाने के लिये पुराने देह का छोडना जरूरी है; वैसे ही उत्कृष्ट ज्ञान पाने के लिये पुराने जमे हुवे ज्ञान गर्व का टूटना जरूरी है। इस लिये मंगलमय है वह घडी और पुण्य है वह पुरुष जिसका कि गर्व हरने के लिये किसी समय यह रात्रि आती है।

वेद कहता है, कि ब्रह्मचारी को ४८ वर्ष तक तीन रात्रिओं में रहना होता है।—

'तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति।'

अ. ११।७।३

तब वह 'आदित्य' बनता है। नचिकेता मृत्युके घरमें तीन रात्रियों तक भूखा रहा, तब उसे उस परम प्रकाशके दर्शन हुवे, जिसकी कि उपमा जगत्में नहीं मिल सकती। उपनिषत्कार ऋषि उस "अप्रमेय शुभ्र ज्योति" का वर्णन निम्न मंत्र में करते हैं।—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

कठ उ. २।५।१५

'यह प्रचंड सूर्य जिसकी कि तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखा जाता उस ज्योतिके सामने फीका है। यह चन्द्रकी आह्लाद कारिणी चांदनी उसके सामने तुच्छ है, ये आंखोंको चका चौंध करनेवाली बिजलियां भी कुछ नहीं हैं, तो इस आग का तो क्या कहना! वह प्रकाशमान है, इसीलिये वह सब कुछ प्रकाशित हो रहा है, उस अनन्त प्रकाश से ही कुछ प्रकाश पाकर ये सब चीजें चमकती हैं। यह इसी अभय ज्योति का वर्णन है, जहां प्राप्त होना मनुष्यका परम पुरुषार्थ है, और जहां प्राप्त हुवे जनक महाराजके विषयमें ऋषि कहते हैं कि—

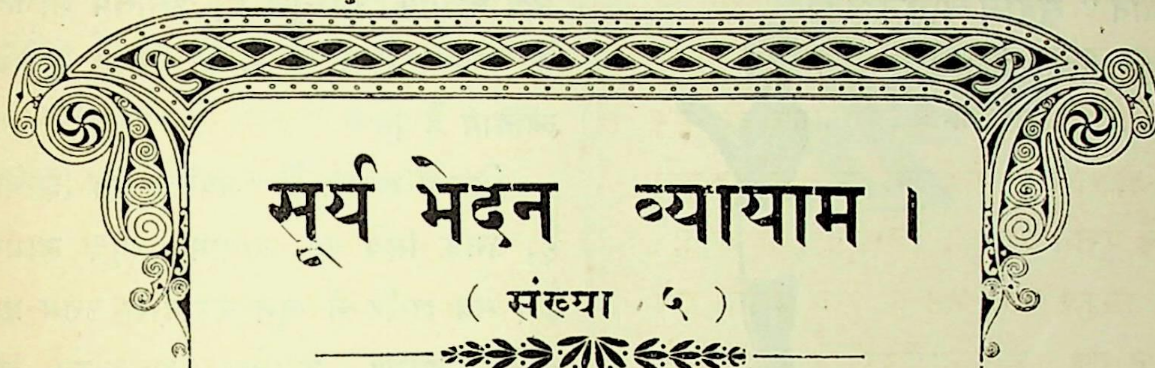
"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।"

(बृ. ४।२।४)









सूर्य भेदन व्यायाम।

(संख्या ५)

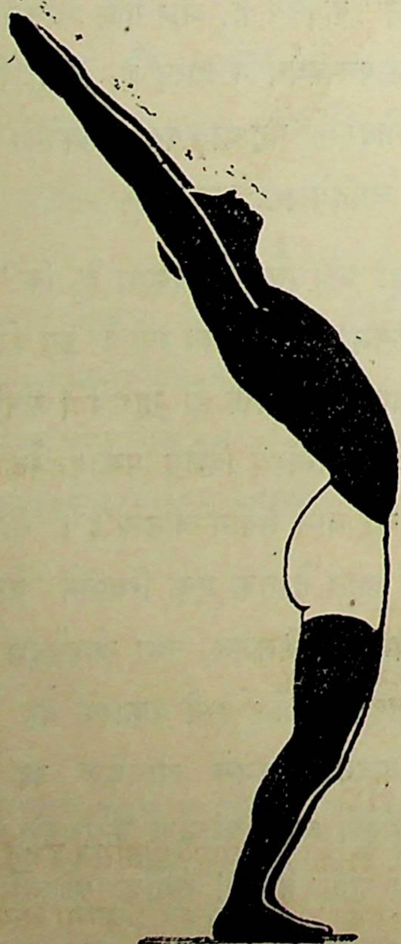


पूर्वोक्त चारों सूर्यभेदन व्यायाम विशेषतः **"शक्ति वर्धन"** के लिये हैं, और गौण दृष्टिसे अंग चालन का कार्य करते हैं; परंतु यह सूर्य भेदन व्यायाम (संख्या५) विशेषतः **"अंग-संचालन"** के लिये है, और गौण रीतिसे इसका उपयोग बल-वर्धन में होता है, यह विशेषता इसके अंदर है, यह बात यहां पाठकोंको ध्यानमें धरनी चाहिये।

यहां प्रश्न पूछा जा सकता है, कि **"सर्वांग चालन"** का तात्पर्य क्या है? इस का तात्पर्य इस नामसे ही व्यक्त हो रहा है। संपूर्ण अवयवों और अंगोंकी विशेष प्रकार से हलचल करने का नाम सर्वांग-चालन है। साधारणतः मनुष्य बहुत देरतक एक स्थितिमें बैठता है, बाबूलोग, पंडितजन, तथा ओहदेदार, वकील, सेठ साहुकार और इसी प्रकारके बैठ बैठ कर कार्य करनेवाले लोग आजकल बढ रहे हैं। और संपूर्ण व्याधियां उक्त कारणही इनके सुपुर्द हो चुकीं हैं!!! अंगोंको पूर्णतासे चालन जिन व्यवसायोंमें मिलता है, उन व्यवसायोंको

करनेवाले लोग बीमार कम होते हैं, और अंग-चालन रहित व्यवसाय करनेवाले लोग बीमार अधिक होते हैं । इसका कारण इतनाही है कि रक्तका दौरा शरीरमें जैसा होना चाहिये उतना न होनेसे बीमारोंका घर शरीरमें होजाता है। इसलिये योगियोंने " **सर्वांग चालन** " की रीति सिद्ध की है ।





इस रीतिसे जो लोग प्रतिदिन कमसे कम दस मिनिट अथवा अधिक से अधिक आधा घंटा सर्वांग चालन करेंगे, उनको बैठे व्यवहार के कारण होने वाली बीमारियां निश्चयपूर्वक नहीं होगी । साथ साथ इसमें स्नायुओंमें बल बढानेका भी गुण है, इसलिये शक्तिवर्धन के साथ आरोग्य साधन का भी यह सूर्य भेदन व्यायाम है ।

जिनके शरीरों में अवयवों की शिथिलता है, उनके लिये यह व्यायाम अपूर्व लाभकरी है । सब शरीर में खून का दौरा उत्तम प्रकार होनेके कारण कमजोर अवयवको इससे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है । इस हेतुसे यह व्यायाम शरीरमें विषमता का नाश करके समता स्थापित करनेके लिये अत्यंत उपयोगी है । इस व्यायाम का क्रम यह है—

(१) नमस्कारासन ।

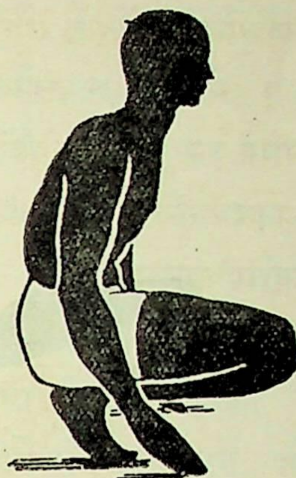
पूर्वोक्त प्रकार नमस्कारासन करके तत्पश्चात्-

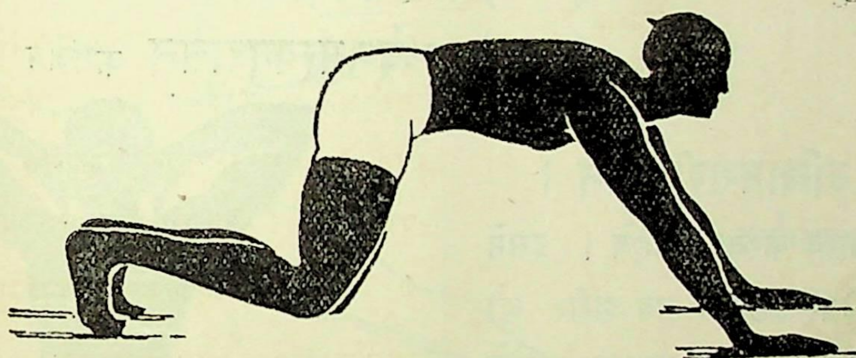
(२) ऊर्ध्वनमस्कारासन ।

पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ऊर्ध्वनमस्कारासन कीजिये । इसमें पेट पर अच्छा खिंचाव आ-जाय । यह बात इस समय कदापि भूलनी नहीं चाहिये । बैठे व्यवहार करनेवालों के अंदर जो बीमारी शुरू होती है, वह प्रायः पेट की शिकायत से ही शुरू होती है, इस कारण सबसे पहिले पेट को ठीक करनेका कार्य इस आसन का होने के कारण उक्त सूचना की ओर इस आसन के करने के समय अवश्य ध्यान देना चाहिये । इस सावधानता के साथ इस आसन को करने के पश्चात्—

(३) उपवेशनासन ।

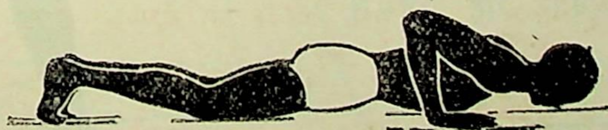
उपवेशनासन कीजिये। दोनों पावोंके अंगुठों पर अथवा अंगुलियोंपर सब बोझ रखकर बैठनेसे यह आसन बनता है । वीर्यरक्षा करने का गुण इसमें विशेष होनेसे वीर्यदोषी तरुणों के लिये इस व्यायामसे वहुत ही लाभ हो सकते हैं। इस आसन को ठीक प्रकार करने के बाद--





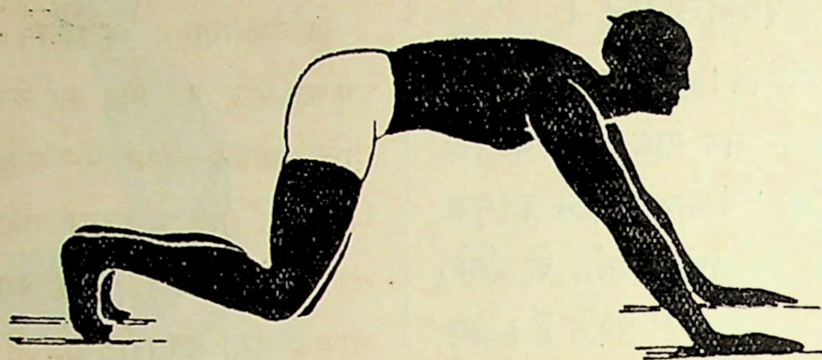
(४) चतुष्पादासन

चतुष्पादासन करना चाहिये। पूर्वोक्त उपवेशनासन से ही घुटने भूमिपर टिकाकर दोनों हाथ जितने आगे जा सकें उतने भूमि-पर टिका कर, चतुष्पाद पशुके समान दो पावं और दो हाथोंके बल भूमिपर रहनेका नाम चतुष्पादासन है। इसके नंतर--



(५)अष्टांगप्रणिपातासन।

अष्टांग प्रणिपातासन कीजिये। इस का विधि पूर्व लेखों में आचुका है। दो पांव, दो घुटने, छाति, दो हाथ और सिर भूमिको लगता है, इसलिये इसको अष्टांगप्रणिपातासन कहते हैं। इस समय पेट का अंदर आकर्षण करना अत्यंत आ-वश्यक है। इस प्रकार इसको करनेके पश्चात् पुनः



(६) चतुष्पादासन ।
(७) उपवेशनासन ।
(८) नमस्कारासन । और
(९) ऊर्ध्वनमस्कारासन कीजिये

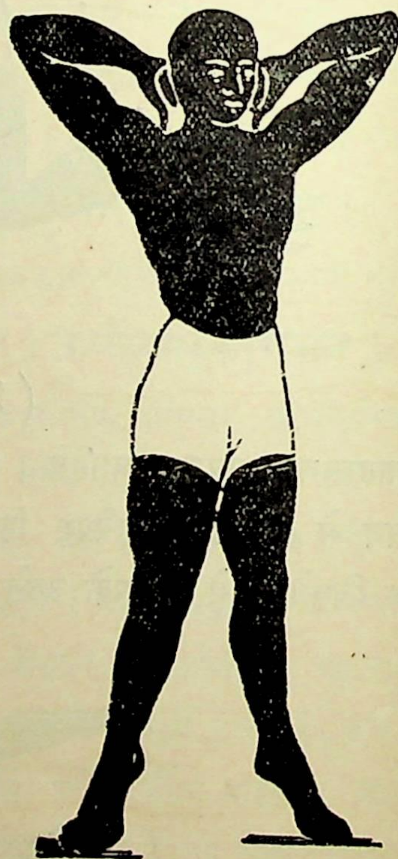
इसके बाद—

(१०) उत्क्षिप्तशरीरासन ।

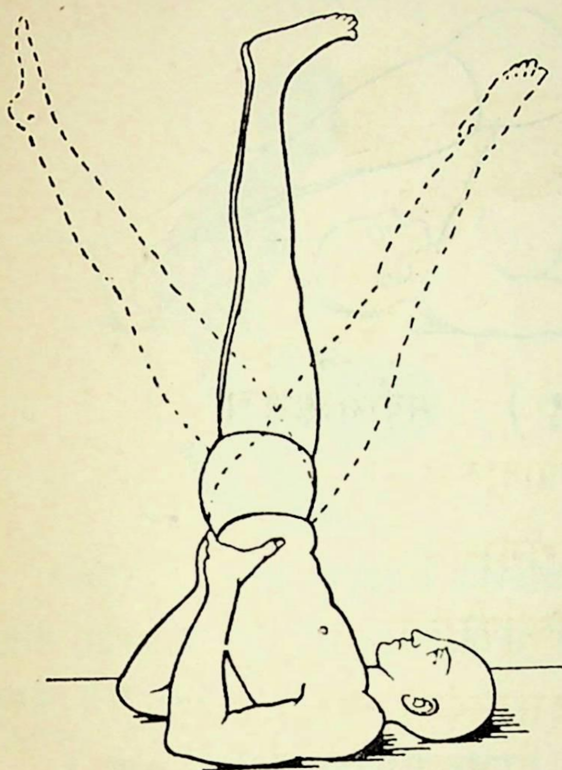
उत्क्षिप्त शरीरासन करना चाहिये। इसमें पांवोंकी एडियां ऊपर ऊठाकर सब शरीर को पांवकी अंगुलियोंपर ही ऊपर उठाना चाहिये तथा बाहुओं से हाथोंको ऊपर उठाकर कोहनी में हाथोंको मोडकर अपने हाथोंके अंगुठे बाहुओं को लगाने चाहिये। यह सब करनेके समय भूमिसे शरीर का ऊपर की ओर खिंचाव होना चाहिये जैसा कि भूमिसे शरीरके ऊपर उडनेके समय होना संभव है। इसप्रकार यह आसन करने के पश्चात्

(११) शयनासन।

शयनासन कीजिये। शयनासन वह है जिसमें पीठके बल भूमिपर शयन करना होता है। इसका करते ही एक दम अपने पावोंको ऊपर उठाकर —

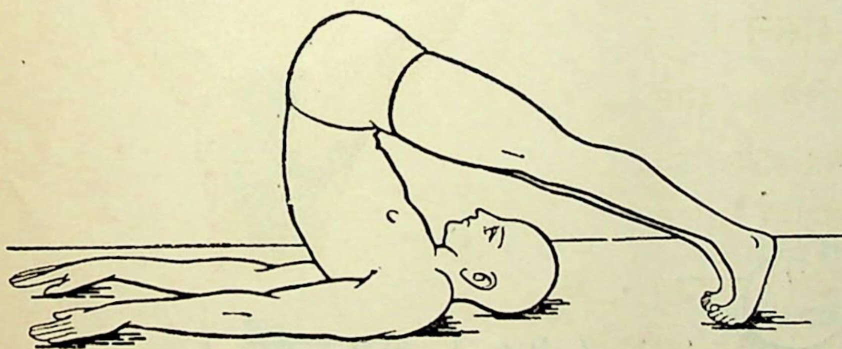


(१०) उत्क्षिप्तशरीरासन ।



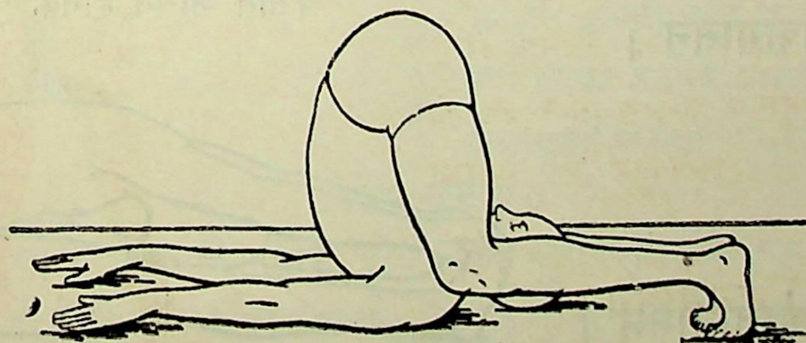
(१२) ऊर्ध्वसर्वांगासन।

ऊर्ध्वसर्वांगासन कीजिये। शयनासनमें रहते हुए दो पांवों को जोड कर ऊंचा करना, पश्चात् युक्तिसे केवल कंधा और माथा इन्हीपर सब शरीर को तान के ऊपर पांवोंको खडा करनेसे यह आसन बनता है। इसके अन्य नाम **"विपरीतासन** तथा **विपरीत करणी"** भी हैं। यह आसन वीर्य दोष दूर करने और भूख बढाने के लिये अत्यंत उपयोगी है। इसको करनेके पश्चात् ही —



(१३) सर्वांगासन।

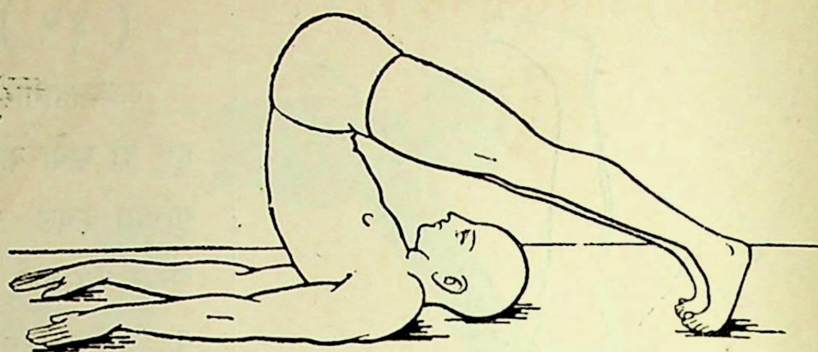
सर्वांगासन करना चाहिये। पूर्वोक्त आसनके पांव नीचे करके, घुटने सीधे रखते हुए अपने पांवोंके अंगुठे अपने सिरके पीछे भूमीपर लगाने से यह आसन बनता है इसके नंतर—



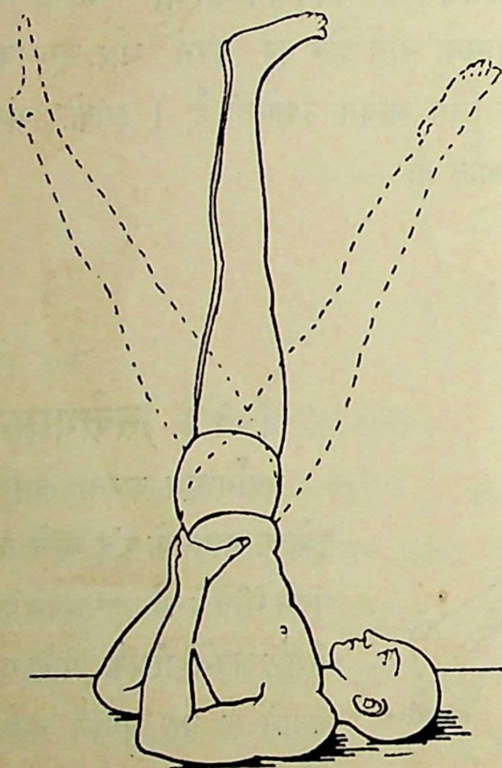
(१४) कर्णपीडनासन

कर्णपीडनासन कीजिये। सर्वांगासन में घुटने सीधे रहते हैं, उनको मोडकर अपने कानों को लगाने से कर्णपीडनासन बनता है।

इतने आसन होनेके पश्चात् फिर उलटे क्रमसे निम्न आसन कीजिये —



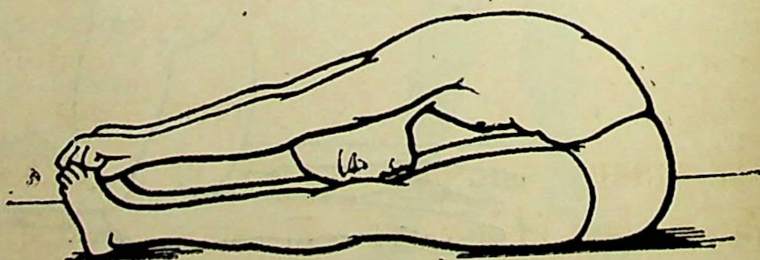
(१५) सर्वांगासन ।



(१६) ऊर्ध्वसर्वांगासन ।

(१७) शयनासन ।

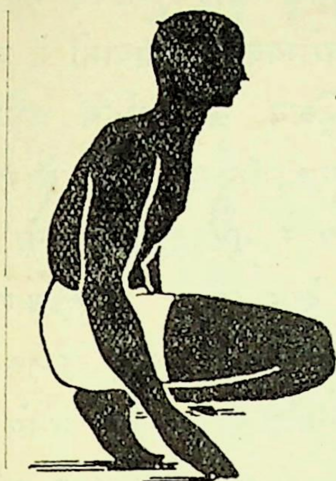
ये तीन आसन होनेके पश्चात् —



(१८) पश्चिमोत्तानासन ।

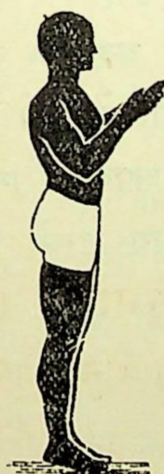
पश्चिमोत्तानासन कीजिये । शयनासनमें रह कर पावोंको भूमिके साथ जमा कर अपने धड को ऊपर उठाना और दोनों हाथों से दोनों पावों के अंगुठ पकडकर अपना सिर घुटनों के बीचमें रखने से यह आसन बनता है । इस आसन को करनेके बाद —

(१९) उपवेशनासन।

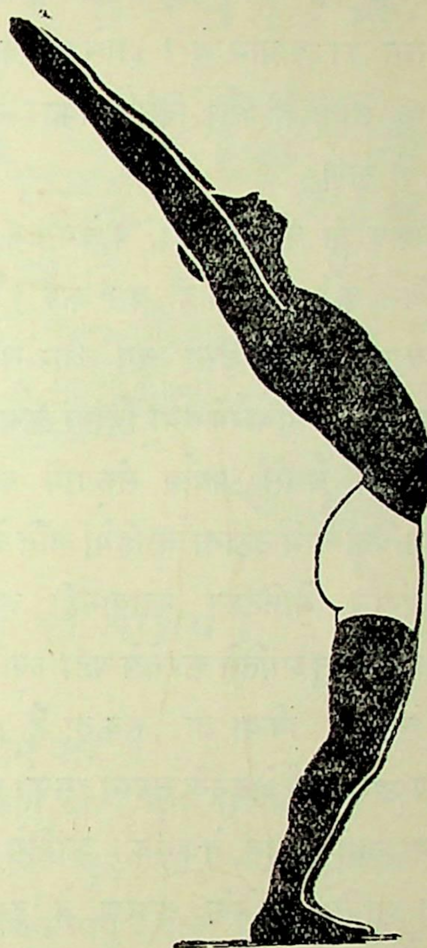


उपवेशनासन करना चाहिये। पश्चिमोत्ताना सनसे उठकर बैठनेसे यह आसन होता है। इसके नंतर —

(२०) नमस्कारासन और।



(२१) ऊर्ध्वनमस्कारासन।



करनेसे यह **सर्वांग-चालन** का व्यायाम होता है। इक्कीस आसनोंका यह सर्वांग चालन व्यायाम है। दैनिक व्यायाम करनेके पश्चात् इसका अभ्यास करनेसे बहुत ही अपूर्व लाभ होते हैं। तथा इसको करनेके पश्चात् शीर्षासन अपनी इच्छानुरूप करनेसे अधिक लाभ होता है।

विशेष सूचना।

यह व्यायाम सर्वांगचालन के लिये ही करने की इच्छा हो तो ये सब २१ ही आसन अति वेगसे करने चाहिये। **किसी भी आसन पर विशेष न ठहरते हुए क्रमपूर्वक अति वेगके साथ सब आसन करने से अच्छी प्रकार "सर्वांग-चालन" हो जाता है।**

इस सर्वांगचालन का फल यह है कि, शरीर भर में खून का दौरा अच्छीप्रकार होजाता है। और हरएक नस नाडीतक खून पहुंच कर वहां की शुद्धता और आरोग्यता संपादन करता है। खून की सुस्ति के कारण बहुत बीमारियां होती हैं, विशेषतः इंद्रियों और अवयवोंकी

शिथिलता खून की सुस्तीसे ही होती है। उस को दूर करनेके लिये योगासिद्ध उपायही सर्वांग चालन का व्यायाम है। इससे हरएक को अवश्य लाभ होता है और किसी प्रकार नुकसान नहीं होता।

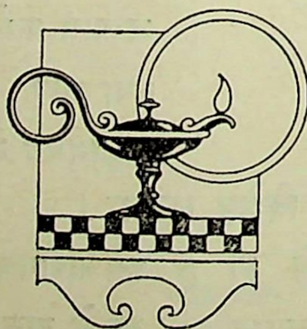
जो विशेष ही कमजोर हों, वे वेगसे न करें परंतु शांतिसे करें और थोडी वार करें। और जैसा अभ्यास बढेगा वैसा वेग और संख्या बढावें। परंतु जो साधारणतया विशेष कमजोर नहीं हैं, उनको वेगसे पर्याप्त संख्यामें करके अधिकसे अधिक लाभ उठाना चाहिये। अति वेगसे करनेपर चारपांच मिनिटका व्यायामही अत्यंत पर्याप्त होता है। परंतु शांतिसे करनेसे यही व्यायाम बहुत देर तक भी किया जा सकता है।

जो मनुष्य अन्य सूर्य भेदनके समान इसको बहुत वेगसे करना नहीं चाहते, वे इसको शांतिसे कर सकते हैं। शांतिसे करनेके कारण वे इसको बहुत वार और बडी देरतक भी कर सकते हैं और बल वर्धन के साथ उनका खूनका दौरा भी ठीक आरोग्यप्रद हो सकता है।

यह व्यायाम हरएक को अपनी शक्तिके अनुकूलही करना चाहिये अधिक नहीं।

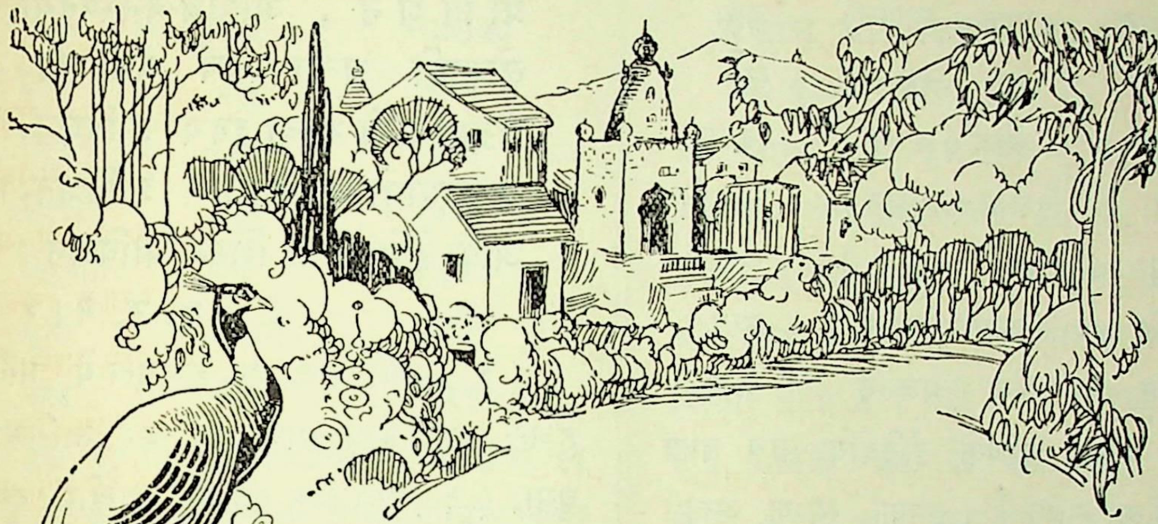
संपूर्ण आरोग्यवर्धक व्यायामों में यह सबसे इष्ट और निश्चय से आरोग्य वर्धक है। आबालवृद्ध तथा स्त्रियां भी इससे लाभ उठा सकतीं हैं। परंतु गर्भवती स्त्रियें दो मासके पश्चात् इसको वेगसे न करें और चार मासके पश्चात् इसको बिल्कुल न करें। वास्तव में स्त्रियों को उक्त अवस्थामें कोई व्यायाम वेगसे करनाही नहीं चाहिये। तथा कर्णपीडनासन, पश्चिमोत्तानासन आदि के समान व्यायामभी पूर्वोक्त अवस्था में करना योग्य नहीं है। इसलिये अपनी अवस्था में जितना योग्य हो, उतना ही व्यायाम स्त्रियें करती रहें। पुरुषों के लिये इस प्रकार की कोई रुकावट नहीं है।

जो मनुष्य एक अवस्थामें अपना शरीर रख कर नोकरीपेशा आदिके कार्य करते हैं, उनके लिये यह व्यायाम अपूर्व आरोग्य देनेवाला है। इस लिये ये लोग इससे अवश्य लाभ उठावें।





* उपनिषदका रहस्य। *



ऐतरेय उपनिषद् का आशय।

प्रथम अध्याय। वैदिक विकास वाद ।

(१) प्रथम खंड

प्रारंभ में एक ही आत्मा था और आंख हिलाने वाला कुछ भी नहीं था। उसने सोचा कि " मैं लोकोंको रचूं, " और उसने इन लोकोंको रचा। द्युलोक और मरने वाला यह पृथिवी लोक जिसके साथ जल है। पश्चात् उसने लोकपालोंकी उत्पत्ति करने की इच्छा से जलोंमें से ही एक पुरुष को बनाया और उसे तपाया। जब वह तप गया, तब उसका मुख खुला, जैसा अंडा फठता है, उस मुखसे वाणी और वाणीसे अग्नि। दोनों नासिकाएं खुल गईं, नासिकाओंसे प्राण और प्राणसे वायु। दोनों आंखें खुल गईं, आंखों से चक्षु और चक्षुसे सूर्य। कान खुल गये, कानोंसे श्रोत्र और श्रोत्रसे दिशाएं। त्वचा बनी, त्वचासे लोम और लोमों से औषधिवनस्पतियें। हृदय बना, हृदयसे मन और मनसे चंद्रमा। नाभि खुल गई, नाभिसे अपान और अपानसे मृत्यु। शिश्न बना, शिश्नसे रेत और रेतसे जल बना।

यह ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम खंडका वर्णन है, इसका तात्पर्य यह है कि, " एक आत्मा की इच्छा की प्रेरणासे द्युलोक, अंतरिक्ष लोक और भूलोक यह त्रिलोकी बनी, इसमें अंभ, मरीची और जल ये तत्त्व क्रमशः हैं। तत्पश्चात् उसने एक पुरुष बनाया और उसके इंद्रियोंसे बाह्य देवताओं की निम्न प्रकार उत्पति हुई।--

इंद्रिय	इंद्रिय शक्ति	देवता
मुख	वाणी (वचन)	अग्नि
नासिका	प्राण (प्राणन)	वायु
आंख	चक्षु (दर्शन)	सूर्य
कान	श्रोत्र (श्रवण)	दिशा
त्वचा	लोम (स्पर्शन)	औषधि
हृदय	मन (मनन)	चंद्रमा
नाभि	अपान(अपानन)	मृत्यु
शिश्न	रेत (प्रजनन)	जल

इस प्रकार पुरुषके इंद्रियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध है। इसका स्मरण अच्छी प्रकार रखना चाहिये, क्यों कि आगे इसका विशेष संबंध आनेवाला है।

वैदिक संकोच वाद।

(२) **द्वितीय खंड**— ये देवताएं इस प्रकार उत्पन्न होनेके पश्चात् बडे समुद्रमें आ पडे। और उनके पीछे भूख और प्यास लगी। भूख और प्याससे युक्त होकर देवताओंने उस आत्मासे कहा कि हमारे लिये स्थान दो, जहां बैठकर हम अन्न खाएं। वह आत्मा उन देवताओंके लिये एक बैल,... और पश्चात् घोडा ....लाया। देवताओंने कहा कि "यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है।" पश्चात् वह आत्मा मनुष्य लाया, तब उसको देखकर देवताओंने कहा कि "**यह बहुत अच्छा बना है !! निःसंदेह यह अच्छा बना है !!!**" इसके पश्चात आत्माने देवताओंको कहा कि. "**अपने अपने स्थानमें प्रवेश कर जाओ।**" तत्पश्चात्--

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्, ओषधि-वनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

ऐ. उ. २।१-५

(१) अग्नि वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बन कर नासिकामें घुसा, (३) सूर्य चक्षु बन कर आखोंमें वसने लगा, (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानोंमें रहने लगीं, (५) औषधिवनस्पतिएं लोम बन कर त्वचा में आ बसीं, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदय में रहने लगा, (७) मृत्यु अपान बनकर नाभिमें प्रविष्ट हुआ, (८) जल वीर्य बन कर शिश्नमें विराजने लगा।

इस प्रकार देवताओंका अपने योग्य स्थान में निवास होनेके पश्चात् भूख और प्यास इन दोनोंने आत्मासे कहा कि "हमारे लिये भी कुछ आज्ञा होनी चाहिये।" तब आत्माने उनसे कहा कि "मैं इनही देवताओं में तुम दोनोंको हिस्सेदार बनाता हूं।" इस प्रकार इंद्रिय भोगोंमें भूख और प्यास हिस्सेदार बनगये हैं।

यह भाव दूसरे खंडका है। प्रथम खंडमें कहा था, कि पुरुष की इंद्रिय-शक्तीयोंसे अग्नि वायु सूर्य आदि देव बने हैं। अब इस द्वितीय खंडमें कहा है, कि उक्त अग्नि आदि देवताएं पुरुष के प्रत्येक इंद्रियमें आकर वसी हैं, इसका क्रम यह है —

देवता	इंद्रियशक्ति	निवास स्थान
अग्नि	वाणी	मुख
वायु	प्राण	नासिका
सूर्य	चक्षु	आंख
दिशा	श्रोत्र	कान
औषधि	लोम	त्वचा
चंद्रमा	मन	हृदय
मृत्यु	अपान	नाभि
जल	वीर्य	शिस्न

इस रीतिसे देवताओंने इंद्रियशक्तियों का रूप धारण करके इंद्रिय स्थानमें निवास किया है। पूर्व स्थानमें जितनी देवताएं हैं उतनी ही यहां हैं। परंतु पूर्व स्थानमें पुरुषकी इच्छाशक्तिसे इंद्रिय, इंद्रियों में इंद्रिय शक्ति और उस इंद्रिय शक्तिसे देवता बननेका "**विकास-वाद**" है। वैदिक विकासवाद की किंचित् सी कल्पना यहां हो सकती है। विकास के पश्चात् "संकोच" होना आवश्यकही है। इसलिये द्वितीय खंडमें वैदिक "**संकोच-वाद**" का वर्णन करते हुए यह बताया है कि, विश्वव्यापी विशाल देवताओंने सूक्ष्म रूप धारण करके इस देहमें अवतार लिया। देवताओंने अवतार के लिये बैल घोडा आदि पशुओंके शरीर अर्थात्, मछली, सूअर, हाथी, घोडा, गाय बैल आदि प्राणियोंके शरीर पसंद नहीं किये, अथवा इन पाशवी शरीरोंमें उक्त देवताओंके लिये रहनेका आनंद नहीं आया, परंतु जब मनुष्य शरीर बना, तब उन सब देवताओंको अत्यंत हर्ष हुआ, और संपूर्ण देवताओंने अपने अपने अंश भेजकर इस नरदेहमें अवतार लिया, और सब देवतायें यहां आकर उक्त स्थानोंमें बसने लगीं।

संकोच और विकास का स्वरूप।

एक वृक्षका बीज होता है, उस बीजमें जड, शाखा, पत्ते, फूल तथा फल आदि वृक्ष विस्तारके अंश सूक्ष्मरूपसे रहते हैं, अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होतेही, योग्य भूमि, उत्तम जल, और खाद मिलते ही, उस बीजका बडा भारी विस्तार होता है। यही उस बीजका विकास है। मानवी वीर्य के एक बिंदुमें मनुष्यके संपूर्ण इंद्रियों और अवयवोंके अंश अतिसूक्ष्म रूपसे रहते हैं, माताके सुयोग्य गर्भस्थानमें उसका परिपोष होकर वे ही बीज के अंश विकास प्राप्त करके बढ जाते हैं, इस प्रकार हरएक शक्तिका विकास होकर परिपूर्ण मानवी देह बन जाता है। यही विकास का क्रम प्रत्येक बीजके विस्तारमें अनुभव होता है। जगत्के अंदर हरएक योनिमें इसके उदाहरण सहस्रों हैं।

बडे वृक्षमें फूल के पश्चात् फल की उत्पत्ति होती है, मनुष्य अथवा अन्य प्राणिकी तारुण्य अवस्थामें प्रजननके उपयोगी वीर्य उत्पन्न होता है। इस फलमें और इस बीजमें पिताके संपूर्ण शक्तियोंके अंश रहते हैं। यहां तक ये अंश आते हैं कि, पुत्रके कई अंग, इंद्रिय और अवयव हूबहू पिताके उन अंगों, इंद्रियों और अवयवोंके समान होते हैं। कई मनुष्य तो पिताके सदृश रंगरूप और आकारमें पूर्ण रूपसे दिखाई देते हैं!! यह बात देखनेसे पता लग सकता है कि बीजमें पिताके अंश कितने

प्रमाणसे आने संभव हैं । यह संकोच का क्रम है, और यह हरएक योनिके बीजमें दिखाई देता है । जगत्‌में सर्वत्र इसके उदाहरण हैं ! इस रीतिसे " **संकोच और विकास** " से यह जगत् चल रहा है ।

संकोचमें कितनी शक्ति रहती है, इसका प्रमाण देखनेके कोई साधन हमारे पास इस समय नहीं हैं । बडासे बडा सूक्ष्म दर्शक यंत्र भी वीर्य बिंदुमें संपूर्ण इंद्रियशक्तियों को दिखानेमें असमर्थ है, तथापि वीर्य बिंदुमें तथा बीजमें अतिसूक्ष्म रूपसे पिताके संपूर्ण शक्ति-समूह रहते हैं, इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

बीजका विस्तार और विस्तारसे पुनः बीज बननेकी क्रिया इस प्रकार सृष्टिमें सनातन कालसे चल रही है । जो उक्त सत्यता वैयक्तिक बीजके विषयमें सत्य है, वही समष्टि दृष्टिसे भी उसी प्रकार सत्य है । यही सत्य सिद्धांत पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद्‌के दो खंडोंमें स्पष्ट शब्दोंमें बताया है ।

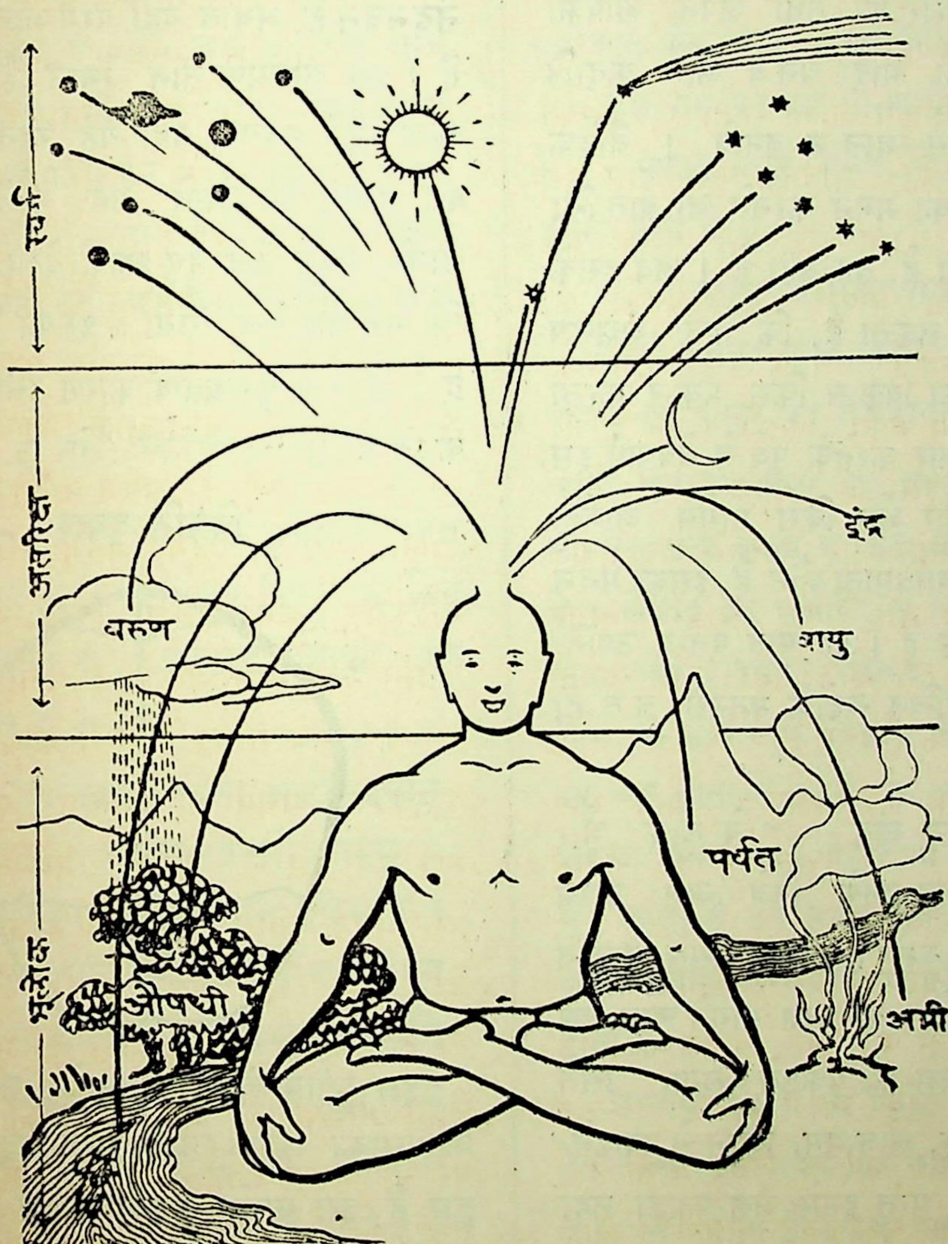
बीज प्रदाता जगत्पिता ।

यहां जगत्पिता परमात्मा, व्यापक ब्रह्म, बीज प्रदाता होने से उनकी संपूर्ण शक्तियां अत्यंत सूक्ष्मांशरूपसे प्रत्येक प्राणीके अंदर आती हैं, विशेषतः विकास क्षम मनुष्य योनिके प्राणीके अंदर तो अवश्य ही आती हैं । इस अंशरूप शक्तिके अवतारका मननीय वर्णन ऐतरेय उपनिषद् के द्वितीय खंडमें पाठकोंने देखा है ! ! सर्व व्यापक ब्रह्म अथवा एक आत्मा मुख्य है और तेतीस कोटी देव उसके साथी अथवा उसके विश्वव्यापी शरीर के अवयव और अंग हैं । यही परमपिता परमात्मा हैं । यदि हम उसीके " **अमृत पुत्र** " हैं तो शरीरमें उसीका वीर्य या बीज है । और यदि उसीका बीज हमारे में है, तो उसीकी संपूर्ण शक्तियां हमारे अंदर अति सूक्ष्म अंशरूपसे अवश्य निवास करती हैं । इन शक्तियोंका निवास हमारे शरीरमें कहां होता है, इसका औपनिषदिक वर्णन पूर्व स्थलमें आचुका ही है ।

क्षणभर विषय समझने के लिये मान लीजिये, कि परम पिता परमात्मा का यह विश्व ही प्रचंड शरीर है, और उसके आंख सूर्य हैं, और उसके अन्य इंद्रियगण अर्थात् वाणी, श्रोत्र, त्वक्, नासिका, हृदय, नाभि, शिश्न आदि इंद्रियगण क्रमशः अग्नि, दिशा, औषधि, वायु चंद्रमा मृत्यु और जल हैं । इसी महावृक्षके फल हम सब मानव हैं ऐसी कल्पना करते ही पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा कि, पिताके गुण धर्म पुत्र में आनेके नियमके अनुसार परमात्माके आत्मिक बीज के साथ अन्य तेतीस देवताओंके भी अंश हमारे अंदर आते ही हैं । यही उक्त उपनिषद् का कथन है । नाना अलंकारोंसे विविध प्रकारका वर्णन होने पर भी कथनीय बात एक ही होती है । यह एक स्पष्ट रहस्य की बात है कि हमारे अंदर परमपिता परमात्माकी अंशरूप आत्मिक शक्ति मध्यमें विराज रही है, और उसके चारों ओर परमात्माके आश्रयसे रहनेवाले तेतीस देवोंके अथवा तेतीस कोटी देवोंके अंश हैं । इसका अंशावतार किस प्रकार हुआ है, यह ऐतरेय उपनिषद्‌के शब्दोंमें बताया गया है ।

देवोंका अंशावतार।

प्रवेशका मार्ग।



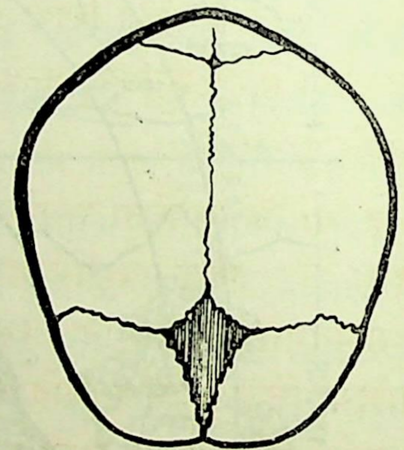
संपूर्ण देवोंके अंशावतार का यह चित्र है। इसमें बताया है कि अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताएं किस रीतिसे हमारे शरीरमें आकर रही हैं। पूर्वोक्त उपनिषद् के वर्णनके साथ इस चित्र की तुलना कीजिये और उपनिषद् का रहस्य जाननेका यत्न कीजिये।

वैदिक धर्म का कथन है कि अपने आपको देवतारूप किंवा देवतामय समझो! अब विचार करके पाठक ही देख सकते हैं कि, अपने शरीरका कोई भी अंग और अवयव देवताओं

से खाली नहीं है । हरएक अंग, अवयव और इंद्रिय में कोसी न किसी देवताका अंश अवश्य ही है । इसप्रकार यह शरीर सचमुच देवताओं का मंदिर है । इस लिये आवश्यक है, हरएक मनुष्य अपने शरीर को तथा अपने आपको सच्चा देवताओंका मंदिर बनावे और कदापि राक्षसोंका निवास स्थान न बनावे । वैदिक धर्मके उपदेशों का मनन करनेसे जो बात निःसंदेह ज्ञात होती है, वह यही है । अब इसके पश्चात् प्रश्न हो सकता है, कि इन अंशरूप देवी शक्तियों का विकास किस प्रकार करना है । इसका विचार करनेके पूर्व ये देवताएं इस देहमें किस प्रकार और किस मार्गसे आगईं, और इनका मुख्याधिष्ठाता कौन है, इसका मनन करना आवश्यक है । यह बात ऐतरेय उपनिषद् के निम्न लिखित खंडोंके मननसे ज्ञात हो सकती है ।

(३) **तृतीय खंड** — " ये लोक और लोक पाल हैं, अब इनके लिये अन्न उत्पन्न करूंगा । उसने जलको तपाया, उससे जो मूर्ति बनी वही अन्न है । वह अन्न भागने लगा, उस समय यह उस अन्न को पकडने लगा, उसने वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, शिस्न से पकडनेका यत्न किया, परंतु इनसे अन्न पकडा नहीं गया । पश्चात् अपानसे पकडने का यत्न किया, तो उससे पकडा गया । इसलिये यही वायु (अन्न-ग्रहः) अन्नको पकडनेवाला है, इसीलिये इसको (अन्नायु) अन्नसे आयुकी वृद्धि करने वाला कहते हैं । उस आत्माने सोचा कि मेरे विना यह देह कैसा रहेगा ? ऐसा विचार करके उसने अंदर प्रवेश करने का विचार किया । ...तब उसने इस सीमा का विदारण-करके अंदर प्रवेश किया । **यही द्वार " विदृति " नामक है, और यही (नान्दनं) नंदनवन है,** अर्थात् यही परम आनंदका स्थान है । इस आत्माके तीन स्थान हैं । आंख, कण्ठ और हृदय । यहां यह रहता है । जब वह जन्मा, तब उसने सब भूतों पर दृष्टि डाली, उसने फैले हुए ब्रह्मको देखा, और कहा कि मैंने यह देख लिया । इसका नाम " इदंद्र " है । परंतु गुह्यताके कारण इसीको " इंद्र " कहते हैं ॥ " (ऐ. उ. अ. १।३)

विदृति द्वार ।



इस तृतीय खंडमें आत्माके शरीरमें प्रवेश के मार्गका वर्णन है । सिरमें विदृति नामक द्वार है, इस मार्गसे इसका प्रवेश शरीर में होगया है । यही " **नंदनवन** " है, स्वर्ग कैलास आदि इसीके नाम हैं । स्वर्गीय उद्यान से जो इसका अधःपात हुआ है, वह यहांसे ही है । यहांसे उसके अधःपातका मार्ग कंठ, हृदय और आंख है । इस विदृति द्वार से अंदर प्रविष्ट होकर पृष्ठवंशके मार्गसे सीधा नीचे उतर

कर यह मूलाधार चक्रमें आता है, वहां से अज्ञात मार्गसे नाभी में पहुंच कर हृदयमें आता है वहां की ऊर्ध्व नाडीसे मस्तिष्कमें चढकर आंखमें बसता है, और वहांसे जगत् का निरीक्षण करता है, और अन्य द्वारोंमेंसे अन्य अनुभव लेता है। विदारण करके अंदर घुसता है, इसलिये इसको (इन् द्र) इंद्र कहते हैं। यही अन्नादिका भोग करता है। इतना वर्णन देखनेके पश्चात् इसी उपनिषदका निम्न भाग देखिये--

गर्भ प्रकरण।

(ऐ. उ० अध्याय २) **खंड प्रथम** में निम्न लिखित वाक्य अपने प्रचलित विषय के लिये अत्यंत उपयोगी हैं। इसलिये उनका अब विचार करते हैं —

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत्सर्वेभ्योऽगेभ्य -स्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदास्त्रियां सिंचत्यथैनज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म। तात्स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमंगं तथा ....। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। ... तदस्य द्वितीयं जन्म॥

ऐ. उ. अ. २।१

(यत् रेतः) जो यह रेत — वीर्य — है, वही (पुरुषे गर्भः) पहिले पुरुष में गर्भ होता है, (तत् एतत्) वह यह वीर्य (सर्वेभ्यः अंगेभ्यः) सब अंगोंसे (संभूतं तेजः) इकठ्ठा हुआ तेज ही है। वह (आत्मनि एव आत्मना) अपने अंदर ही अपने आपको (बिभर्ति) धारण करता है। जब (तत्) वह रेत स्त्री में सिंचन किया जाता है, तब (अस्य प्रथमं जन्म) इसका पहिला जन्म होता है। पश्चात् वह वीर्य (स्त्रिया आत्मभूयं) स्त्रीके शरीरके साथ अपनासा — अपने अंग जैसा — बन जाता है। ... . उस गर्भ का स्त्री धारण पोषण करती है। .... पश्चात् प्रसूत होती है, वह इसका दूसरा जन्म है॥

संपूर्ण अंगोंका तेज।

इसमें वीर्यका वर्णन किया है। हरएक अंगमें एक प्रकार का तेज होता है, उस प्रत्येक अंगके तेज का अल्प अंश इकठ्ठा होकर जो सारभूत तत्व बनता है, वही वीर्य का बिंदु है! अर्थात् इस वीर्यबिंदु में हरएक अवयव, अंग, और इंद्रियका साररूप तेज है, इसी लिये इस वीर्यबिंदुके विकास से पिताके समान देह बन जाता है! इस कारण इस देहका पहिला जन्म पिताके देहसे जो वीर्य मातृगर्भाशय में जाता है उस समय होता है, और दूसरा जन्म माताके गर्भाशयसे बाहिर आनेके समय होता है।

माताके देह में जो शरीर बनता है, उस देहमें आत्माका प्रवेश शिर स्थानीय "विदृति" द्वार से होता है। इस आत्मा के साथही साथमें अन्य देवताएं भी आकर स्वकीय नियत स्थानमें विराजती हैं। इस बातका विचार इससे पूर्व हो चुका है। इस प्रकार पाठक भी ऐतरेय उपनिषद् के पूर्व खंडोंके कथन के साथ इस खंडके कथन की तुलना करते जांय। और इस रहस्य बातका अनुभव अपने अंदर

करते जांय । अब इस आत्माकी मुक्तता होनेका विचार निम्न प्रकार अग्रिम खंडमें किया है —

आत्मा की मुक्ति ।

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गंधानाजिघ्रति ; येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चाऽस्वादु च विजानाति, यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्, संज्ञानमाज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुरसुः, कामो, वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवंति । एष ब्रह्मैष इन्द्र, एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः .... सर्वं प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं, प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ स एतेन प्राज्ञेनात्मना ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् ॥ ऐ० उ. अ. २ । २

" यह कौन है जिसकी हम आत्माके नामसे उपासना करते हैं ? कौनसा वह आत्मा है ? जिससे देखता है, सुनता है, सूंघता है, वाणी का उच्चार करता है, स्वादु तथा अस्वादु को जानता है, यह हृदय और यह मन, संज्ञान, (आज्ञान) आज्ञा, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, (जूति) वेग, स्मृति, संकल्प, क्रतु, (असु) प्राण, काम और (वश) स्वाधीनता ये सब ही प्रज्ञान के नाम हैं ! यह ब्रह्मा, यह इंद्र, यह प्रजापति ये सब देव हैं... यह सब प्रज्ञाके नेत्र से युक्त हैं । यह प्रज्ञानपर ही ठहरा है, सारा लोक प्रज्ञानेत्र वाला है, प्रज्ञान पर ठहरा है, प्रज्ञान ब्रह्म है । वह प्राज्ञ आत्माके द्वारा इस लोक से ऊपर चढकर उस स्वर्गमें सारी कामनाओंको पाकर अमर होगया । "

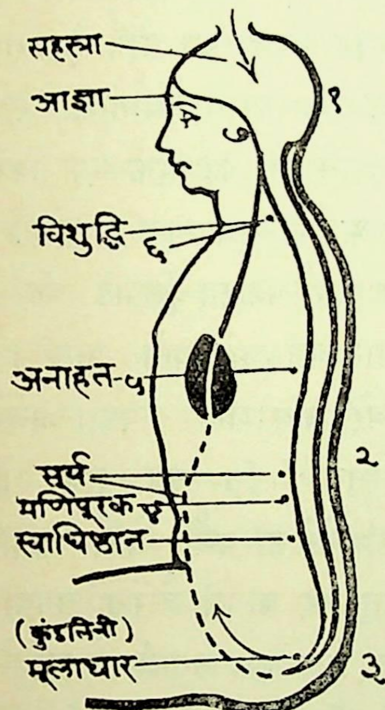
इसमें प्रारंभ में आत्माका स्वरूप बताकर अमर होनेका मार्ग बताया है । जिसकी शक्ति से दिखाई देता है, सुनाई देता है, तथा अन्य कार्य किये जाते हैं, वह आत्मा है । इसीका चित् स्वरूप है, इसलिये यही ज्ञान वाला अतएव " प्रज्ञान " है । संज्ञान आदि इसीके नाम हैं । यही ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति आदि नामसे वेदमें प्रसिद्ध है । यह जान कर प्रज्ञानरूप आत्मासे इस लोक से ऊपर उठकर, उस स्वर्ग लोकमें सब इच्छाओंकी तृप्ति करके, अमर होना चाहिये, यह उक्त उपनिषद् का तात्पर्य है ।

अब देखना चाहिये कि इस उपनिषद्वाक्य का भावार्थ क्या है । जिसकी शक्तिसे आंख देखता है, कान सुनता है वह आत्मा है, इस विषयमें कोई शंका नहीं; सर्वत्र उपनिषदों में यही कहा है । विशेष कर केनउपनिषद के प्रथम खंड में यही विषय स्पष्ट हुआ है । अतः आत्माका स्वरूप इस प्रकार ज्ञात हुआ और उसकी शक्ति की भी कल्पना हुई । अब बात रही कि, इस आत्माको (१) **ऊपर उठाना** (२) **स्वर्ग धाममें पहुंचाना** और (३) **अमर करना**, किस रीतिसे हो सकता है?

किस प्रकार यह ऊपर उठाया जा सकता है, किस रीतिसे स्वर्ग में पहुंचता है और किस रीतिसे अमर होता है, यह विचार करना है। इस विचार के लिये इसके आनेके मार्गका विचार अवश्य करना चाहिये।

नंदन वन।

विदृति द्वार।



इसी लेख में बताया ही है कि संपूर्ण देवोंके अंशोंके साथ यह आत्मा इस शरीरके अंदर " विदृति " द्वार से आगया है। इस द्वार से अंदर आकर मस्तिष्कमें रहा है। शरीर में गुदासे नाभितक का प्रदेश भूलोक, बीचका प्रदेश अन्तरिक्ष लोक और हृदयसे ऊपर का मस्तिष्क प्रदेश स्वर्गधाम है। अतः पूर्वोक्त विदृति द्वार से अंदर प्रविष्ट होते ही यह स्वर्ग के उद्यान में रहता है, इसीका नाम पूर्वोक्त उपानिषद् वाक्य में " नांदन " कहा है, यही नंदन वन है। स्वर्ग, बहिश्त, नंदनवन आदि सभी नाम इसी स्थान के हैं। यहां ही कल्पना का " **कल्प-वृक्ष** " है और कामना पूर्ण करनेवाली " **काम-धेनु** " है। पूर्वोक्त उपनिषद्वचन में इस बातके सूचक " **सं-कल्प** तथा **काम** " शब्द अवश्य देखिये। इस प्रकार यह इस " **नवद्वार पुरी** " का सम्राट् आत्माराम इस नंदनवनमें विराजता है। यह स्थान अत्यंत प्रकाशपूर्ण है, जिस प्रकाश का सादृश्य जगत् में कोई भी पदार्थ नहीं बता सकता। यहां से यह आत्माराम नीचे उतरने लगता है। सीढी इसके लिये तैयार रहती है, यही पृष्ठवंशका मार्ग है। अथवा स्वर्नदी के प्रवाह से यह नीचे उतरने लगता है। दोनों का भाव एक ही है, क्यों कि पृष्ठवंश के अंदर से आनेवाले मज्जाप्रवाह का नाम सुषुम्ना, स्वर्नदी स्वर्गगंगा आदि है। और पृष्ठवंश में अनेक ग्रंथीयां हैं, उनको ही संकेतसे पौडीयां भी कहते हैं। इस स्थान से उतरनेके समय मस्तिष्कसे नीचे कंठमें प्रथम आता है, और वहांसे नीचे उतरनेका प्रारंभ होता है।

चक्रव्यूहमें प्रवेश।

उतरना आसान है, गिरना सुगम है, पतन विना यत्न हो जाता है, इस प्रकार इसका नीचे आना भी आसानीसे हो जाता है। उपनिषद् में कण्ठ, हृदय और नेत्र ये तीन स्थान इसके बताये हैं। " विदृति " द्वार से यह उक्त मार्ग से कण्ठमें आता है, और वहांसे और नीचे उतरता है। स्वर्ग धामसे " बाबा

आत्म " का पतन होने लगता है, इस समय प्रत्येक निचली सीढीपर उसको अनुभव होता है कि " **मैं अधिक प्रकाश के स्थान से न्यून प्रकाशके स्थान में जा रहा हूं।** " परंतु अब उस विचार के आधीन नहीं रहा, कि फिर लौटना। क्यों कि " **चक्रव्यूह में प्रवेश करना और वहां युद्ध करना अभिमन्यु जानता था, परंतु चक्रव्यूह से वापस लौट आना अभिमन्युसे नहीं हुआ। इस लिये वह उसी चक्रव्यूह में मारा गया!!! चक्रव्यूह में जाना, वहां युद्ध करना और विजय प्राप्त करके फिर उसी मार्ग से वापस आना, यह बडा बिकट कार्य केवल एक ही वीर विजय अर्जुन ही जानता था।** " इस महाभारतीय कथाका स्मरण यहां पाठक अवश्य रखें, क्यों कि प्रचलित विषयमें हमारा आत्मा भी इस शरीर रूपी अष्टचक्रोंसे युक्त चक्रव्यूह में घुस रहा है। और देखना है कि, इसका आगे जाकर क्या बनता है।

प्रत्येक सीढीपर नीचे उतरते ही उसको अनुभव हो रहा है कि पूर्व के समान वहां प्रकाश और ज्योति नहीं है। इस का अनुभव करता हुआ, यह वीर नीचे उतरता है, इस विचार से नीचे उतरता है कि, आगे क्या है यह देखें गे। इसको आशा होता है कि, आगे इससे भी अधिक उत्तम अवस्था प्राप्त होगी !!!

परंतु यह स्वर्गसे गिरा है, इसको अब आसानी से स्वर्गधाम कैसा मिलगा? स्वर्गसे भ्रष्ट होते ही स्वर्गका द्वार बंद किया गया है, और जैसा जैसा यह आगे बढता है, वैसे वैसे ऊपर जानेके किवाड बंद हो रहे हैं, इसका इसको पता ही नहीं!!! अंतमें आकर यह इस चक्रव्यूह में फंसता हुआ मूलाधार चक्रमें प्राप्त होता है। वहां मूलशक्ति भुजंगी पार्वती दुर्गा देवी ईश्वरी उमा से मिलता है और उसके सौंदर्य से उसके आधीन होजाता है। इतनेमें वह भगवती देवी ऊपर जानेका द्वार बंद करती है। यहां इसका प्रकाश का मार्ग बंद होता है।

जो प्रकाश ऊपरसे अर्थात् शीर्ष स्थानीय ब्रह्म लोकसे आता है, वह एक एक किवाड बंद होने के कारण न्यून न्यून ही होना जाता है और मूलाधार चक्रका किवाड बंद होते ही वह अंधार मय आकाशमें प्राप्त होता है। इसी अंधेरे आकाशमें वापस जानेके समय इसी पराभूत " **इंद्र को उमा देवी का दर्शन** " होनेका वर्णन **केन उपनिषद्** में है। परंतु वह वापस जानेके समय का वर्णन है। उक्त बात का अनुसंधान करनेसे पाठकोंको केनोपनिषद् के कथन की भी सत्यता ज्ञात हो सकती है। अस्तु।

इस मार्ग -- अर्थात् यहां के अज्ञात मार्ग से वह नाभिस्थान में पहुंचता है। और हृदयमें नाभिसे ऊपर चढ कर आता है। ऐतरेय उपनिषद्में इसका जो हृदय स्थान बताया है, वह यहां उसको प्राप्त होता है। यहां से जो नाडी ऊपर मास्तिष्क तक जाती है, उसके द्वारा वह मास्तिष्कमें फिर जाता है, और वहां नेत्रमें रहकर बाहिरकी सृष्टिको देखता है, नासिकामें आकर सुगंध लेता है, मुखमें आकर

जिह्वासे स्वाद लेता है, कानमें आकर शब्द सुनता है, इसप्रकार यह दुनयवी मौजें करने लग जाता है ! मस्तिष्क के जिस प्रदेशमें अब यह रहता है, वह उसका कैद खाना है। पाठक यहां स्मरण रखें, कि मस्तिष्कमें जो इसका स्वर्ग धाम था, वह इसके लिये अब बंद हुआ है। यद्यपि इस समय यह मस्तिष्कमें ही आया है, तथापि पांचों पशुओंके आधीन होने के कारण गुलामी की अवस्थामें यह यहां रहता है !!! जिस समय यह अब आये हुए मार्ग से वापस जायगा, और अपने प्रयत्नसे सब द्वारों को खोल कर स्वतंत्रतासे अपने पूर्व अनुभूत स्वर्गधाम में पहुंचेगा, और स्वकीय इच्छासे वहां आना जाना संभव होगा, तब ही इसको " **स्व--तंत्र** " अर्थात् बंधनसे निवृत्त अत एव मुक्त कहना संभव होगा । नीचे गिरनेका यह फल है। **गिरना आसान है, परंतु उठना कठिन है !**

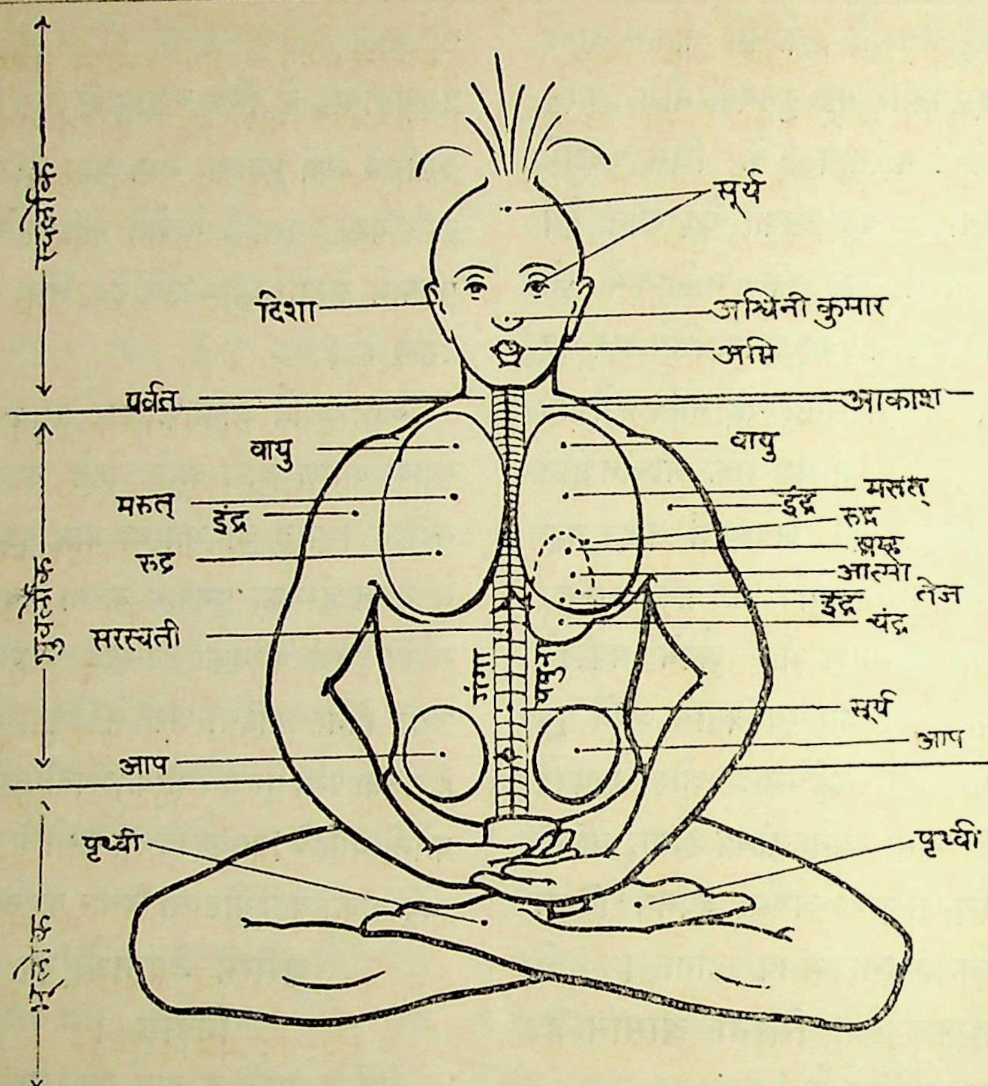
पुरुषार्थ का अवसर।

गिरना निःसंदेह बुरा है, परंतु गिर जानेसे ही ऊपरली अवस्थाका मूल्य जाना जाता है। परतंत्रता में आने से ही " **स्वातंत्र्य** " की श्रेष्ठताका पता लगता है, गुलामीसे ही स्वाधीनताके सुख का महत्त्व है। अथवा यौं कहिये, कि गिरने की संभावनाके पश्चात् ही उठनेका पुरुषार्थ होता है, परतंत्र अवस्थामें स्वाधीनता की प्राप्तिके परम पुरुषार्थ किये जाते हैं। तथा जो स्वाधीनता के लिये पुरुषार्थ करते हैं, उनका यश बढता है। सब लोग इन महात्माओंकी प्रशंसा करने लगते हैं। यदी गुलामी, पराधीनता अथवा पतित अवस्था ही न होगी, तो पुरुषार्थीयों के लिये यशःप्राप्ति किस से होगी? इसलिये सच्चे महात्मा लोग प्राप्त कठिनता से डरते नहीं, गुलामी में रोते नहीं रहते, परंतु पुरुषार्थ करके ऊपर उठते हैं, और दूसरोंको उठाते हैं।

अतः अपने आत्माकी इस पराधीन अवस्थाके कारण दुःख करते बैठने का अवसर नहीं है। परंतु जो अवस्था प्राप्त हुई है, उस से उन्नत होनेका पुरुषार्थ करना चाहिये । सदा पुरुषार्थ करनेका उत्साह धारण करके उद्यत होना चाहिये, अपने से जितना हो सकता है, उतना परम पुरुषार्थ करके, अपनी उन्नति साध्य करनी चाहिये। इसका विचार करने के पूर्व अपनी अवस्थाका यहां थोडासा विचार करना है—

शरीरमें देवताओं का निवास ।

ऐतरेय उपनिषद् तथा अन्य उपनिषद्, तथा वेद मंत्र और ब्राह्मण वाक्योंके उपदेशसे जो देवताओं के स्थान का निश्चय होता है, वह इस चित्रमें बताया है । इसचित्रमें देखकर अपने देहमें—इस **नवद्वारयुक्त अ-योध्या नगरी में—इस द्वारवती में**— कहां कौनसी देवता निवास करती है, इसका पता लग सकता है। इस देहमें तीनों लोक कहां हैं, यह भी इसी चित्रमें देखिये। तथा विशाल जगत् का छोटासा चित्र अपने अंदर ही जाननेका यत्न कीजिये। वैदिक धर्मका तत्त्व समझने के लिये इस अनुभव की अत्यंत आवश्यकता है।



जगत् के अंदर परमपिता है और इस देहमें आपका आत्मा है, जगत्में अग्नि वायु रवि आदि तेतीस देवताएं हैं, आपके देहमें भी उनके तेतीस अंश आकर रहे हैं, अर्थात आपके देहमें अंशरूप तेतीस देवताएं निवास कर रहीं हैं। इ। सब बीज रूप दैवी शक्तियों का तथा अपनी आत्मशक्तिका भी यथोचित विकास करना इस समय आपका "**परम धर्म**" है।

इस चित्रमें थोडीसी देवताएं बताई है, परंतु वहां सब तेतीस देवताओं की कल्पना करनी चाहिये। क्यों कि यह शरीर त्रिलोकी की छोटीसी प्रतिमा है। इसलिये त्रिलोकीमें जितनी देवताएं हैं, उनके सब प्रतिनिधि अंशरूपसे इसमें आगये ही हैं।

यह "**प्रातिनिधिक राज्यशासन संस्था**" है, इसका यहां अनुभव कीजिये। मानवी संस्थाओंमें प्रतिनिधि चुननेका अधिकार कइयोंको होता है और कइयोंको नहीं होता। उस प्रकार का बहिष्कार इस आध्यात्मिक प्रातिनिधिक संस्था में नहीं है। वेदके द्वारा इस प्रकारके प्रातिनिधिक राज्य शासन संस्थाका उपदेश ऋषियोंको प्राप्त हुआ था, जिसमें सब के प्रतिनिधि चुने जानेका ही उपदेश

प्रधान स्थान रखता था । काला, गोरा, पीला, लाल अथवा गन्नमी रंगके कारण किसी प्रकार का भेदभाव यहां उत्पन्न होनेकी संभावना ही नहीं है !! वैदिक आदर्शकी उच्चता यहां पाठक अनुभवमें देख सकते हैं । यदि इस समय वैदिक धर्मीयोंके अंदर भेदभाव आगया है, तो वह वैदिक धर्म की जागृति न होने के कारण ही है । अस्तु । इस प्रकारके कई बोध पाठकोंको यहां मिल सकते हैं ।

अपनी आत्मशक्तिका ध्यान ।

उक्त प्रकार अपने देहको विशाल जगत् की छोटीसी प्रतिमा और अपने आपको परमात्माके अमृत बीज से युक्त "**अमृत-पुत्र**" समझिये । इसी बातका ध्यान कीजिये, और कभी यह भाव अपने मनसे हटने न दें। इसीमें आत्मशक्ति की जागृति है , अपने आपको "**अमृत-पुत्र**" अनुभव करनेका यही एक "**वैदिक-मार्ग**" है । इस बातसे निम्न मंत्रों का अनुभव आप कर सकते हैं --

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ
त्रयश्च त्रिंशच्च । मनोर्देवा यज्ञियासः ॥
ऋ. ८ । ३० । २

" इस प्रकार (मनोः देवाः) मनुष्यके अंदरके देव हैं जो (यज्ञियासः) पूजनीय तथा (रिशादसः) बुराईका नाश करनेवाले (त्रयः-त्रिंशत्) तेतिस देव हैं । " यह इस मंत्रका तात्पर्य देखने और विचार करने योग्य है । ये तेतिस देव (मनोः देवाः) मनुष्य के अंदर हैं, जैसा कि पूर्वोक्त चित्रमें बताया है । उस चित्रमें वास्तवमें संपूर्ण देवताओंका स्थान निर्देश करना आवश्यक है, तथापि स्थान अल्प होनेके कारण सबको चित्रित करना कठिन हुआ । परंतु पाठक इस रीतिसे अन्य देवताओंकी कल्पना कर सकते हैं ! इस प्रकार अपने आपको देवतामय अनुभव करने के पश्चात् निम्न मंत्रोंका अर्थ स्पष्ट हो सकता है ---

ये देवासो दिव्येकादश स्थ
पृथिव्यामेकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ॥
ऋ० १।१३९।११
य . ७ । ३९

" पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यु लोक में अर्थात त्रिलोकी में --- प्रत्येक में ग्यारह सब मिलकर -- तेतीस देव हैं । " यह वर्णन अध्यात्मपक्षमें अपने अंदर भी पूर्वोक्त प्रकार देखा जाता है । इसी प्रकार ---

ये देवा दिव्येकादशस्थ० ॥ ११ ॥
ये देवा अंतरिक्ष एकादश स्थ० १२॥
ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ. ॥१३॥
अथर्व १९ । २७

त्रिलोकीके साथ तेतीस देव जिनका वर्णन इस प्रकार के सेंकडों मंत्रोंमें हुआ है, उनका अपने अंदर अनुभव इसी रीति से होता है । और यह अनुभव करना वेदको अभीष्ट है । पाठक देख सकते हैं, कि वेदका उपदेश अनुभवमें आनेसे अपनी शक्तिका पता लगता है । जो मनुष्य अपने आप को हीन और दीन समझता था, यदि उसको वेदका ज्ञानामृत पिलाया जाय, तो उसकी हीन वृत्ति लोप हो जायगी, और वह अपूर्व आत्मिक बलसे युक्त होगा।

अपने अंदर तेतीस देवताओंका अनुभव।

इतना विवेचन देखनेके पश्चात् अब निम्न मंत्र देखिये —

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ॥ २३ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥ तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

अ. १० । ७

" जिसके अंगमें सब तेतीस देव रहे हैं। जिसका खजाना तेतीस देव सुरक्षित रखते हैं। जिसके अंगके गात्रोंमें तेतीस देव रहे हैं। उन तेतीस देवोंको अकेले ब्रम्हज्ञानी ही जानते हैं। "

यह वर्णन परमात्मा परक होते हुए भी उसके अमृतपुत्र में किस प्रकार घट सकता है, यह बात अब स्पष्ट होगई है। इसीलिये वेदमें कहा है, कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥

अ. १०।७।१७

" जो इस पुरुषके देहमें ब्रह्मको देखता है, वही परमेष्ठी प्रजापतिको जानता है। " परमात्मा की कल्पना ठीक प्रकार होने के लिये अपने अंदर वेद मंत्रोक्त उपदेशका अनुभव आना आवश्यक है। उस अनुभवको प्राप्त करनेकी रीति इस लेखमें बताई है। अब ऐतरेय उपनिषद् के वचन का अपने अंदर अनुभव देखने के लिये निम्न वेदमंत्र देखिये —

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे। अ. ११।८।३१

" सूर्य चक्षु बनकर तथा वायु प्राण बनकर इस पुरुष की सेवा कर रहे हैं। " तथा—

सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
शरीरं ब्रह्म प्राविशत्॥३०॥

अ. ११ । ८

"सब मर्त्य को भिगोकर देव पुरुषमें घुसे हैं ॥ मर्त्य घर बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ वीर्य का घी बना कर देव पुरुषमें आगये हैं ॥ शरीरमें ब्रह्म प्राविष्ट हुआ है ॥"

इन मंत्रों में " **मर्त्यं, गृहं** " ये शब्द इस शरीरके वाचक हैं; " पुरुष " शब्द मनुष्य वाचक है। " **रेत का घी बनाकर देव इस पुरुषमें घुसे हैं,** " इस मंत्रभागमें तो स्पष्ट है कि, रेतसे बनने वाले — रजवीर्यसे उत्पन्न होनेवाले — इस देहमें सब देव आकर रहे हैं। इसीलिये निम्न मंत्रमें कहा है—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

अ.११।८

" इस लिये (पुरुषं विद्वान्) इस पुरुषको यथावत् जाननेवाला ज्ञानी इसको (इदं ब्रह्म) यह ब्रह्म अर्थात यह बडा शक्तिशाली है, ऐसा (मन्यते)मानता है, (ही) क्यों कि (सर्वाः देवताः) सब देवताएं, (गावः गोष्ठे इव) गौवें गोशालोंमें इकठ्ठी रहने के समान, (अस्मिन्) इसमें रहतीं हैं ।

मनुष्य के देहके अंदर अर्थात् जीवित देहके अंदर सब देवताएं रहती हैं, और उनका मुख्य अधिष्ठाता आत्मा है, यह बात इस प्रकार वेद मंत्रों के प्रमाणों से स्पष्ट हो गई है । अपनी आत्मिक उन्नति करने के विचार में इस ज्ञान की बडी ही उपयोगिता है । उपनिषदों के रहस्य का विचार करनेके समय इसप्रकार वेद मंत्रोंकी सहायता होती है । वास्तवमें देखा जाय तो वेद मंत्रोंका आशय लेकर ही उपानिषदोंकी रचना हुई है । इसलिये हरएक उपनिषद् के प्रत्येक कथन का विचार करने के समय वेद मंत्रोंकी संगति लगाकर ही देखना चाहिये । और दोनोंकी संगतिसे ही अर्थका निश्चय करना चाहिये । अस्तु । यहां हमने देखा, कि अपने शरीर में शक्तियोंका निवास है, यह ज्ञान प्राप्त होनेसे किस प्रकार अपनी योग्यता ठीक ठीक ज्ञात हो सकती है । इतना ज्ञान होनेके पश्चात् अपनी उन्नतिका मार्ग अतना सुगम हो जाता है ।

उन्नतिका उपाय ।

शक्तियां बीजरूपसे अपने अंदर हैं, इतना केवल ज्ञान होने से सिद्धि नहीं मिल सकती, सिद्धिके लिये अनुष्ठान अत्यावश्यक है । इस की रूपरेखा अब थोडीसी बतानी है ।

बंधनमें पडा हुआ आत्मा मस्तिष्कमें बैठता है, और जागृतिके व्यवहार करता है, तथा विश्राम लेने के लिये हृदय में आता है । आत्मा का मस्तिष्कमें निवास " प्रवृत्ति " का दर्शक है और हृदय में निवास "निवृत्ति"का सूचक है । मस्तिष्कसे हृदयमें आना भी इस विचारके आधीन नहीं है । शरीर थक जानेसे इसको परवश होकर हृदयमें आना ही पडता है । इसका मस्तिष्कमें निवास जागृति बताता है, और सुषुप्तिमें यह हृदयमें आता है । जिस समय यह स्वशक्तिसे हृदयमें उतरेगा, उसी समय उसको समाधि सिद्ध होगी । स्थान वही है, परंतु स्वाधीनतासे वहां पहुंचनेपर समाधि, और परवश होकर पहुंचनेसे निद्रा, इतना भेद हो जाता है । देखिये स्वाधीनता और पराधीनतामें कितनी भिन्नता है !!!

मस्तिष्कमें रहता हुआ यह आत्मा पंच ज्ञानेंद्रियोंसे मिलकर नाना भोग भोगता है, और मौजें उडाता है ! परंतु इन मौजोंमें उसको वह आनंद नहीं मिलता, कि जो वह चाहता है । इन इंद्रियों के साथ इसकी वृत्ति सदा चंचल रहती है, कभी यह सुगंध लेता है, कभी शब्द सुनता है और कभी रूप देखने लग जाता है । हरएक इंद्रियके साथ भला और कभी बुरा भाव भी लगा ही होता है । इसप्रकार वृत्तिकी चंचलता होनेके कारण इसको क्षणमात्र भी आराम नहीं मिलता, इसलिये इस समय इसको दो उपाय करने चाहियें—

(१) सबसे प्रथम बुरे भावोंसे मनको हटाना और केवल अच्छे भावों और अच्छे कर्मोंमें ही उसको लगाना ।

इतना होनेसे आधा झंझाट इसके पीछेसे हट जाता है । वेदमें —

" **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम ।** "

(ऋ० १।८९।८)

" कान आदि इंद्रियोंसे हम सदा अच्छी बातें सुनें । " यह उपदेश तथा इसप्रकार का अन्य उपदेश इस मार्ग का द्योतक है । इसके पश्चात् —

(२) मनको एक ही सद्विषयमें लीन करके एकाग्र करना ।

इससे चित्तकी सब व्यग्रता दूर होती है और जितनी एकाग्रता सिद्ध होती जायगी, उतना इसको आत्म शक्तिका अनुभव होने लगेगा । व्यग्रता की अवस्थामें जो अपने आपको अत्यंत निर्बल समझता था, वही अब एकाग्रताकी सिद्धि मिलनेके बाद अपने आपको " **शक्तिका केंद्र** " अनुभव करने लग जाता है !!! प्रकाशके मार्गका आक्रमण प्रारंभ होते ही यह अपूर्व लाभ उसको होता है । इसको प्रकाशका मार्ग इसलिये कहते हैं कि इसमें " **प्रकाश दर्शन** " स्पष्ट रूपसे होता है । एकाग्रता सिद्ध होनेके पश्चात् प्रकाश दर्शन तथा अन्य अनुभव भी होने लगते हैं ।

एकाग्रताका अभ्यास सिद्ध होते ही यह अपनी स्वाधीनतासे हृदयमें उतर सकता है और वहांके अनुभव ले सकता है । हृदय स्थानमें जो प्रकाशपूर्ण स्वर्गधाम है वह इस समय दिखाई देता है, इसका वर्णन वेदमें निम्न प्रकार आता है —

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ अ. १०।२।३१

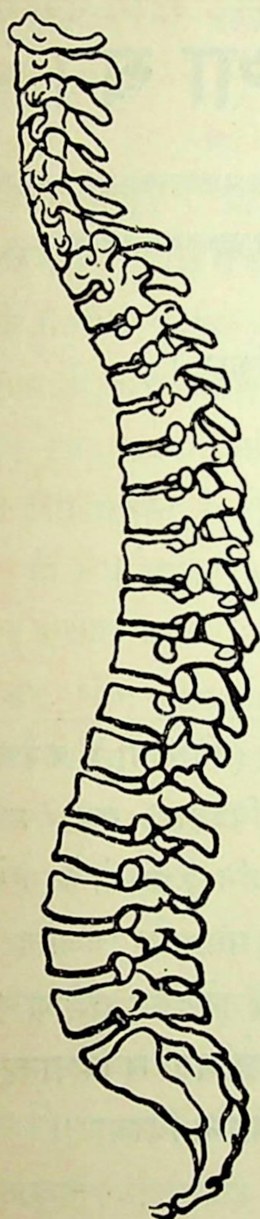
आठ चक्र और नौ द्वारों वाली यह देवोंकी अयोध्या नगरी है, उसमें सुवर्णमय कोश, तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग ही है । " इसी हृदयाकाशमें वह पहुंचता है और उसको तेज का अनुभव मिलता है ।

प्रकाशका मार्ग ।

आगे प्रकाशके मार्ग में ही अपने आपको रखना चाहिये । अर्थात् अपनी चित्तकी स्थिरता उसी प्रकाशमें करनी चाहिये, जिससे आगेका पथ स्वयं विदित होजाता है । सदा प्रकाशमें यह रहता है, इसलिये इस मार्गको "**आर्चिरादि मार्ग** " अर्थात् प्रकाशादि मार्ग कहते हैं । इसी प्रकाशमें चित्त की स्थिरता करने और दूसरे किसी में ध्यान न देनेसे यह आये हुए मार्गसे फिर हृदयसे नाभिमें उतर कर वहांसे मूलाधार चक्रमें पहुंचता है । यहां इसको उमा देवीका दर्शन होता है और वह सुषुम्ना मार्गसे ऊपर चढने लगता है । इस पर्वतारोहणसे कैलास शिखर पर पहुंचता है । इस समय उसको इतनी शक्ति आती है, कि जिस समय चाहे वह पूर्वोक्त " **विद्दतिद्वार** " से अर्थात् सिरको फाड कर बाहिर निकलता है, इस समय बडा आवाज भी होता है । सब शरीर स्वाधीन करके योगसे तनुका त्याग करना इसीको कहते हैं ।

पृष्ठ वंश ।

(पर्व-वान् = पर्वत)



आजकल संन्यासियों की परंपरामें इस का-प्रतिनिधिभूत एक उपाय करते हैं, वह यह है, कि जिस समय संन्यासी मरने लगता है अथवा जिस समय उसका प्राण चला जाता है, उस समय " **शंख से उसका सिर फाड देते हैं ।** " और समझते हैं, कि ऐसा करने से वह मुक्त हुआ!! परंतु यह मूल बातका उपहास मात्र है!!! अपनी शक्तिसे विद्दतिद्वार खोलकर बाहिर जाना और बात है, तथा दूसरोंने शंख से मस्तक तोडना और बात है । अस्तु इस प्रकार यह प्रकाशके मार्ग का महत्व है । सब तत्त्वज्ञानके ग्रंथोंमें कहा है कि इस मार्गसे उक्तप्रकार जानेवालों को पुनर्जन्म नहीं होता । अस्तु ।

पूर्व स्थलमें पृष्ठवंशका चित्र दिया है । इसी को " पर्वत" कहते हैं, क्यों कि इसमें "पर्व" होते हैं । जिस प्रकार बांसमें पर्व होते हैं,इसी प्रकार इसमें हैं । " पर्व " होने के कारण ही इसको " (**पर्व-वत्**)**पर्वत** " कहते हैं । इसीमें अनेक ग्रंथियां हैं और कई प्रकार के शक्ति केंद्र हैं । अथर्व श्रुतिमें आठ चक्र कहे हैं वे इसीमें हैं । इसका वर्णन किसी अन्य प्रसंग में किया जायगा । इसीको पर्वत, हिमवान् कैलास, गिरि, आदि नाम हैं ।

उपनिषद् के रहस्य की बात जो इस लेख में विशेष प्रकार से कहनी थी, वह उक्त वर्णन से बताई है । अपने अंदर देवताओं के अंशोंका निवास है, और मैं उनका अधिष्ठाता हूं, यह मुख्य बात इसमें है । इसका विस्तार बहुत ही होना संभव है, उसका विचार किसी अन्य प्रसंगमें होगा । यहां इतनाही पर्याप्त है ॥



वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

(लेखक — श्री. पं. धर्मदेव सिद्धान्तालंकार ।)

द्वितीय सिद्धान्त ।

सार्वभौम नियम ।

परमेश्वर की सर्वज्ञता का सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि, इस विषय में वेदमन्त्रों का प्रमाण देने की कुछ भी विशेष आवश्यकता नहीं। तथापि तीन चार मंत्र यहां उद्धृत किये जाते हैं, जिससे इस के बारे में सन्देह न रहे।

ऋग्वेदका प्रमाण ।

(१) ऋ. १०।८२।३ जिस का आधा अंश पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, ईश्वर की सर्वज्ञता का स्पष्टतया प्रतिपादन करता है, यथा —

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

ऋ. १०।८२।३

अर्थात् जो ईश्वर हम सब का पिता उत्पादक और (विधाता) कर्मफल देनेवाला है, वही (विश्वा) सब (धामानि) कर्म तथा (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है। इसी का पाठान्तर यजुर्वेद में —

यजुर्वेदका प्रमाण ।

स नो बंधुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

यजु. ३२।१०

इस रूप में पाया जाता है, जिसके अन्दर ऊपर दिया हुआ भाव समान ही है।

अथर्व वेदका प्रमाण ।

(२) अथर्व वेद चतुर्थ काण्ड के १६ वें सूक्त के अन्दर ईश्वर की सर्वज्ञता का अत्यन्त उत्तम काव्यमय वर्णन है। उसमें से निम्न लिखित दो तीन मन्त्र विशेष द्रष्टव्य हैं। इस सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है।—

यास्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मंत्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अ. ४।१६।२

अर्थात् (यः तिष्ठति) जो खडा होता है (चरति)चलता है, (यश्च वंचति) जो धोखा देता है, (यो निलायं चरति) जो अपने को छुपाकर घूमता है, (यः प्रतङ्कम्) जो दूसरे को कष्ट देकर इधर उधर जाता है, (द्वौ संनिषद्य) दो मित्र शान्ति से बैठ कर (यत्-मंत्रयेते) जो गुप्त सलाह करते हैं, (तत्) उस सबको (तृतीयः वरुणः) तीसरा सर्वश्रेष्ठ (राजा) ईश्वर (वेद) जानता है । अभिप्राय यह है कि,उस सर्वज्ञ सर्व व्यापक से जिसके विषय में अगले ही मंत्र में कहा है कि "**उतासिन्नल्प उदके निलीनः**" वह समुद्रों के अन्दर और इस थोडे से जलके अन्दर भी वही छिपा हुआ है । कोई भी अपने को गुप्त रख नहीं सकता । परमेश्वर को सर्वज्ञ सर्व व्यापक समझने से ही मनुष्य अपने को सब पाप व्यवहारों से दूर रख सकता है ।

(३)

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ॥

अथर्व . ४।१३।५॥

अर्थात् (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) पृथिवी और द्युलोक के अन्दर है, और (यत् परस्तात्) जो कुछ इन लोकों से परे है , (राजा वरुणः) सर्वोत्तम परमेश्वर (तत् सर्वं विचष्टे) उस सब को जानता है । इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक समझकर अब सर्वज्ञ ईश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, उन का थोडासा विचार किया जाता है । इन अटल नियमों को वेद में प्रायः "**ऋत और सत्य**" के नाम से कहा गया है । प्राकृतिक जगत् के अन्दर कार्य करने वाले अटल व्यापक नियम "**ऋत**" और आध्यात्मिक जगत् के अन्दर काम करने वाले नियमों को प्रायः "**सत्य**" नाम से बताया गया है। इस विषयमें ऋग्वेदका प्रसिद्ध मन्त्र —

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत ।

ऋ. १०।१९०।१

विशेष विशेष विचारणीय है, जिस का अभिप्राय यह है कि (ऋतं च सत्यं च) भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में काम करने वाले नियम (अभीद्धात्) सब तरफ से प्रकाशमान (तपसः) सर्वज्ञ परमेश्वर (अध्यजायत) उत्पन्न हुए । तप के इस अर्थ के लिये—

"**यस्य ज्ञानमयं तपः**"

यह मुण्डकोपनिषत् का वचन प्रमाण है । इस प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में अटल नियम संसार में कार्य कर रहे हैं, यह वेद मंत्र का स्पष्ट भाव प्रतीत होता है ।

इन अटल नियमों का पालन करने से ही मनुष्य को सच्चा कल्याण प्राप्त हो सकता है,यह बात वेद में---

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतंयते । नात्रावखादो अस्ति ।
ऋग्वेद १।४१।४

इत्यादि मंत्रों द्वारा स्पष्ट की गई है,। जिस का अभिप्राय यह है कि, (ऋतंयते) परमेश्वर के बनाये हुए अटल नियम के अनुसार चलनेवाले के लिये (सुगः) सुगम (अनृक्षरः पन्थाः) निष्कण्टक मार्ग हो जाता है, (आदित्यासः) हे आदित्य ब्रह्मचारियो ! (वः) तुह्मारे इस शुभ मार्ग में (अवखादः) भय (न) नहीं है, अर्थात् जो लोग परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलते हैं, वेही सुखी होते हैं। इसी भाव को समझने के लिये निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये —

(२)

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वो तो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ।।
ऋ. ३।५९।२ ।।

अर्थात् हे (मित्र) सब के हित करने वाले (आदित्य) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर (यः) जो पुरुष (तव व्रतेन शिक्षति) तेरे अटल नियम से शिक्षा ग्रहण करता है, अथवा उस के अनुसार चलता है , (स मर्तः) वह मनुष्य (प्रयस्वान् अस्तु) कान्ति वा ऐश्वर्य युक्त बनता है । (त्वोतः) तेरे से रक्षित होता हुआ , वह (न हन्यते) न मारा जाता है , (उत) और (न जीयते) न नीच शत्रुओं से जीता जाता है । (एनम्) इस पुरुष को (अन्तितः) समीप से अथवा (दूरात्) दूर से (अंहः) पाप का भय (न अश्नोति) नहीं प्राप्त होता । भावार्थ यह है कि , परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलने में मनुष्य पाप और भय से मुक्त होकर ऐश्वर्य शाली होता है।

(३)ऋग्वेद १।९१।७ का मंत्र इस विषयमें और भी स्पष्ट है अतः यहां उसका उल्लेख करना अनुचित न होगा —

त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते दक्षं दधासि जीवसे ॥ ऋ. १।९१।७

इस मंत्रका म. ग्रिफिथ इस प्रकार अनुवाद करते हैं —

"To him who keeps the law whether old or young, Thou givest happiness and energy that he may live well"

अर्थात् जो ईश्वरीय नियमों का पालन करता है , वह चाहे युवक हो वा वृद्ध , परमेश्वर उसको सुख और शक्ति देता है , जिससे वह अपने जीवन को अच्छी प्रकार व्यतीत कर सके। परमेश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं , जिनके अनुसार कोई भी अपने को बुरे कर्मों के कटु फल से बचा नहीं सकता , चाहे वह कर्म कितना भी छिपकर किया गया हो। यही सुख प्राप्त करनेका सर्वोत्तम साधन है।

देवों अथवा ज्ञानियोंका महत्त्व इसीमें है, की वे उन अटल नियमोंका पूर्ण रीतिसे ज्ञान प्राप्त करते हुए, सदा उनके अनुकूल अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं। कभी वे उन अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं चलते। देखिये वेदका कथन इस विषयमें कितना साफ है —

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासा अनृतद्विषः। तेषां वः सुम्ने सुच्छ-र्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥

ऋ. ७।६६।१३

अर्थात, हे (ऋतावान:) सत्य युक्त (ऋत जाताः) सत्य से उत्पन्न हुए हुए (ऋतावृधः) सत्यकी सदा वृद्धि करने वाले (घोरासः अनृतद्विषः) असत्य के भयंकर विरोधी देव लोगो! हम (नरः) साधारण पुरुष (ये च सूरयः) और जो विद्वान हैं, वे सब (वः) तुम्हारे (सुच्छर्दिष्टमे) अत्यंत सुरक्षित (सुम्ने) आश्रय में (स्याम) रहें।

तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार देव लोग सदा सत्यके व्रतका पालन करने अथवा ईश्वरीय नियमोंके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के कारण सुखी तथा निर्भय होकर विचरण करते हैं, वैसे हम सब भी करें।

दूसरे सिद्धांत के विषयमें इतना ही लेख पर्याप्त है। इन व्यापक नियमोंको जान कर प्रत्येक पुरुषको अपना जीवन पवित्र और सुख मय बनाना चाहिये। जो पुरुष अपने स्वार्थ को सिद्ध करनेके लिये दूसरों को धोखा देता है, अथवा असभ्य व्यवहार करता है, वह कुछ समय के लिये भले ही उन्नत होता हुआ दिखाई दे, किंतु सच्चा सुख उसे कभी प्राप्त नहीं हो सकता। ईश्वरीय नियमोंके विरुद्ध जानेका कडुवा फल उसको एक न एक दिन अवश्यही चाखना पडता है।

तृतीय सिद्धांत।

जीवन का उद्देश्य।

कर्तव्य शास्त्र जिन समस्याओं और गूढ प्रश्नों का उत्तर देने के लिये प्रवृत्त हुआ है, उन में से सब से मुख्य प्रश्न यह है कि, मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय, लक्ष्य वा उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न के विचारकों ने भिन्न भिन्न उत्तर दिये हैं। कई नास्तिक विचारकों ने केवल भोग करने को ही जीवन का उद्देश्य माना है, जैसे चार्वाकादि; कइयों ने ब्रह्मके अन्दर लीन हो जाना, इस को मनुष्य जीवन का आन्तिम उद्देश्य स्वीकार किया है, जैसे अद्वैतवादी; और कई विचारकों ने दुःख से छूट कर निर्वाण प्राप्त कर लेना, यही आन्तिम ध्येय है, ऐसा बताया है, जैसे बुद्ध आदि। यहां इस विषय पर विवाद न करते हुए वैदिक भाव मनुष्य जविन के ध्येय के विषय में क्या है, इस बात का संक्षेप से विचार करना है। इस विषय में निम्न लिखित कुछ मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक है—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमा-

नामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ऋ ९।११३।७

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हे(इन्दो) सर्व प्रकाशक ज्ञान मय परमेश्वर (यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहां निरंतर ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस स्थान अथवा अवस्था में (स्वः) सुख (हितम्) रखा हुआ है (तस्मिन्) उस (अमृते लोके)अविनाशी लोकमें अथवा दशा में उस (अक्षिते) क्षय रहित अवस्थामें, हे (पवमान) सब को पवित्र करने वाले प्रभो (मां धेहि) मुझे धारण करो, (इंद्राय परिस्रव) मुझ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य की वृष्टि करो । ऋग्वेद के इस मन्त्र में निरंतर ज्योति और सुख युक्त अविनाशी लोक में रहना ही मनुष्य जीवन का ध्येय बताया है। इस भाव को और अच्छी प्रकार समझने के लिये इसी सूक्त का अन्तिम मन्त्र देखना चाहिये---

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामा-स्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि-स्रव ॥ ऋ. ९ । ११३ । ११

अर्थात् हे (इन्दो)सब को चन्द्रके समान आह्लाद देने वाले प्रभो ! (यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च)जहां हर्ष और प्रसन्नता है, (यत्र मुदः प्रमुदः आसते) जहां हर्ष और बहुत ही अधिक हर्ष है, (कामस्य)कामना करने वाले जीव की (कामाः)सब कामनाएं (यत्र आप्ताः) जहां सिद्ध हो जाती हैं, (तत्र) उस अवस्था में (माम्) मुझे (अमृतं कृधि) अमर बनाओ (इन्द्राय) सब प्रकार के ऐश्वर्य की(परिस्रव) मेरे ऊपर वृष्टि करो ।

भावार्थ यह है कि दिव्य आनन्द को प्राप्त करना जहां स्थिर आनन्द हो, उस के साथ दुःख का मिश्रण न हो, और जिस प्रकार लौकिक विषय एक के बाद दूसरी,दूसरी के बाद तीसरी, कामना को उत्पन्न कर के पुरुष को अशान्त बना देते हैं, वैसी अवस्था न हो कर, जहां जीव के सब मनोरथ सफल हो जाएं उस अलौकिक आनन्द और शान्ति की अवस्था तक पहुंचना वेद के अनुसार मनुष्य जीवन का ध्येय है ।

(३)इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद १० मण्डल का ३६ वां सूक्त विशेष द्रष्टव्य है । उस में से एक मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है ---

विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः । स्वर्व ज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्यावृणीमहे ॥ ऋ. १० । ३६ । ३

अर्थात् (मित्रस्य)सब के साथ प्रेम करने वाले और (रेवतः वरुणस्य)ऐश्वर्य शाली श्रेष्ठ पुरुष की (माता अदितिः) अदीन स्वतन्त्रता प्रिय माता (नः)हमें (विश्वस्मात् अंहसः) सब प्रकार के पाप से (पातु)बचावे, जिस से हम (अवृकम्)पाप रहित (स्वर्वत्)सुख युक्त (ज्योतिः) प्रकाश (नशीमहि) प्राप्त करें (तत्)उसी ज्योती और सुख को प्राप्त करने के लिये (देवानाम्)ज्ञानियों की (अवः) रक्षा को(अद्य)आज हम (आवृणीमहे)सब ओर से स्वीकार करते और चाहते हैं ।

अदिति शब्द का अर्थ बन्धन रहित परमेश्वर भी हो सकता है, उस दशा में मित्र वरुण शब्दों से सूर्य चन्द्र का ग्रहण किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पाप से निवृत्त हो कर दिव्य सुख और दिव्य ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है। उस आदर्श तक पहुंचने के लिये शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के समविकाश की आवश्यकता है, इस भाव को निम्न लिखित वेद मन्त्र में साफ तौर पर प्रकट किया गया है—

विश्वाहा त्वा सुमनस : सुचक्षसः
प्रजावन्त अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे
ज्योग् जीवाः प्रति पश्येम सूर्यम् ॥

ऋ १०।३७।७

इस मन्त्र में सूर्य पद से न केवल भौतिक सूर्य का किन्तु सर्व प्रकाशक परमेश्वर का भी ग्रहण है, यह सारे सूक्त को देखने से स्पष्ट विदित होता है। हे (मित्रमहः) मित्रों द्वारा पूजनीय परमेश्वर ! हम सब (जीवाः) जीव (विश्वाहा) सदा (सुमनसः) उत्तम मन वाले (सुचक्षसः) उत्तम दृष्टि वाले (प्रजावन्त्त) उत्तम सन्तान युक्त (अनमीवाः) सब रोगों से रहित (अनागसः) सब पापों वा अपराधोंसे रहित हो कर (दिवे दिवे) प्रति दिन (उद्यन्तं त्वा) हृदय में प्रकाशित होने वाले तुझ (सूर्यम्) सर्व प्रकाशक प्रभुको (ज्योग्) चिर काल तक अथवा दीर्घ आयु तक (प्रति पश्येम) देखते रहें।

अभिप्राय यह है कि, उत्तम मन, इन्द्रिय, प्रजा, आदि को धारण करते हुए, और सब पापों से रहित पवित्र जीवन बनाते हुए, सर्व प्रकाशक भगवान की हृदय में प्रकाशित होनेवाली ज्योति के दर्शन करना, यही मनुष्य जीवन का एक मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। इस मन्त्र से जीव ईश्वर का भेद भी स्पष्ट रीति से सूचित होता है। इस दिव्य ज्योति की प्राप्ति परमेश्वर की दया से ही हो सकती है, इस अभिप्राय को वेद में स्थान स्थान पर स्पष्ट किया गया है; उदाहरणार्थ अथर्व वेद २०।७९।१ के निम्न मन्त्र को देखिये

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो
यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत
यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

अ. २०।७९।१

जिस का अर्थ यह है कि, हे (इन्द्र) ऐश्वर्य युक्त प्रभो! (पिता पुत्रेभ्यो यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र की कामना को पूर्ण करता है, इस प्रकार तू (नः क्रतुम्) हमारी कामना वा संकल्प को (आभर) पूर्ण कर। हे (पुरुहूत) अनेक विद्वानों द्वारा स्तुति किये गये परमेश्वर! (अस्मिन् यामनि) इस समय (नः शिक्ष) हमें तू शिक्षा दे, ता कि हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्योति को प्राप्त करें। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ही पिता माता के समान हमारे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला है, उसी की कृपा से हम दिव्य ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं।

इस समय तक जो ऊपर मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, उन से दिव्य आनन्द तथा ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है, यह

स्पष्ट प्रतीत होता है; अब दिव्य शान्ति प्राप्त करने के विषय में एक दो वेदमन्त्र दे कर इस विषय का उपसंहार किया जाएगा।

अथर्व १९ वें काण्डका नवम सूक्त सम्पूर्ण इस विषय में द्रष्टव्य है, केवल दो मन्त्र यहां उद्धृत करना पर्याप्त हैं —

(१)

शान्तानि पूर्व.- रूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्। शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥ मं. २.

अर्थात् (पूर्व रूपाणि) भावी परिवर्तन के पूर्व दिखाई देने वाले (शान्तानि सन्तु)शान्ति देने वाले हों, (नः कृताकृतम्) हमारे किये हुए और न किये हुए सब कर्म (शान्तम् अस्तु)शान्ति दायक हों (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्य (शान्तम्)शान्ति युक्त हो (सर्वम् - एव)सभी कुछ (नः शम् अस्तु)हमारे लिये शान्ति दायक होवे। ऐसी अवस्था प्राप्त करनी चाहिये, जिस से भूत भविष्य वर्तमान में होने वाली कोई भी घटना वा पदार्थ हमारी शान्ति को भंग करने वाला न हो सके, यह इस वेद मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र का पिछला भाग इस प्रकार है —

ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छिवं तच्छान्तं सर्वमेव शमस्तु नः॥ अ १९।९।१४

इस का अर्थ यह है कि उन पृथ्वि, जल वायु आदि की शान्तियों से, उन सब प्रकार की शान्तियों से, (शमयामः)हम सब कुछ शान्त बनाते हैं (यदिह घोरम्)जो कुछ इस संसार में भयंकर है (यत् इह क्रूरम्)जो कुछ यहां क्रूर है, (यत् इह पापम्)जो कुछ यहां पाप है (तेन) वह सब (शान्तम्) शान्त हो जाए (तत् शिवम्) वह सब अपनी भयङ्करतादि छोड कर शान्ति दायक हो जावे (सर्वम् एव)सब कुछ (नःशम् अस्तु)हमारे लिये शान्ति दायक हो जावे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना , उपासना के अतिरिक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान अथवा यज्ञ इस ध्येय तक पहुंचनेका मुख्य साधन है। इस बातको दिखानेके लिये चारों वेदों में पाए जाने वाले पुरुष सूक्त के निम्न लिखित प्रसिद्ध वेदमन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ऋ१०।८९।१६ यजु ३१।१६ अथर्व का. ७।५।१

इस मन्त्र का सरल अर्थ यह है कि (देवाः) ज्ञानी लोगों ने (यज्ञेन) देव पूजा, संगति करण, और दान के द्वारा (यज्ञम्) पूजनीय परमेश्वर की (तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्)वही यज्ञ पद वाच्य देव पूजा अर्थात् विद्वानों वा ईश्वर का सत्कार, संगति करण और दान सब मुख्य धर्म हैं। (महिमानः) महत्व युक्त (ते) वे देव (यत्र) जहां (पूर्वे साध्या) पूर्व सिद्ध ज्ञानी जाते रहे हैं उसी (नाकं) दुःख रहित मोक्ष स्थान को (सचन्त) प्राप्त करते हैं।

यज्ञ शब्द, यज्--देव पूजा संगति—करण—दानेषु इस अर्थ वाली यज् धातु से बना है, अतः उसके उपर्युक्त अर्थके विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। मुख्यतः यज्ञ विधाय यजुर्वेद के १म अध्याय के प्रथम मन्त्र के "**देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे**" ये शब्द स्पष्ट यज्ञ का मुख्य अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की सूचना दे रहे हैं। इस प्रकार वेद मन्त्रों के आधार पर विचार करने पर दिव्य शान्ति, दिव्य ज्योति और दिव्य आनन्द अथवा मोक्ष को प्राप्त करना ही मनुष्य जविन का अन्तिम ध्येय होना चाहिये, यह बात साफ विदित होती है। इन तीनों शब्दों की थोडी सी व्याख्या कर देना आवश्यक है, ताकि वैदिक भाव स्पष्ट समझ में आजाए। दिव्य शान्ति से अभिप्राय उस मानसिक वा आत्मिक शान्ति से है, जिस की प्राप्ति पर सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निन्दा स्तुति, मान अवमान, इत्यादि सब द्वन्द्वों में मन समान रूप अथवा क्षोभ रहित रहता है। दिव्य ज्योतिका तात्पर्य सर्व व्याप्त भगवान् की सत्ता को संसार के प्रत्येक पदार्थ और घटना में अनुभव करनेका है और दिव्य आनन्दका आशय-

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

उपनिषद के इस वचन के अनुसार आनन्द मय भगवान् की अध्यक्षता में इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है, यह समझते हुए सर्वदा आनन्दित रहने का है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति भी जीवन का ध्येय है, जिस के विषयमें आगे विचार किया जाएगा। इस तृतीय सिद्धान्त के बारे में इतना ही लेख पर्याप्त है।

चतुर्थ सिद्धान्त।

आत्मौपम्य दृष्टि।

आत्मा की अमरता के विषय में यहां विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि यह अत्यन्त प्रसिद्ध सिद्धान्त है। वेद में अग्नि, इन्द्र, इत्यादि नामों से अनेक स्थानों पर जीवात्मा का वर्णन आया है। ऋ. मं. १। १६४ के निम्न लिखित दो मंत्र स्पष्ट जीवात्मा की शरीर से पृथक् सत्ता और अमरताका प्रतिपादन करने वाले हैं।-

(१)

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः॥ ऋ.१।१६४।३०.

अर्थात (जीवः) जीव (अमर्त्यः) अमर किन्तु (मर्त्येन) मरण शील नश्वर शरीर के (स-योनिः) साथ रहने वाला है, वह (मर्तस्य स्वधाभिः) मृत पुरुषादि प्राणियों की शक्तियों के साथ (चरति) विचरण करता है। आत्मा यद्यपि स्वयं अमर है, तथापि शरीर के अन्दर प्रवेश करना ही उस का जन्म कहा जाता है। इस शरीर के छूट जाने पर भी जीवात्मा नष्ट नहीं होता, किन्तु प्राणियों की शक्तियों और अच्छे बुरे कर्मों के साथ विचरण करता है। स्वधा शब्द का अर्थ स्वकीय धारणा शक्ति यह प्रसिद्ध ही है; यहां अभिप्राय कर्म से मालूम होता है। अगला मन्त्र जीवात्मा का और भी स्पष्ट वर्णन करता है; यथा—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् । स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ऋ. १ । १६४।३१

ज्ञानी पुरुष के मुख से इस मन्त्र का उपदेश कराया गया है । (अनिपद्यमानम्) नष्ट न होने वाले अर्थात् अमर (आ च परा च) इधर उधर (पथिभिः चरन्तम्) अनेक मार्गों से भ्रमण करने वाले (गोपाम्) इन्द्रियों के रक्षक वा राजा इस जीव को (अपश्यम्) मैं ने देख लिया है । इस जीवात्मा का साक्षात्कार कर लिया है । (सः) वह जीवात्मा (सध्रीचीः) अनुकूल अथवा सुखदायक (सः) वही (विषूचीः) प्रतिकूल योनियों को (वसानः) धारण करता हुआ (भुवनेषु अन्तः) लोकों के अन्दर (आवरीवर्ति) बार बार चक्कर लगाता है । भावार्थ यह है कि, जीवात्मा अमर और इन्द्रियादि का अधिष्ठाता है वही अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में प्रवेश करता है । इस प्रकार शरीर के नष्ट होने पर भी जीवात्मा का नाश नहीं होता इस सिद्धान्त को समझलेने से मनुष्य का जीवन कितना उच्च हो सकता है इस की कल्पना सुकरात, वीर हकीकत, ऋषि दयानन्द, आदि धर्म वीरोंके चरित्र पढनेसे की जा सकती है।

यह इन्द्र (जीव) ही शरीर रूपी जगत् का एक मात्र अधिष्ठाता है और इसके अन्दर काम क्रोधादि सब शत्रुओंको वश में करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, इस बातको प्रमाणित करनेके लिये निम्न लिखित मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं —

१

अहमस्मि सपत्नहा इंद्र इवारिष्टो अक्षतः । अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ॥

ऋ. १०।१६६।२

यह मन्त्र आधिभौतिक अर्थ में समाज विघातक शत्रुओं और आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा की शक्ति को क्षीण करने वाले काम क्रोधादि शत्रुओं को पूर्ण रूपसे वश में करने की शक्ति आत्मा के अन्दर है इस भावको सूचित करता है । शब्दार्थ इस प्रकार है (अहम्) मैं आत्मा (सपत्न-हा) शत्रुओं का नाश करने वाला (अस्मि) हूं, (इन्द्र इव) सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर की तरह मैं भी (अरिष्टः) अमंगल रहित और (अक्षतः) रोगादि बाधा रहित हूं । (इमे सपत्नाः) ये सब काम क्रोधादि शत्रु (मे पदोः अधः) मेरे पैरों के नीचे (अभिष्ठिताः) खडे हुए हैं, अर्थात् इन आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को कोई ताकत नहीं कि वे मुझ आत्मा को अपनी अधीनता में रख सकें । क्षत्रिय बाह्य शत्रुओं का सामना करनेके लिये अपने अन्दर इस प्रकार का साहस और आत्म विश्वास उत्पन्न करे, जिससे शत्रु उसका कुछ न बिगाड सकें । इस प्रकारके वेद मन्त्रों में मैं समझता हूं, कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही भाव अभिप्रेत हैं ।

(२) इस इन्द्र (जीव) की शक्ती के विषय में ऋ. १०।४८।५ का निम्न लिखित मन्त्र देखने योग्य है । —

" अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन ॥ "

यहां इन्द्र पद से ईश्वर और जीव दोनों का ग्रहण है । जीव पक्ष में मन्त्र का अर्थ यह होगा कि, (अहम्)मैं (इन्द्रः)ऐश्वर्य युक्त वा शक्तिशाली आत्मा हूं, मैं यह शरीर नहीं हूं, (धनं न पराजिग्ये)मैं अपने सामर्थ्य रूपी अमूल्य धन को नहीं खोऊंगा । मैं (मृत्यवे)मृत्युके लिये (कदाचन)कभी (न अवतस्थे) नहीं खडा होता, अर्थात् मुझ आत्मा की अमरता तथा शरीर से पृथक् सत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है । अपने को शरीर से पृथक् समझते हुए अपनी दिव्य शक्ति की वृद्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा यत्न करना चाहिये यह इस मंत्र का भावार्थ है ।

(३) इन्द्र (जीव)की इस गुप्त शक्ति को वढाने के लिये आत्म विश्वास की बडी भारी आवश्यकता है, अतः वेद मन्त्रों में बार बार आत्म-विश्वास वर्धक भावना ओं का निर्देस किया गया है; उदाहरणार्थ अथर्व १९ । ५१ में इस भावना को धारण करने का उपदेश है—

" अयुतो ऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मे ऽपानो ऽयुतो मे व्यानो ऽयुतो ऽहं सर्वः ॥

जिस का अर्थ यह है कि (अहम् मैं (अयुतः) सर्वथा अपराजित हूं, मुझे कोई दबा नहीं सकता, (मे आत्मा अयुतः) मेरा आत्मा विजयी स्वाधीन वा पराक्रमी है, किसी से दब ने वाला नहीं है, (मे चक्षुः श्रोत्रं, प्राणः, अपानः,व्यानःअयुताः)मेरे सब इन्द्रिय तथा प्राण शक्ति शाली हैं, (अयुतः अहं सर्वः) मैं सारे का सारा अयुत अर्थात् पराक्रमी, अधृष्य हूं, संसार की कोई शक्ति नहीं कि जो इस आत्मा को दबा कर रख सके, इस प्रकार की भावना धारण कर ने से ही आत्मिक दिव्य शक्ति का प्रकाश होता है । अपने को हीन दीन दुर्बल मानने और दिन रात् निर्बलता के विचार रखने से आत्मा की शक्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है, अतः ऐसे अवैदिक भावों को धारण करना सर्वथा अनुचित है । वेद में परमेश्वर को " **आत्मदा** " और " **बलदा** " (ऋ १०। १२१। २) अर्थात् आत्मिक शक्ति और शारीरिक बल को देने वाला बताया गया है, और " **बलमसि बलं मयि धेहि** " इत्यादि मंत्रों द्वारा उसी से बल की प्रार्थना की गई है क्यों कि सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत वही है । इस प्रकार वेद की दृष्टि में ईश्वर भक्ति और आत्म विश्वास से गुप्त आत्मिक दिव्य शक्ति की बृद्धि होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

अब सब प्राणियों में सुख दुःख अनुभव करने वाले आत्मा की सत्ता को मानते हुए अपने समान उनके साथ व्यवहार करना चाहिये, इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक दो वेद मन्त्र उद्धृत करके अगले विषय को लेंगे । इस विषय में यजु० अ० ४० के ये दो मन्त्र विचारणीय हैं,

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्व- भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

यजु. ४०।६

अर्थात् (यः तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) सब भूतों को (आत्मन् एव) आत्मा—परमात्मा में ही (अनुपश्यति) देखता है, (सर्व भूतेषु च) और सब प्राणियोंमें (आत्मानम् अनुपश्यति) विद्यमान आत्मा को देखता है, (ततः) उस ज्ञान होनेके पश्चात (न विचिकित्सति) वह आत्मा की सत्ता में कभी सन्देह नहीं करता, अथवा " **विजिगुप्सति** " इस पाठ को मानने पर वह सर्व भूतों में व्यापक एक परमात्माको मानने वाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख दुःखका अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान है, इस बातको मानने वाला ज्ञानी कभी किसी से घृणा नहीं करता, यह वेद मन्त्रका स्पष्ट अभिप्राय है। अपने पेट को भरने के लिये निरपराध प्राणियों के गले पर छुरी चलाना वेदकी आज्ञा के स्पष्ट विरुद्ध है, यह इसी से ज्ञात हो सकता है।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ॥ तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ यजु. ४० । ७

इस मंत्र के अर्थ के विषय में विचारकों के अन्दर मत भेद है, तथापि हमारे विचार में इस का अर्थ यह है, कि (यस्मिन्) जिस अवस्था विशेष में (विजानतः) ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एव अभूत्) अपने आत्मा के ही समान हो जाते हैं, अर्थात जब पुरुष अपने आत्मा के समान सब के अन्दर समान रूप से आत्मा को जानते हुए सब के साथ प्रेम करने लगता है, (तत्र) उस अवस्था विशेष में (एकत्वम् अनुपश्यतः) सब प्राणियों में आत्म-दृष्टि से एकता को अनुभव करने वाले ज्ञानी के लिये (कः मोहः) मोह क्या और (कः शोकः) शोक क्या रह सकता है ?

आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पंडितः ।

इस प्रसिद्ध उक्ति के अन्दर पाये जाने वाले तत्व का ही गुप्त रूप से इस वेद मंत्र के अन्दर उपदेश किया गया है। इस विषय में और कुछ लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं। कर्तव्य शास्त्र के साथ अथवा जीवन की पवित्रता सम्पादन करने के साथ इस आत्मा की अमरता — आत्मौपम्य दृष्टि आदि विषयक सिद्धान्त का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह बात थोडी गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकती है।

पञ्चम सिद्धान्त।

कर्म नियम।

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में संसार के अन्दर जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, यह कर्म नियम उन्हीं में से एक है। परमेश्वर कर्म फल दाता है और जीव को अच्छे बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पडता है, इस बात का प्रतिपादन करने वाले वेद में सैंकडों मंत्र पाए जाते हैं, जिन में से केवल दो तीन का निर्देश करना यहां पर्याप्त है। इन में से प्रथम ऋग्वेद मं. १ सू. १६४ का २० वां मत्र है, जिस में जीव ईश्वर की दो पक्षियों के रूप में कल्पना करते हुए यह

कहा है कि—

(१)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

अर्थात् (समाने वृक्षे) अनादि होने से समान प्रकृति रूपी वृक्ष पर (सयुजा) एक दूसरे से योग करने वाले [क्यों कि जीव ईश्वरका सम्बन्ध व्याप्य व्यापक, उपासक उपास्य, पुत्र पिता आदि का है] (सखायौ) परस्पर मित्ररूप (द्वा सुपर्णा) दो पक्षी (परिषस्वजाते) मिल कर बैठते वा एक दूसरे का आलिङ्गन करते हैं । (तयोः अन्यः) उन दोनों में से एक पक्षी (जीवात्मारूपी) (स्वादु पिप्पलम् अत्ति) स्वादु फलका भोग करता है, (अन्यः) दूसरा ईश्वररूपी पक्षी (अनश्नन्) स्वयं भोग न करते हुए केवल (अभि चाकशीति) साक्षी बन के देखता रहता है । स्वादु फल यह यहां उपलक्षण मात्र है, बुरे कर्मका फल बुरा ही भोगना पडता है । मं. २२ में ' मध्वदः' यह जीवों का विशेषण और ' **तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे** ' इन शब्दों द्वारा जीवोंके कर्मके अनुसार स्वादु मधुर और कटु फल चखनेका साफ तौर पर निर्देश किया गया है । अथर्व का ४। १६ के कुछ मन्त्र पहले उद्धृत किये जा चुके हैं । दो एक और मन्त्र इस विषयमें अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यहां उद्धृत किये जाते हैं—

उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः । दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ अ० ४।१६।४

इस मन्त्र में आलङ्कारिक तौर पर अटल कर्म नियम का वर्णन किया गया है । शब्दार्थ इस प्रकार है—

(उत यः द्याम् परस्तात् अति सर्पात्) जो द्युलोक के भी पार चला जाए वह भी (वरुणस्य राज्ञः) सर्वोत्तम ईश्वरके पास वा राज्य से (न मुच्यातै) नहीं छूट सकता । (अस्य) इस परमेश्वर के (दिवस्पशः) दिव्य गुप्त चर (इदं प्रचरन्ति) इस सारे लोक में विचरण करते हैं, (सहस्राक्षाः) सहस्र नेत्र रखने वाले के समान वे दिव्य गुप्त चर अथवा अटल कर्मादि विषयक नियम (भूमिम् अति पश्यन्ति) पृथिवी का अच्छी प्रकार निरीक्षण करते हैं । वेद सर्वज्ञ भगवान् का काव्य है, अतः उसके वर्णन प्रायः कविता की दृष्टि से ही मान कर तात्पर्य समझना चाहिये, अन्यथा केवल शब्दार्थ समझने से कुछ काम नहीं चल सकता । यह बात स्पष्ट है कि ऊपर के मन्त्र में वरुण के गुप्तचरों से तात्पर्य किन्हीं फरिश्तों वा भूतों का नहीं अपितु विश्व व्यापक स्थिर कर्मादि नियमों का है । ये नियम समान रूपसे सर्वत्र भूलोक अन्तरिक्ष और द्युलोक में कार्य कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहाड की चोटी पर हो, गुफाके अन्दर हो, अथवा समुद्रके बीचमें हो, कहीं भी अपने किये हुए अच्छे या बुरे कर्मों के फलसे वह छुटकारा पा नहीं सकता । वरुण के पाशों से भी वेद प्रायः इसी अटल

नियम का वर्णन करता है, यथा इसी सूक्त के मं. ७ में—

" शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ! "

ये जो शब्द आये हैं इन का स्पष्टीकरण कर्म नियम के आधार पर ही किया जा सकता है। मन्त्र का अर्थ उस के अनुसार यह होगा कि, हे (नृचक्षः वरुण) मनुष्यों के कार्यों का निरीक्षण करने वाले सर्वोत्तम परमेश्वर ! (एनं) इस पापी को (शतेन पाशैः) सैंकडों पाशों से (अभिधेहि) धारण करो अथवा बांध दो। (अनृत-वाक्) असत्य भाषण करने वाला पुरुष (ते) तेरे बन्धनोंसे (मा मोचि) न छूटे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वा आलङ्कारिक रीतिसे कर्म नियम को स्वीकार किया गया है। परमेश्वर के लिये ' विधाता ' शब्दका प्रयोग प्रायः वेद में पाया जाता है, जिस का मुख्य अर्थ ही कर्म फल दाता है। जीव के कर्मों के अनुसार अच्छी बुरी योनियों में जाने का पहले वर्णन किया जा चुका है।

किन्तु इस विषय में एक संशय प्रायः उत्पन्न होता है। यदि सचमुच वेदके अनुसार किये हुए कर्म का नाश किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता, तो प्रार्थना करने की आवश्यकता क्या है ? इस के उत्तर में निवेदन यह है कि प्रार्थना का उद्देश्य अपने अन्दर निरभिमानता तथा परमेश्वरको सहायक जानते हुए उत्साह पैदा करना है, न कि किये हुए पाप से छुटकारा पाना। जहां जहां पापसे छुडाने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं, वहां भावी पापसे मुक्त कराने अथवा किये हुए पापको फिर न करने का ही तात्पर्य समझना चाहिये। उदाहरणार्थ-

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥

यह यजुर्वेद के ३य अध्याय का ४५वां मंत्र है। इस के अन्दर ' ग्राम, अरण्य, सभा, इन्द्रिय आदि में (वयं यत् एनः चकृम) हम ने जो पाप किया है (तत् इदं) उस इस सारे पाप को (अवयजामहे) हम दूर करते हैं, अर्थात् भविष्य में न करने का निर्देश करता है।

" कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥ राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ॥ " ऋ १।२४

इत्यादि मन्त्रों में यद्यपि ऊपर से किये गये कर्मों के फलसे छुडाने का भाव प्रतीत होता है, पर गम्भीरतासे थोडा विचार किया जाय तो उनके अन्दर उन भूत काल में अज्ञान से किये हुए पापों को फिर न करने का भाव ही प्रधान मालूम देने लगता है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने **' कर्म प्रधान विश्वरचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा'** इन सुन्दर शब्दों में जिस कर्म नियम का प्रतिपादन किया है, वह वेद के अन्दर किस तरह पाया जाता है, यह संक्षेप से दिखाने के अनन्तर अब हम वैदिक कर्तव्य शास्त्र के छटे आधार भूत सिद्धान्त पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। (क्रमशः)



वैदिक धर्म में विज्ञापन

"वैदिक धर्म" मासिक पत्र में विश्वास पात्र विज्ञापन मुद्रित करने का प्रारंभ हुआ है। हम हर एक विज्ञापन नहीं लेते, परंतु जो विश्वास रखने योग्य और हमारे ग्राहकों के लिये लाभ-कारी होंगे, वे ही विज्ञापन हम लेते हैं।

"वैदिक धर्म" मासिक पत्र में विज्ञापन छपाई के नियम निम्न लिखित हैं—

(१) विश्वास रखने योग्य विज्ञापन ही इस पत्रमें मुद्रित होंगे।

(२) जिन विज्ञापनों से ग्राहकों के लिये लाभ होगा, उसी प्रकारके विज्ञापन मुद्रित होंगे।

(३) औषधियोंके विज्ञापन लिये नहीं जांयगे।

विज्ञापन का मूल्य।

	१ वर्ष केलिये प्रतिमास	६ मासके लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ७)	रु. ८)
आधा पृष्ठ	रु. ४)	,, ४॥)
चतुर्थांश पृष्ठ	रु. २।)	,, २॥)

	३ मास के लिये प्रतिमास	१ मास के लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ९)	रु. १०)
आधा पृष्ठ	,, ५)	,, ६)
चतुर्थांश पृष्ठ	,, ३)	,, ४)

विज्ञापन का मूल्य पहिले लिया जायगा।

(४) विज्ञापन छपते समयतक विज्ञापकको विना मूल्य "वैदिक धर्म" मासिकपत्र दिया जायगा।

"वैदिक धर्म" मासिक पत्रमें विज्ञापन देना बहुत लाभ दायक है, क्यों कि इस पत्रके अंक सब ग्राहक सुरक्षित रखते हैं। **मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा**

यहांके सब अंक व्यर्थ हो जाते हैं, इस लिये हरएक ग्राहक इस सूचना का स्मरण रखे और असावधानी होने न दें।

विनामूल्य महाभारत।

(१०) जो सज्जन १००) अथवा अधिक रुपये स्वाध्यायमंडल को एक समय दान देंगे, उनको वैदिकधर्म तथा महाभारत के भाग तथा स्वाध्यायमंडल के पुस्तक, जो उनका दान मिलने के पश्चात् मुद्रित होंगे, विनामूल्य मिलते जांयगे।

(११) जो सज्जन एक समय १००) रु. स्वाध्याय मंडलके पास अनामत रखेंगे उनको महाभारत के वे अंक जो उनकी रकम आनेकेपश्चात् मुद्रित होंगे विनामूल्य मिलेंगे और महाभारत का मुद्रण समाप्त होते ही उनकी रकम, अर्थात् केवल १००) सौ रु., वापस की जायगी। (स्वाध्याय मंडल की कोई अन्य पुस्तक इनको विनामूल्य मिलेगी नहीं।)

(१२) जो महाशय दस ग्राहकों का चंदा इकट्ठा म०आ०द्वारा भेजकर अपने नामपर सब अंक मंगायेंगे, उनको एक अंक विनामूल्य भेजा जायगा।

पीछेसे मूल्य बढेगा।

पीछे से इस ग्रंथ का मूल्य बढेगा। इस लिये जो ग्राहक शीघ्रही बनेंगे उनको ही इस अवसर से लाभ हो सकता है।

मंत्री—
स्वाध्यायमंडल,
औंध (जि. सातारा)



महाभारतके नियम।

(१)महाभारत मूल और भाषांतर प्रति अंकमें सौ पृष्ठ प्रकाशित होगा।

(२)इसमें मूल श्लोक और उसका सरल भाषानुवाद होगा। मूलग्रंथ समाप्त होनेतक कोई टीका टिप्पणी लिखी नहीं जायगी। जो लिखना होगा वह ग्रंथसमाप्ति के पश्चात् विस्तृत लेखमें सविस्तर लिखा जायगा।

(३)भूमिका रूप इस विस्तृत लेखमें धार्मिक, सामाजिक, राजकीय तथा अन्य दृष्टियोंसे परिपूर्ण विवरण होगा, तात्पर्य यह भूमिका का विस्तृत लेख भारतकालीन वस्तुस्थितिका पूर्ण रीतिसे निदर्शक होगा। यह लेख मूलग्रंथ के छपने के पश्चात् छपेगा।

(४)संपूर्ण महाभारतके मुख्य प्रसंगों के सौ चित्र इस ग्रंथमें दिये जांयगे। उन में प्रतिपर्व एक चित्र रंगीन भी होगा। इसके अतिरिक्त उस समयकी भूगोलिक अवस्था बताने वाले कई नकशे दिये जांयगे।

(५)इसके अतिरिक्त ग्राम,नगर,प्रांत, और देशोंके नाम, जातिवाचक नाम, तथा अन्य नामोंका पूर्ण परिचय देनेवाली विविध सूचियां भी दी जांयगी।

मूल्य।

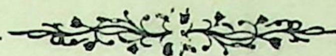
(६) बारह अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य मनी आर्डरसे ६)छः रु. होगा और वी.पी.से ७) रु. होगा यहमूल्य वार्षिक मूल्य नहीं है, परंतु १२०० पृष्ठोंका मूल्य है।

(७)बहुधा प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रकाशित होगा, परंतु संभव हुआ तो अधिक अंक भी प्रसिद्ध होंगे।

(८)प्रत्येक अंक तैयार होते ही ग्राहकों के पास भेजा जायगा। यदि किसीको न मिला, तो सूचना १५ दिनोंके अंदर मिलनी चाहिये। जिनकी सूचना १५ दिनोंके अंदर आवेगी उनको ही वह न मिला हुआ अंक पुनः भेजा जायगा। परंतु जिनकी सूचना १५ दिनोंके अंदर न आवेगी उनको ।।।=)आनेका मूल्य आनेपर, संभव हुआ तो ही,अंक भेजा जायगा।

(९)सब ग्राहक अपने अपने अंक संभाल कर रखें और चार अथवा पांच महिनोंके पश्चात् अपने अंकोंकी जिल्द बनवालें। जिससे अंक गुम होनेकी संभावना नहीं होगी। एक या दो मास के पश्चात् किसी को भी पिछला अंक मूल्य देनेपरभी मिलेगा नहीं। क्यों कि एक अंक कम होनेसे

* स्वाध्याय के ग्रंथ। *



[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध। " एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। " सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)

(६) योग के आसन। मू. २)

[४] धर्म--शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग। ‐)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग। =)

(६) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक। ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग। १॥)

[६] आगम--निबंध--माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।‐)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ≡)

(४) वैदिक चिकित्सा--शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू.॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)

(१०) वैदिक धर्मकी विषेशता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।‐)

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू.।‐)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

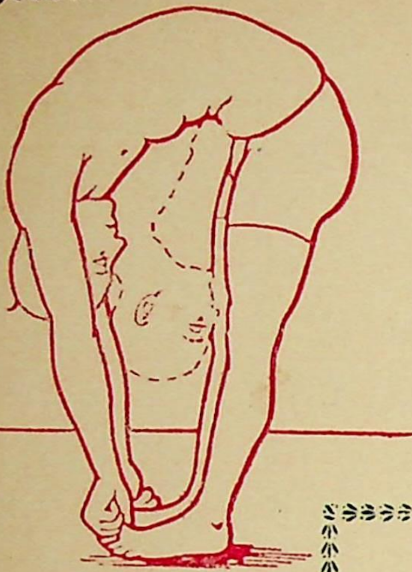
(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

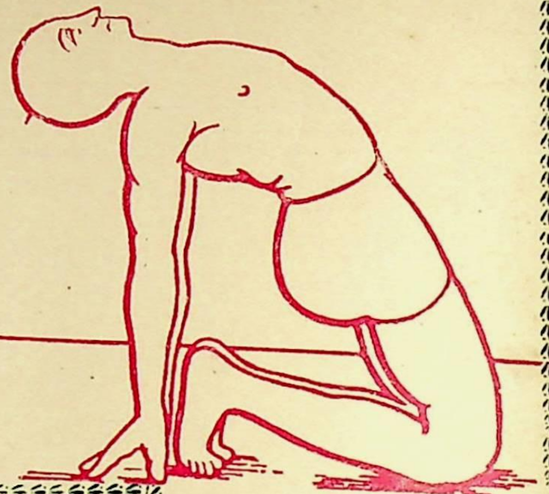
[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री--स्वाध्याय--मंडल;
औंध
(जि. सातारा)



पादहस्तासन ।

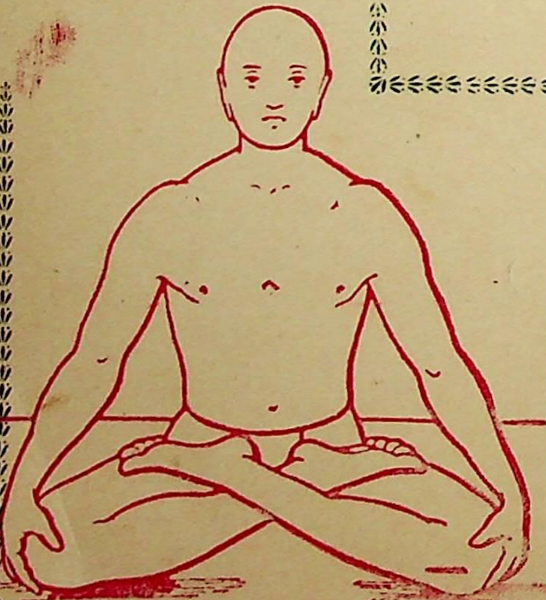


उष्ट्रासन ।

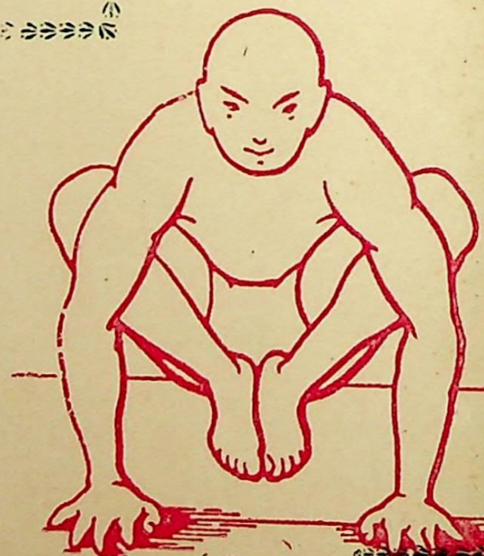




बद्धपद्मासन ।



बकासन ।



मुद्रक तथा प्रकाशक:--श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औंध

Registered No B. 1463



वर्ष ५ अंक ३ फाल्गुन सं. १९८०
क्रमांक ५१ मार्च स. १९२४

वैदिकधर्म।

वैदिक-तत्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र।

---:o:---

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूचि।

" ज्योति । "

(१) सारे हिन्दी संसार में ज्योति ही एक मात्र मासिकपत्रिका है जिस के पन्ने भारत के वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाले राज नैतिक और धर्म सम्बन्धी लेखों के लिये सदा खुले रहते हैं। यह **ज्योति** की ही विशेषता है कि यह अपने पाठकों के लिये प्रत्येक विषय पर सरस,भावपूर्ण और खोज द्वारा लिखे हुये लेख उपस्थित करती है।

(२) **ज्योति** की एक और विशेषता है। यह केवल पुरुषों की ही आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती, परन्तु स्त्रियों की आवश्यकताओं की ओर भी पूरा पूरा ध्यान देती है। वनिता--विनोद शीर्षक से देवियों और कन्याओं के लिये अलग ही एक लेखमाला रहती है, जिस में उनके हित के अनेक विषयों पर सरल लेख रहते हैं। इस के कला कौशल सम्बन्धी लेख जिस में क्रोशि-या, सलाई इत्यादि द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएं जैसे लेस, फीते, मोजे, टोपियां,कुर्ते, बनियान, स्वैटर इत्यादि बनाने की सुगम रीति रहती है, । वार्षिक मूल्य ४॥)है।

अतः प्रत्येक हिन्दी प्रेमी भाई और बहिन को ऐसी सस्ती और सर्वांग सुन्दर पत्रिका का अवश्य ग्राहक बनना चाहिये।

मैनेजर ज्योति –ग्वाल मण्डी. लाहौर

दिया सलाई का धंदा।

हम दिया सलाई का धंदा सिखाते हैं। अनेक देसी लकडियों से दियासलाईयां बनाना, बक्स तैयार करना, ऊपर का मसाला लगाना आदि कार्य एक मास में पूर्णता से सिखाये जाते हैं। सिखलाने की फीस केवल ५०)पचास रु. है। हमारी रीतिसे दियासलाई का कारखाना ५००से ७००) रु. में भी शुरू किया जा सकता है और लाभ भी होता है।

यहां रहने तथा भोजन आदिका व्यय प्रतिमास १५)रु. होता है। अनेक विद्यार्थी स्थान स्थानसे आकर सीख रहे हैं। हमारे विद्यार्थियों का अनुभव देखिये —

म. दीनानाथ हरिहर पाटील वरोरा से ता ..९। १०।२३ के पत्रमें लिखते हैं — "आपकी कृपासे दिया सलाईका काम हमने सिख लिया और यहां कारखाना भी शुरूकिया। हमारी बनी दिया सलाइयां, उसका मसाला तथा बक्स , हूबहू बिलायती तथा जापानी जैसे बने हैं , और कोई शिकायत रही नहीं।" फिर २८।११।२३ के पत्र में लिखा है कि, "हमारी दिया सलाइयों की मांग दिन प्रतिदिन बढ रही है।"

मोहिनीराज मुले एम्.ए.
स्टेट लैबोरेटरी, औंध
(जि. सातारा)

आनंद समाचार।

अथर्ववेद। पूरा छप गया, शीघ्र मंगाईये।

अथर्ववेद का अर्थ अब तक यहां की किसी भाषा में नहीं था और संस्कृत में भी सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपासे इस वेदका हिन्दी संस्कृत में प्रामाणिक भाष्य पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ बीसों कांड, विषयसूची, मन्त्रसूची, पदसूची, आदि सहित २३ भागों में पूरा छप गया है। मूल्य ४७॥) [डाक व्यय लगभग ४)] रेलवे से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें, बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेर है। अलग भाग यथासम्भव मिल सकेंगे। जिन पुराने ग्राहकों के पास पूरा भाष्य नहीं है, वे शेष भाष्य और नवीन ग्राहक पूरा भाष्य शीघ्र मंगालें। पुस्तक थोडे रह गये हैं, ऐसे बडे ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है।

हवन मंत्रा :– धर्मशिक्षा का उपकारी पुस्तक, चारों वेदों के संगृहित मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्य गान, सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित संशोधित गुरुकुल आदिकों में प्रचालित। मूल्य ।–)

रुद्राध्याय :– प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ [ब्रह्म निरूपक अर्थ] संस्कृत हिन्दी अंगरेजी में। मूल्य ।=)

रुद्राध्याय :– मूल मात्र (मूल्य) ॥ वा २) सैंकडा।

वेद विद्यायें – कांगडी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा ब्रह्मचर्यादि का वर्णन ।–)॥

पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी , ५२ लूकर गंज , अलाहाबाद

स्वाध्याय सेवा।

हमने स्वाध्याय प्रेमी पुरुषोंकी सेवा करनेका व्रत लिया है। हम आपके स्वाध्याय के लिये आपके मनो वांच्छित विषयकी नयीं, पुराणी , पुस्तकें तथा यहां की और विदेश की छपी पुस्तकें संग्रह करके रखेंगे। जिन की सूचना यथा समय अपको हम देंगे। आपकी आज्ञा आनेपर वे पुस्तकें वी . पी . द्वारा आपके पास भेज दी जांयगी। आप पत्रद्वारा हमें सूचना देते रहें कि हम किस किस विषयकी पुस्तकें आपके लिये संग्रह करें। धर्मशास्त्र, तन्त्र, पुराण, वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य, चीन, सीरिया, बाबिलेनिया , पारस , आदि देशोंके धर्म ग्रंथ बंगला , संस्कृत, अंग्रेजी , और हिंदीके विद्वानों के उक्त विषयोंपर मार्मिक बहुमूल्य दुर्लभ ग्रंथ, सभी हम सुगमतासे आपको दे सकेंगे। केवल आप हमारे स्थिर ग्राहक बननेका संकल्प कीजिये।

जयदेव शर्मा विद्यालंकार

c/o D. S. Lall. &.co, ७ मिशन रो कलकत्ता।

वर्ष ५
अंक ३
क्रमांक
५१

फाल्गुन
१९८०
मार्च
१९२४



वैदिकधर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

सहकारिता।

यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सं बभूवुः॥
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥

अथर्व. १२।१।३

जिस मातृभूमिमें समुद्र, (सिंधुः) नदियां, (उत आपः) तालाव आदि जलस्थान विपुल हैं, (यस्यां) जिस मातृभूमिमें (कृष्टयः) सब मनुष्य (अन्नं) अन्न आदि भोग्य पदार्थ (सं) मिलकर सहकारिताके साथ (बभूवुः) उत्पन्न करते हैं, और जिस मातृभूमिमें (इदं प्राणत् एजत्) यह हल चल करनेवाला प्राणि समुदाय (जिन्वति) आनंदसे विचरता है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हम सब को (पूर्व-पेये) अपूर्व ऐश्वर्य भोगोंमें (दधातु) धारण करे॥

मातृभूमिके भक्त, मातृभूमिके सुपुत्र, अपने देशके जलाशयों तथा भूमि स्थानोंका उत्तम उपयोग करके संघशक्ति और सहकारितासे अन्नादि भोग्य पदार्थ उत्पन्न करें। सब लोग मिलकर रहें, आपसमें द्वेष न करें और पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपूर्व ऐश्वर्यकी प्राप्ति करें॥

वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

(लेखक — श्री. पं. धर्मदेव सिद्धान्तालंकार।)

षष्ठ सिद्धान्त

पाप निवृत्ति के लिये निश्चय।

दिव्य ज्योति को प्राप्त करना वेद के अनुसार मनुष्यजीवन का एक मुख्य ध्येय है, यह तृतीय सिद्धान्त की व्याख्या में दिखाया जा चुका है। इस विषयमें अन्य प्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं, तथापि अन्धकारसे ज्योति की ओर जाने का प्रयत्न करने प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है, इस भावना को स्पष्ट करने के लिये ऋ. प्रथम मण्डल के ५० वें सूक्तके सुप्रसिद्ध दसवें मन्त्र का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा जो इस प्रकार है—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

अर्थात् (वयं) हम सब (तमसः परि) अन्धकारसे परे (उत्तरं ज्योतिः) श्रेष्ठ आत्मिक ज्योति को (उत् पश्यन्तः) भली प्रकार देखते हुए (देवं देवत्रा) सूर्यादि देवों के भी प्रकाशक (सूर्यम्) अन्धकार निवारक (उत्तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर की ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें। प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्धकारमय अवस्था में है, उसके अन्दर दिन रात मग्न रहना अर्थात् लौकिक विषयों का हर समय चिन्तन करते रहना, अपने को आध्यात्मिक अंधेरे के अन्दर रखना है। आत्मा चेतन होने के कारण एक विशेष ज्योति रखता है, अतः प्रकृति और उसके तत्त्वों से बने हुए इस शरीरके विचार से उठकर आत्म तत्त्व का चिन्तन करना चाहिये, और फिर सब ज्योतियों के आदिस्रोत सम्पूर्ण आत्मिक अन्धकार को दूर करने वाले भगवान् का चिन्तन करना उचित है; जिस की ज्योतिसे ये सूर्य चन्द्रादि सब देव प्रकाशित हो रहे हैं,

तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य
भासा सर्वमिदं विभाति ॥

इन्ही शब्दों में उपनिषद् ऊपर कहे हुए भाव को प्रकाशित करती है। वह ब्रह्म की ही ज्योति है जिसके विषयमें उपनिषदों में लिखा है, कि—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-
संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे।,

अर्थात् उस ब्रह्म के दर्शन करने पर हृदय की ग्रन्थि अथवा काम वासना सब नष्ट हो जाती है, सब सन्देह एक दम काफूर हो जाते हैं और बन्धन में डालने वाले सब कर्मों का क्षय हो जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त करने का प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य यत्न करना चाहिये।

"अमृतत्व की प्राप्ति" मनुष्य जीवन के ध्येयों में से एक मुख्य ध्येय है, इस विषय के प्रमाणों को भी तृतीय सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उद्धृत किया जा चुका है, तथापि इस विषयमें यजुर्वेद के ३ य अध्यायका ६० वां मन्त्र द्रष्टव्य है जो निम्न प्रकार है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय
मामृतात्॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हम सब (सुगन्धिम्) उत्तम सुगन्धित पुष्पादि जिस ने बनाये हैं, ऐसे (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि की वृद्धि करने वाले पोषक (त्र्यम्बकम्) ज्ञान कर्म उपासना विधायक वेद जिस के नेत्र के समान दर्शन कराने का साधन हैं, ऐसे परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) फल विशेष (बन्धनात् इव) जैसे अपनी डारी से अलग होता है, वैसे मैं (मृत्योः मुक्षीय) मृत्युसे मुक्त होऊं मृत्यु के बन्धन और भय से अपने को छुडा लूं; किन्तु (मा अमृतात्) अमृतत्व से कभी न छूटूं। त्र्यम्बकम् के उक्त अर्थ के लिये आधार 'वेदत्रयी त्रिनेत्राणि' आदि स्कन्दपुराणाद्युक्त वचन हैं। आध्यात्मिक अर्थ में मृत्यु और अमृत पदों के भाव को स्वयं ऋग्वेद में 'यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युः, इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिनका तात्पर्य यह है, कि भगवान् की शरण में रहना अथवा दिन रात भगवान् के चिन्तन में तत्पर रहना और उस पर भरोसा रखना यही अमृत और उस से दूर रहना अथवा उस का स्मरण न करते हुए केवल संसार के क्षणिक विषयों का चिन्तन करना यही मृत्यु है। कठोपनिषत् के अन्दर —

'पराचः कामाननु यन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्,

इन शब्दों के द्वारा इसी वैदिक भाव की व्याख्या की गई है, जिन का अर्थ यह है, कि मूर्ख लोग क्षणिक बाह्य विषयों के पीछे दौड कर अपने को मृत्यु के फैले हुए जालमें डालते हैं। इस प्रकार मृत्युसे अमृत की ओर जाने का अभिप्राय क्षणिक विषयों से स्थिर शाश्वत जीवेश्वरादि आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन करने का है, यह स्पष्ट हो सकता है।

अब पापसे पुण्य मार्ग की ओर आनेका यत्न करना चाहिये; इस भाव की थोडी सी व्याख्या करनी है। वस्तवमें देखा जाए

तो यही किसी भी कर्तव्य शास्त्रका आधार भूत मुख्य सिद्धान्त है। इस विषयके स्पष्टीकरण के लिये निम्न लिखित तीन चार मंत्रों पर विचार करना चाहिये ।

(१) परि माऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ॥ यजु. ४ । २८

अर्थात् हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (मा) मुझे (दुश्चरिताद्) दुष्ट चरित्र से (परि बाधस्व) दूर रखो और (मा सुच - रिते भज) अच्छे चरित्र में मुझे सदा प्रीतियुक्त करो । मैं सब दुष्ट व्यवहारोंको त्याग कर उत्तम चरित्र वाला बनूं यह इस मंत्रका स्पष्ट भाव है ।

(२) ऋ. २।२७।५ का निम्न मंत्र भी उसी भावका समर्थन करने वाला है। यथा-

" युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव, दुरितानि वृज्याम् " ॥

अर्थात् (मित्रावरुणौ) मित्र दृष्टिसे सब को देखने वाले श्रेष्ठ सज्जनो वा अध्यापक उपदेशक लोगो ! (युष्माकं प्रणीतौ) तुम्हारे नेतृत्व में (श्वभ्रा इव) गर्तकी तरफसे परित्याग करूं। इस मंत्रमें पापकी गर्त वा गढे के साथ जो उपमा दी गई है, वह बडी महत्व पूर्ण है। जो पुरुष श्रेष्ठ लोगों की संगतिमें रहकर उनके साथ हुए मार्ग पर चलता है वही अवनति की तरफ से जानेवाले सब पापोंसे अपनेको शीघ्र मुक्त कर लेता है यह भाव मंत्र के अन्दर सूचित किया गया है।

(३) सामवेद पूर्वार्चिक ५ । १ । ७ में भी बडी उत्तमता से सब प्रकार के पाप और दुष्ट विचारों से दूर रहने की प्रार्थना की गई है, जो इस प्रकार है—

"अपामीवामप स्रिधमपसेधत दुर्मतिम् । आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥

अर्थात् (आदित्यासः) हे सूर्य के समान तेजस्वी महात्मा पुरुषो ! (अमीवाम् अप) रोग को हम से दूर करो (स्रिधम् अप) हिंसा के भाव को हम से दूर करो (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि वा हीन विचार को (अप सेधत) दूर भगाओ, (नः) हमें (अंहसः) पापसे (युयोतन) दूर करो । न केवल बाह्य पाप किन्तु दुष्ट विचार, हिंसादि दुष्ट भाव तथा उनके परिणाम रोगादि से अपने को महात्माओं के संग द्वारा दूर रखने का सुन्दर उपदेश इस साम के मन्त्र में पाया जाता है, जो बार बार मनन करने योग्य है।

पाप से पुण्य मार्ग की ओर आने में कई कठिनाइयां आती हैं। अनेक प्रकार की विघ्न बाधाएं उपस्थित होती हैं अतः वेद मन्त्रों में इस विषयक दृढ निश्चय को अत्यावश्यक माना गया है। निम्न लिखित तीन चार मन्त्र इस विषय में विशेष द्रष्टव्य हैं।

(१) यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ॥

अथर्व ६ । २६ । २

अर्थात् (पाप्मन्) हे पाप (यः) जो तू (नः)

हमें (न जहासि) नहीं छोडता (तं त्वा) उस तुझ को (वयं) हम (उ) निश्चय से (जहिमः) छोड देते हैं। एक बार जब पुरुष पाप के अन्दर फंस जाता है तो उस से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। कई बार उस पाप का दास बन कर मनुष्य न चाहते हुए भी बार बार पाप कर बैठता है किन्तु दृढ निश्चय के द्वारा मनुष्य पाप पर विजय प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होता है। गीता में अर्जुन का—

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥"

भ० गी० ३। ६३

यह प्रश्न वेद मन्त्र के प्रथम भाग की ही एक प्रकार से प्रश्न रूप में व्याख्या है। दृढ निश्चय के सिवाय पाप को छोडने का और कोई उपाय नहीं, इस विषय में अथर्व ४। १७। ५ का निम्न मन्त्र देखिये—

(२) दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वाः दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥

अर्थात् (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न आना (दौर्जीवित्यं) दुष्ट जीवन व्यतीत करना (अभ्वं रक्षः) बडा भारी राक्षसीय भाव (अराय्यः) अनैश्वर्य (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (सर्वाः) सब (दुर्वाचः) दुष्ट वाणियां (ताः) उन सब को (अस्मात्) हम सब से (नाशयामसि) नाश करते हैं। 'अभ्वं रक्षः' से अभिमान स्वार्थ भाव से मालूम होता है जो राक्षसी प्रकृति के लोगों का विशेष चिन्ह है। जाग्रत् स्वप्न दशा में तथा शरीर मन वाणी के द्वारा किसी भी प्रकार के पाप को न करने का और जो जो पाप हो चुके हैं उन को भविष्य में न होने देने का निश्चय करना चाहिये यह इस वेद मन्त्र का तात्पर्य है जो निःसन्देह अत्युत्तम है। पहले दिखाया जा चुका है कि मनुष्यके आत्मा के अन्दर दिव्य शक्ति विद्यमान है उस दिव्य शक्ति को प्रयोग में लाते हुए प्रत्येक व्यक्ति को पाप पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। आलस्य प्रमाद के कारण उत्तम ऐश्वर्य से वंचित रहना भी एक बडा भारी पाप है। मानसिक दुष्ट विचार ही पहले पहले मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कराते हैं, अतः जब मन के अन्दर दुष्ट विचारों का उदय हो उसी समय मन को वेदके शब्दों में यों कहना चाहिये।

(३) परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परे हि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥ अ० ६। ४५। १

अर्थात् (पाप मनः) हे पापी मन (परा उपेहि) तू दूर भाग जा। (किम् अशस्तानि शंससि) तू क्यों मुझे बुरी बातों का उपदेश करता है (परेहि) भाग जा दूर भाग जा (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। तू चला जा (वृक्षां वनानि संचर) वृक्ष और वनों के अन्दर जा कर

तू संचार कर यहां तेरे लिये कोई स्थान नहीं (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु) घर के व्यापारों में और (गोषु) गो रक्षादि विषयक विचारों में लगा हुआ है अतः उस में तुझ पाप के प्रवेश का कोई द्वार नहीं है। इस मन्त्र का भाव कितना उत्तम है यह प्रत्येक विचार शील व्यक्ति स्वयं जान सकता है। इस प्रकार दृढ निश्चय के द्वारा आत्मा की प्रेरणा से पाप से पुण्यमार्ग की ओर आकर अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रत्येक व्यक्ति को यत्न करना चाहिये यह वेद मन्त्रों का स्पष्ट अभिप्राय है।

सप्तम सिद्धान्त।

सम विकास।

शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक शक्तियोंका समविकास होना चाहिये यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का अत्यावश्यक सिद्धान्त है। वेद के अनुसार यह समविकास वा उन्नति का मूल मन्त्र है। इस सिद्धान्त को भली भान्ति समझने के लिये निम्न लिखित वेद मन्त्रों का मनन करना चाहिये।

(१) सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम् ॥

यजु॰ २। २४

अर्थात् हम सब (वर्चसा सम् अगन्महि) तेज से संयुक्त हों (पयसा सम्) बल दायक दुग्धादिरस से संयुक्त हों (तनुभिः सम्) उत्तम पुष्ट शरीरों से और (शिवेन मनसा) शुभ विचार करने वाले मन से (सम् अगन्महि) संयुक्त हों (सुदत्रः) उत्तम दान शील (त्वष्टा) तेजस्वी पुरुष वा प्रजापति परमेश्वर (रायः विदधातु) हमारे अन्दर सब तरह का ऐश्वर्य धारण करे (तन्वः) शरीर की (यद् विलिष्टम्) जो न्यूनता वा दोष है उसे (अनुमार्ष्टु) वह दूर करे अथवा निर्मल बनाए। इस मन्त्र के अन्दर जो यजुर्वेद में थोडे थोडे पाठ भेदसे दो तीन स्थानों पर आया है, शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंके सम विकास का भाव बहुत स्पष्ट है। मनके साथ बुद्धि चित्तादि की शक्तियों के विकास के विषय में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है-

(२) मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये। मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥

अथर्व ६। ४१। १

(वयम्) हम सब (मनसे) मन के लिये (चेतसे) चित्त के लिये (धिये) बुद्धि के लिये (आकूतये) शुभ संकल्प के लिये (उत) और (चित्तये) ज्ञान के लिये (मत्यै) मनन के लिये (श्रुताय) श्रवण के लिये (चक्षसे) दर्शनादि शक्तियों के विकास के लिये (हविषा) भक्ति द्वारा (विधेम) भगवान् की आराधना करें। तात्पर्य यह मालूम होता है कि भक्ति इत्यादि के द्वारा मन बुद्धि चित्त इन्द्रिय आदि की संपूर्ण शक्तियों को समान रूप से विकसित करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

(३) यजु० १४। १६ भी वेदोक्त समविकास के प्रदर्शन के लिये यहां उध्दृत किया जाता है जो इस प्रकार है —

"आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पाहि मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ।"

इस मन्त्र के अन्दर परमेश्वरसे आयु प्राण अपान चक्षु श्रोत्र वाणी आदि के साथ साथ मन और आत्मा की रक्षा तथा तृप्ति वा शक्ति वृद्धि के लिये प्रार्थना की गई है, जिस का तात्पर्य यही है कि भगवान् की कृपासे हम सब अपनी इन्द्रियों तथा मन आत्मा की सब प्रकारके पापों और दुर्व्यसनों से रक्षा करते हुए उनकी शक्तियों के विकास में समर्थ हो सके, क्यों कि यह बात साफ है कि दुरुपयोग करने से इन्द्रिय मन तथा आत्मा की शक्तियां क्षीण होती हैं।

(४) यजु० ६। १५ को भी इस सम विकाश के सम्बन्ध में उपदेश अत्यन्त स्पष्ट है अतः उस का उल्लेख करना यहां आवश्यक प्रतीत होता है। यह गुरु की शिष्य के प्रति उक्ति मालूम देती है —

"मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम्॥

अर्थात् हे शिष्य (ते मनः) तेरा मन (आप्यायताम्) वृद्धि को प्राप्त होवे। (ते वाक्) तेरी वाणी वृद्धि को प्राप्त होवे। (प्राणः चक्षुः श्रोत्रं ते आप्यायताम्) तेरे प्राण तथा आंख कान आदि इन्द्रियां सब वृद्धि को प्राप्त होवे। अर्थात मन इन्द्रिय वाणी आदि की शक्तियों का विकास ही शिक्षा का मुख्य एक उद्देश्य है। वेद के इसी मन्त्र को लेकर केनोपनिषत् के प्रारम्भ में —

"आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि" इत्यादि मन्त्र की रचना की गई है। इस में मानसिक और शारीरिक बल की साथ साथ वृध्दि का भाव बिल्कुल स्पष्ट है। यजु. अ. ३६ के सुप्रसिध्द मन्त्र —

"यन्मे छिद्रं चक्षुषोर्हृदयस्य मनसो वातितृण्णम्। बृहस्पतिर्मे तद्दधातु"

इत्यादि में भी चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मन और हृदय सम्बन्धी सब दोषों को दूर कर के उन की शक्तियों को सम रूपसे विकसित करने का भाव पाया जाता है। आत्मा की शक्तियों के विकाश के सम्बंध में पहले कई वेद मन्त्रों का उल्लेख किया जा चुका है, अतः यहां फिर से उस विषयक प्रमाण उपस्थित करने की विशेष आवश्यकता नहीं! निम्न लिखित प्रसिध्द वेद मन्त्र शारीरिक शक्ति के विकाश के विषय में विशेष रूपसे प्रार्थना करते हुए आत्मा के भी सर्वदा उत्साह पूर्ण रखने का स्पष्ट निर्देश करता है, अतः उसका यहां उल्लेख करना जरुरी है। मन्त्र इस प्रकार है —

"वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्। ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः

पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानि भृष्टः ॥　　अथर्व १९ । ६० । १—२

इस मन्त्र में वाणी, नासिका, आंख, कान, दांत, बाहु, जंघा, ऊरु, पैर, इत्यादि की शक्तियां सदा स्थिर रहें, मेरे सब अंग नीरोग हों, यह प्रार्थना करते हुए 'आत्मा अनिभृष्टः' ऐसी प्रार्थना की गई है जिस का अर्थ यह है, कि मेरा आत्मा सदा उत्साही बना रहे। आत्मा को सदा उत्साही बना कर रखने से ही उस की शक्तियों का विकाश हो सकता है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट है, अतः इस की व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। इस तरह शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों के विकाश के लिये दिन रात यत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है, यह बात निर्विवाद है।

अष्टम सिद्धान्त ।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध।

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षतामें कुछ व्यापक अटल नियम कार्य कर रहे हैं, और उन को समझ कर उन के अनुसार चलने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है, यह पहले बताया जा चुका है । इन अटल नियमों की सत्ता सिद्ध करने के लिये —

'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि'

ऋ. १ । २४ । १०

तथा "त्वं हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि" ऋ. २ । २८ । ८

आदि अन्य भी वेद मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु निबन्ध विस्तार के भय से उन को यहां लिखना अनावश्यक है। यह बात वैदिक भाव को समझने के लिये अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिये कि, ये नियम व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में समान रूप से कार्य कर रहे हैं । उदाहरणार्थ जैसे एक व्यक्ति को किये हुए अच्छे वा बुरे कर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य ही मिलता है, उसी प्रकार समाज और राष्ट्र को भी अच्छे बुरे कार्यों का परिणाम अवश्य ही भोगना पडता है । जब ये सामाजिक और राष्ट्रीय पाप बहुत बढ जाते हैं, अर्थात् जब लोग मोह माया में फँस कर स्वार्थ साधन में दिन रात तत्पर हो जाते हैं, और धन मान के मद से मस्त हो कर, दीनों की सहायता तथा पतित जनोद्धार रूपी कर्तव्य के पालन से भी मुँह मोड बैठते हैं, तो उस समय प्रायः भयङ्कर व्यापी रोग भूकम्प जलपूर (बाढ) आदि के रूप में भगवान् की ओर से उन्हीं अपने राष्ट्रीय पापों का पुरस्कार मिलता है, ता कि मनुष्य सावधान हो कर पुनः धर्म मार्ग पर चलने का निश्चय कर लें। इसी प्रकार —

'सत्यमेव जयते नानृतम्'

इत्यादि उपनिषदों में प्रकाशित विश्व व्यापक नियम व्यक्ति समाज राष्ट्र तीनों पर समान रुपसे लागू हैं। ऐसे ही अन्य नियमोंको समझना चाहिये। इस प्रकार अटल विश्व व्यापक नियमों को समझने से व्यक्ति समाज और राष्ट्र तीनों अपने को सब तरहके पापों दुर्व्यसनों और अत्याचारों से बचा

सकते हैं । व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है। समाज की सेवा करना यही व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है । उस सेवा के योग्य अपने को बनाने के लिये शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियों का विकास प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिये । यह समझना कि वैदिक आदर्श अथवा उपनिषदादि प्राचीन ग्रन्थों में एक व्यक्ति के लिये वर्णित आदर्श केवल अपनी ही उन्नति अथवा वैयाक्तिक शान्ति सम्पादन करना है, यह बडी भूल है । केवल ज्ञान द्वारा ही मोक्ष लाभ होता है और ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये क्यों कि अच्छे बुरे सभी कर्म बन्धन में डालने वाले हैं, यह भाव जो मायावाद वा नवीन वेदान्त के ग्रन्थों में पाया जाता है, वस्तुतः अवैदिक है । भगवद्गीता का अभिप्राय इस विषय में स्पष्ट है कि —

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ "   भ. अ. ३।२५

अर्थात् अज्ञानी पुरुष आसक्ति पूर्वक कार्य जैसे करते हैं, वैसे ज्ञानी को निष्काम भाव से केवल लोक संग्रह अर्थात् लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये कार्य अवश्य ही करने चाहिये । उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानी की दशा का वर्णन करते हुए अनेक स्थानों पर 'क्रियावान्' यह उस का विशेषण आया है तथा मुण्डकोपनिषत् में —

"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।" "क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः ।"

इत्यादि वाक्य पाये जाते हैं, जो स्पष्ट इस बात को प्रमाणित करते हैं, कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब कर्मों का परित्याग, करके जंगल में समाधि लगा कर बैठ जाना यही वैदिक आदर्श नहीं । समदृष्टि को धारण करते हुए समाज सेवा अथवा लोकोपकार करना यह प्रत्येक ज्ञानी का कर्तव्य है । इस बात को स्पष्ट करने के लिये भगवद् गीता में —

' लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ "

भ. अ. ५।२५.

इत्यादि अनेक श्लोक कहे गये हैं । अब इस विषय में वेदके अभिप्राय को देखना है। निम्न लिखित मन्त्र इस विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं —

(१) प्र सुमेधा गातुविद् विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम् । भुवद् विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः ॥

ऋ. ९ । ९२ । ३.

अर्थात् (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (गातु वित्) भूमि वा देश की अवस्था को जानने वाला (विश्वदेवः) सब से प्रसन्नता पूर्वक व्यवहार करने वाला (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (पुनानः) अपने सङ्गसे सबको पवित्र करता हुआ (नित्यम्) सदा

(सदःप्र-एति) सभामें आता है। वह (धीरः) धैर्य युक्त पुरुष (विश्वेषु काव्येषु) सब काव्यों में (रन्ता सुवद) रमण करने वाला होता है, अर्थात् सब उत्तम ग्रन्थों का अच्छी प्रकार वह स्वाध्याय करता है। सब कवियों की बातों को ध्यान से विचारता है और फिर (पञ्च जनान् अनु) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद इन पांचों प्रकार के लोगों से बने हुए मनुष्य समाज के हित के लिये (यतते) यत्न करता है। गातु शब्द का पृथिवी यह अर्थ निघण्टु में दिया ही है, विश्व देव शब्द में दिवु धातु का व्यवहार अथवा मोद यह अर्थ ले कर सब प्रसन्नता पूर्वक व्यवहार करने वाला यह अर्थ सर्वथा सम्भव है। इस लिये सारे मंत्र का अभिप्राय यह होगा कि, प्रत्येक बुद्धिमान् का यह कर्तव्य है कि वह अपने देशकी यथार्थ अवस्था को जान कर, सब विचारकों तथा ज्ञानियों के ग्रथों को पढ कर धैर्य पूर्वक सारे मनुष्य समाज के हित के लिये प्रयत्न करे और इस उद्देश्य से सभा समितियों की योजना करे, ता कि दृढ संगठन हो कर समाज का कल्याण हो सके। यह मंत्र बडे ही गम्भीर और महत्व पूर्ण भाव को लिये हुए है।

(२)यजु. के आन्तिम अध्याय में

"अन्धंतमः प्रविशन्ति ये ऽसम्भूतिमुपासते।"

इस वाक्य के द्वारा असम्भूति अर्थात् केवल वैयक्तिक उन्नति में सन्तुष्ट रहकर परोपकारार्थ कार्य न करने वालों की स्पष्ट हीन गति बताई है, जिस से साफ भाव निलकता है कि, केवल वैयाक्तिक उन्नति से सन्तुष्ट होना वैदिक आशय के प्रतिकूल है।

(३)अथर्व. ११ वें काण्ड के पञ्चम सूक्त में जो ब्रह्मचर्य सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है प्रायः सब के सब मंत्र इस भाव की पुष्टि करने वाले हैं कि ब्रह्मचर्य तप इत्यादि के द्वारा अपनी शक्तियों को विकसित करके लोकोपकार में अपने को समर्पित कर देना चाहिये। उदाहरणार्थ मं. १ में कहा है।

" स दाधार पृथिवीं दिवं च "

वह ब्रह्मचारी द्युलोक और पृथिवी लोक का धारण करता है। मं. ४ में कहा है—

" ब्रह्मचारी समिधा मेखलया
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। "

अर्थात् ब्रह्मचारी अपनी (समिधा) दीप्ति वा तेज से मेखला श्रम और तप के द्वारा (लोकान् पिपर्ति) सब लोकों को तृप्त करता है अथवा लोक का उद्धार करता है। मं. ५ में फिर कहा है—

" स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ "

अर्थात् वह ब्रह्मचारी व्रत समाप्ति के अनन्तर एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक जाता है, अथवा देश देशान्तर में भ्रमण करता है और (लोकान् संगृभ्य) लोक संग्रह कर के अर्थात् लोगों को सन्मार्ग पर लाकर (मुहुः)फिर भी बार बार (आचरिक्रत्)शुभ कार्य करता रहता है। इस मंत्र में आये

हुए "**लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्**" इन शब्दों की गीता के पूर्वोद्धृत लोक-संग्रह विषयक श्लोक के साथ तुलना करनी चाहिये। मं. २२—

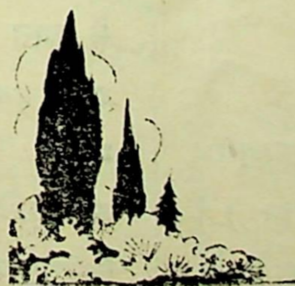
पृथक् सर्वे प्राजापत्याः
प्राणानात्मसु बिभ्रति। तान्
सर्वान् ब्रह्मरक्षति ब्रह्मचारि
ण्याभृतम्।"

इत्यादि मन्त्रों के अन्दर भी ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति संचय करके प्राजापत्य अर्थात् प्रजा पति परमेश्वर के पुत्र सब मनुष्य मात्र के कल्याण और रक्षा के लिये यत्न करना प्रत्येक विद्वान् का कर्तव्य है, यह भाव स्पष्ट तौर पर सूचित होता है।

(४) ऋषि मुनि लोगों को भी योग साधनादि द्वारा अपने अन्दर दिव्य शक्ति सम्पादन करते हुए जनता में राष्ट्रीय भावों की वृद्धि तथा अन्य शुभ भावों के प्रचार के लिये अपने जीवन को लगा देना चाहिये यह आशय अथर्व १९। ४१ के सुप्रसिद्ध मंत्र —

"भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥"

के अन्दर प्रकट किया गया है। मंत्र का सीधा अर्थ यह है कि (भद्रामिच्छन्तः) सुख और कल्याणकी इच्छा करते हुए (स्वर्विदः) सुख के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले (ऋषयः) ऋषि लोगों ने (अग्रे) पहले (तपः दीक्षाम् उपनिषेदुः) तप और दीक्षा का अनुष्ठान किया। (ततः) उस तप और दीक्षा करने के पश्चात् (राष्ट्रं) राष्ट्रीयता भाव (बलम्) बल और (ओजः) सामर्थ्य (जातम्) प्रकट हुआ (तत्) इस लिये (देवाः) विद्वान लोग (अस्मै) इस राष्ट्रीयता के भाव के लिये (उपसंनमन्तु) सिर झुकाएं, अर्थात् इस भाव का सत्कार करें। तात्पर्य यह है कि ऋषि लोग जो तप दीक्षादि अथवा योग साधन करते हैं, वह स्वयं उद्देश्य नहीं किन्तु दिव्य शक्ति सम्पादन करने का साधन है, जिस का राष्ट्र तथा जगत् के कल्याण के लिये उपयोग करना चाहिये। इस विषय में यहां इतना ही कथन पर्याप्त है, क्यों कि सामाजिक कर्तव्यों का आगे संक्षेप से विवरण किया जा जाएगा। इतने वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गई कि, व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य अपनी शक्तियों को विकसित करते हुए समाज सेवा तथा लोकोपकार के लिये लगा देना वैदिक भाव है।



सरस्वती दर्शन ।

(१) कैवल्य शास्त्र- [लेखक-श्री ज्वाला प्रसाद सिंह, एम्. ए. । प्रकाशक-सत् ज्ञान प्रकाशक मंदिर, मामू भांजा, अलीगढ सिटी, यू. पी.]

आत्मा और अनात्माका विचार अत्यंत सरल और सुगम भाषामें जैसा इस पुस्तक में किया है वैसा किसी अन्य पुस्तक में किया देखने में नहीं आया । लेखककी प्रतिभापूर्ण लेखन शैली पाठकोंके मनोंके ऊपर अपना प्रभाव जमा देती है। इस पुस्तकमे विवेचन पद्धतिकी नवीनता के साथ तत्त्वज्ञान विषयक विचारों की स्वतंत्रता भी पाठक अनुभव कर सकते हैं । प्राचीन तत्वोंका अर्वाचीन वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ मेल करने में लेखक का चातुर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। पुस्तक सर्वांग सुंन्दर है , इसलिये पाठ कोंको अवश्य संग्रह करने योग्य है ।

(२) योगांग और शरीरांग । मू०॥=)

(३) प्राणायाम चिकित्सा । मू १।)

(४) ब्रह्मानंद मू०।-')

[लेखक.श्री. स्वा. अभयानंद सरस्वतीजी योगमंडल, काशी] पुस्तकों का विषय उनके नामोंसे ही विदित होता है । ये पुस्तक पाठकोंके लिये बहुत उपयोगी हो सकते हैं।

(५) ब्रह्मचर्य ही जीवन है ।

[लेखक– श्री. स्वा. शिवानंदजी । प्रकाशक-बाबु केदारनाथ गुप्त, मिर्जापुर । मू०।।।=)]

यह पुस्तक ब्रह्मचर्य साधन करनेवाले के लिये अत्यंत पढने योग्य है। पाठक इसको अवश्य पढें ।

(६) पद्य पयोनिधि ।

[रचयिता-श्री विद्याभूषण विभु । प्रकाशक-कला कार्यालय, प्रयाग । मूल्य ।।)] यह ग्रंथ काव्यमहोदधिका एक प्रकाशमान रत्न है ।

(७) ईश उपनिषद् । —

[लेखक —-- श्री. पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार " शांत " । प्राप्ति स्थान— डी. एस्. लाल ऐंड को०, ८ मिशन रोड, कलकत्ता । मू० =)]

" शांतिके जीवन " को बताने वाले "ईश उपनिषद् " का शांतिसे मनन करके शांतिके तत्त्व इस पुस्तक में बताये गये हैं । पुस्तक अत्यंत विचार करने योग्य है । मूल्य इतना न्यून है कि हरएक मनुष्य इसे प्राप्तकर सकता है ।

(८) जंगी जेलका ठोस फाटक ।

(९) वेदान्त सार रामायण।

[लेखक – श्री. पं. हनूमानशर्माजी, जयपूर]

" जंगी जेल " की कथाके मिषसे गृहस्थाश्रम का उत्तम वर्णन इस पुस्तकमें पाठक देख सकते है । प्रायः वैदिक धर्मके सब मुख्य अंग, उपांग, वर्णाश्रमके तत्त्व इस पुस्तक में उक्त अलंकार के रूपसे वर्णित हैं । पुस्तक रोचक और बोधप्रद हैं । " वेदान्तसार रामायण " के अंदर रामचरित्र के मिषसे मूल आध्यात्मिक तत्व वर्णन किया है । पुस्तक विनामूल्य मिलती है ।

(१०) हिंदी आशुबोध । [लेखक और

महाभारत।

वेद और महाभारत।

महाभारत का महत्व।

(१) महाभारत का महत्व अनेक दृष्टियोंसे है।

आर्योंका प्राचीन इतिहास जाननेके लिये हरएक को महाभारत की शरण लेनी पडती है। भारतीय वीरोंके अद्भुत चरित्र महाभारत में ही देखने चाहिये। प्राचीन आर्योंका राजकीय, सामाजिक तथा आध्यात्मिक उत्क्रांतिका संपूर्ण इतिहास यदि देखनेकी इच्छा है, तो महाभारतही देखना चाहिये। अर्थात् इतिहासिक दृष्टिसे महाभारत का अभ्यास होना आवश्यक है।

(२) महाभारतमें राजनीति तथा सामान्य नीति इतनी विस्तृत रूपसे लिखी है कि आर्य–नीतिशास्त्रका अभ्यास करने वालेको महाभारत जैसा दूसरा कोई ग्रंथ नहीं है।

(३) धर्मशास्त्र तथा अध्यात्म शास्त्र के विषय में भी लेखकों और वक्ताओंके लिये प्रमाणवचन महाभारत में ही विपुल मिलते हैं। इसी लिये महाभारतको " पंचम वेद " भी कहते हैं। इस कारण इसके अध्ययन करनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

व्यास महर्षिकी प्रतिज्ञा।

(१) वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे अपने वेदमंत्रोंकी "गुप्त विद्या" के साथ महाभारत तथा अन्य पुराण आदि ग्रंथोंकी " व्यक्त विद्या " की तुलना करें। भगवान व्यास महर्षिजीकी प्रतिज्ञा है कि

"जो वेदकी विद्या है वही महाभारत के मिषसे वर्णन की है।" इस लिये आवश्यक है कि वेदके कौनसे भाग का किस रीतिसे रूपांतर महाभारत में हुआ है और उसमें इतिहासिक भाग कहां और कितना है, इसका स्पष्ट विचार हो।

(२) इस तुलनात्मक अध्ययनसे हमें एक यह लाभ होगा कि जो वेदमूलक कथाएं अन्य पुराणोंमें हैं, उनकाभी वैदिक मूल हमें विना आयास मिल सकेगा।

महाभारत बडा ग्रंथ है।

महाभारत बहुतही बडा ग्रंथ है, साधारण लोग उसको खरीद नहीं सकते। इसके अधिक मूल्यके कारणही महाभारत पढनेकी इच्छा करनेवाले बहुतसे पाठक चुप रहते हैं और खरीदनेका नाम नहीं लेते।

एक युक्ति है।

जिस युक्तिसे हरएक पाठक महाभारत खरीद सकता है।और किसीको भी किसी प्रकारकी कठिनता नहीं हो सकती।

हम प्रतिमास १०० पृष्ठ मूल महाभारत और उसका सरल भाषानुवाद मुद्रित करना चाहते हैं। एक वर्षमें १२०० पृष्ठ ग्राहकोंको दिये जांयगे। कागज और छपाई बढिया होगी। चित्रभी दिये जांयगे।

वार्षिक मूल्य।

वार्षिक मूल्य मनी आर्डरसे ६) रु. और वी. पी. से ६।।≈) होगा।

इस रीतिसे यह ग्रंथ थोडेही वर्षों में समाप्त होगा और विना आयास हरएक ग्राहक को मिलता जायगा। जो ग्राहक बनना चाहते हैं शीघ्र अपना मूल्य भेज दें।

विदेश के ग्राहक।

विदेश के ग्राहकों के लिये मू. ८) रु. होगा।

सस्ताईकी कमाल!!!

आज कल मूल संस्कृत महाभारत जितने मूल्य में मिलता है, उस से भी न्यून मूल्यमें हम "मूल महाभारत और भाषामें भाषांतर" देना चाहते हैं। यह सस्ताईकी कमाल है। यह ग्रंथ इतना सस्ता इस समय तक किसीने दिया नहीं है!!

पाठक इस अवसर से अवश्य लाभ उठावें। संभवतः इसका मूल्य आगे बढ जायगा। जो प्रारंभसे ग्राहक होंगे उनकोही इस सुविधासे लाभ हो सकता है।

नमूनेके पत्र विनामूल्य भेजे जांयगे। आप अति शीघ्र निम्न पतेपर पत्र लिखिये। और अपने नगर में ग्राहक जितने हो सकते हैं बनानेका अवश्य यत्न कीजिये।

आपका कर्तव्य

महाभारत जैसे अत्युत्तम ग्रंथका शुद्ध, सुंदर, और उत्तम मुद्रण करके अत्यंत सस्ते मूल्यमें देनेका यत्न हम कर रहे हैं। अब आपका कर्तव्य है कि आप ग्राहकोंकी संख्या बढाकर हमारे उद्देश्य की पूर्ति करें।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध
(जि. सातारा)

[भारत मुद्रणालय औंध]

महाभारत--विराट पर्व।

प्रथमोऽध्यायः।

जनमेजय उवाच= कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥ १ ॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखिताऽवसत् ॥ २ ॥
वैशंपायन उवाच– यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप ॥ ३ ॥
तथा तु स वराँल्लब्ध्वा धर्माद्धर्मभृतां वरः।
गत्वाश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत् ॥ ४ ॥
कथयित्वा तु तत्सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः।
अरणीसहितं मंथं ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ॥ ५ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
सन्निमंत्र्यानुजान्सर्वान्मध्यमं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
द्वादशैतानि वर्षाणि स्वराष्ट्रात् प्रोषिता वयम्।
त्रयोदशोऽयं संप्राप्तः कृच्छ्रः परमदुर्वसः ॥ ७ ॥
तत्र कौन्तेय त्वरितो वासमर्जुन रोचय।
संवत्सरमिमं यत्र वसामोऽविदिता परैः ॥ ८ ॥

विराटपर्वमें--पांडवप्रवेश पर्व ॥

महाराज जनमेजय बोले—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ वैशंपायन! हमारे पितामहके पितापांडवलोग दुर्योधनके भयसे पीडित होकर विराटनगरमें छिपकर कैसे रहे थे, और सदा ब्रह्मवादिनी महा भाग्यवती पतिव्रता द्रौपदीने कौन दुःख सहकर अज्ञातवास किया? (१–२)

वैशंपायन मुनि बोले,–हे नृपते! तुम्हारे पूर्वज पांडवलोग, जिस प्रकार छिपकर विराट नगर में रहे थे, सो कथा हम तुमसे कहते हैं॥ धर्म धारियों में श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर वरप्रदानोंको प्राप्त कर आश्रममें आये, और ब्राह्मणोंसे सब कथा सुनाई॥ कथा कहकर महाराज युधिष्ठिरने वह अरणी सहित मंथ ब्राह्मणों को देदिया॥ फिर महामनाधर्मराजने सब भाइयोंको बुलाकर कहा, हम लोगोंको राज्यसे निकले हुए, बारह वर्ष बीत गये, अब यह तेरहवां वर्ष अत्यंत कठिन और अतिदुःख देनेवाला आया है॥ इस तेरहवें वर्ष में जिस स्थानमें हमको कोई शत्रु न जान सके, तहां

अर्जुन उवाच—तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप ।
अज्ञाता विचरिष्यामो जनानां भरतर्षभ ॥ ९ ॥
किंतु वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित् ।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किंचित् स्म रोचय ॥ १० ॥
सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्ना परतः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥ ११ ॥
दशार्णा नवराष्ट्रं च मल्लाः शाल्वा युगंधराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विस्तीर्णं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥ १२ ॥
एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ॥
यत्र वत्स्यामहे गूढा संवत्सरमिमं वयम् ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच-- एवमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः ।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत्तथा न तदन्यथा ॥ १४ ॥
अवश्यमेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
संमन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतो भयम् ॥ १५ ॥
मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्षेत्स पांडवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सुमहायशाः ॥ १६ ॥

निवास करना चाहिये । हे कुंतिपुत्र अर्जुन तुम उस स्थानको हमको बतलाओ ॥(३-८)

अर्जुन बोले-राजन्! धर्मके वरदानसे जब हम लोग जिस किसी स्थानमें रहेंगे,तब भी कोई हमको नहीं जान सकेगा, तथापि हम आपके रहने योग्य राज्योंका वर्णन करते हैं । ये सब स्थान रमणीय और गुप्त हैं, इनमेंसे जहां आपकी इच्छा हो तहां रहिये। कुरुराज्यों को छोडकर और भी ऐसे रमणीय राज्य हैं जिनमें अन्न और जल बहुत मिल सकते हैं। पांचाल,चेदी,मत्स्य,शूरशेन,पटच्चर, दशार्ण नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व,युगंधर, कुंन्ती, और सुराष्ट्र , इन राज्योंमें जिसमें आपकी इच्छा हो वहीं हम सब एक वर्ष रहेंगे ॥ (९–१३)

पंडुपुत्र युधिष्ठिर बोले-हे महाबाहो! तुमने जो कहा वह सब ठीक है, जो कुच्छ भगवान् धर्मने हमको वरदान दिये हैं, वे सब कभी मिथ्या नहीं हो सकते, हम सब लोगोंको उचित है, कि परस्पर संमति करके और निर्भय होकर किसी एक रमणीय और सुखद स्थानमें निवास करें ॥ मत्स्यदेशका राजा विराट धार्मिक,विद्वान्,बूढा,महायशस्वी तथा बलवान है वह निःसंदेह हमारी रक्षा कर सकता है ॥ इसलिये उसी विराटके

प्रकाशक — म० हरनंदराय गुप्त, अध्यापक, नारमल स्कूल, मुलतान । . =)॥] यह पुस्तक बालकों के लिये अत्यंत उपयोगी है ।

(११) नमस्कार । मू० १)

(१२) ताक व आरोग्य । मू० ≡)

[लेखक तथा प्रकाश — श्रीं • वैद्य गणेश पांडुरंग परांजपे, गणपति पेठ सांगलि] " नमस्कार " पुस्तक में अष्टांगप्रणिपातके व्यायाम का उत्तम वर्णन है, आधुनिक शारीरशास्त्र की दृष्टिसे उत्तम विचार करके बताया है कि यह अष्टांगप्राणिपात का व्यायाम आरोग्य के लिये बहुत ही उपयोगी है। पुस्तक अत्यंत योग्यता से लिखी गई है, इसलिये अत्यंत उपयोगी है । (ताक व आरोग्य) छाछ और आरोग्य, इस पुस्तकमें आरोग्य वर्धन के लिये छाछ का उपयोग करने की रीति बताई है । इस रीतिसे छाछका उपयोग करके मनुष्य नीरोगता और दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है। दोनों पुस्तक मराठी भाषामें हैं और इनका भाषा में भाषान्तर होना आवश्यक है।

(१३) श्रीशंकराचार्य। (मराठी)

[लेखक- श्री. महादेव राजाराम बोडस, एम. ए. एल्. एल्. बी. । वकील हैकोर्ट, मुंबई। मू० १॥)]

श्रीमच्छंकराचार्य जीके विषयमें बहुतसा इतिहास अनुपलब्धसा है। लेखक महोदयजीनें इस न्यूनताकी पूर्तिकेलिये इस ग्रंथमें बहुत परिश्रम करके " श्रीशंकराचार्य और उनका संप्रदाय" इस विषयमें बहुतसा इतिहास दिया है। निः संदेह यह ग्रंथ लेखक की विद्वत्ता और इतिहासिक खोज करनेकी चतुरता की साक्षी दे रहा है । ग्रंथके पूर्वार्धके पांच अध्यायों में श्रीशंकराचार्यजीका जीवन चरित्र, उनका दिग्विजयादि कार्य, गुरुपरंपरा, शिष्यपरंपरा, तथा संकेश्वरमठ स्थापना आदि विषय विस्तार पूर्वक दिये हैं। और परिशिष्टमें बहुतही साधन सामग्री इकट्ठी की है कि जिसका उपयोग इतिहासके विद्वानोंको होसकता है। उत्तरार्धके अंदर श्रीशंकराचार्य जीके अद्वैत सिद्धांत का स्वरूप बतानेका यत्न किया है। इस प्रकारका यह पुस्तक मराठी भाषामें पाहिला ही है और यह निःसंदेह अत्यंत निष्पक्षपातसे लिखा जानेके कारण श्रीशंकराचार्यजी की धार्मिक क्रांतिकी जिज्ञासा करनेवालोंको अत्यंत बोधप्रद हो सकता है ।

(१४) स्वप्नदोष । (लेखक-श्री०पं० गणेशदत्त शर्मा गौड इंद्र । प्रकाशक-श्रीमध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इन्दोर। मूल्य १॥]

तरुण लोग इस समय स्वप्नदोष के कारण बहुत पीडित हैं । इस विषयपर भाषामें जितने पुस्तक लिखे गये हैं, उन सबमें यह पुस्तक अतीव लाभकारी है ।

(१५) भारतजननी को हिमालय से संदेश। [लेखक-श्री रिचर्ड पाल । प्रकाशक-आर्य संघ मेरठ शहर।] म• श्रीयुत पाल रिचर्ड जीके सात्विक उपदेश से भारतीय शिक्षित परीचित ही हैं। यह पुस्तक भी सात्विक विचारों से परिपूर्ण है ।



जगत् का स्तुत्य प्रार्थ्य व उपास्य देव।

(लेखक—ब्र० विद्याधर विनीत ।)

प्रथम इससे कि स्तुत्य देवता तथा स्तुति आदि के लक्षण का निदर्शन कराया जावे, स्तुति प्रार्थना व उपासना की आवश्यकता का द्योतन करा देना श्रेष्ठ प्रतीत होता है। भद्र-पुरुषो ! प्रत्येक पुरुष की हेय तथा उपादेय बुद्धि विषय के दोष-गुण-ज्ञान पर अवलम्बित है। जो पुरुष अग्नि के प्रकाश, उष्णता तथा वस्तुपाचन आदि गुणों को सम्यक्तया जानता है, वह उस की जिघृक्षा (लेनेकी इच्छा) और जो उसकी अङ्ग दाह आदि पीडा जनक शक्ति का अनुभव करचुका है, वह उस की जिहासा (त्यागने की इच्छा) का प्रयत्न करता है और जिस में हानि, लाभ कुछ भी नहीं देखता, उस में उदासीन-वृत्ति हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण कामनायें वस्तु के गुणावगुण ज्ञान पर अवलम्बित हैं। इसी कारण सद्ग्रन्थो में काम्य-पदार्थों की अभिलाषा को उपासक के चित्त में उत्पन्न करने के लिये तत्तत् पदार्थ की स्तुति अर्थात् यथावस्थित गुणों का वर्णन किया गया है, जिस स्तुतिसे उसके चित्त सरोवर में श्रद्धा तथा भक्ति के सुरम्य पद्म विकसित होने लगते हैं, आत्म मन्दिर प्रेम-बारिधारा से पवित्र हो जाता है, और उस अमूल्य रत्न की प्रार्थना (कामना) अधिकाधिक बढने लगती है। जिस का अन्तिम परिणाम यह होता है कि मन से प्रेरित इन्द्रियों द्वारा उसको अधिगत करने का यथा शक्ति प्रयत्न करने लगता है और प्राप्त कर लेता है। इसी को उपासना कहा जाता है। अर्थात् उस पदार्थ को समीप लाना वा स्वयं उसके शुभ गुणोंका अपने जीवन मुक्तहार में ग्रन्थन करते जाना। जिसप्रकार गीला ईंधन जलके गुणों का उपादान कर लेता है और अग्नि से कष्ट दाह्य हो जाता है। इसीप्रकार आत्माको उत्तमोत्तम गुणावली से विभूषित करनेके लिये आर्य सन्ध्यापद्धति के अनुसार मनसा परिक्रमा के अनन्तर उपस्थान के मन्त्र दिये गये हैं, जिन में से इस दूसरे अधो लिखित मन्त्र से सर्वमान्य सर्व शक्तिमान ईश्वरकी स्तुति की गई है।

अब इस अवसर पर प्रत्येक जिज्ञासु यह प्रश्न कर सकता है कि क्यों न इस विचित्र जगत् के अद्भुत आश्चर्य जनक विद्युत आदि शक्तिमान् तथा प्रकाशक पदार्थों की स्तुति की जाये ? क्यों न विचित्र शक्तियों के भण्डार विद्वद्गण की प्रशंसा वा आराधना करें ? क्या विशेषता है? इस ईश्वर में कि जिसके सामने इन सब पदार्थों को अकिञ्चिन्मात्र माना गया है और विशेषतया जिसका प्रत्यक्ष असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इनका उत्तर कोई गहन नहीं,प्रत्येक साधारण बुद्धि भी पुरुष सरलतया जान सकता है।

निःसंदेह आप इन पदार्थों व देवतापुरुषों का अर्चन तथा स्तुति करें, कोई अवरोध नहीं, प्रत्युत इसके लिये स्वयं वेद भगवान् आज्ञा देते हैं, परन्तु विचारणीय यह है कि, स्तुति करने से हमारा अभिप्राय केवल वस्तुमात्रके

यथार्थरूप का सङ्कीर्तन करनाही नहीं किन्तु अग्रिम भावी प्रार्थना वा उपासना करना भी हमारा उद्देश है । प्रथम तो ये प्राकृतिक पदार्थ जड हैं । इनसे प्रार्थना करना "बधिर को वीणा सुनाने" के तुल्य है । द्वितीय देवता पुरुष तो चेतन व सशक्ति हैं, इन की प्रार्थना वा उपासना जीवनोपयोगी हो सकती है । हां हो सकती है । इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं, परन्तु हमारा लक्ष्य पत्र वा शाखायें नहीं, प्रत्युत मूल होना चाहिये । विद्वान् पुरुषोंने भी शक्ति व ज्ञान जिसकी अपार कृपासे प्राप्त किया हो, क्यों कि योग कहता है---

स एषः पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

अर्थात् वह ईश्वरही प्राचीन ऋषिमहर्षियों का भी गुरु है, क्यों कि इसके साथ कालका कोई सम्बन्ध नहीं, जन्ममरण वा स्थितिका सूचक कोई विशेष काल नहीं, जिस प्रकार कि अनित्य पदार्थोंका होता है । अथवा इनको भी जिसने उत्पन्न किया हो, उस नियन्ताको त्याग इस अल्पज्ञ, अल्पशक्ति पुरुषसे जिससे प्रायः जीवनमें सहस्रों स्खलन हो जावें, आश्रय वा सहायताकी याचना करना कैसा तुच्छ विचार है । तृतीय हमें गुणोंपर दृष्टि डालनी है । गुणोंका सम्बन्ध नित्य गुणसे होता है, अतः शुभगुण समूहसे आत्मशक्ति परिवर्धित करनेके लिये किसी उच्च कक्षाके गुणीके गुणोंको आदर्श बनाना चाहिये ।

जगतके सारे दृश्य पदार्थ परिणामी व अस्थिर हैं और जो प्रकृतित्व सम्बन्धसे स्थिर भी मान लिये जावें, जो कि "उत्पन्नो विनश्यति" के सिद्धान्त से नितान्त विरुद्ध है, तथापि जीव के स्वरूपसे वे एक कक्षा नीचे हैं, क्यों कि प्रकृति केवल सत् अर्थात् नित्य है और जीव सत् और चित् है । इसके लिये तो हमें सच्चित से भी अधिक उन्नत शक्तिकी आवश्यकता है, क्यों कि ऋषि,मुनि, विद्वान और बडे बडे चक्रवर्ती महाराज भी इस नियत भावी उत्पत्ति मरण क्लेशसे पृथक् न रह सके । यह मृत्युभय भी एक महत्तर क्लेश है । योग कहता है —

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।

अर्थात् ये पांच क्लेश हैं जिनके पाशमें फंसा हुआ मनुष्य आवागमनके चक्रमें घूमता रहता है । इस विपज्जञ्जाल से सदा मुक्त उस **परम देवकी ही स्तुति प्रार्थना वा उपासना करनी योग्य है,** अन्य की नहीं। क्यों कि वह ही—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ॥

क्लेश और क्लेशजन्य भावना तथा संस्कारोंसे असंस्पृष्ट है । और जो पुरुष ईश्वरके प्रत्यक्षमें सन्देह करते हैं, उनको वेदोंके रहस्य का ज्ञानही नहीं, वे लोग बुद्धिपर परदा डाले मस्त पडे हैं, उन्हें अज्ञानतमिस्राकी घोर निद्रा के क्रोडजन्य सुखानुभवत्याग देना चाहिये, वेद सूर्यके प्रभास्वर प्रकाशमें नेत्र खोलकर चलने की आवश्यकता है । उलूक वृत्तिसे रहना सर्व नाशका हेतु होगा । उपस्थानके द्वितीय मन्त्रमें ईश्वरसत्ता का स्पष्ट विवरण है । देखिये !—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

(त्यं) उस (जातवेदसं) वेदोंके उत्पत्ति

कर्ता, ज्ञानस्वरूप (देवं) दिव्यगुण समन्वित (सूर्यं) चराचर जगतके आत्मा प्रभुको (विश्वाय) विश्व जगतको (दृशे) दिखानेके लिये (केतवः) विशेष विशेष अद्भुत प्राकृतिक रचनायें (उद्वहन्ति) ऊपर को उठाये हुई हैं।

अर्थात् सर्वोपरि विराजमान ईश्वरकी महत्ताका साक्षात् पुष्कल प्रमाण जगतकी विशेष रचनायें हैं, जिनको देख कर उपासक के हृदय ह्रदमें प्रेमकी उत्तुङ्ग उछलने लगती हैं। अथवा जिस प्रकार सदाचार आदि शुभगुण गुणी जीवात्माके अमरत्वके हेतु होते हैं, ठीक इसी प्रकार यह महत्ता पूर्ण कला कौशल तथा सर्व ब्रह्माण्ड वशित्व आदिगुण ईश्वरके प्रचाय्यक हैं, जगतके त्रिविध तापोंके हर्ता तथा ईश्वर भक्त, परमविश्वासी, एकमात्र सच्चे आज्ञाकारी ऋषि दयानन्द आदि अनेकों महापुरुषोंके शुभ नाम आजतक प्रत्येक सभ्य जगतके विशद हृदय पटलपर सुवर्णाङ्कितसे विराजमान हो रहे हैं, यद्यपि उनके पधारे कतिपय संवत्सर बीत चुके हैं। हरिश्चन्द्र का नाम सूर्यवत् प्रकाशित व चन्द्रवत् अमृतसमान दानवीर भारत सन्तान लतामें दृढ प्रतिज्ञरूप जीवन रस संचार कर रहा है। तथा कणाद, कपिल, व्यास, शङ्कर, बुद्ध आदि महान् आत्मायें आजतक अमर हैं और रहेंगी। इसका सर्वोच्च कारण यही प्रतीत होता है कि उन महान् देवोंके गुण-श्रेणि रज्जुमें शुभनामके मनके इस ढंगसे पिरोये गये थे कि, शताब्दियों तक अजर, अमर रूपसें वह माला बडे बडे मान्य गण्य एवं लोकतिलकों के प्रशस्त उत्तमाङ्गोंपर लटकती रहे। कल वे हम जैसे साधारण पुरुषोंके समान मनुष्य थे, आज उन्हें अपने गुणोंने ही हमारी जिह्वाका स्थान समर्पित कर दिया। क्यों न हो, मनुष्य मनुष्य से आदरणीय व महान् गुणोंके द्वारा ही होता है। वेद कहता है —

केतवः सूर्यं विश्वाय दृशे उद्वहन्ति"

किरणें ही सूर्य को ऊपर उठाये हुए हैं, जिस से लोग इसको भलीभाँति देख सकें, उसकी भास्वर ज्योति को ले सकें, क्यों कि प्रत्येक अपने से ऊंचे को देखता है, छोटे या नीचे पर दृष्टि विरले की ही पडती है। नीच की कथा सुनना कोई भी पसन्द नहीं करता। इसी लिये वेद केवल " वहन्ति " ही नहीं, प्रत्युत " उत् " उपसर्ग साथ लगाता है, जिस का अर्थ ऊपर को उठाना है।

एक समयकी बात है कि, ऋषि भ्रमण करते करते किसी गहन कान्तार में जा निकले, जिस में लकड हारे लकडियें काट कर स्वयं घर जाने के लिये उद्यत हो रहे थे, कि इतने में क्या देखते हैं कि, एक लकडहारा एक ऊंचे वृक्षपर चढकर अपने सहचारियों को बुलाने लगा। तब उस के उतरनेपर ऋषि ने पूछा, भद्र! यदि तुम्हें साथियोंको बुलाना था, तो यहीं नीचे खडे हो कर आवाज दे देते; ऊपर चढने का क्या प्रयोजन था! तब उसने बडी विनीत भाव से कहा भगवन्! नीचे खडे हुए मेरी आवाज वृक्षों में रुक जाती और उन तक न पहुंच सकती इस लिये मैं ऊपर चढा। इस लघुवाक्य से ऋषि क्या ही सुन्दर प्रकृष्ट भावका आविष्कार करते हैं कि, हे विद्वन्! यदि तेरा लक्ष्य मनुष्यों तक

अपनी आवाज पहुंचाना है, तो उनसे कुछ विशेष बनना पडेगा, उन सांसारिकों से उन्नत गुणों का धनी तुझे बनना होगा ।

आहा ! क्याही सुन्दर उपदेश है । सज्जनों ! अपना व अपनी बात का आदर करवाने के लिये एकमात्र साधन " उनसे अधिक गुणी बनना " ही स्वीकार करना चाहिये, इसके अतिरिक्त कल्याण नहीं; अधिक गुणों के संचयार्थ मैं प्रथमही कहचुका हूं कि, ईश्वर ही सब गुणों का भण्डार है, अद्वितीय अनुपम आप और हम सब का रक्षक पिता है । अतः सज्जन पुरुषो! यह अन्तिम निवेदन है कि जीव नित्यंप्रति उस स्तुत्य, प्रार्थ्य और उपास्य देव की स्तुति, प्रार्थना और उपासना में संसक्त रहें, जिस से आत्मा में शक्तिका संचार हो और अपने जीवनको सुधारते हुए हम अन्य जीवोंके कल्याण का हेतु बन सकें। और इस श्रुति का यथाशक्ति आचरण करें —

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥　　　　ऋ. ८ । १ । १

हे सुहृज्जनो ! ईश्वरीय स्तोत्रको छोड अन्य स्तोत्र न उच्चारण करो । अन्यान्य स्तोत्रोंके उच्चारणसे हिंसक न बनो । अतः प्रत्येक यज्ञ में अभीष्टवर्षिता परमात्मा की ही साथ मिलकर स्तुति करो । हे सखायो ? बार बार प्रशंसा वाक्य कहो ॥

ब्रह्मचारी विद्याधर विनीत
उपदेशक —
महाविद्यालय ।

* वेदार्थ । *

सहायता की आशा ।

(लेखक— श्री० पं० सत्यव्रतजी)



वेदपर बडी देर से विचार होते रहे हैं । वेदकी भाषा इतनी अस्वाभाविक सी बनगई प्रतीत होती है, कि अब हाथ उठाकर यह कह सकना कि ' हां, इस मंत्रका यही अर्थ है और कोई नहीं' अत्यंत कठिन हो गया है । अब वेद के पीछे चलनेका जमाना नहीं रहा, वेदको अपने पीछे चलानेके लिये लोग कमर कस रहे हैं !!!

आज यदि कोई नया आविष्कार होता है, तो कल वही वेद भाष्यकार वेदसे भी निकाल मारते हैं, परन्तु तीसरे दिन जब उस आविष्कार की असत्यता प्रतिपादित हो जाती है, तो भाष्यकार जी को बगलें झांकने के सिवाय कुछ नहीं सूझ पडता ! अस्तु ।

वेदपर मगज मारना आज ही की बात नहीं, परन्तु जिस काल को हम उन्नति का काल कहते हैं, और जिस कालको योरपियन दिमाग सोचने में असमर्थ हैं, उस कालमें भी वेदकी शिक्षा को साधारण पुरुषोंका बुद्धिगम्य बनाने के लिये बडे बडे उद्योग होते रहे, बडे बडे भाष्य तथा ग्रन्थ लिखे एवं पढे जाते रहे । उन्हीं उद्योगोंके फली भूत ब्राह्मणग्रन्थ हैं, जिनके लिये यह विचारना आवश्यक प्रतीत होता है, कि वर्तमान कालमें उनकी वेदार्थ प्रतिपादनमें कहांतक सहायता ली जा सक्ती है।

परन्तु यदि ब्राह्मणग्रन्थ वेद की व्याख्या ही न हों, तब तो वेदार्थ में उन की विशेष सहायता नहीं ले सकते? क्यों कि भिन्न भिन्न स्वतंत्र ग्रन्थ होनेके कारण वेदों के साथ उनका भाष्य-ग्रन्थ रूपसे सम्बन्ध नहीं हो सकता । यद्यपि इस विषय में बहुत लिखने की जरूरत नहीं है, तथापि वेद के बडे भारी पंडित की यहां सम्मति देना आवश्यक प्रतीत होता है । यदि निरुक्तकार यास्क ब्राह्मणग्रन्थों को वेदार्थ में सहायक मानते हों, तो हमारा ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदार्थ में सहायक मान लेना निष्प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता ।

निरुक्त के १ म अध्याय के ५ म पाद में कौत्स के मन्त्रों की अनर्थकता प्रतिपादक विचारों पर विचार करते हुए पूर्वपक्षके रूपसे लिखा है—

'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते'।

अर्थात मंत्र अनर्थक हैं, क्यों कि इन्हें 'ब्राह्मण' रूप देते हैं, यदि इनका स्वतः अर्थ होता, तो ब्राह्मण इन्हे रूपसम्पन्न क्यों करता, इन्हें कोई विशेष अर्थ क्यों देता । इस प्रश्नका उत्तर देते हुए निरुक्तकार यास्क लिखते हैं —

'यथा एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयंते इत्युदितानुवादः स भवति'।

अर्थात् यद्यपि ब्राह्मण वेदमन्त्र को अपना रूप देता है, तो भी वह '**उदितानुवाद**' होता है । यदि निरुक्तकार का यही मत होता कि ब्राह्मण ग्रन्थ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, तो उन्हे कहना चाहिये था, कि 'ब्राह्मण रूपसम्पन्न करता ही नहीं'। '**ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का अनुवाद है**' यह निरुक्तकार का कथन है । इस से यही तात्पर्य निकलता है, कि ब्राह्मणग्रन्थों के समय में वेद का अर्थ करना कठिन प्रतीत होने लगा था, क्यों कि अनुवाद की वहीं जरूरत पडती है, जहां मौलिक भाषा समझमें न आसकती हो । यदि आंग्ल भाषा सारे भारत वर्ष में पढी जा सके, तो उसके ग्रन्थों का हिन्दी में क्यों उल्था किया जाय ? अस्तु ।

अब प्रश्न उठता है, कि यदि ब्राह्मणग्रंथ वेदार्थ में सहायक हैं, तो उनसे क्या सहायता ली

जा सकती है ? उन से सहायता लेने का क्षेत्र कहांतक है!

ब्राह्मण, वेदकी व्याख्या हैं, और व्याख्या कारके लिये जो जो बातें आवश्यक होती हैं, वे उनमें पायी जाती हैं। दृष्टान्त देकर बातका स्पष्ट करना बडे बडे व्याख्याकारों की शैली है। ब्राह्मणोंमें इसी कारण दृष्टान्त के रूपसे समझाने के लिये तात्कालिक अथवा प्रचलित कई कथाओं का वर्णन है। साधारण मनुष्य उन कथाओं को पढ वेदमें इतिहास समझने लगते हैं। वास्तव में इसका कारण हम लोगोंका व्याख्या तथा व्याख्येय में भेद न कर सकना है। ये व्याख्याएं ऐसी मिली हुई हैं, कि व्याख्येय मंत्र तथा व्याख्याका भेद करना कठिन हो जाता है। कहीं " **यम और यमी** " शब्द आगये, तो ब्राह्मणोंमें या तो प्रचलित गाथाओं से उनको स्पष्ट करनेका यत्न किया गया होगा अथवा स्वयं कल्पित करके वा तात्कालिक घटनाओं को भी दृष्टान्त के लिये रक्खा गया होगा, जैसे कि आजकल हरेक बातके दृष्टान्त वा समझाने के लिये १९१४ के युद्धके दृष्टान्त लेनेकी कोशिश की जाती है।

जो वेदार्थ कर्ता ब्राह्मणों को इन कठिन समस्याओं को हल कर सके उन्हींके लिये ब्राह्मण वेदार्थमें सहायक हो सकते हैं, अन्यथा हम लोगोंके लिये ब्राह्मण वेदार्थके लिये यहीं तक सहायक हैं कि एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। ब्राह्मणोंमें एक शब्दके अनेक अर्थ बताये गये हैं, जो वेदके अर्थ करने की बडी भारी कुंजी मालूम होती है, क्यों कि निरुक्त कार तथा स्वामी दयानन्दने आगे उन्हींके विस्तारका प्रयत्न किया है। अतः यद्यपि हम ब्राह्मणोंको वेदोंके अर्थ की सहायता देने से इन्कार नहीं कर सकते, तथापि इस समय उनसे किसी विशेष सहायताकी आशा रखना युक्तियुक्त नहीं है। हम यह दावेसे कह सकते हैं, कि ब्राह्मणोंसे जो भी कोई नई बात निकालेगी, वह यौगिक अर्थ के माननेके सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगी। सब बातों के नीचे यही नियम काम कर रहा होगा। एक ही आत्मा भिन्न शरीरोंको धारण कर भिन्न भिन्न रूप दिखा रही होगी— एक ही नियम भिन्न शब्दोंमें प्रकट किया जा रहा होगा।

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थ '**यज्ञ**' विषयक खोज के लिये बडे उपयोगी तथा सहायक हो सकते हैं, तथापि वेदार्थ में उनसे विशेष सहायता नहीं मिल सकती। ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड को इतनी प्रधानता दी गई है, कि विज्ञान काण्ड सर्वथा छिप जाता है। अनेक मंत्रोंका विनियोग बताना ब्राह्मणोंका काम है। वृष्टि याग में विनियुक्त मंत्र वर्षा प्रतिपादक होंगे, अतः उनका अर्थ वर्षा परक होगा, यह उनसे पता लगाया जा सकता है, किन्तु जब हम उपनिषदोंके—

> **' प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टाद-
> शोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो
> येऽभि नन्दान्ति मूढा जरामृत्युन्ते
> पुनरेवापि यान्ति।'**

इत्यादि वाक्यों को देखते हैं, तो बडे भारी सन्देह में पड जाते हैं। क्या ब्राह्मणों का

उक्त मन्त्रों को तत्तत्संस्कार में प्रतिपादित करना संगत है, वा नहीं; इस का कुछ निर्णय नहीं कर सकते !!

उपनिषदों का स्रोत वेद है ही, परन्तु उपनिषदों में वेदमन्त्रों की व्याख्या नहीं की गई। अतः ब्राह्मण और उपनिषदों से हमें जहां शब्दों के यौगिक अर्थ करने की शिक्षा मिलती है, वहां वेदों का कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड प्रतिपादक होना, उनके उन विषयों को प्रतिपादित करनेसे ज्ञात हो जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ स्पष्ट कोई वेदार्थ की कुञ्जी नहीं देते, और नहीं उपनिषदें हमें वेदार्थ के करनेमें किसी प्रत्यक्ष सहायता की आशा दिलाती है; परन्तु फिर भी उन की लेखन शैली तथा विषय प्रतिपादन शैली से हमें इस बात के निर्णय करने में कोई सन्देह नहीं रहता, कि "वेदका विषय कर्मकांड और ज्ञान काण्ड दोनों को प्रतिपादन करना है। वेद का व्याख्या प्रकार यौगिकवाद है।"

ब्राह्मण और उपनिषद् के बाद निघण्टु और निरुक्तों एवं व्याकरण का जमाना आता है। वास्तव में निघण्टु, निरुक्त तथा व्याकरण वेदार्थ करने में सब से बडे सहायक का काम कर सकते हैं, वेद के विद्यार्थी के लिये यही बडे भारी मार्ग-दर्शक हैं। निरुक्तकार यास्क ने ब्राह्मणों का उद्धरण देते हुए, ब्राह्मणों की वेदार्थ प्रतिपादकता का प्रतिपादन करते हुए, ब्राह्मण तथा उपनिषदों के '**यौगिकवाद**' को अच्छे विस्तार से वर्णन किया है। '**अनेक शब्दोंका एक अर्थ**' और '**एक शब्द के अनेक अर्थ**' वेद में प्रतिपादन करने के लिये, निरुक्तकारने सारा का सारा नैगम काण्ड लिखा है, जिस में प्रमाण चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद की प्रथम पंक्ति ही है। वे लिखते हैं—

'**एकार्थमनेकशब्दमित्युक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः।**' (निरु ४।१)

अर्थात् 'अनेक शब्दोंका एक अर्थ प्रतिपादन करके हम एक शब्द के अनेक अर्थ करने के प्रकार का वर्णन करेंगे'। अपने सारे वर्णन में निरुक्तकार का मुख्य प्रतिपाद्य '**यौगिक वाद**' ही है, क्यों कि सारे नैगम काण्ड में शब्दों का अर्थ व्युत्पत्ति पूर्वक समझाया गया है।

निरुक्तकार के नैगम काण्डके '**निरर्थक अव्यय**' '**इवार्थक शब्द**,और '**उपमा**' प्रकरणों को छोडकर शेष सारे भाग का तात्पर्य केवल '**यौगिकवाद**' की ही पुष्टि कर उसे समझाने का है। इतने से यह पता लग सकता है, कि '**यौगिकवाद**' के निरुक्त कार दो भेद करते हैं।

(१) प्रथम– '**शब्दों का एक अर्थ होना**' और

(२) द्वितीय – '**एक शब्द के अनेक अर्थों का होना**'।

इन दोनों प्रकार के शब्दों का व्याख्या प्रकार निरुक्तके द्वितीयाध्यायके प्रथम पादमें अच्छी तरह समझाया गया है, जिसका भावार्थ निम्न लिखित है:—

" स्वर और प्रकृति प्रत्यय अर्थात् व्याकरणानुकूल ही जहां शब्दार्थ ठीक बैठे वहां वही अर्थ करना चाहिये, जरा भी खेंचातानी मत करे। जहां स्वर तथा व्याकरण से मंत्रार्थ प्रकरणानुकूल वा युक्तियुक्त प्रतीत न होता हो वहां कृत्तद्धित समास की सहायता से प्रकरणानुकूल तथा युक्तियुक्त अर्थ करने की चेष्टा करे। किन्तु यदि मंत्रार्थ करते करते कोई ऐसा स्थल आ जावे जहां उपरोक्त दोनों प्रकार में से कोई भी प्रकार मंत्र की गांठ को न खोल सके तो अक्षर और वर्ण को शब्दसे भिन्न भिन्न कर के अर्थ करने की कोशिश करें, क्यों कि हो सकता है, कि वहां मंत्रमें एक एक अक्षर का अर्थ हो और हम कई अक्षरों को मिलकर एक शब्द बनाकर अर्थ कर रहे हों। " शब्द के विषय में इतना कह कर विभक्ति के विषय में लिखा है — " अर्थानुकूल विभक्ति को बदल ले। जहां तृतीया, तृतीयार्थ प्रतिपादन न करके चतुर्थ्यर्थ प्रतिपादन करती हो, वहां अर्थ कर्ता घबराए नहीं अपि तु वैसा ही करे " निरुक्तकार ने श्रद्धावश व्याकरण का इतना ही तिरस्कार नहीं किया, किन्तु आगे फिर लिखा है, कि " मन्त्रोंके शब्दों में आदिवर्णलोप, अन्तवर्णलोप, उपधालोप, उपधाविकार, एकवर्णलोप, द्विवर्णलोप, आदिविपर्यय, अन्तविपर्यय, वर्णोपजन तथा सम्प्रसारण- ये सब पाये-जाते हैं, अतः जहां इनसे सहायता की आवश्यकता हो वहां इन्हें भी काम में लाये। "

निरुक्तकार की यह श्रद्धा सर्वथा युक्तियुक्त है। उनका श्रद्धामन्दिर वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के विश्वास पर ही खडा है। ठीक है, यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो उन में कोई अप्रकरणगत, एवं अयुक्ति युक्त बात नहीं होना चाहिये। निरुक्त के परिशिष्ट प्रकरण में लिखा है —

" अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहो ऽ भ्यूढो ऽ पि श्रुतितो ऽ पि तर्कतो
न तु पृथक्त्वेन मंत्रानिर्वक्तव्या
प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः "

अर्थात श्रुति स्वयं, कहती है कि। तर्क और प्रकरण ही मंत्रार्थ करने के मुख्य साधन हैं। निरुक्तकारने जहां उपदेश किया, कि वेद से वेद के अर्थ करो, वहां तर्क और प्रकरण की भी मुख्यता जितलायी। जब तर्क ऋषि स्वतः प्रमाण वेद का अनुशीलन करते हैं, तब वे स्वयं निरुक्तोक्त नियम हमारे सन्मुख रख देते हैं। अतः निरुक्त जहां व्याकरणादि का आश्रय लेते हैं और उचित अवधितक ही उन्हे वेदार्थ करने में सहायक मानते हैं, वहां वेदार्थ करने की सबसे बडी कसोटी ' तर्क ' हमारे सामने रखते हैं, क्यों कि श्रुति तथा प्रकरण एवं अन्य सब वेदार्थ प्रकार भी तर्क महाराज के उदर में ही समा सकते हैं। क्यों कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, अतः वह तर्क की कसौटी पर रखे जाने पर जरूर हमारे विश्वास तथा श्रद्धा को बढायेंगे।

तर्क विरुद्ध बातों का वेदमें होना हमारी

प्रतिज्ञा को तोडता है, उन के होने से वे ईश्वरीय ज्ञान नहीं रह सकते। यदि तर्क विरुद्ध होते हुए भी वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, तो बायबल और कुराण हमारे आदरणीय क्यों नहीं? तभी हमारे बडे एक स्वरसे कहते रहे --

'यस्तर्केणानु संधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'

अर्थात् धर्मका आधार कच्चा रेतीला टीला 'विश्वास' नहीं, परंतु हिमालय की पक्की से पक्की चट्टान-'**तर्क**' है। निरुक्तकार ने तर्क ऋषि के उपदेशानुसार ही वेद के लिये व्याकरण का उचित से अधिक सन्मान न कर संस्कार का, विभक्ति का, तिरस्कार किया; उसी ऋषि के उपदेश का अनुसरण कर उन्हों ने वेदार्थ के उपरोक्त अनन्य तरीके निकाले।

निरुक्तकारों--प्राचीन भाष्यकारों-के बाद मध्यकालीन भाष्यकारों का समय आता है। सायण, उवट और महीधर आदि के भाष्य मध्यकालीन भाष्य कहे जा सकते हैं। इन भाष्योंकी अपनी कोई ऐसी विशेषता नहीं, जिसे हम सहायता के तौर पर ले सकें यह कह देना भूल है। वेदार्थ कर्ता को इन के भाष्यों से बडी भारी सहायता मिल सकती है। केवल शब्दों के अर्थ बता देना, यह काम भी इतना बडा है, कि आदमी को आधा परिश्रम बचा लेता है। इन भाष्यों में कई त्रुटियें हैं, तथापि वेदभाष्य कर्ता को सायणादि के भाष्य कुछ न कुछ मार्गदर्शक का काम कर देते हैं। इन की सहायता शब्दार्थ बता देना मात्र है, अन्य कुछ नहीं।

मध्यकालीन भाष्यकारों में दोष यही है, कि उन्हों ने प्रचलित कथाओं को वेदमें से निकालने का यत्न किया है। इसी उद्योग के कारण उन्हें शब्दों की रूढिता वा योगरूढिता ही माननी पडती है, और यौगिकता से इन्कार करना पडता है। वास्तव में (ऋ. मं. १। सू. ५०। मं. ९९) इत्यादि मंत्रोंसे पौराणिक कथाओं का निकालना सायण के लिये आवश्यक हो गया था। जब कि-

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'

मंत्र से कबीर पंथी कबीर की प्रशंसा वेदों में प्रतिपादित करना चाहते हैं; जब---

'ईशा वास्यमिदं सर्वं'

से ईसाई ईसा को वेदों का श्रद्धेय बताते हैं; तब सायण का यवनपादाक्रान्त कालमें, हरिहर और बुक्काराय के मान्त्रित्व में, पराये हाथों निकल स्वतंत्रता के अमृतमय आनन्द में मगन हो, विजयनगर की आधार शिला रक्खे जाने के समय पौराणिक मत को फिर से चमकाने तथा लोगोंका उसमें विश्वास जमाने के उद्देश्य से वेदों में पौराणिक गाथाओं को निकालना और पुराणों का स्रोत सीधा वेद को बताना कोई असम्भव प्रतीत नहीं होता। सायण का उद्देश्य वेदभाष्य करना नहीं, अपि तु पौराणिक मत की उत्कृष्टता सिद्ध करना ही प्रतीत होता है, इसीके लिये उसे वेदों में से कथा कहानियें निकालनी पडीं, इसी के लिये, ही वैदिक शब्दों की यौगिकता को दूर छोडना पडा।

आज कल सायण के भाष्य को पूर्ण भाष्य समझकर उसका अध्ययन करना उतना ही हानिकर है, जितना पुराणों को साक्षात् आप्त वचन समझकर उसी की पूजा करना। क्यों कि सायण ने पुराण को आगे रखकर वेदभाष्य करना चाहा है, अतः उस का भाष्य ' **वेदमें पुराण** ' इस शीर्षक में ही समाप्त हो जाता है। पुराण पढने से समय नष्ट होता, एवं परमात्मा का भाव गड बडी में पड जाता है, और यही कुछ सायण भाष्य की भक्ति से मिलता है; परन्तु फिर भी शब्दार्थ प्रतिपादकता के विषय में सायणभाष्य बहुत कुछ सहायक है।

मध्यकाल की सहायता देख चुके, अब वर्तमान काल पर कुछ विचार करना चाहिये। इस समय सहायता की आशा से चारों तरफ नजर डालने पर हमें एक तरफ दयानन्द तथा दूसरी तरफ युरोपीय विद्वान् दीख पडते हैं।

स्वामिजी के वेदार्थ विषयक सिद्धांत निम्न लिखित हैं।

(१)वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

(२)वेदों के यौगिक तथा योगरूढि शब्द हैं, अत एव वेदोंमें इतिहासादिका परिहार हो सकता है।

(३)प्रत्येक मंत्रके तीन अर्थ हो सकते हैं।

(क)आधि दैविक।

(ख)आध्यात्मिक।

(ग)आधि भौतिक।

क्यों कि इन तीनों बातों पर अभीतक किसी ने न कोई आक्षेप किया और हमें भी इन पर कुछ कहना नहीं है, अतः इन विषयों को यहां निर्देश मात्र से ही छोड दिया है। प्रथम और तृतीय सिद्धान्त ' **वेदके विषय** ' से सम्बन्ध रखते हैं, अतः इन दोनों की परख ' **वेद और उन के विषय**, इस शीर्षक के नीचे यथास्थान की जायगी।

पाश्चात्य विद्वानों से सहायता की आशा चाहना अपने घरवाले से घर की बात न पूछ कर जिस किसीसे पूछने के समान है। मौलिक वेद का अनुशीलन कोई भी पश्चिमीय विद्वान् कर नहीं पाया। यदि वेद पढते हैं, तो या तो सायणादि के भाष्य को यथोचित भाष्य समझ कर पढते हैं, या जो मंत्र सामने आया उसी को ले, प्रकरणादि सब कुछ छोड, उस का अर्थ करते हैं। वे विकासवाद को आगे रख बच्चों के गीतों का आनन्द लेना चाहते हैं। वे सदा यही चाहते हैं, कि वेदों में से कोई ऐसी बात निकल आवे जिस की बैबिलोनिया आदि के धर्म के साथ कुछ समानता हो —और वे बडे भारी आविष्कारक गिने जाने लगें।

जब तर्क की उचितसे अधिक पैनी तलवार ले आगे बढते हुए, प्रहार करने की इच्छासे आखें लाल किये हुए, पाश्चात्य वीरों को वेदसे उन्नीसवी सदी के प्रेममय ललित शब्द सुनाई पडते हैं, तब भी श्रद्धा को अणुमात्र भी न अपनाना वहां की सभ्यता है। हम मानते हैं कि, पाश्चात्य विद्वान् वेदको ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते और

जब तक ईसायत के पक्षपात के उपनेत्रों से वेद की तरफ देखेंगे तब तक वे उसे ईश्वरीय ज्ञान कभी मान भी नहीं सकते तब भी वेदों को श्रद्धा से विचार करने में उन का क्या घटता है?

वेद के जिज्ञासु के लिये हमारे यहां श्रद्धा और विश्वास की बडी भारी जरूरत बतायी गयी है, उसके लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा तपस्या का होना आवश्यक बताया गया है। मान भी लिया कि वेद बच्चों की बलबलाहट हैं तो भी याद रखना चाहिये कि कभी कभी बुड्ढों की अक्ल जहां चकरा जाती है वहां बच्चे ही गांठ खोल देते हैं। अस्तु।

पाश्चात्य विद्वानों के भाष्यों से यदि कुछ लाभ नहीं तो संस्कृतानभिज्ञ आंग्लभाषा के पण्डितों को जो कि वेद को सूंघना चाहते हैं। ये कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुंचा सकते हैं, संस्कृत के जानने वाले पण्डित को सायण और महीधर के भाष्य जितनी सहायता दे सकते हैं, आंग्ल भाषाके पण्डित को ग्रिफिथ और मेक्समूलर के अनुवाद उतनी (या उस से कुछ कम) सहायता दे सकते हैं। इन से नवीनता की आशा दुराशा मात्र है।

यहां तक हमें जो कुछ सहायता की आशा हो सकती थी उस पर एक सरसरी सी नजर डाली गई है। इससे हमें स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यद्यपि बडे बडे परिश्रम वेदार्थ करने के लिये होते रहे और हो रहे हैं तथापि कृतकार्यता--पूर्ण कृतकार्यता कहना अच्छा होगा, किसी को भी नहीं हुई। वेद के शब्दोंका अर्थ लगा देना ही कृतकार्यता नहीं, परन्तु कृतकार्यता वेद में से कुछ नवीनता के प्राप्त करने में है। यदि वेद का शब्दार्थ ज्ञान ही कृतकार्यता वा वेदार्थ का उद्देश्य हो तो वेदों पर समय खाने की कोई जरूरत नहीं-बाइबल और कुरान वेद से अच्छे हैं।

संक्षेप से हमें वेदार्थमें सहायता जो मिली वे निम्न लिखित हैं।

(१) वेद ईश्वरीय ज्ञान है, अतः उस से कुछ नवीनता प्राप्ति की आशा है।

(२) वेद में ज्ञान तथा कर्म दोनों का उपदेश है।

(३) वेदार्थ प्रकार में वेदों की यौगिक भाषा मानना आवश्यक है।

(४) व्याकरणादि जहांतक वेद के साथ चल सकें वहीं तक प्रमाण हैं, उस से आगे नहीं।

(५) वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है। शेष सब बातें इन्हीं पांच के भीतर बडी अच्छी तरह से समाविष्ट हो सकती हैं।



वैदिक धर्म में विज्ञापन

" वैदिक धर्म " मासिक पत्र में विश्वास पात्र विज्ञापन मुद्रित करने का प्रारंभ हुआ है। हम हर एक विज्ञापन नहीं लेते, परंतु जो विश्वास रखने योग्य और हमारे ग्राहकों के लिये लाभ-कारी होंगे, वे ही विज्ञापन हम लेते हैं।

" वैदिक धर्म " मासिक पत्र में विज्ञापन छपाई के नियम निम्न लिखित हैं-

(१) विश्वास रखने योग्य विज्ञापन ही इस पत्रमें मुद्रित होंगे।

(२) जिन विज्ञापनों से ग्राहकों के लिये लाभ होगा, उसी प्रकारके विज्ञापन मुद्रित होंगे।

(३) औषधियोंके विज्ञापन लिये नहीं जांयगे।

विज्ञापन का मूल्य।

	१ वर्ष केलिये प्रतिमास	६ मासके लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ७)	रु. ८)
आधा पृष्ठ	रु. ४)	,, ४॥)
चतुर्थांश पृष्ठ	रु. २।)	,, २॥)

	३ मास के लिये प्रतिमास	१ मास के लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ९)	रु. १०)
आधा पृष्ठ	,, ५)	,, ६)
चतुर्थांश पृष्ठ	,, ३)	,, ४)

विज्ञापन का मूल्य पहिले लिया जायगा।

(४) विज्ञापन छपते समयतक विज्ञापकको विना मूल्य "वैदिक धर्म" मासिकपत्र दिया जायगा।

" वैदिक धर्म " मासिक पत्रमें विज्ञापन देना बहुत लाभ दायक है, क्यों कि इस पत्रके अंक सब ग्राहक सुरक्षित रखते हैं।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा



ईश्वर उपासना करनेके समय।

वायु शुद्धि से चित्त प्रसन्न करनेकेलिये **अगरबत्ती!**

सब नमूने मिलकर २० तोले। वी. पी. से १॥) रु.

सब विशेष नमूने मिलकर ६० तोले वी.पी.से ५) रु.

हमारी इस मुद्राकी अगरबत्ती लगाइये।

मिलनेका स्थान-**सुगंध-शाला,** डाकघर किन्नही [KINHI] (जि. सातारा)

* स्वाध्याय के ग्रंथ। *

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध।
मनुष्योंकी सची उन्नतिका सचा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध।
" एक ईश्वरकी उपासना। " मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण।
" सची शांतिका सचा उपाय। " मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)
(४) देवताविचार। मू. ≡)
(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)
(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)
(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)
(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)
(६) योग के आसन। मू. २)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)
(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग। १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।-)
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)
(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू. ॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)
(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)
(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या।
. ॥=)
(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध
(जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

Registered No B. 1463



वर्ष ५ अंक ४ चैत्र सं. १९८१
क्रमांक ५२ अप्रैल स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र।

—:o:—

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूचि।



वर्ष ५
अंक ४
क्रमांक ५२

वैदिकधर्म

चैत्र १९८१
अप्रैल १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

गौ और अन्न ।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः सं बभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सानो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

अथर्व. १२।१।४

जिस पृथ्वीके चारों प्रदिशाओं में रहने वाले (कृष्टयः) पुरुषार्थी मनुष्य (यस्यां) जिसमें अन्न उत्पन्न करते हैं। और जो (बहु-धा) अनेक प्रकार से प्राण धारण करने वाले और (एजत्) हलचल करनेवाले प्राणिमात्रको (बिभर्ति) धारणपोषण करती है, वह (नः भूमिः) हमारी मातृभूमि हम सबको गौवों और अन्नमें (दधातु) रखे ॥

हमारी मातृभूमिके चारों ओरके प्रांतों में उत्तम पुरुषार्थी लोग हैं, जो विविध पुरुषार्थ करके अनेक प्रकार का अन्न पैदा करते हैं। यह हमारी मातृभूमि अत्यंत उपजाऊ होनेके कारण हरएक प्रकारके प्राणीका यहां उत्तम धारण और पोषण हो रहा है। इसीप्रकार भविष्यमें भी हमारे चारों ओर बहुत अन्न होवे ॥

सामयिक विचार।

* * *

(१) इंद्रशक्ति।

वैदिक धर्मके " विशेष अंक " में इंद्रशक्ति का विकास करने का लेख प्रसिद्ध होने के बाद कई पाठकों से पत्र आ रहे हैं, जिसमें वे लिखते हैं कि "इस लेख का विषय अत्यंत महत्त्व पूर्ण होने के कारण, और हरएक व्यक्तिके साथ इसका संबंध होनेके कारण, इसी लेख के एकएक विषय को अधिक खोल कर अधिक विस्तार पूर्वक लिखा जावे।" इस विषय में इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है, कि इंद्र शक्ति संवर्धन के संपूर्ण वेदमंत्रोंका अधिक विचार करके विस्तृत लेख लिखने का विचार है, परंतु उस कार्य के लिये बहुत समय लगेगा।

* * *

(२) शुद्धिका कार्य।

शुद्धिका पवित्र कार्य श्री. स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज कर रहे हैं। इस समय शुद्धि के कार्य के लिये हिंदुमात्रकी सहानुभूति जागृत हो रही है, यह एक प्रसन्नताकी बात है। अन्य धर्ममें गये हुए स्वधर्मियों को पुनः अपने धर्म में लेकर पूर्णतासे उनको अपनानेका अधिकार हरएक जीवित धर्मके लोगोंको है। सनातन " **वैदिक धर्म** " सदा जीवित रहनेवाला धर्म है इसलिये इसकोभी उक्त अधिकार अवश्य ही है।

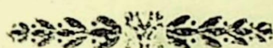
गत दो सहस्राब्दियों में कई विदेशी विधर्मियों को भी इस सनातन वैदिक धर्मने अपनाया था, श्रीशंकराचार्य जी ने सहस्रों बौद्धोंको पुनः स्वधर्म में लिया था, तथा पूनाके पेशवाओं के और श्रीशिवछत्रपतिके समयमें भी कई हिंदु, जो महमदी बन गये थे, वापस हिंदुधर्म में लाये गये थे, वही कार्य श्रीपूज्यपाद श्री स्वामीश्रद्धानंद जी महाराज इस समय कर रहे हैं, इसलिये हर एक सनातन वैदिकधर्मी को उचित है, कि वह इस कार्यका महत्त्व जान कर, अपने द्वारा इसकी जितनी प्रगति हो सकती है, अवश्य करे।

* * *

(३) अस्पृश्यता।

शुद्ध सनातन वैदिकधर्मके पवित्र नाम पर यदि कोई अपवित्र बात की जा रही होगी, तो "**पंचम वर्ण** "को अस्पृश्य मानना ही है। कई शताब्दियोंके पूर्व उनके पूर्वजोंके कई दोषों के कारण उनको बहिष्कृत और अस्पृश्य माना गया होगा, परंतु वही दोषकी बात इस समय तक चली आ रही है। ऐसा मानना बडी भारी भूल है। बंबई में कई उत्साही पुरुषार्थी विद्वानों ने अस्पृश्यता को जड से उखाडने के लिये " **अस्पृश्यता निवारक** " साप्ताहिक पत्र शुरू किया है। यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। आजकल इस पत्र में एक नवीन वाद उपस्थित हुआ है। कईयोंका मत यह है कि, इन अस्पृश्य अत्यंजों का

नाम " आदि हिंदु " रखा जाय। इस नाम परिवर्तन करनेके विषयमें उक्त पत्रमें बडा ही आंदोलन चल रहा है। इस विषयमें हमारा मत यह है कि जिस अस्पृश्यता का निवारण धर्मपरिवर्तन से भी नहीं हुआ, उस अस्पृश्यता का निवारण नाम परिवर्तन से होगा, ऐसा मानना बडी भारी भूल है। दक्षिण हिंदुस्थान में हिंदुओं से बने हुए इसाइयोंमें अभी तक यह अस्पृश्यता उतनी ही प्रबल है कि जितनी हिंदुओंमें है। ऐसी अवस्थामें नाम परिवर्तन करनेसे इन अंत्यजों में दो भेद खडे हो जायेंगे और उनकी उन्नतिमें एक नया विघ्न उत्पन्न हो जायगा। वास्तविक बात यह है कि अस्पृश्यता निवारण के लिये " अंत्यजोंकी शुद्धि " करनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत अंत्यजेतर " हिंदुओंके अंतःकरणों की शुद्धि " करनेकी ही विशेष आवश्यकता है। बहुत लोग गलतीसे समझते हैं कि अंत्यजों की शुद्धता होनी चाहिये। परंतु यहां अंत्यजोंके बडे भाइयोंके हृदयके अंदर समता और बंधुभाव उत्पन्न करनेकी ही विशेष आवश्यकता है। और यह कार्य उनका नाम न बदलते हुए ही हो सकता है और वैसा ही होना चाहिये। अन्यथा अंत्यजोंके कार्य की निःसंदेह हानि होगी।



* वैदिक कर्तव्य शास्त्र। *

(लेखक- श्री. पं. धर्मदेव सिद्धांतालंकार)

नवम सिद्धान्त।

स्वतन्त्रता संरक्षण।

मनु भगवान् ने अपने धर्मशास्त्र में सुख दुःख का लक्षण करते हुए कहा है कि —

" सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्। एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ "

जिस का अर्थ यह है कि पराधीनता दुःख है और स्वतन्त्रता सुख है। व्यक्ति के शरीरमें जब सब इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, आदि आत्माके वशमें रहते हैं, तभी स्थिर सुख और शान्तिका अनुभव उसे होता है। जब इन्द्रियां इस शरीर पर अधिकार जमा लेती हैं, जब शरीर रथका अधिष्ठाता आत्मा और बुद्धि रूपी सारथि, इन्द्रिय रूप घोडोंके पीछे पीछे चलने लगते हैं, तब मनकी लगाम को छुडवा कर इन्द्रिय अश्व आत्माको गढेमें जा कर गिरा देते हैं, जहां से उसका फिर

निकलना तक कठिन हो जाता है । यही पर अर्थात् इन्द्रियोंकी अधीनता ही सब आपत्ति योंका मूल है । इन्द्र (जीवात्मा) के अपने दास इन इन्द्रियोंके गुलाम बनते ही मनुष्य पर आपत्तियोंका पहाड टूट पडता है, अतः अपनी स्वाधीनता का संरक्षण करना सुखकी प्राप्तिके लिये अत्यावश्यक है । '**इन्द्रियाणि पराण्याहुः**' इत्यादि भगवद्गीता के वाक्यों से पराधीनताका उपर्युक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है । मनुस्मृति में –

" सर्व भूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति ॥ "

इत्यादि श्लोकोंमें स्वराज्य शब्दका उपर्युक्त आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है । इस लिये वेदके अन्दर जहां स्वराज्य शब्द आया है और उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये ऐसा उपदेश किया गया है, वहां आध्यात्मिक और बाह्य दोनों अर्थोंमें उसका ग्रहण करना चाहिये । उदाहरणार्थ –

" व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये " ऋ. ५ । ६६ । ६

इस मंत्रमें (व्यचिष्टे) व्यापक उदारता के भावसे युक्त (बहुपाय्ये) बहुतसे पुरुष मिलकर जिसकी रक्षा कर सकते हैं, ऐसे (स्वराज्ये) स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये (यतेमहि) हम सब यत्न करें, यह आधिभौतिक अथवा बाह्य अर्थमें स्वराज्य शब्दका अर्थ लेकर भाव निकलता है । आध्यात्मिक अर्थमें " बहुपाय्ये " का अर्थ बहुभिः पाय्ये के स्थानमें बहु अत्यन्तं पाय्ये रक्षणीये ऐसा समास बदल कर अत्यन्त रक्षणीय आत्मिक स्वतंत्रताकी प्राप्तिके लिये हम सब प्रयत्न करें, यह अभिप्राय हो सकता है । वेद इन स्वतंत्रता के भावोंसे भरा हुआ है । वेदके अनुसार अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा के लिये प्रत्येक व्यक्ति और समाज को अवश्यही यत्न करना चाहिये । निम्न लिखित मंत्रोंका इस दृष्टिसे मनन करना चाहिये ।—

(१)

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति । वज्रेणास्य मुखं जहि स संपिष्टो अपायति ॥

अथर्व ६ । ६ । २

अर्थात् (सोम) ऐश्वर्य युक्त (षुञ्-प्रसवैश्वर्ययोः) राजन् अथवा परमेश्वर (यः) जो (दुःशंसः) दुष्ट भाव वाला (सुशंसिनः नः) अच्छे भाव युक्त हम सज्जनों को (आददेशति) अपने आदेशमें या आधिनतामें रखना चाहता है (अस्य मुखम्) इस नीचके मुखको (वज्रेण जहि) वज्रसे काट डालो (सः) वह नीच (संपिष्टः) चूर चूर हो कर (अपायति) नष्ट हो जाए । यहां यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि दुःशंसः यह एक वचन है 'सुशंसिनः' बहु वचन है । जो एक नीच पुरुष सज्जनों पर हकूमत चलाना चाहता है, सज्जनोंका कर्तव्य है कि राजा की सहायता से उसका नाश कर दें ताकि उनकी स्वतंत्रता बनी रहे ।

(२) ऋ. २ । २३ । १० में —

" मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्रसुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ॥ "

यह मंत्र आया है जो पूर्वोक्त भाव का ही द्योतक है। (दुःशंसः) दुष्ट भाव वाला (अभिदिप्सुः) लोभी पुरुष (नः) हमारे ऊपर (मा ईशत) कभी शासन न करें, (सुशंसाः) अच्छे भावोंसे युक्त हम (मतिभिः) अपनी बुद्धि से (प्र तारिषीमहि) सब दुखों से तर जाएं। यहां भी वही स्वतन्त्रता का भाव साफ जाहिर होता है।

(३) ऋ. ९ । ६७ । १३-१४ में आदित्य ब्रह्मचारियों से जो प्रार्थना की गई है वह भी इस विषय में देखने योग्य है यथा।—

" यो मूर्धानः क्षितीनामदब्धास स्वयशसः । व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥ १३ ॥ ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत । स्तेनं बद्धमिवादिते ॥ १४ ॥

(ये आदित्यासः) जो आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष (क्षितीनां मूर्धानः) मनुष्यों के शिरोमणि (अदब्धासः) किसी से न दबने वाले (स्वयशसः) यशस्वी (अद्रुहः) द्रोह रहित हो कर (व्रता रक्षन्ते) शुभ कर्मों का संरक्षण करते हैं (ते) वे सब तेजस्वी पुरुष (नः) हम सब को (वृकाणाम्) पापियों के (आस्नः) मुख से (मुमोचत) छुडाएं। इन मन्त्रों पर विचार करने से मालूम होता है कि यह भी आध्यात्मिक आधिभौतिक अथवा आन्तरिक बाह्य दोनों प्रकार के बन्धनों से छुडाने की प्रार्थना है। क्षिति का अर्थ निघण्टु में मनुष्य दिया ही है। वृक के अर्थ पाप और पापी दोनों ही हो सकते हैं।

(४) अथर्व वेद के सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त के निम्न लिखित मन्त्र का उल्लेख करना भी यहां अत्यावश्यक जान पडता है —

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥

अ. १२ । १ । १४

अर्थात् (पृथिवि) हे मातृभूमे (यः) जो पुरुष (नः) हमारे साथ (द्वेषत्) द्वेष करता है (यः) जो (पृतन्यात्) सेना ले कर हमारे ऊपर हमला करता है (यः मनसा अभिदासात्) जो मन से हमें दास बनाने का विचार करता है (यो वधेन) जो शस्त्र के द्वारा हमारा वध करना चाहता है (तं) उस पुरुष को (नः) हमारे लिये अर्थात हम सब सज्जनों के हित के लिये (रन्धय) नाश कर दो। तात्पर्य यह है कि सब मातृ भूमि के भक्तों को अपनी स्वतन्त्रता का संरक्षण करना चाहिये कभी अपने को दासता में नहीं पडने देना चाहिये। किसी भी पुरुष की दासता में रहना अनुचित है चाहे वह अपने देश का हो वा दूसरे का, चाहे वह अपना हो वा पराया, इस भाव को अथर्व ६ । ५४ । ३ में देखिये कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है —

(५) सबन्धुश्चासबन्धुश्च, यो अस्माँ अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥

अर्थात हे इन्द्रशक्ति शाली पुरुष (सबन्धुश्च) अपनेकुल का आदमी (असन्बधुश्च) अथवा दूसरा कोई भी पुरुष (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) दास बनाता है (तं सर्वं) उस सबको (सुन्वते यजमानाय से) अग्निहोत्रादि शुभ कर्म करने वाले मेरे कल्याण के लिये (रन्धयासि) तू नष्ट कर दे। इस प्रकार स्वतन्त्र हो कर विचरण करने का भाव यहां स्पष्ट पाया जाता है।

(६) यजु. अ. ८। ४४ में भी बड़े जोरदार शब्दों में इसी स्वतन्त्रता के भाव का प्रकाश किया गया है यथा—

"वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥"

इस का अर्थ यह है कि हे (इन्द्र) शत्रु निवारक वीर पुरुष! (नः) हमारे (मृधः) हिंसक नीच शत्रुओं को (वि जहि) नष्ट कर दो (पृतन्यतः) जो सेना लेकर हमारे ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, उन को (नीचा यच्छ) नीचे गिरा दो, (यः) जो नीच पुरुष (अस्मान्) हमें (अभिदासति) दास बनाता वा बनाना चाहता है उसे (अधरं तमः गमय) अन्धकार के अन्दर गिरा दो अर्थात् सज्जनों को जो पुरुष गुलमीमें रखना चाहता है, वीर पुरुषों का कर्तव्य है, कि उस का मिल कर नाश कर दें।

इस प्रकार के वेद मन्त्रों को पढते हुए यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यद्यपि वेद में सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने और किसी से द्रोह न करने का स्पष्ट उपदेश है तथापि उसका अभिप्राय यह नहीं कि नीच पुरुषों को सज्जनों पर मन माना अत्याचार करने देना चाहिये। वैदिक धर्म के उपदेश अत्यन्त ओजस्वी हैं। वेद में सर्वत्र अदीनता और स्वाधीनता के भावों को ही प्रधानता दी गई है, इस लिये मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार स्वाधीनता को जो जबर्दस्ती हरण करना चाहते हैं, ऐसे नीच लोगों का मुकाबला करना समाज के हित के लिये आवश्यक ही है। पूर्वोक्त अहिंसा तत्त्व और इस स्वाधीनता के भाव में कोई विरोध वस्तुतः नहीं, यद्यपि ऊपर से देखने में कुछ समय के लिये जरूर मालूम देता है। निःसन्देह ईसाई मत और बौद्ध मत से वैदिक धर्म की शिक्षाएं इस विषय में बहुत भिन्न हैं, इस भेद का आगे संक्षेप से विचार किया जाएगा। यहां इस बात का निर्देश करना ही पर्याप्त है।

दशम सिद्धान्त।

" कर्तव्य निर्णय। "

कर्तव्य का निर्णय किस प्रकार किया जाए, यह कर्तव्य शास्त्र का एक अत्यन्त आवश्यक और जटिल प्रश्न है। बहुत से पाश्चात्य विचारक केवल अन्तःकरण की साक्षि को ही पर्याप्त समझते हैं, किन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि केवल अन्तःकरण की साक्षि कर्तव्य का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ है। जब अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो तो सम्भव है कि इस की साक्षि

पर पूर्ण विश्वास किया जा सके किन्तु ऐसी अवस्था को पैदा करना और पता लगाना तक कठिन है इस लिये आप्त प्रामाणिक पुरुषों के वचनों पर विश्वास रखना पूर्वीय विचारकों के अनुसार सर्वथा आवश्यक है। केवल अंतः करण पर विश्वास करना इस लिये भी कठिन है कि इस का आधार बहुत कुछ देश काल रीति रिवाजों तथा पूर्व संस्कारों पर है। इस विषय में जर्मनी के दार्शनिक शिरोमणि काण्ट ने जेम्समार्टिनो इत्यादि सदसद्विवेकबुद्धि को ही कर्तव्य निर्णायक माननेवाले विचारकों की आलोचना में जो कुछ लिखा है उस में से एक वाक्य उध्दृत करना अप्रासङ्गिक न होगा।

"Feelings which naturally differ in degree can not furnish a uniform standard of good and evil nor has any one a right to form judgments for others by his own feelings."

Metaphysics of morals p. 61.)

इस का भाव यह है कि अन्तःकरण के भाव पाप पुण्य या अच्छे बुरे का फैसला करने में सर्व सम्मत प्रमाण नहीं हो सकते क्यों कि वे व्यक्ति भेदसे भिन्न भिन्न होते हैं और एक पुरुष को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने भाव के आधार पर सब किसी के लिये कर्तव्य का फैसला कर दे। इस विषय पर यहां विवाद न करते हुए इतना ही कथन पर्याप्त है कि परमेश्वर ने पिता के रूप में सृष्टिके प्रारम्भ में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये पाप पुण्य कर्तव्याकर्तव्य का सब उपदेश वेद के द्वारा किया यह आर्यों का विश्वास चला आया है, जो बड़ा युक्ति युक्त मालूम होता है। जिस प्रकार किसी संस्था के चलाने में पूर्व नियम बनाना आवश्यक होता है और किसी प्रकार का कारखाना वगैरह चलाने के लिये भी पहले उस के नियम इत्यादि स्थिर कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार परम पिता परमेश्वर ने इस संसार रूपी एक बड़ी विस्तृत संस्था को स्थापना करते हुए यदि कर्तव्याकर्तव्य निर्णायक तत्वों का उपदेश हमें न किया होता, जो हम अपने पापों के लिये कभी भी जिम्मेवार न ठहरते. इस लिये वेद के द्वारा भगवान् ने धर्माधर्म का मनुष्य मात्र को उपदेश कर रखा है यही विश्वास हमें संगत प्रतीत होता है। स्वयं वेद के अन्दर परमेश्वर को कवि (सर्वज्ञ) नाम से पुकारते हुए वेद को उस का काव्य कहा है.

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।
अथर्व १०।८।३२

ऋ. १०।७१ में जिसे ज्ञान सूक्त के नाम से कहा जाता है इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वेद के बिना धर्म का यथार्थ ज्ञान अत्यन्त कठिन है। इस सूक्त का छटा मन्त्र इस प्रकार है —

"यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
ऋ० १०।७१।६

अर्थात् (यः) जो पुरुष (साचिविदं सखायम्) अपने साथ सम्बद्ध सब पदार्थों का ज्ञान कराने वाले वेद रूपी मित्र को (तित्याज) छोड देता है (तस्य) उस की (वाचि अपि) वाणी में भी (भागः) भजनीय अंश अथवा तत्त्व (न अस्ति) नहीं रहता (यत् ई शृणोति) वह जो भी सुनता है (अलकं शृणोति) व्यर्थ सुनता है (सुकृतस्य पन्थाम्) पुण्य धर्म मार्ग को वह (नहि प्रवेद) नहीं जानता। इस मन्त्रमें 'सचि विदं सखायं' में बहुत सम्भवतः वेद का ही निर्देश किया गया है यद्यपि पूर्ण निश्चय के साथ इस बात को कहना कठिन है। वेद के बिना धर्म मार्ग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता यह भाव इस वेद मन्त्र में सूचित किया गया मालूम होता है। यजु. अ. ४० म० ८ में भी—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः

इन शब्दों द्वारा सर्वज्ञ, सर्व व्यापक परमेश्वर ने यथार्थ प्रवाह से अनादि जगत् के पदार्थों का यथार्थ उपदेश किया यह अर्थ अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत है, जिसे स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु वेदमें पवित्र अन्तःकरण की साक्षि और सदाचार को भी कर्तव्य निर्णय में सहायक अवश्य माना गया है, इस बात को दिखाने के लिये यजु० अ० १९ का ७७ वां मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है जो इस प्रकार है —

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

अर्थात् (सत्यानृते रूपे) सत्य और असत्य रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थों को (दृष्ट्वा) देख कर (प्रजापतिः) परमेश्वर ने (व्याकरोत्) एक दूसरे से उन को भिन्न कर दिया, किस प्रकार (अनृते) असत्य में उस ने मनुष्य के पवित्र अन्तःकरण में (अश्रद्धाम् अदधात्) अश्रद्धा और अरुचि को स्थापित किया और (सत्ये श्रद्धाम् अदधात्) सत्य के अन्दर उस ने स्वभावतः श्रद्धा को रखा। इस मन्त्र के अन्दर सत्यासत्य का विभाग करना अत्यन्त कठिन है तथापि भगवान् ने मनुष्यों के हित के लिये उनके अन्तःकरण में स्वभावतः सत्य के लिये श्रद्धा और असत्य के लिये घृणा का भाव रख दिया है यह आशय प्रकट किया गया है। इस स्वाभाविक प्रकृति को मनुष्य अपने पापों और निर्बलताओं द्वारा बिगाड देता है यह फिर अन्तःकरण की निर्मलता स्थिर न रहने से उस की साक्षि पर प्रत्येक अवस्था में विश्वास करना असम्भव हो जाता है। तो भी कुछ अंशतक वह अन्तः करण की साक्षि कर्तव्य के जानने में हमें सहायता देती है इस में सन्देह नहीं। सदाचार भी कर्तव्य के निर्णय करने में कुछ अंश तक सहायक है। इस विषय में वेदमें से प्रमाण उद्धृत करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं 'तथापि नीचे ऋग्वेद से एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है जिस में विद्वानों को अपने से पूर्व के ज्ञानियों के मार्ग पर चलने का आ-

देश किया गया है। यह मन्त्र सामाजिक उन्नति के तत्त्वों का बडी उत्तम रीति से वर्णन करता है —

हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः। उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवा देवानामपि यन्ति पाथः।

ऋ. ३।८।९

अर्थात् (हंसा इव) हंसों के समान (श्रेणिशः यतानाः) संघ बना कर उद्देश सिद्धि के लिये यत्न करते हुए (शुक्राःवसानाः) शुद्ध वस्त्रों अथवा वीर्य को धारण करते हुए (स्वरवः) विद्या प्रकाशक शब्द युक्त हो कर ज्ञानी (नः आगुः) हमें प्राप्त होवें ॥ (कविभिः) दूरदर्शी ज्ञानियों द्वारा (पुरस्तात्) आगे आगे (उन्नीयमानाः) उन्नति के मार्गकी ओर लिये जाते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अपि) भी (देवानाम्) अपने से उच्च कोटि के अनुभवी ज्ञानियों के (पाथः) मार्ग पर (यन्ति) चलते हैं। इस मन्त्र में जो संगठन सत्सङ्गति आदि सामाजिक उन्नति के तत्त्व बताए गये हैं उनका अच्छी प्रकार मनन करना चाहिये। यहां—

"देवा देवानामपि यन्ति पाथः"

इन शब्दों द्वारा दूरदर्शी ज्ञानियों के मार्ग पर चलने का जो उपदेश किया गया है उस की ओर ही ध्यान आकर्षित करना था, क्यों कि उस का अभिप्राय 'सदाचार' नाम से मनु स्मृत्यादि में जो धर्म का निर्णायक प्रमाण माना गया है उस के साथ मिलता जुलता है। अब ११ वें सिद्धांत की व्याख्या की जाएगी जो सत्य के सम्बन्ध में है।

११ वें सिद्धान्त की व्याख्या।

"सत्य महिमा।"

कर्तव्य शास्त्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों में सत्यका बडा ऊंचा स्थान है। इसी सत्य की महिमा को बताते हुए मनु महाराज ने—

'नास्ति सत्यात्परो धर्मो नाऽनृतात् पातकं परम्।'

इत्यादि वचन कहे हैं। वेद के अन्दर सत्य के विषय में जो अत्युत्तम उपदेश आए हैं उन का यहां दिग्दर्शन कराया जाता है, ता कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में सत्य को उचित स्थान नहीं दिया गया ऐसा विचार जो कुछ पाश्चात्य विचारकों ने प्रकट किया है उस की असत्यता प्रकट हो जाए।

(१) सबसे प्रथम ऋ. १०।८५ के प्रथम मन्त्र का उल्लेख करना है, जिस में सत्य को पृथिवी का आधार बताया गया है यथा —

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

अर्थात् जिस प्रकार द्युलोक का धारण बाह्य रूपसे सूर्य द्वारा हो रहा है वैसेही वास्तविक रूप से इस भूमिका धारण सत्य के ही आश्रय से हो रहा है। सत्य यदि दुनिया से निकाल दिया जाए तो कोई किसी पर विश्वास न करे और इस प्रकार कोई भी व्यवहार न चल सके अतः यह बात स्पष्ट है कि सत्य पर ही भूमि का आधार है!

(२) अथर्व १२।१ के प्रथम मन्त्र में भी इसी आशय को प्रकट करते हुए पृथिवी

के धारण करने वाले पदार्थों में सबसे प्रथम सत्य का वर्णन किया है यथा –

सत्यं बृहद्दतमुग्रं दिक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥

अर्थात् (सत्यं) सत्य (बृहद् ऋतम्) विस्तृत ज्ञान (उग्रम्) क्षात्र तेज (तपः) धर्म मार्ग में आने वाली आपत्तियों को प्रसन्नतासे सहन करना (ब्रह्म) धन वा अन्न और (यज्ञः) देवपूजा संगति - करण दान अथवा स्वार्थ - त्यागये सब (पृथिवीं धारयन्ति) मातृ भूमिका संरक्षण करते हैं। जो लोग राज नैतिक उद्देश्य की सिद्धि अथवा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये छल, कपट, असत्य आदि का भी अवलम्बन कर लेना चाहिये ऐसा कहते हैं, उन्हें इस मन्त्र का विशेष रीति से मनन करना चाहिये ।

(३) यजु १ । ५ में

" इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि "

इन शब्दों द्वारा असत्य का परित्याग कर के सत्य के मार्ग पर चलने का व्रत ग्रहण करना चाहिये यह भाव सूचित किया गया है (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य से (इदं सत्यम्) इस सत्य के मार्ग को (उपैमि) प्राप्त करता हूं, यह मन्त्र खण्ड का शब्दार्थ है। विद्वान् पुरुष को सदा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करने को उद्यत रहना चाहिये, इस बात को देखिये वेद कितने स्पष्ट और उत्तम शब्दों में बताता है–

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजी यस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

ऋ. ७ । १०४ । १२

अर्थात् (सुविज्ञानं) उत्तम ज्ञान को (चिकितुषे) प्राप्त करने वाले (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च असत् च वचसी) सत्य और असत्य वचन अथवा अच्छे बुरे वचन (पस्पृधाते) एक दूसरे का मुकाबला करते हैं अथवा जो पुरुष सच्चा ज्ञान सम्पादन करना चाहता है उस की परीक्षाके लिये सत्यासत्य वचन उस के सामने आते हैं (तयोः) उन दोनों में से (यतरद्) जो (सत्यं) सच और (यतरद्) जो एक (ऋजीयाः) ऋजु अथवा सरल वचन है (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (तत् इत् अवति) उस की ही रक्षा करता है (असत्) जो हीन वा असत्य वचन है उस को (आ हन्ति) सर्वथा नाश कर डालता है। शब्द अत्यन्त स्पष्ट हैं व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऋषि दयानन्द ने मालूम होता है इसी मन्त्र के शब्दों को लेकर आर्य समाजके चतुर्थ नियम की रचना की थी। इस से अगला मन्त्र भी सत्य की महिमा और असत्य भाषण के बुरे फल को बडी सुन्दरता से प्रकट करता है

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥

ऋ . ७ । १०४ । १३ .

(सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष वा ऐश्वर्य शाली राजा (वृजिनं) पापी को (न हिनोति) नहीं बढाता-पापी की सहायता नहीं करता

और (मिथुया धारयन्तम्) हिंसा पूर्वक शरीर अथवा ऐश्वर्य को धारण करने वाले (क्षत्रियं) क्षत्रिय को (न हिनोति) वह नहीं बढाता बल्कि (रक्षः हान्ति) नीच राक्षसी धृत्ति वाले पुरुष को वह मार देता है (असद् वदन्तम्) असत्य भाषण करने वाले को (आ हन्ति) बिल्कुल नाश कर देता है (उभौ) वे दोनों राक्षस अर्थात् स्वार्थी और असत्य वादी (इन्द्रस्य) परमेश्वर के अथवा ऐश्वर्य शाली राजा के (प्रसितौ) बन्धन में राजपक्ष में कारागृहादि में (शयाते) शयन करते हैं। अभिप्राय यह है कि असत्यवादी को राजा और परमेश्वर की तरफ से कठिन दण्ड मिलता है। राजा से तो पापी अपने को फिर भी बचा सकता है पर सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमेश्वर के बन्धन से कोई पापी अपने को किसी तरह भी नहीं छुडा सकता।

(५) सत्य भाषण का व्रत जिन सज्जनों ने लिया हुआ है वही देव हैं ऐसा शतपथ ब्राह्मणादि में –

'एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति, यत्सत्यम् सत्यं देवाः,

इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है। वेद का कथन देखिये इस विषय में कितना साफ है —

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः। विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ अथर्व १९।६।१९.

अर्थात (सत्यसन्धान्) सत्य प्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्य को सदा बढाने वाले अथवा सत्य पक्ष का समर्थन करने वाले (विश्वान् देवान्) सब विद्वानों को (इदं ब्रूमः) हम यह बात कहते हैं (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) सब अपनी पत्नियों के साथ (ते) वे ज्ञानी (नः) हमें (अंहसः) पापों से (मुञ्चन्तु) छुडाएं। पाप से छुडाने का अभिप्राय उपदेश द्वारा भावी पाप से मुक्त कराने का है यह पहले बताया जा चुका है। इस मन्त्र में देवों का विशेषण –

' सत्यसन्धान् ऋतावृधः '

यह जो दिया है वह बडा महत्व पूर्ण है ऋग्वेद ७।६६।१३ के —

"ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।

इस मन्त्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है उस में देवों को सत्य का दृढ पक्षपाती और असत्य का घोर विरोधी बताया है, यह बात यहां फिर स्मरण कर लेनी चाहिये। —

(६) जो लोग असत्य भाषण कर के सत्यको दबाना चाहते हैं, उन के लिये वेद में बडे कठोर शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ ऋ १०। ८७ मं ११ में अग्नि से प्रार्थना है –

"त्रियातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति॥ "

अर्थात् (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर वा राजन्! (यः यातुधानः) जो राक्षस (ऋतं) सत्य को (अनृतेन) झूठ के द्वारा (हान्ति) नष्ट करता वा दबाता है वह पापी (त्रिः) तीन वार-अनेक वार (ते प्रसितिम्) तेरे बन्धन को (एतु) प्राप्त करे। परमेश्वर

और राजा की ओर से असत्य भाषण करने वालों को कठोर दण्ड मिलता है यह मन्त्र का भाव है इस प्रकार असत्य भाषण की निन्दा स्पष्ट है। इसी सूक्त के १२ वें मन्त्र में भी अग्नि से –

"अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥"

यह प्रार्थना की गई है जिस का अर्थ यह है कि अपनी दिव्य स्थिर ज्योति से सत्य की हिंसा करने वाले -उल्लंघन करने वाले (अचितम्) अज्ञानी मूर्ख को (न्योष) नष्टकर दो अथवा दग्ध कर दो। सम्भवतः असत्य वादी के अज्ञान और असत्य भाषण के स्वभाव को अग्नि अर्थात् ज्ञानी नेता अपनी ज्योति वा तेज से दूर कर दे ऐसा यहां तात्पर्य है, अस्तु।

(७) ऋ. ७। ६०। ५ का निम्न मन्त्र भी इस विषयमें विशेष मनन के योग्य है –

"इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति। इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥

अर्थात् (इमे) ये (मित्रः अर्यमा वरुणः) सब के साथ प्रीति करने वाले न्यायकारी श्रेष्ठ गुण युक्त सज्जन (भूरेः अनृतस्य) बहुत से असत्य के (चेतारः सन्ति) जितलाने वाले हैं-यह असत्य है यह सत्य है इस बात का ये सज्जन जनता को उपदेश करने वाले हैं-सत्य भाषण के द्वारा सदा सत्य के व्रत का ग्रहण करते हुए ये सब उन्नति करते हैं और वे (शग्मासः) सुख देने वाले (अदितेः) स्वतन्त्रता प्रिय देवी के (अदब्धाः पुत्राः) किसी से न दबने वाले पुत्र हैं। इस मन्त्र में सज्जनों के लिये 'अनृतस्य चेतारः' और 'इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे ये' शब्द बडे महत्त्व पूर्ण हैं।

(८) ऋ. ९। १३। ९ में सदा सत्य के अवलम्बन करने का जो उपदेश किया गया है उस का यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा –

"अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः योनावृतस्य सीदत ॥"

अर्थात् (अराव्णः) अनैश्वर्य और उसके कारणरूप आलस्य प्रमादादि को (अपघ्नन्तः) नाश करते हुए (पवमानाः) पवित्र (स्वर्दृशः) सुख का साक्षात्कार करते हुए— अनुभव ग्रहण करते हुए तुम सब (ऋतस्य योनौ) सत्य के गर्भ में (सीदत) सदा स्थिर रूप से बैठो। आलस्य प्रमाद अनैश्वर्यादि को नाश करना पवित्रता सम्पादन कर के सुख का अनुभव लेना और सत्य के अन्दर स्थिर रूप से प्रतिष्ठित रहना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य इस मन्त्र के अन्दर बताया गया है, जिस के अनुसार चलने से ही सब का कल्याण हो सकता है। यश और श्री के विषय में वेद के उपदेश का आगे उल्लेख किया जाएगा। सत्य विषयक कुछ उपदेशों का यहां व्याख्यान किया गया है, इस सत्य की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व तक का अर्पण कर देना चाहिये, इस विषय में एक वेद मन्त्र उद्धृत कर के अगले सिद्धान्त पर विचार करेंगे। वह मन्त्र अथर्व वेद के १२ वें काण्ड के ३ य सूक्त का ४६ वां मन्त्र है –

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिदद्म एतम् ॥

जिस का अर्थ यह है कि (सत्य) सत्य की रक्षा के लिये (तपसे) तप के लिये (देवताभ्यः) ज्ञानियों के हित की बुद्धि के लिये (शेवधिं) सुख का धारण करने वाले (एतम्) इस (निधिम्) कोश को – सम्पूर्ण द्रव्यराशि को (परिदद्म :)हम देते हैं अर्थात् सत्यादि की रक्षा के लिये अत्यन्त प्रिय धन का परित्याग भी यदि करना पडे तो उसे प्रसन्नता से करना चाहिये। सत्य भाषण विषयक इतने उत्तम उपदेशों को वेद में देख कर भी जो कहता है कि वेद के अन्दर जीवन विषयक उच्च तत्त्वों का वर्णन नहीं है उसे सिवाय पक्ष पाती के और क्या कहा जा सकता है ॥

१२ वें सिद्धान्त की व्याख्या
" निर्भयता। "

परमेश्वर को सब का रक्षक समझते हुए कभी किसी से भय भीत नहीं होना, यह वैदिक धर्म की अत्यन्त मुख्य शिक्षा है। इस भाव को दिल में अच्छी प्रकार ग्रहण करने के लिये निम्न लिखित मन्त्रों पर विचार करना चाहिये।

(१) सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते। त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

ऋ. १। ११। २।

अर्थात् (शवसस्पते इन्द्र) हे बल के स्वामी परमेश्वर ! (वाजिनः)ज्ञान और बल से युक्त हो कर हम (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (मा भेम) कभी भय भीत न होवें। (जेतारम्) सब को विजय करने वाले (अपराजितम्) कभी किसी से पराजित न होने वाले सर्व शक्ति मान् (त्वाम्)तुझ ईश्वर को (अभि प्रणोनुमः) बार बार हम नमस्कार करते हैं ! परमेश्वर को सर्व शक्तिमान् मानते हुए जो पुरुष सदा उसकी मित्रता में रहते हैं अथवा उसी को अपना सुख दुःख का साथी जानते हैं, वे नित्य निर्भय हो कर धर्म मार्ग पर चलते हैं। इसी आशय को अथर्व वेद में निम्न मन्त्र द्वारा प्रकट किया गया है –

(१) पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः
सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्व वीरोऽप्रयुच्छन्
पुर एतु प्रजानन् ॥

अथर्व ७। ९। २

अर्थात् (पूषा) सर्व पोषक परमेश्वर (सर्वा आशा) सब दिशाओं को (अनु वेद) अच्छी प्रकार जानता है (सः) वह (अस्मान्) हम सब को (अभयतमेन) अत्यन्त निर्भयता के मार्ग से (नेषत्) ले जाए। (स्वस्तिदाः) कल्याण देने वाला (आघृणिः) सब को प्रकाशित करने वाला (सर्व वीरः) सब को प्रेरणा करने वाला (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (प्रजानन्) परमेश्वर को सर्व रक्षक जानने वाला पुरुष (पुरः एतु) आगे जाने वाला हो। प्रथम अर्ध भाग में परमेश्वर और दूसरे में पुरुष का ग्रहण करना ही यहां

उचित मालूम देता है। जिस के अनुसार यह अभिप्राय होगा कि परमेश्वर हमें सदा निर्भयता की तरफ ले जाता है और इस प्रकार ईश्वर को सर्व रक्षक समझने वाला पुरुष सब का नेता बनता है।

(३) अथर्व १० । ८ । में जो कि ब्रह्म विद्या विषयक है अन्तिम मन्त्र निम्न लिखित आया है —

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥

इस मन्त्र में आये हुए प्रायः सब विशेषण आत्मा परमात्मा दोनों पर घट सकते हैं, यथा (अकामः) सब कामनाओं से रहित (धीरः) बुद्धि युक्त (अमृतः) अमर (स्वयंभूः) स्वयं सिद्ध (रसेन तृप्तः) आनन्द से पूर्ण (न कुतश्चन ऊनः) किसी प्रकार भी जिस के आनन्द में कमी नहीं है ऐसा परमेश्वर है और ऐसा ही ज्ञानी आत्मा हो जाता है। (धीरम्) बुद्धि युक्त (अजरम्) वृद्धावस्था वा क्षय से रहित (युवानम्)सदा शक्ति शाली (तम् एव) उसी एक परमेश्वर वा अपने जीवात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ पुरुष मृत्योः मृत्यु से (न बिभाय) नहीं डरता।

युवा कहने से अभिप्राय यहां शक्ति शाली का मालूम होता है क्यों कि जरा का विरोधी शब्द यहां रखना अभीष्ट है अथवा परमेश्वर के पक्ष में युवा का परमाणुओं को मिला कर सृष्टि और संहार करने वाला और आत्मा के पक्ष में इन्द्रियादि को विषयों से संयुक्त करने वाला ऐसा अर्थ सम्भव है (यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः) इस धातु से युवा शब्द सिद्ध होने के कारण ऊपर का अर्थ उचित ही है। भावार्थ यह है, कि जो पुरुष परमेश्वर को सर्व व्यापक सर्व रक्षक और अपने आत्मा को वृद्धावस्थादि रहित जानता है वह कभी किसी से नहीं डरता मृत्यु का भी उसे कोई भय नहीं रहता। भगवद्गीता की इस विषयक शिक्षाएं यहां विशेष द्रष्टव्य हैं।

(४) इसी प्रसङ्ग में अथर्व १९। १५ का प्रथम मन्त्र देखिये —

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि । मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि ॥

अ. १९ । १५ । १

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (यतः) जिस जिस दिशा से वा पुरुष से (भयामहे) हम डरते हैं (ततः) उस उस दिशा से (नः) हमें (अभयं कृधि) निर्भय कर (मघवन्) हे ऐश्वर्य शाली प्रभो (तव शग्धि) शक्ति हमें दे (तव ऊतिभिः) अपनी रक्षा से (द्विषः) द्वेष भाव को और (मृधः) हिंसामय भावों को (वि जहि) नष्ट कर दो इस मन्त्र के अन्दर भी ईश्वर को सर्व व्यापक सर्वरक्षक समझने से निर्भयता प्राप्त होती है यह भाव स्पष्ट सूचित किया गया है। यही

मन्त्र सामवेद उत्तरार्चिक प्र. ५ अर्ध प्र० २ मं० १५ में भी आया है।

(५) अथर्व वेद के –

" अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभय परोक्षात् ॥ "

इत्यादि १९ । १२ में आये हुए मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं अतः उन का व्याख्यान करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं मालूम देती।

इस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत १२ सिद्धान्तों की सप्रमाण व्याख्या यह समाप्त होती है। इन्हीं सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये अन्य भी अनेक प्रमाण उध्दृत किये जा सकते हैं पर निबन्ध विस्तार के भय से केवल थोडे से प्रमाणों का यहां संग्रह किया गया है। इन पर मनन करने से वैदिक कर्तव्य शास्त्र का महत्त्व समझ में आ सकता है। युरोपियन विद्वानों का यह कथन कि वेद के अन्दर जीवन को उन्नत करने वाले सदाचार सम्बन्धी कोई उत्तम उपदेश नहीं है यह कितना पक्षपातपूर्ण और अशुद्ध है इस का इसी से अनुमान किया जा सकता है। अगले अध्याय में वैदिक कर्तव्यशास्त्र के अनुसार मनुष्य के वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निरूपण किया जाएगा।



योग चिकित्सा ।

(लेखिका— श्री सत्यवती जी शास्त्रिणी।

(३) रोगी सम्बन्धी ।

(१) रोगी को चाहिये कि आरोग्यता का लाभ उठाने के लिए चिकित्सा के इस उपाय तथा वैद्य पर पूर्ण भरोसा रखे। शायद हो या न हो, इस प्रकार का सन्देह हानिकारक है।

(२) रोगी को चाहिये कि चिकित्सा के समय अपने स्वभाव को रोके और चिकित्सक का ध्यान बहुत बातों की ओर न झुकाए। जो कुछ दुःख तक्लीफ बतानी हो, वह पहले ही बता दे, चिकित्सा होते हुए चुपचाप और शान्त रहे। क्यों कि इस उपाय का बहुत सा भाग रोगी के स्वभाव पर निर्भर है। और बहुत से रोग मन के ही उत्पन्न किए हुए होते हैं। मनके ही विचार से रोग से आरोग्यता, और आरोग्यता से रोग पैदा हो सकते हैं।

(३) रोगी को चाहिये कि, वह अपने

शरीर को ढीला छोड के अपने आप को सर्वथा ही चिकित्सक के हवाले करके चुपचाप हो, मनको रोककर बैठे। और यह विचार करता जाए, कि मुझे आराम हो रहा है, और चिकित्सक अपनी उदारता तथा आरोग्यता की धारा मेरे अन्दर प्रविष्ट कर रहा है।

(४) वैद्य सम्बन्धी।

(१) चिकित्सक के लिए आवश्यक है कि तालयुक्त प्राणायाम से भली भांति परिचित हो।

(२) उसे इच्छाशक्तिका ज्ञान भी होना चाहिये। और उस को पता हो कि, हम अपने मन में जो विचार करते हैं, आकाश या अदृष्ट जगत में वह तत्काल चित्रित हो जाते हैं। और वह चित्र बीज की भान्ति अपनी सजातीय वस्तुओं को आकाश के भंडार में से अपनी ओर आकर्षित करके और परवरिश पाकर धीरे धीरे देहधारी और स्थूल होकर दृष्टजगत् में प्रगट होता है।

(३) इस लिए हम अपनी इच्छा शक्ति द्वारा जो काम चाहें कर सकते हैं।

(४) चिकित्सक को अपने काम पर संदेह नहीं होना चाहिये।

(५) इच्छाशक्ति के बल से ही हम प्राण को एकत्रित कर जहां चाहें जिस कार्य के लिए भेज सकते हैं, इसलिये इच्छा शक्ति जितनी भी प्रबल होगी, उतना ही प्राणशक्ति विशेष कार्य कर सकेगी।

(६) श्वास के अन्दर बाहिर आने जाने से प्राण भी आता जाता रहता है। इस श्वास के बाहिर जानेसे बहुतसी प्राण शक्ति उसके साथ नष्ट होती है। इसलिए बहुत व्यायाम, दौडना, कूदना, बहुत सोना, बहुत बोलना इत्यादि जितने कारणों से श्वास शीघ्रतासे आता हो, उनके द्वारा प्राण शक्ति नष्ट होती रहती है। इस लिए साधक को चाहिये कि कम सोए, कम बोले, कम दौडे कूदे, और भोजन भी मर्यादा का ही करे।

५ रोग सम्बन्धी।

जिस प्रकार चिकित्सा के और सर्व उपायों में बहुत सी औषधियों के गुणों का ज्ञान रखना पडता है, और उनके परिणाम तथा व्यवहार में लाने की विधि सीखनी पडती है, या रोगों के अनेक प्रकार के कारणों तथा शरीर के अंगों प्रत्यंगों का ज्ञान रखना पडता है, उस प्रकार चिकित्सा की इस विधि में आवश्यकता नहीं पडती। क्यों कि इस विधिकी औषधि केवल एक ही है। जो सर्व प्रकार की औषधियों का सार है। प्रत्युत सर्व प्रकार की औषधियों जिसके कारण रोग निवारक प्रभाव रखती हैं उसका नाम " **प्राण** " है। और उसके व्यवहार में लाने की विधि केवल इच्छा शक्ति और विचार संयम है।

हां, साधक को यदि मनुष्य शरीर के उन भागों का भी कुछ परिचय हो, कि जिनका पूर्ण रहस्य आभ्यंतरिक दृष्टि के विना नहीं मिल सकता। अथवा कपाल विद्या का पता हो तो अधिक लाभ हो सकता है।

यहां केवल इतना ही बताया जा सकता है कि, सर्व रोग दो विभागोंमें विभक्त हो सकते हैं। एकतो

वह जो स्थापक प्राण के बढ जाने से हो जाते हैं, और दूसरे वह जो निषेधक प्राण के बढ जानेसे हो जाते हैं।

जब तक स्थापक प्राण और निषेधक प्राण अपने अपने स्थान पर सम अवस्था में रहते हैं, और उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं पडती, तब तक मनुष्य नीरोग रहता है। पर जब ही इन में से कोई भी किसी स्थान पर कम बढ हो जाता है, या उसके भ्रमण में कोई विघ्न पड जाता है, तब ही कष्ट या रोग उत्पन्न हो जाता है।

(१) स्थापक प्राण की अधिकता के लक्षण शीघ्रता, उष्णता, जलन, व्याकुलता और दर्द इत्यादि हैं।

(२) निषेधक प्राण की अधिकता का पता चेतना का कम हो जाना, सरदी, भारीपन, आलस्य, निर्बलता और अकडाओ इत्यादिसे लगता है।

[६] चिकित्सा सम्बन्धी।

मुख्य नियम।

स्मरण रखो कि स्थापक प्राण स्थापक प्राण को और निषेधक प्राण निषेधक प्राणको हटाता है। और एक दूसरे को पीछे धकेलता है। और स्थापक प्राणको अपनी ओर खैंचता है। अर्थात् दोनों के सजातीय होने में वैर और विजातीय होने में मित्रता है।

दांय हाथ और उसकी अंगुलियों और हथेली में से जो प्राण निकलता है वह स्थापक है। शक्ति उसकी शीतलता और आराम पहुंचाने वाली, दूसरी वस्तु में प्रविष्ट होने वाली और स्थापक प्राण को धकेल कर पीछे हटाने वाली है। रंग उसका फीकासा नीला है।

बायं हाथ, उसकी हथेली और अंगुलियों के अग्रभागों में से जो प्राण निकलता है वह निषेधक है। तासीर उसकी उष्णता पहुंचाने वाली है और रंग लाल (हल्कासा) है।

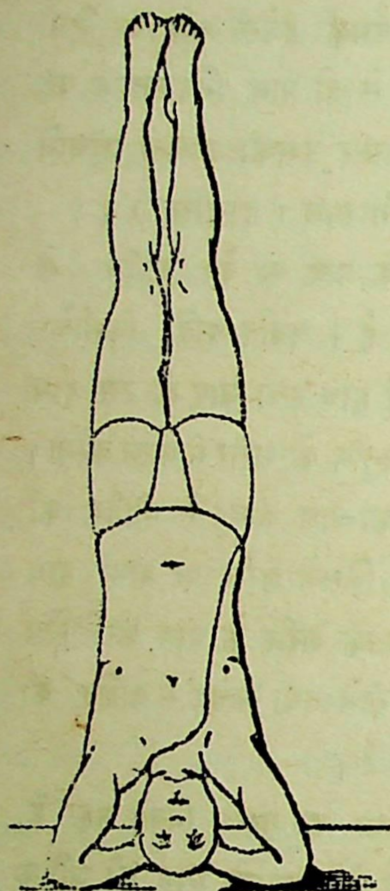
दायं हाथ के प्राण का वेग बाहिर से अन्दर की ओर है। अर्थात् यदि किसीके शरीर पर दायां हाथ रखा जाए तो उस हाथ का प्राण उस मनुष्य के शरीर में प्रवेश करेगा।

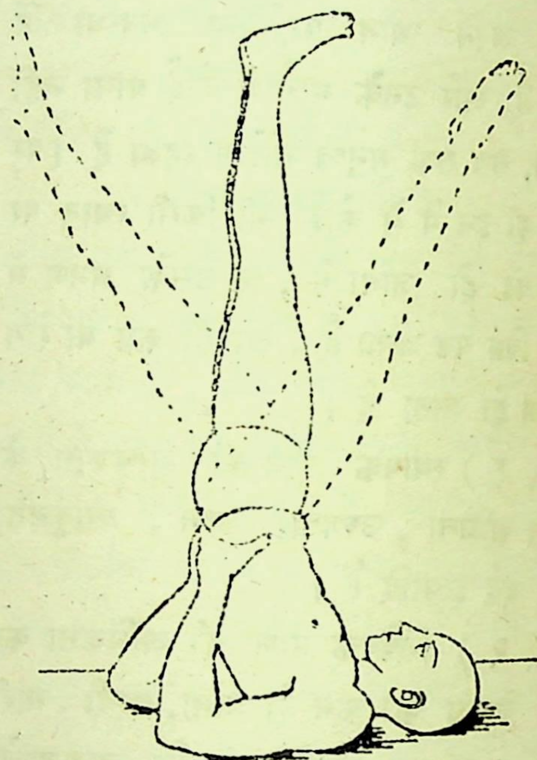
बायं हाथ का प्राण अन्दर से बाहिर की ओर है अर्थात् जिसके शरीर पर बायां हाथ रखा जाय, उसके शरीर के प्राण को खैंच कर ऊपर से नीचे तथा अन्दर से बाहिर की ओर ले आता है।

प्राणचिकित्सा का मुख्य नियम यह है, कि यदि कोई रोग स्थापक प्राण की अधिकता से हो तो रोगग्रस्त स्थानपर दायां हाथ रखकर अपना स्थापक प्राण उसमें प्रविष्ट करो। ऐसा करनेसे वहां का एकत्रित स्थापक प्राण पीछे हट जाता है। उस अंगकी दूसरी ओर उससमय अपना बायां हाथ भी लगा रखो ताकि उसकी खैंच (निषेधक प्राण स्थापक प्राण को खैंचता है) वह स्थापक प्राण बाहिर हो जावे। ऐसा करने से रोग हट जाएगा।

इसी प्रकार यदि रोग निषेधक प्राण की अधिकता के कारण है, तो बायं हाथ से उसको बाहिर निकालो और दूसरी ओर दायां हाथ रख कर उसको खैंचलो।

शीर्षासन और ऊर्ध्व सर्वांगासन।





ज्वर के पूर्व ये आसन करनेसे ज्वर का जोर कम हो जाता है। (पृ. १६९)





कुत्तेकी अंगडाई (पृ . १७१)

ब्रह्मचारी जी के दो पत्र ।

(१) आसनों का अनुभव ।

(लेखक-श्री . ब्र . रामचंद्रजी)

गत दो मासों की छुटियों में मुझे बाहर जानेका अवसर प्राप्त हुआ था । बाहर जाकर मैं ने जहां मुझे अवसर मिला है, मैं ने जनता में आसन कर के दिखाएं हैं । लोगों ने बहुत पसन्द किए और इस ओर प्रायः सब की ही रुचि हुई, प्रतीत होती थी । आसन दिखाने के साथ प्रत्येक आसन का लाभ भी बताता रहा हूं । आसन कर चुकने के बाद बहुत से लोग मुझसे मिलते और व्यायाम के बारे में पूछते, जिन की चर्बी बहुत बढी हुई थी, उन के लिये समुचित आसन करने के लिये कहता था । वर्तुलासन, हस्तपादासन, पाश्चिमोत्तानासन, मयूरासन आदि बहुत सुगमतासे होने वाले जो एक वार देखकर किए जा सकते हैं । इसके साथ साथ नक-सीर और जुकाम के लिए अपने आप स्वयं अनुभूत नासामूल शोधन, नाक में पानी चढाना, इसी प्रकार मुख से पानी लेकर नाक के रास्ते निकालना, फिर नासामूल को शुष्क करना, इत्यादि भी बताता रहा हूं; और स्वयं कर के दिखाता रहा हूं । ये बात मैं ने कई वार अनुभव की है, कि मुझे जब बुखार की हरारत हुई है, मैं ने आसन किये और बुखार जो आता मालूम होता था, आसन करने के बाद उसका पता भी नहीं, कि कहां चला गया !! अभी थोडे दिनों की बात है, मैं यात्रासे वापिस आता हुआ कैम्बलपुर गया । वहां की समाज में मुझे आसन दिखानेका अवसर मिला । रविवार का दिन था। शनिवार की सायं काल मुझे ऐसा भोजन मिला जिसमें नमक और मीठा दोनों मिले हुए थे । ऐसा भोजन पहिले कभी नहीं खाया था, कि एक ही चीज में मीठा भी हो और नमक भी हो । सवेरे उठते ही तबीयत ठीक नहीं मालूम पडी । आकाश में बादल छाए हुए थे, ठंडी हवा चल रही थी, मुझे ठण्ड लगने लगी, अपनी नित्य क्रियाओं से निवृत्त हुआ । शरीर अस्वस्थ मालूम पडता था । मैं समाज में गया मुझे ठंड लग रही थी, मैं कम्बल ओढ कर बैठ गया । यज्ञ हवन के बाद मंत्री जीने मुझे आज्ञा दी कि आइये, आसन दिखाइये। मैं ने अपने सब कपडे उतार दिए । केवल कच्छा पहिने रखा । पहिले पंच प्राण जप, तदनन्तर आसन, फिर कुछ दण्ड, वगैरा दिखाए । ध्यान के दूसरी ओर लग जाने से ठंड का अनुभव नहीं हुवा ।

था । जब सब खतम कर चुका, तब मैंने अपने आपको बिलकुल स्वस्थ पाया । कहां पहिले कम्बल की ठंड थी, आलस्य और अंगडाई आ रही थी । अब सब की सब दूर भाग गई !!! किसी का कुछ पता न चला ! मेरे साथ ही एक और ने भी पिछली रात मीठे नमकीन चावल खाए थे, उस को भी बहुत बुरी हालत हुई । उस ने डाक्टर की शरण ली । दवाई कराने के बाद भी वो अपने आप को स्वस्थ नहीं पाता ! पर मैं ने अपने आप को बिल कुल स्वस्थ पाया; पहिले मैं ने समझा हुआ था, ये अचानक होता रहा है, पर अब निश्चित तौरसे अनुभव कर लिया है कि, आसनों से ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो बुखार को आने से रोकती है । वो कौनसा आसन है, जिसमें सब से अधिक बुखार रोकने की शक्ति है, यह बात अभी तक पता नहीं लगी ।

(२) अपानजय ।

सेवामें पाठकों के लाभार्थ मैं एक लेख प्रस्तुत करता हूं । लेख यद्यपि विशेष अन्वेषण पूर्वक नहीं लिखा गया तथापि अनुभव पूर्वक अवश्य है । अन्य किसी महानुभावने यदि इस विषय में कोई विशेष अनुभव प्राप्त किया हो, मेरे अनुभव में की कमी को पूर्ण करे और पाठकों को लाभ पहुंचाकर पुण्य के भागी होंवे ।

मेरा विषय जो पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने लगा हूं '**अपानजय वा अपानायाम**' है । अनेक वेदमन्त्रों में प्राण और अपान शब्द आते हैं । वहां प्राण शब्द का अभिप्राय जीवनोपयोगी उत्तम पदार्थ, उत्तम गुणों से है, जो लेने योग्य है । और अपान शब्द से त्याज्य वस्तु, देहेंद्रिय बुद्धि मन को हीन करने वाले भाव हैं । प्राण के साथ उत्तम भाव सद्विचार उत्तम गुणों का अपने अन्दर धारण करने का और अपानके साथ नीच भाव असद्विचार दुर्गुणों को बाहर करने का भाव आता है । प्रत्येक देही जब तक जीवन धारण करता है, अपने अन्दर (प्राण)ग्रहण करने की शक्ति रखता है । प्राणों की तरह उत्तम नीच भाव, अच्छे बुरे विचार, उत्तम सात्विक व नीच तामसिक गुण लेता ही लेता है । अर्थात् लेने की शक्ति प्रबल होती है, अपेक्षा छोडने के । क्यों कि हम देखते हैं कि दूसरे के धन ऐश्वर्य को देखकर अपनाने की इच्छा होती है पर द्रव्यापहरण, दूसरे के अधिकारों को छीनना, इत्यादि बातों से स्पष्ट है, कि जगत् में ग्रहण करने की शक्ति बहुत प्रबल है इसीलिये कहते हैं, कि —

" **प्रकृतिर्हि दुस्त्याज्या** "

जिस का जैसा स्वभाव बन गया है वह उस से छूटता नहीं, तथा —

" **स्वभावो दुरतिक्रमः** "

स्वभाव का बदलना असंभव नहीं, पर कठिन अवश्य है ।

कोई आदमी किसी का नकल करता है, या किसी को कोई बुरी आदत पड जाए, तो बुरी आदत का हटाना उस के लिये अत्यंत कठिन हो जाता है । अपनी बुरी आदत से लाचार हो जाता है, कष्ट उठाता है, पर छूटती

नहीं । त्याग करना सचमुच अत्यन्त कठिन है तपस्वी ही त्यागी हो सकता है । त्यागना एक तपस्या का काम है, चाहे धन ऐश्वर्य का त्याग हो । चाहे किसी बुराई का त्याग हो । त्यागना दोनों का कठिन है । धनादि को तो भला सभी चाहते हैं । उस के बिना संसार में जीवनयात्रा दुष्कर हो जाती है । लेकिन जिस चीज को कोई चाहता नहीं, जिससे किसी को कुछ भी लाभ नहीं, ऐसी बुरी आदत को छोडना भी बडा मुशकिल कार्य है । छोडना चाहने पर नहीं छूटती । त्याग भाव तपस्या के बिना नहीं हो सकता । एक ओर जहां ग्रहण करने की शक्ति अपने अन्दर लेने की शक्ति इतनी प्रबल है, दुसरी ओर वहां त्याग भाव का अत्यन्त अभाव है । इस ओर अधिक विचार न करते हुए, अपने विषय पर आता हूं । मनुष्य देह में पांच "**महा प्राण**" हैं । और पांच "**अल्पप्राण**" हैं । प्राण एक होता हुआ भी स्थान और कार्य भेद से पांच प्रकार का है । पांचों प्राणों में से अपान पर ही विचार करना है ।

जिस प्रकार प्राणों की गति ठीक रहने पर आदमी स्वस्थ तथा आनन्दित रहता है, और प्राणगति के ठीक न रहने पर दुःखी होता है, ठीक इसी प्रकार अपान के ठीक रहने से आदमी स्वास्थ्य सुख लाभ कर सकता है । अपान गति के ठीक न रहने पर उस से अधिक कष्ट पाता है, जो कि बुरी आदत को छोडना चाहता है, पर छूटती नहीं । यद्यपि भी आदमी दिन भर भोजन अपने अन्दर लेता रहता है । लेनेकी शक्ति प्रबल है । पर अन्दर लेकर उस का त्याग नहीं कर सकता । त्याग ने की शक्ति नहीं है । प्राण का स्थान कण्ठ से लेकर हृदय पर्यन्त है । और अपान का स्थान नाभि से नीचे गुदा तक है । हम जितना भोजन करते हैं, वह सब का सब ही रस नहीं बन जाता, परन्तु आंत्रादि उस में से जितना रस निकाल सकते हैं, उससे बचा हुआ मल रूप निस्सार रह जाता है । कई बार अनेक बीमारियों में जब कि आन्तडियें सारा रस निकालने में असमर्थ होती हैं, तो बहुत सा सार भाग भी रह जाता है । इस बचे हुए शरीर के लिए निरुपयोगी निस्सार भाग को अपान ही शरीर से बाहर करता है । और भी जितने मल हैं, मूत्रादि वे भी सब अपान द्वाराही बाहर किये जाते हैं । परंतु क्यों कि अपान हमारे वश में नहीं होता, इस लिये जब अपान अपनी ठीक गति में नहीं रहता, मल को बाहर करने में असमर्थ हो जाता है । इस लिये कब्जी की शिकायत प्रायः रहती है । कभी कभी अपान अधो मार्ग से न जाकर ऊपर चढ जाता है, जिस से तीव्र शिरो वेदनाएं होती हैं । निद्रा, आलस्य श्रम मूर्छादि हो जाते हैं ।

तथा विशेष यह है कि कभी कभी अपान के ठीक न रहने से पेट में गड गडासा होता रहता है, पेट में अफारा हो जाता है, पेट में बडी सख्त दर्द शुरू हो जाती है । ये सब विकृत अपान के कार्य हैं । एक

आदमी नित्य प्रातः काल शौच के लिये जाता है, पर उसे शौच खुल कर नहीं आता। जोर का काम न होते हुए भी जोर से काम लेता है, और फिर भी हार जाता है। अन्तमें पानी का लोटा उलटा कर लौट आता है। शौच निवृत्ति से वह उस आनन्द को अनुभव नहीं करता, जो खुल कर शौच होने से मिलता है। वह अपने शरीर में भारीपन, आलस्य, किसी कार्य की ओर रुचि न होना, खाने पिने में अनिच्छा अनुभव करता है। मैं पहिले लिख चुका हूं कि, हम में त्यागने की शक्ति बिलकुल कम है। मल त्यागने की इच्छा रखते हुए और साथ ही क्रिया द्वारा यत्न करते हुए भी त्याग नहीं सकते। देखिए, यह त्याग की शक्ति, त्याग, वैराग्य, किस प्रकार से लाभ किया जाता है, इस ओर न जाकर मैं सिर्फ अपने विषय से सम्बन्ध रखने वाले त्यागका ही वर्णन करूंगा। उत्तम स्वास्थ्य वह है, जिस में चित्त प्रसन्न रहता है, भूख लगती है, किसी प्रकारको कार्य करने में उत्साह होता है। ये सब बातें तभी हो सकती हैं, जब कि " पेट देव " को भी एक बार या दो बार बीचमें आराम मिले। जिस के पेट को हर समय अपने माल के संभालने की चिन्ता लगी रहती है, उसे कभी सुख नहीं मिलता। इस लिये कई हमेशा के लिये डाक्टरों के स्थिर ग्राहक बने रहते हैं। नाना प्रकार की औषधि सेवन करते हैं, पर सब व्यर्थ। उन दवाइयों से कोई और रोग होगया, तो उस का फिर इलाज होता है। उस के ठीक होने पर या उस के साथ एक और ही बीमारी आ लगती है। बस, दवाइयों का सिलसिला जारी रहता है। इसलिये इन सब आपत्तियों का सिल सिला जारी रहता है। इसलिये इन सब आपत्ति से बचने के लिये पेट जो सब सुखों और दुःखों का मूल है, अपने वश में करना चाहिए। इस के कई तरी के हैं।

सब से प्रथम " **उदर चालन।** " अर्थात पेटको हिलाना जुलाना, पेट में गति पैदा करना है। इस के अभ्यास के लिए प्रथम प्रथम पेट को सामने की ओर जितना फूल सके फुलाएं, फिर सिकोडें, नाभि को रीड की हड्डी के साथ लगाने का यत्न करें। इस से जहां अपान का अनुलोमन होता है, उस के साथ वीर्यरक्षा भी होती है। अब दोनों हाथों को पेट पर रखें। अंगूठा पीछे रहे और अंगुलियां सामने की ओर हों। अब पेट को पूर्ववत् फुलाएं और बाएं हाथ से दबाव डाले दाइ ओर; और दाएं हाथ से दबाव डाले पीछे की ओर; अब पेट को पीछे से बाए पासे फुलाए इसी प्रकार कई रोज तक अभ्यास करने से पेट स्वयं बाए से दाई ओर होकर पीछे होकर बाई ओर आय गा। इसी प्रकार दाई ओर से चक्कर लगाने का अभ्यास करें।

इसी प्रकार से पेट को ऊपर से नीचे गतियां देनी चाहिएं और फिर नीचे से ऊपर की ओर, इस प्रकार जब पेट चारों ओर खूब अच्छी तरह हिल जुल सकेगा, तो पेट के अन्दर का पदार्थ बलात् बाहर होने लगेगा। मल जो कि आन्तों में चिप का होता

है, दबाव से बाहर धकेला जाता है, इस प्रकार पेट की सफाई हो जाती है। पेट की और बहुत सी व्यायामें हैं, उनसे केवल पेट की नाडी नस बलवान् होती हैं। उदर शुद्धि नहीं। अपान को वश में करने की एक विधी बता दी है। अब दूसरी देखिए।

सावधान खड़े होकर स्वांस को बिल कुल बाहर फैंक कर कोख के दोनों पासों को भीतर खींचने का यत्न करें, मध्य प्रदेश नाभिस्थल ऊपर उभरा रहे। उस का अभ्यास करने के लिये सामने कोई टेबल हो, वा अन्य वस्तु जिसे खूब अच्छी तरह पकड उपर उठा जा सके हो, अब हाथों के बल सीधा ऊपर उठा जाय और वहीं क्रिया की जाय, नल स्वयं बाहर आगे निकलेगा। अब विना टेबल के दोनों हाथों को घुटनों पर रख कर स्वांस बाहर फैंक कर कुक्षि प्रदेश अन्दर खींचे। अब जब नल निकलने लग जाय तब स्वांस चाहे अन्दर हो चाहे बाहर। श्वांस को रोक कर नल निकाला जा सकता है। और उसे आगे पीछे खूब अच्छी तरह हिलाया जा सकता है। इस क्रिया को बहुत से लोग जानते हैं, पर उन्हों ने इससे कोई विशेष लाभ नहीं उठाया। यह नौली क्रिया बस्ति के लिये अत्युपयोगी है। अपान के वश में होने पर बस्ति बडे आराम से हो जाती है। यदि पेट में किसी प्रकार की गड बड हो। शौच ठीक तौरसे न हो, बुखारकी हालत होने लगे या अतिसार दस्त वगैरा आने लगे, तो बस्ति एक परम औषध है। बस्ति करने के दिनों में लिखा है कि, मूंग की दाल की खिचडी में घी डालकर खावे। इस बस्ति क्रिया को सुगम करने के लिये यह अपानायाम सीखना चाहिये। जिस प्रकार प्राणायाम में पूरक, कुम्भक, रेचक हैं, उसी प्रकार अपानायाम में भी ये क्रियाएं हैं। फर्क इतना है कि, इस में कुम्भक नहीं होता। कुम्भक कर तो सकते हैं, पर उस अवस्था में अनेक उपद्रव आ खडे होंगे। पेट में अफारा सा हो जायगा, सन्धि दर्द होगी, इत्यादि इस लिये इस में कुम्भक क्रिया न करनी चाहिये। यदि ऐसी अवस्था हो जाय तो उस समय पेट को बिलकुल ढीला छोड देनेसे वायु बाहर हो जाता है, अपानायाम के कई आसन हैं, जिन में अपान स्वयं ही वश में होने लगता है, आपने बहुत बार कुत्ते या बिल्ली को अंग ड़ाई लेते देखा होगा। ठीक उसी प्रकार की स्थिति में हो जाइए। हाथों को सीधा आगे पसारिये। जमीन पर ठोडी या गाल लगे और घुटने अलग अलग कर के रखें, कमर को जितना हो सके झुकाएं। अब अपान को बाहर करनेका यत्न करे। उस के बाद स्वयं ही अपान अन्दर आने का यत्न करेगा। नौलि क्रिया की तरह नल निकालने पर अच्छा तरह होगा। इस में अभ्याससे पेट की सख्त दर्द, पेट में गुड गुड होना, अफारा और सिर दर्द, इत्यादि निश्चयसे दूर हो जाते हैं; यह मैंने कईयों पर परीक्षा किया है। इस को चारों ओर से देखें, सब अवस्थाओंमें अपानायाम हो सकता है।

२ शीर्षासन करते समय टांगों को बिलकुल ढीला छोड दें, अपान स्वयं बाहिर होने की कोशिश करेगा, आप पेटको फुलाए और सिकोडे, तो अपान का अनुलोमन होगा। शौच साफ होकर आयगा।

३ सर्वांगासन की उस स्थितिमें जब की दोनों घुटने कानों के पास हों, या दोनों टांगे ढीली कर के पेट पर छोडी हों, तब अपान स्वयं गति करता है। उस समय पेटके फुलाने और सिकोडने से अपानायाम किया जा सकता है।

४ उत्कटासन या जिस आसन में शौच निवृत्ति के लिये बैठते हैं उस अवस्था में अपान यदि बलवान् हो तो बाहर निकल तो जाता है, पर अन्दर नहीं होता। पूरक करने से अन्दर आ सकता है। अन्य स्थितियों में अन्दर रुका हुआ वायु स्वयमेव बाहर हो जाता है, पर इस स्थिति में जरा मुशकिल हो जाती है। इसलिये देरतक भीतर न रोक कर बाहर कर देना चाहिये। इस अपानायामसे विकृत वायु का अनुलोमन होने से शौच भली प्रकार हो जाता है आन्त्रस्थ वायु बाहर हो जाती है। पेट दर्द या सिर दर्द पेटका अफारी, गुड गुड, सब के सब विना किसी दवाई दूर हो सकता है। अपान का भीतर आकर्षण तभी होता है, जब की प्राण बाहर हों। इसलिये प्राण की रेचनावस्था में अपानायाम ठीक हो सकता है।

इस प्रकार टूटे फूटे शब्दोंमें यह विषय पाठकोंके सन्मुख उपस्थित किया है। मुझे पूरा निश्चय है, यदि पाठक इस ओर ध्यान देंगे तो पूरा लाभ उठा सकें गे।

* (३) वेद का विषय। *

(लेखक- श्री० पं० सत्यव्रतजी)

किसी ग्रन्थ का भावार्थ वा प्रतिपाद्य विषय जब तक मालूम नहीं, तब तक उस ग्रंथ को समझने में कठिनता की उलझन मार्ग में बडी ही रहती है। ग्रन्थ के भाव का, उसके विषय का पता होना एक ऐसी कसौटी है, जो खरे और खोटे का एकदम निर्णय करदेती है। प्रकरण अप्रकरण का, शुद्ध और अशुद्ध का निर्धारण ग्रन्थ के विषयज्ञान से ही हो सकता है। अतः वेदार्थ के लिये प्रत्येक वेद के प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान होना परमावश्यक है। वेद के एक मन्त्र का उस से अगले पिछले मन्त्रों से क्या सम्बन्ध है, इस बात का निर्धारण, ये बाते हैं, जो वेदों के स्वकीय स्वकीय विषयों का पता लगाने को हमें बाधित करती हैं।

परन्तु यदि वेदमन्त्र अष्टाध्यायी के सूत्रों की तरह संहिता मात्र के उद्देश्य से प्रकरणाप्रकरण को ध्यान में न रख कर ही नियमित किये

गये हों, तो क्या वेदों के प्रतिपाद्य विषय का निर्धारण हो सकता है, क्या मंत्रों और सूक्तों का कोइ पारस्परिक सम्बन्ध हो सकता है ? - नहीं, कभी नहीं अष्टाध्यायी के संहिता पाठ का पारस्परिक सम्बन्ध न देख कर ही तो दीक्षित महाराज को सिद्धान्त कौमुदी की रचना का कष्ट उठाना पडा, पहले और आठवे अध्याय के सूत्रों को भी उठा कर एक जगह लाकर रखना पडा — फिर अष्टाध्यायी के सूत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा और अष्टाध्यायी के प्रतिपाद्य विषय को ही जानने की आकाङ्क्षा कैसी ? वेद अष्टाध्यायी की तरह संहिता पाठ है। ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ सिद्धान्त कौमुदी की भांति मंत्रों के सम्बन्ध के सूचक हैं — फिर वेद के प्रतिपाद्य विषय को पता लगाने की आशा रेतसे तेल की वा गगन कुसुम से चित्ताकर्षक गन्ध की आशा नहीं तो क्या है ?

यह प्रश्न है, जो उपरोक्त बातों के कारण वेद प्रतिपाद्य विषय की जिज्ञासा का विरोध करता है, और कहता है कि वेद संहिता मात्र है, उन मे पाठ सौकर्य के लिये प्रकरणाप्रकरण का, एक ही विषय के विवेचन का ध्यान नहीं रखा गया ; उन के प्रतिपाद्य विषय को जानने की इच्छा को छोडो — वह वेदार्थ करने में अणु मात्र भी सहायक नहीं हैं।

ठीक है, यदि उपरली बात ठीक हो, तो वेद के विषय ज्ञान की आवश्यकता कुछ नहीं परन्तु बात ऐसी नहीं है। इस के सिद्ध करने के लिये मैं युक्तियें न ही देना चाहता, यहां केवल वेद पर विश्वास रखने वालों से, वेद को ईश्वरीय ज्ञान वा इल्हाम मानने वालों से, पूछता हूं कि, क्या जब मनुष्य के विचारों में एक क्रम होता है, उसे तोडने वाले को विद्वत्ता की दृष्टि से नहीं देखा जाता, तब कवियों के कवि परमेश्वर में विचारक्रम का होना और इसी लिये एक विशेष विषय का प्रतिपादन क्या आवश्यक नहीं है! वेद को ईश्वरीय ज्ञान न माननेवाले बेशक कहते रहें कि, "हां! नहीं है,," परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले इस बात से इन्कार नहीं कर सकते, उन्हें इस बात के मानने मे बाधित होना पडता है।

अष्टाध्यायी भी सर्वथा क्रमहीन है, यह सिद्धान्त भ्रममूलक है। अष्टाध्यायी में भिन्न भिन्न प्रकरणों के एवं लघुता के अनुरोधसे 'संज्ञाप्रकरण', 'प्रत्यय-प्रकरण' आदि क्रम दिखाया गया है। उस क्रमसे भी अपरापेक्षया पूर्व की बलवत्ता है।

जब किसी भी विचारशील दिमाग से निकले वाक्य, प्रकरण क्रम सार्थकता और उपयोगिता की अपेक्षा करते हैं, तब ज्ञानमय "ब्रह्म का ज्ञान" इन से शून्य कैसे हो सकता है! उस में इन का न होना कैसे सम्भव हो सकता है!

तात्पर्य यह, वेदों के विषय में निम्न लिखित तीन विचार हो सकते थे, जिनमें से दूसरे की असत्यता ऊपर प्रतिपादित कर ही दी गई है, और तीसरे को बहुत देरसे बहुत रगडे जा

ने के कारण, एवं इन लेखों में अन्यत्र कहीं इस विषय पर प्रकाश डाल चुकने के कारण छोडा नहीं गया। दूसरी और तीसरी स्थापनाओं के भ्रम-मूलक होने के कारण प्रथम स्थापना ही रह जाती है, और वही युक्तियुक्त प्रतीत होती है

(१) वेद किसी विशेष विषय को लेकर प्रस्तुत हुआ है, अत एव मन्त्रों और सूक्तों में परस्पर विशेष सम्बन्ध है।

(२) वेद प्रकरणाप्रकरण का ध्यान बिना दिए ही प्रस्तुत हुआ है अत एव मंत्र का विनियमक ब्राह्मणग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान के एक अपूर्व भाग का प्रतिपादन करने के कारण, वेद ही हैं।

(३) वेद ईश्वरीय ज्ञान ही नहीं, उसे इस आशाओं को करना बन्ध्यासे पुत्र और सिकता से तैल की आशा के समान है।

कोई मनुष्य किसी विषय पर पुस्तक माला प्रकाशित करने लगे, तो उस विषय के भिन्न विभाग कर, प्रत्येक विभाग को ले उस के भी उप विभाग कर के, एक एक ग्रन्थ लिखता है। यदि उस के परिमित ज्ञान के अनुसार उस विषय के १० विभाग हों तो वह १० पुस्तकें बनाकर एक एक पुस्तक में कई कई अध्याय और एक एक अध्याय में कई वा एक ही विचार रखेगा।

वेद के ज्ञान के मुख्य चार विभाग हैं। (१) ऋक् (२) यजुः, (३) साम, और (४) अथर्व। ऋग्वेद के १० विभाग, यजुर्वेद के ४०, सामवेद के १५ (प्रपाठक), और अथर्व वेद के २० विभाग हैं। इन में भी प्रत्येक के अन्तर्गत कई विभाग हैं। तात्पर्य यह है, कि परमात्माने ज्ञान के पूर्वोक्त चार हिस्से कर के प्रत्येक के फिर उप विभाग किये हैं। चार वेदों में चार अवश्य ज्ञातव्य चीजों का वर्णन है— जो कि प्रत्येक को होना परमावश्यक हैं। परन्तु वे चार कौन से हैं ?

इन चारों को बता देने के लिये हमें भिन्न भिन्न सम्मतियें देखनी चाहियें।

शतपथ, ११ काण्ड, २ अध्याय में लिखा है —

'तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः"

अर्थात् अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद हुआ। मनुमहाराज ने भी कहा है : —

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

इस से भी अग्नि का ऋग्वेद से, वायुका यजुर्वेद से तथा आदित्यका सामवेद से विशेष सम्बन्ध बतलाया गया है।

इन प्रमाणों को छोड कर हम वेद की आन्तरीय साक्षी देखते हैं। वेद स्वयं क्या कहते हैं? इस के लिये वेदों के प्रथम मंत्र देखने पर्याप्त होंगे : —

(१) ऋग्वेद।

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥

यहां पर अग्नि के विषय में कुछ कहा गया है।

(२) यजुर्वेद।

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं....।

इस मन्त्र में वायु के विषय में कुछ कहा गया है।

(३) सामवेद।

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्य दातये। निहोता सत्सि बर्हिषि॥

यहां अग्नि से सूर्य अर्थ लेना चाहिये क्यों कि १० वें मंत्र में 'देवो ह्यसि नो दृशे' में सूर्य अर्थ ही संगत हो सकता है। इस मंत्र से विदित होता है, कि साम और सूर्य का कोई विशेष सम्बन्ध है।

(४) अथर्व वेद।

ये त्रिषप्ताः परि यन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

इस मंत्र से वाचस्पति और अथर्व का कुछ विशेष सम्बन्ध है, ऐसा विदित होता है।

वेद के प्रमाणों से ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम वेद का अग्नि वायु और रवि से सम्बन्ध ब्राम्हण और मनु के सदृश ही है, परन्तु अथर्व वेद के वाचस्पति के साथ सम्बन्ध के विषय में एक अपूर्वता दीख पडती है। मनु आदि के प्रमाणों में अथर्व का जिकर नहीं किया गया। यह विरोध होता हुआ भी अविरोध है, क्योंकिः-

"त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तामथाङ्गतः। ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा॥"

महा भा०। शा० अ० २३५॥

अर्थात् ऋक्साम यजु और अथर्व इन चार वेदोंमें कही हुई "त्रिविद्या" को अंग सहित पढे। इससे सिद्ध है कि, यद्यपि वेद के चार विभाग हैं, तथापि उन में "**तीन विद्याओं का वर्णन**" है, अत एव ब्राम्हण मनु तथा अन्य विचारशील पुरुषोंने वेदों का नाम "**त्रिविद्या और तत्प्रतिपाद्य अग्नि, वायु और आदित्य — ये तीन**" कहे।

क्यों कि अध्ययन परम्परासे अज्ञात काल से वेदों में तीन विद्याओं के प्रतिपादन का होना चला आ रहा है, अतः अथर्व वेद या तो तीनो वेदों का उपसंहार है, और या एक ऐसी विद्या है जो तीन विद्याओं में नहीं आ सकती होगी।

परन्तु यदि दूसरा पक्ष ठीक हो, तो वेद को त्रिविद्या क्यों कहा जाय, वह चतुर्विद्या क्यों नहीं? त्रिविद्या वेदोंका नाम परम्परा से चला आ रहा है, अतः अथर्व वेद को पूर्वगत ऋग्यजुःसाम का उपसंहार ही कहना पडता है, उस में अन्य वेदों से कोई अपूर्वता नहीं। कुछ थोडा और विचार करने से हमारा यह कथन भी पूर्व प्रश्न की ही कोटि में आ पडता है, क्यों कि उपसंहार की जरूरत वहीं होती है, जहां लेखक वा ग्रंथकर्ता अपने विषय से कुछ पीछे आगे बढ गया हो। परमात्मा को उपसंहार की जरूरत ही क्या है, जब

उस की कोई भी बात इस तरह की नहीं हो सकती । उपसंहार सदा वहीं होगा, जहां आगे पीछे की बातें कहनी शुरू कर दी गई होंगी, पर परमात्मा में ऐसे दोष न आसकने के कारण अथर्व वेद को उपसंहार मानना भी अत्यन्त दूषित ठहरता है।

अन्त में कहना पडता है कि हो न हो अथर्ववेद में किसी ऐसी बात का वर्णन है, जो शेष तीनों वेदोंके प्रतिपाद्य विषय की सहायक भूत है। जब सहायक हैं, तब नौकरोंकी स्वामियों में गणना नहोनेके कारण 'त्रयी' में अथर्व वेद की गणना नहीं की गई, और हर जगह अग्नि वायु एवं तीन विद्या ओं को जानने के लिये प्राचीन काल से अब तक कहा गया।

लोग कहा करते हैं, कि त्रयी का तात्पर्य तीन प्रकारकी ऋचाओं से है । अतः लोगों की भाषा में हम यदि अपने भाव को लपेटना चाहें, तो कहना पडेगा, कि जिन ऋचा ओं में अग्नि का वर्णन है, वे ऋक् कहायेंगी, जिन में वायु का वे यजुः और जिनमें आदित्य का वे साम कहायेंगी । प्रश्न होगा, कि वेदोंमें ये तीन देवता ही तो नहीं आते, इसके अतिरिक्त और बहुतेरे देवता आते हैं । उनमें से किस मन्त्र का अग्निपरक, किस का वायु परक और किस का आदित्यपरक अर्थ किया जाय ?

इस के उत्तर को पाने के लिये हमें निरुक्त की शरण लेनी पडेगी ।

निरुक्त के देवताकाण्ड में प्रथम अध्याय के तृतीय पाद से देवता विषयक चर्चा इसी उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर है । निरुक्तकार तीन देवताओं को मानते हैं , कई दो और कई एक देवता भी मानते हैं । निरुक्तकार ने तीन देवता मान कर , अन्य सब देवताओं का उन्हीं तीन में आकुञ्चन कर दिया है । पृथ्वी स्थानी अग्नि देवता है । अग्नि ही के अन्दर जातवेदस् , वैश्वानरादि देवता आ जाते हैं । मध्यम स्थानी वायु देवता है । वायु ही के अन्दर वरुणरुद्रादि देवता आ जाते हैं । द्युस्थानी सूर्य देवता है । अश्विनौ, उषा , सूर्या आदि सब इसी में प्रविष्ट हो जाते हैं । इसी तरह से निरुक्त की समाप्ति तक यही क्रम निरुक्त में दिखाया गया है ।

तात्पर्य यह कि ऋग्वेद में पृथ्वीस्थानीय देवताओं का वर्णन है । यजुर्वेद में मध्यस्थानीय देवताओं का वर्णन है ! और मध्यस्थान का यज्ञ से सम्बन्ध होने के कारण यज्ञके विचारों का बीज भी इस कल्पना में पाया जा सकता है । सामवेद में द्युस्थानी देवता ओं का वर्णन है । अथर्व वेदमें वाचस्पति शब्द से सम्बन्ध रखती हुई किसी ऐसी विद्याका वर्णन है जो संसार की ज्ञेय तीन विद्याओं में न होती हुई कोई ऐसी विद्या है, जो ऋग्यजुः साम प्रतिपादित विद्या ओंकी सहायकतम है ।

हमें यह तो पता लग गया कि वेदों में कोई चार विद्याएं हैं , परंतु अभीतक हमने उन्हें विशेषण विशिष्ट नहीं किया।

वे कैसी होनी चाहिये और कैसी न होनी चाहिये ?

वैदिक धर्म में विज्ञापन

"वैदिक धर्म" मासिक पत्र में विश्वास पात्र विज्ञापन मुद्रित करने का प्रारंभ हुआ है। हम हर एक विज्ञापन नहीं लेते, परंतु जो विश्वास रखने योग्य और हमारे ग्राहकों के लिये लाभ-कारी होंगे, वे ही विज्ञापन हम लेते हैं।

"वैदिक धर्म" मासिक पत्र में विज्ञापन छपाई के नियम निम्न लिखित हैं–

(१) विश्वास रखने योग्य विज्ञापन ही इस पत्रमें मुद्रित होंगे।

(२) जिन विज्ञापनों से ग्राहकों के लिये लाभ होगा, उसी प्रकारके विज्ञापन मुद्रित होंगे।

(३) औषधियोंके विज्ञापन लिये नहीं जायंगे।

विज्ञापन का मूल्य।

	१ वर्ष केलिये प्रतिमास	६ मासके लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ७)	रु. ८)
आधा पृष्ठ	रु. ४)	,, ४॥)
चतुर्थांश पृष्ठ	रु. २।)	,, २॥)

	३ मास के लिये प्रतिमास	१ मास के लिये प्रतिमास
एक पृष्ठ	रु. ९)	रु. १०)
आधा पृष्ठ	,, ५)	,, ६)
चतुर्थांश पृष्ठ	,, ३)	,, ४)

विज्ञापन का मूल्य पहिले लिया जायगा।

(४) विज्ञापन छपते समयतक विज्ञापकको विना मूल्य "वैदिक धर्म" मासिकपत्र दिया जायगा।

"वैदिक धर्म" मासिक पत्रमें विज्ञापन देना बहुत लाभ दायक है, क्यों कि इस पत्रके अंक सब ग्राहक सुरक्षित रखते हैं।

मंत्री–स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

स्वाध्याय के ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० वी व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)

(६) योग के आसन। मू. २)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)

(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग। १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।-)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥)

(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥)

(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-)

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध
(जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक ५
क्रमांक ५३



वैशाख सं. १९८१
मइ स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

---:o:---

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

महाभारतके नियम

(१) महाभारत मूल और भाषांतर प्रति अंकमें सौ पृष्ठ प्रकाशित होगा।

(२) इसमें मूल श्लोक और उसका सरल भाषानुवाद होगा। मूलग्रंथ समाप्त होनेतक कोई टीका टिप्पणी लिखी नहीं जायगी। जो लिखना होगा वह ग्रंथसमाप्ति के पश्चात् विस्तृत लेखमें सविस्तर लिखा जायगा।

(३) भूमिका रूप इस विस्तृत लेखमें धार्मिक, सामाजिक, राजकीय तथा अन्य दृष्टियोंसे परिपूर्ण विवरण होगा, तात्पर्य यह भूमिका का विस्तृत लेख भारतकालीन वस्तुस्थितिका पूर्ण रीतिसे निदर्शक होगा। यह लेख मूलग्रंथ के छपने के पश्चात् छपेगा।

(४) संपूर्ण महाभारतके मुख्य प्रसंगों के सौ चित्र इस ग्रंथमें दिये जांयगे। उन में प्रतिपर्व एक चित्र रंगीन भी होगा। इसके अतिरिक्त उस समयकी भूगोलिक अवस्था बताने वाले कई नकशे दिये जांयगे।

(५) इसके अतिरिक्त ग्राम, नगर, प्रांत, और देशोंके नाम, जातिवाचक नाम, तथा अन्य नामोंका पूर्ण परिचय देनेवाली विविध सूचियां भी दी जांयगी।

मूल्य।

(६) बारह अंकोंका अर्थात १२०० पृष्ठोंका मूल्य मनी आर्डर से ६) छः रु. होगा और वी.पी.से ७.) रु. होगा यह मूल्य वार्षिक मूल्य नहीं है, परंतु १२०० पृष्ठोंका मूल्य है।

(७) बहुधा प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रकाशित होगा, परंतु संभव हुआ तो अधिक अंक भी प्रसिद्ध होंगे।

(८) प्रत्येक अंक तैयार होते ही ग्राहकों के पास भेजा जायगा। यदि किसीको न मिला, तो सूचना १५ दिनोंके अंदर मिलनी चाहिये। जिनकी सूचना १५ दिनोंके अंदर आवेगी उनको ही वह न मिला हुआ अंक पुनः भेजा जायगा। परंतु जिनकी सूचना १५ दिनोंके अंदर न आवेगी उनको ।।।=) आनेका मूल्य आनेपर, संभव हुआ तो ही, अंक भेजा जायगा।

(९) सब ग्राहक अपने अपने अंक संभाल कर रखें और चार अथवा पांच महिनों के पश्चात् अपने अंकोंकी जिल्द बनवालें। जिससे अंक गुम होनेकी संभावना नहीं होगी। एक या दो मास के पश्चात् किसी को भी पिछला अंक मूल्य देनेपरभी मिलेगा नहीं। क्यों कि एक अंक कम होनेसे

यहांके सब अंक व्यर्थ हो जाते हैं, इस लिये हरएक ग्राहक इस सूचना का स्मरण रखे और असावधानी होने न दें।

विनामूल्य महाभारत।

(१०) जो सज्जन १००) अथवा अधिक रुपये स्वाध्यायमंडल को एक समय दान देंगे, उनको वैदिकधर्म तथा महाभारत के भाग तथा स्वाध्यायमंडल के पुस्तक, जो उनका दान मिलने के पश्चात् मुद्रित होंगे, विनामूल्य मिलते जांयगे।

(११) जो सज्जन एक समय १००) रु. स्वाध्याय मंडलके पास अनामत रखेंगे उनको महाभारत के वे अंक जो उनकी रकम आनेके पश्चात् मुद्रित होंगे विनामूल्य मिलेंगे और महाभारत का मुद्रण समाप्त होते ही उनकी रकम, अर्थात् केवल १००) सौ रु., वापस की जायगी। (स्वाध्याय मंडल की कोई अन्य पुस्तक इनको विनामूल्य मिलेगी नहीं।)

(१२) जो महाशय दस ग्राहकों का चंदा इकट्ठा म०आ० द्वारा भेजकर अपने नामपर सब अंक मंगायेंगे, उनको एक अंक विनामूल्य भेजा जायगा।

पीछेसे मूल्य बढेगा।

पीछे से इस ग्रंथ का मूल्य बढेगा। इस लिये जो ग्राहक शीघ्रही बनेंगे उनको ही इस अवसर से लाभ हो सकता है।

मंत्री—
स्वाध्यायमंडल,
औंध (जि. सातारा)

वर्ष ५
अंक ५
क्रमांक
५३



वैदिकधर्म

वैशाख
सं. १९८१
मई
सन १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

पूर्वजोंकी भूमि।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ॥
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥२॥
अथर्व. १२।१।५

जिसमें हमारे प्राचीन पूर्वज (विचक्रिरे) पराक्रम करते रहे, जिसमें देवोंने असुरों का (अभ्यवर्तयन्) पराभव किया था, और जो गौ, अश्व और (वयसः) पक्षियोंका (विष्ठाः) निवासका स्थान है, वह (नः पृथिवी) हमारी मातृभूमि (भगं) धन और (वर्चः) तेज हमें (दधातु) देवे।

जिस मातृभूमिमें हमारे पूर्वज पराक्रम करते रहे, जिस मातृभूमिमें सत्पुरुषोंने दुष्टों का पराभव किया था, जिस मातृभूमिमें पशुपक्षी और अन्य प्राणिभी आनंदसे रहते हैं, वह हमारी भूमिं हमारे लिये ही अपना धन देवे, तथा हमारा तेज बढावे।

डाक खानेका भय।

* * *

देरीका कारण।

" **महाभारत अंक २ और वैदिक धर्म विशेष अंक** " समयपर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इसका कारण इतनाही है कि जिस भारत मुद्रणालयमें ये अंक छपते थे, वहां के छोटेसे यंत्र पर इतना मुद्रण होना अशक्य हुआ। इसलिये जर्मनीसे एक यंत्र मंगवाया था। जो दिसंबर में यहां पहुंचना था, परंतु अज्ञात कारण से वह यंत्र मार्चके मध्यमें यहां पहुंचा। इस देरी के कारण अंकोंके मुद्रणमें भी देरी होगई। अब यंत्र आगया है और एक दो मासके अंदर सब अंक नियमपूर्वक प्रसिद्ध होते रहेंगे।

* * *

वैदिक धर्म विशेषांक।

पत्र द्वारा ग्राहकों को सूचना दी थी कि" वैदिक धर्मका विशेष अंक " फर्वरीके २५ तारीख को प्रकाशित होगा। इस सूचनाके अनुसार ही सब ग्राहकों के नाम पूर्णरीतिसे देख भालकर - सब अंक डाकखानेमें रवाना किये गये थे। परंतु कई ग्राहकोंसे पत्र आये कि उनको अंक मिले नहीं ! इनके नाम दुबारा अंक भेजे गये !! **कईयों को तो तीन तीनबार वैदिक धर्म का विशेष अंक भेजा गया**, तथापि उनमें से कईयों की शिकायतें पुनः आ रहीं हैं, और हमारे ग्राहक समझ रहे हैं, कि यहां से "**विशेष अंक**" भेजा ही नहीं गया, और ग्राहकोंको धोखा दिया जा रहा है !

* * *

धोखा नहीं है।

यह यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं, कि "**स्वाध्यायमंडल**" से इसप्रकार धोखेकी संभावना नहीं है, न कभी धोखा दिया था, और न आगे दिया जायगा। यदि ऐसा है तो कई ग्राहकोंको " **विशेष अंक** " क्यों नहीं मिले ? यही संभवतः " **वैदिक धर्म के विशेष अंक की विशेषता है।** " हमारा गत छह वर्षोंका अनुभव है कि, विशेष महत्वकी पुस्तकें डाक खाने में विशेष रीतिसे गुम होती हैं !!! इसके कारण का पता विचार करनेसे ही पाठकों को लग सकता है, यहां स्पष्ट लिखने की आवश्यकता नहीं है, कर्मचारियोंमें धर्म भावका अभाव होनेसे ऐसे अनर्थ होना संभवही है।

* * *

डाक खाने का भूत !

साधारणतः प्रतिमास पीछे लगता है, परंतु " **विशेष अंक** " के लिये विशेषतः डाक खाने का" **पिशाच** " पीछे लगा था। इस पिशाचने इतने आश्चर्य किये कि जिनकी कल्पनाभी नहीं हो सकती !!!

(१) देहली के वैदिक धर्मके ग्राहकों के १२ **विशेष अंक** इकट्ठे सीधे " डिस्ट्रिक्ट **मैजिस्ट्रेट** " के पास पहुंचाये, जो ग्राहक भी

नहीं हैं !!

(२) कलकत्ते के आठ ग्राहकोंके विशेष अंक श्री०पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार जी के पास पहुंचाये !!

(३) इसी प्रकार इगतपुरी , मिर्जापुर मेरठ , पेशावर, सहारनपुर आदि स्थानों में हुआ !

इस बातका पता हमें तब लगा कि जब डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट देहलीका पत्र आया। हम श्री० डिस्ट्रिक मैजिस्ट्रेट साहेब महोदयजीका धन्यवाद किये विना नहीं रह सकते, क्योंकि उन्होंने कृपा करके रजिस्ट्री डाक द्वारा सब अंक हमारे पास भेज दिये। कलकत्तेके श्री०पं० जयदेव शर्माजीने कष्ट उठाकर ग्राहकोंके पास अंक पहुंचाये , तथा इगतपुरीके ग्राहकों ने भी इसी प्रकार पहुंचाये इन सबका हार्दिक धन्यवाद है।

परंतु कई महाशयोंनें मिले हुए अंक अपने ही पास रख दिये ! डागखानेके कर्म चारियोंकी असावधानता के कारण यदि किसी ग्राहकके पास एकसे अधिक अंक पहुंच गये तो उसको उचित है कि वह अपना अंक लेकर शेष अंक डाक खानेको वापस करें। हरएक के पास अंक पहुंचाना डाक खानेका कर्तव्य है। परंतु डाक खानेवाले ऐसी अव्यवस्था मचा रहे हैं।

यह कथा है "**वैदिक धर्म के विशेष अंक की**" तात्पर्य विशेष अंक की विशेषता डाक खाने में भी प्रकट हुई है। अंतमें डाक खानेके पिशाच की प्रार्थना करते हैं , वह इसप्रकार हमारे पीछे न पडे, क्यों कि इस प्रकार पिशाचों से डरनेवाला "**वैदिक धर्म**" नहीं है।

* * *

वैदिकधर्म की पृष्ठ संख्या।

गत मास से वैदिक धर्म की पृष्ठ संख्या बढा दी गई है। पहिले २४ पृष्ठ थे, गतमाससे २८ पृष्ठ दिये गये हैं। यदि पाठक ग्राहक संख्या बढायेंगे तो इस से भी अधिक पृष्ठ इतने ही मूल्यमें देनेका विचार है। आशा है कि पाठक अवश्य ग्राहक बढायेंगे।



इसी समय को अपने पुरुषार्थ से मंगलमय और आनंद कारक बनाइये।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

(लेखक- श्री. पं. धर्मदेव जी सिद्धांतालंकार)

द्वितीय परिच्छेद।

प्रथम अध्याय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत सिद्धान्तों की सप्रमाण व्याख्या की गई है; उन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए जो मनुष्यमात्र के वेदोक्त कर्तव्य हैं, उन का संक्षेप से यहां दिग्दर्शन कराना है। सब से प्रथम जगदुत्पादक परमेश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है, इस विषय में कुछ थोडे से मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक मालूम होता है। वैदिक धर्म में शुद्ध एकेश्वर पूजा की कल्पना नहीं पाई जाती, ऐसा कई महानुभावों का कथन है। यहां इस विषय पर वादविवाद करने की आवश्यकता नहीं। नीचे ईश्वर भक्ति और उस के फल के बारे में जो वेद मन्त्र उद्धृत किये जाएंगे, वे स्वयं उपर्युक्त आक्षेपों की निर्मूलता को प्रमाणित कर देंगे।

(१) ऋ . २ । २३ । ४ में ईश्वर भक्ति का निम्न लिखित फल बताया गया है —

"सुनीतिभिर्नयासि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्। ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्॥"

ऋ . २ । २३ । ४.

अर्थात् (बृहस्पते) सूर्यादि बडे पदार्थों के स्वामी परमेश्वर! (जनं सुनीतिभिः नयसि) तू मनुष्यों को उत्तम नीति अथवा मार्ग से ले जाता और (त्रायसे) उन की रक्षा करता है। (यः) जो पुरुष (तुभ्यम्) तुझे (दाशात्) देता है —— अपने आपको तेरे प्रति समर्पण करता है (तम्) उस को (अंहः)

पाप (न अश्नवत्) नहीं प्राप्त होता । (ब्रह्म-द्विषः) ज्ञानियों के साथ द्वेष करने वाले का तू (तपनः) तपाने वाला हो कर (मन्युम्) उचित कोप को (ईरसि) प्रेरित करता है, (तत्) वह (ते) तेरी (महि) बडी भारी (महित्वनम्) महिमा है । परमेश्वर का न्याय दण्ड दुष्टों का संहार करता है, इतना ही यहां उस के मन्यु दिखलाने से मतलब है । भक्ति करने पर भगवान् पुरुष को सन्मार्ग पर चलाते, उस की रक्षा करते, और उस को सब पापों से बचाते हैं, यह भाव मन्त्र में स्पष्टतया प्रकट किया गया है । इसी सूक्त का पांचवां मन्त्र देखिये —

(२) न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः । विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥

ऋ० २ । २३ । ५

अर्थात् (सुगोपाः) अच्छी प्रकार रक्षा करने वाला तू (यम्) जिस मनुष्य की (रक्षसि) रक्षा करता है (यं) उस को (अंहः) पाप (न) नहीं स्पर्श करता (दुरितं) दुःख वा दुर्व्यसन (न) नहीं प्राप्त होते (कुतश्चन) कहीं से भी (अ-रातयः) शत्रु उस विद्वान पुरुष को (न तितिरुः) नहीं हिंसा करने पाते । (द्वयाविनः) मन में कुछ और बाहर से और कुछ दिखाने वाले कपटी लोग भी (न) उस धर्मात्मा की हिंसा नहीं कर सकते । (अस्मात्) इस धर्मात्मा पुरुष से (विश्वाः) सब (ध्वरसः) भय और हिंसा को (वि बाधसे) तू नष्ट कर देता है । परमात्मा जिस का रक्षक है, उस भक्त को दुनिया में किसी से डर नहीं हो सकता, पाप से वह सदा दूर रहता है, और इस लिये उस पर आपत्तियों का भी असर नहीं होता । वह भक्त पुरुष कभी हीन अवस्था को प्राप्त नहीं होता, यह मन्त्र का मुख्य अभिप्राय है । (३) इस परमात्मा की भक्ति का न केवल आध्यात्मिक बल्कि लौकिक फल भी बहुत कुछ प्राप्त होता है, इस विषय में ऋग्वेद २ । २४ । ३ देखिये —

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः । देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

अर्थात् (यः) जो पुरुष (श्रद्धामनाः) श्रद्धा युक्त मन वाला हो कर (हविषा) भक्ति से (देवानां पितरम्) सूर्य चन्द्रादि तथा ज्ञानियों के पालक (ब्रह्मणस्पतिम्) परमेश्वर की (आविवासति) पूजा करता है (स इत्) वह ही (जनेन) उत्तम मनुष्यों से (स विशा) वह प्रजा से (स जन्मना) वह अपने जन्म से (स पुत्रैः) वह अपने पुत्रों से (वाजं) ज्ञान को (भरते) सम्पादन करता है (नृभिः) अपने मनुष्यों के द्वारा वह पुरुष (धना भरते) धन से पूर्ण होता है । इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने से मनुष्यों को अच्छे पुत्र मित्रादि प्राप्त होते हैं, जिन के द्वारा उसे ज्ञान और ऐश्वर्य

की प्राप्ति होती है । दयामयी जगन्माता के प्रति जो अपने को समर्पण कर देते हैं, निश्चय से उन का संसार में कभी अमङ्गल नहीं हो-सकता । कितना उत्तम अभिप्राय यहां प्रकाशित किया गया है ।

(४)परमेश्वर ही नित्य सुख और शान्ति देने वाला है, अतः एक मात्र उसकी उपासना करनी चाहिये, इस बात को ऋ. ८ । ६६ ।१३ में निम्न लिखित शब्दों में प्रकट किया गया है—

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिष्मसि ।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन
मघवन्नास्ति मर्डिता ॥

ऋ. ५ । ६६ । १३

अर्थात्(वयं)हम सब(घा) निश्चय से (इन्द्र) हे परमेश्वर (ते स्मसि)तेरे हैं और (उ) निश्चय से (विप्राः) ज्ञान सम्पन्न-होते हुए (अपि) भी हम सब (त्वे इत् स्मसि) तेरे ही आश्रय में और तेरी ही शरण में हैं (पुरुहूत मघवन्) बहुत से भक्तों द्वारा स्वीकृत ऐश्वर्य युक्त भगवान् (त्वत् अन्यः) तेरे से अतिरिक्त और (कश्चन) कोई भी(मर्डिता) यथार्थ नित्य सुख देने वाला (न अस्ति नहीं है । भक्त लोगों की परमेश्वर के प्रति यह उक्ति है । सब को भगवान् की ही शरणमें सदा रहना चाहिये, क्यों कि उस को छोड कर वस्तुतः संसार—में सुख देने वाला कोई नहीं है ।लोग इस तत्व को न समझते हुए दुनियां के पदार्थों में सुख ढूंढना चाहते हैं, पर अन्त में निराश हो कर इसी परिणाम पर पहुंचते हैं, कि दयामय भगवान के अतिरिक्त स्थिर नित्य सुख शान्ति देने वाला और कोई भी नहीं हैं, इसी आशय से उपनिषदों के अन्दर कहा है —

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

अर्थात् आत्मा के अन्दर स्थित सर्वान्तर्यामी भगवान् का जो साक्षात्कार करते हैं उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है अन्य किसी को नहीं।

(५) परमेश्वर ही को अपना पिता माता बन्धु भ्राता और मित्र समझना चाहिये। उसी से भक्ति भाव दृढ होता है, इस बात को वेद के अनेक मन्त्रों से प्रमाणित किया जा सकता है,किन्तु यहां एक दो मन्त्रों को उद्धृत करके अगले कर्तव्य पर विचार किया जाएगा।

"देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामासि चारुरध्वरे। शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमे अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

ऋ . १ । ९४ । १३

इस मन्त्र में परमेश्वर के लिये अद्भुत मित्र शब्दका प्रयोग किया गया है । सांसारिक मित्रोंसे एक न एक दिन अवश्य वियोग होता है, किन्तु परमात्मा एक अद्भुत मित्र (वसूनां वसुः असि) पृथिव्यादि वसुओं का भी तू आधार भूत है (अध्वरे) सब अहिंसामय कार्यों में तू (चारुः) प्रकाशमान है (तव) तेरी (सप्रथस्तमे)अत्यन्त विस्तृत (शर्मन्)

शरण में (स्याम) हम सदा रहें (अग्ने) हे ज्ञानस्वरुप परमेश्वर (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (न रिषाम) कभी दुखी नहीं। परमेश्वर सब देवों का अधिष्ठाता और हमारा अद्भुत सहायक और हमारा अद्भुत मित्र है, शुभ कर्मों के द्वारा उसका प्रकाश होता है। उस को जो मित्र समझते हुए शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं, उन्हें कभी कोई क्लेश नहीं होता, यह इस मन्त्रका अभिप्राय है।

श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्
देवानामवो अद्यावृणीमहे ।

इत्यादि मन्त्रों में भी इसी प्रकार परमेश्वर की श्रेष्ठ शरण में सदा रहने की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर की शरण अत्यन्त विस्तृत है, इस का तात्पर्य यह है कि, उस के अन्दर सब जाति, देश और वर्ण के पुरुष को बैठने का समान अधिकार है। वहां काले गोरे का और ब्राह्मण चाण्डाल का कोई भेद नहीं पापी से पापी भी परमेश्वर की शरण में आ कर अपने जीवन को पवित्र बना कर तर गये और अब भी तर सकते हैं।

(६) ऋ . १० । ७ । ३ में --

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं
भ्रातरं सदमित्सखायम् ।

ऐसा मन्त्र आया है जिस में ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को मैं अपना पिता (आपिः) आप्त गुरु, भ्राता (सदम्) शरण देने वाला और (सखायम्) मित्र (मन्ये) मानता हूं ऐसा एक भक्त के मुख से कहलाया गया

है। वस्तुतः जब तक परमेश्वर ही को अपना सब कुछ न मान लिया जाए, तब तक पूर्ण भक्ति का आनन्द रूपी अमृत मधुर फल प्राप्त नहीं हो सकता।

(७) साम उत्तरार्चिक अ . २ प्र . ४ में प्रसिद्ध --

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शत-
क्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे।

यह मन्त्र आया है जिस में परमेश्वर को ही पिता माता बताते हुए उसी से सुख प्रार्थना करनी चाहिये, यह भाव सूचित किया गया है। इस प्रकार परमेश्वर के प्रति व्यक्ति का जो कर्तव्य है उस की इन मन्त्रों द्वारा सूचना मिलती है। परमेश्वर को किसी समय भी न भूलना चाहिये क्यों कि उस को भूलना अथवा उस से विमुख होना यही वस्तुतः मृत्यु है यह भाव--

'यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः,
इत्यादि मन्त्रों का है--

अब इस विषय में साम वेदका एक अत्युत्तम मन्त्र उद्धृत कर के दूसरे कर्तव्य पर विचार करेंगे वह मन्त्र इस प्रकार है --

मा न इन्द्र परावृणग्भवा नः स-
धमाद्ये । त्वं न ऊती त्वमिन्न आ-
प्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥ '

साम . पू . ३ । ७ । ५ .

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (नः) हमें (न) नहीं (परावृणक्) परित्याग कर-हमारा परित्याग न कर अथवा हम तेरा परित्याग न करें; इन दोनों का काव्य की दृष्टि

स एक ही आशय है। (नः) हमारे (सधमाद्ये) सदा आनन्द के लिये (भव) हो। (त्वं नः ऊती) तू हमारी रक्षा करने वाला है (त्वम् इत्) तू ही (नः) हमारे लिये (आप्यम्) प्राप्त करने योग्य है। तेरे अतिरिक्त संसार में प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि तेरे प्राप्त कर लेने और जान लेने पर सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है (इन्द्र न मा परावृणक्) परमात्मन् हमारा परित्याग न करो, हमारा कभी परित्याग न करो। यह भक्त की सच्चे दिल से निकली हुई एक प्रार्थना है, जो परमेश्वर को ही अपना रक्षक, प्राप्तव्य मित्र और सब कुछ समझना चाहिये, इस भाव को लिये हुए है। केनोपनिषद के शान्ति मन्त्र में इसी वेद मन्त्र के भाव को ले कर सम्भवतः—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणं मे अस्त्वनिरा करणं मे अस्तु ॥

ये शब्द आए हैं, जिन का अर्थ यह है, ब्रह्म ने मेरा परित्याग नहीं किया, अतः मैं कभी ब्रह्म से विमुख न होऊं। हम दोनों का सदा योग रहे। इन मन्त्रों पर विचार करते हुए मनुष्य को परमेश्वरके प्रति भक्ति रूप मुख्य कर्तव्य को सदा पालन करना चाहिये।

द्वितीय कर्तव्य।

आन्तरिक और बाह्य पवित्रता।

अपने प्रति मनुष्य के कर्तव्यों में आन्तरिक और बाह्य पवित्रता का मुख्य स्थान है। इसी लिये वेद में सब प्रकार की पवित्रता के सम्पादन पर बड़ा भारी बल दिया गया है। ऋग्वेद नवम मण्डल के प्रायः मन्त्रों में जिनका देवता सोम पवमान है, इसी विषय में उपदेश तथा प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। साम वेद के अनेक मन्त्र भी इसी आन्तरिक और बाह्य शुद्धि का प्रतिपादन करने वाले हैं। अथर्व वेद, यजुर्वेद के अनेक मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में इस पवित्रता के भाव की सूचना देने वाले हैं। यहां चारों वेदों से इस विषयक थोड़े से मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

(१) ऋग्वेद ५।९।५ में निम्न मंत्र आया है —

इन्द्रः शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभि रूतिभिः। शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः ॥

अर्थात् (इन्द्र) ऐश्वर्य शाली राजन् (शुद्धः) शुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाला तू (न आगहि) हमें प्राप्त हो (शुद्धः) पवित्र तू (शुद्धाभिः) पवित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ हमें प्राप्त हो (शुद्धः रयिं नि धारय) शुद्ध होता हुआ तू ऐश्वर्य धारण कर और (सोम्यः शुद्धः) सौम्य और पवित्र होता हुआ तू (ममद्धि) आनन्द अथवा भोग कर। इस मन्त्र के अन्दर पवित्र भावों के साथ ही रक्षा ऐश्वर्य धारण भोगादि सब कार्य करने चाहिये यह भाव स्पष्टतया सूचित किया गया है।

(२) ऋ. ९।६७।२२ में निम्न प्रार्थना है —

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विच

र्षणिः । यः पोता स पुनातु नः ॥

अर्थात् (विचर्षणिः) सर्वज्ञ (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला (सः) वह परमेश्वर (अद्य) आज (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (पुनातु) हमें पवित्र करे। (यः पोता) जो वह पवित्र करनेवाला परमेश्वर है (स नः पुनातु) हमें वह अवश्य ही पवित्र करे। इस मन्त्र में भी दो वार परमेश्वर से जो कि पवित्रता का स्रोत है पवित्रता की प्रार्थना की गई है।

(३) ऋ० ९।७३।७ में वाणी की पवित्रता के विषय में निम्न लिखित मन्त्र आया है —

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ॥'

अर्थात् (मनीषिणः) बुद्धिमान् (कवयः) दूर दर्शी ज्ञानी लोग (सहस्रधारे वितते) सहस्र धाराओं के समान विस्तृत (पवित्रे) पवित्रता के स्रोत परमेश्वर में मग्न हो कर अर्थात् उस का भजन कर के (वाचं) वाणी को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं। ईश्वर भजनादि के द्वारा वाणी की पवित्रता को सम्पादन करने का इस मन्त्रमें उपदेश है। इसी भावको साम वेद में निम्न प्रकार प्रकट किया गया है —

(४) वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः। पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परिस्तोतार आसते ॥ साम० पू० ३।७।९

अर्थात् (वृत्रहन्) हे सब पापों का नाश करने वाले प्रभो (वयं) हम (घ) निश्चय से (सुतावन्तः) विद्या रूपी ऐश्वर्य से युक्त होते हुए (वृक्त बर्हिषः) अग्नि होत्रादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाले (पवित्रस्य प्रस्रवणेषु) पवित्र स्वरूप तेरे पवित्रता के स्रोत में (आपः न) जलों के समान शान्त स्वभाव (स्तोतारः) स्तुति करने वाले पुरुष (परि आसते) बैठे हुए हैं। 'वृक्त बर्हिषः' का अर्थ निघण्टु में ऋत्विक् ऐसा ही दिया है। परमेश्वर की पवित्रता की धाराओं में जल के समान बैठ कर भक्त लोग भी अपने को शुद्ध कर लेते हैं यह भाव यहां सूचित किया गया है जो काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है।

(५) यजुर्वेद अ० ३४ के प्रथम ६ मंत्रों में मन को शिव संकल्प बनाने के लिये जो प्रार्थनाएं आई हैं, वे इस प्रसङ्ग में दर्शनीय हैं। उन में से केवल एक मन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त है —

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात् (यत्) जो मन (जाग्रतः दूरम् उदैति) जाग्रत अवस्था में दूर दूर जाता है (तद् उ दैवं) वह ही निश्चय से दिव्य गुण युक्त मन (सुप्तस्य) सोये हुए पुरुष के भी (तथा एव) वैसे ही (एति) दूरजाता रहता है (दूरं गमं) दूर जाने वाला (ज्योतिषाम्) इन्द्रियों का (एकं ज्योतिः) एक प्रकाशक (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शुभ संकल्प करने वाला (अस्तु) होवे। मन्त्र की व्याख्या करने की

यहां आवश्यकता नहीं है। मन्त्र के अन्दर सदा शुभ भावों का उदय होना चाहिये यह इन सब मन्त्रों का भाव है।

(६) यजु० ४।४ में पवित्रता के सम्बन्ध में निम्न लिखित अत्युत्तम भाव पूर्ण मन्त्र आया है –

'चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छि-द्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्र–पते पवित्र–पूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥'

अर्थात् (चित्पतिः)चित्त का स्वामी (मा-पुनातु)मुझे पवित्र करे (सविता देवः)सर्वोत्पादक देव (सूर्यस्य रश्मिभिः)सूर्य की किरणों के साथ (अच्छिद्रेण)सर्व दोष रहित(पवित्रेण)अपने पवित्र तेज से (मा पुनातु) मुझे पवित्र बनाए (पवित्र पते)हे पवित्र स्वरूप स्वामिन् (पवित्र पूतस्य तस्य ते)पवित्र गुण कर्म स्वभावों के कारण सर्वथा शुद्ध तेरी (यत्कामः)जिस कामना से (पुने)पवित्रता अपने अन्दर धारण करता हूं (तत् शकेयम्) उस कामना को पूर्ण करने में मैं समर्थ हो सकूं। परमेश्वर पवित्रता का स्रोत है दिव्य शक्ति शान्ति और आनन्द को प्राप्त करने की कामना से उस की पवित्रता को अपने अन्दर धारण करना चाहिये यह इस मन्त्र का स्पष्ट आशय है। चित्त वाणी आदि का अधिष्ठाता मुझे पवित्र करे; इसी के अन्दर यह भाव आ जाता है कि वह मेरे चित्त वाणी आदि को पवित्र बनाए। इस प्रकार पवित्रता के स्रोत भगवान् की स्तुति प्रार्थना तथा उपासना के द्वारा अपने अन्दर पवित्रता धारण करने का वेद मन्त्रों में बहुत उत्तम उपदेश है।

(७)अथर्व ६।१९ में इस विषयक यह मन्त्र विचारने योग्य है—

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्ट तातये ॥

अर्थात् (पवमानः)सब को पवित्र करने वाला परमेश्वर (क्रत्वे)उत्तम कर्म करने के लिये (दक्षाय)चतुरता अथवा बल के लिये (जीवसे)उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने के लिये (अथो) और (अरिष्ट-तातये) अरिष्ट अथवा मंगल के विस्तार के लिये (मा) मुझे (पुनातु)पवित्र करे। भावार्थ यह है कि अपने अन्दर ईश्वर भक्ति आदि द्वारा पवित्रता धारण करने से मनुष्य का आत्मिक बल बढ़ता है और वह जीवन को सुखमय बनाते हुए उत्तम कार्य करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार की पवित्रता के सम्पादन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा उद्यत रहना चाहिये इस विषय में —

(१)भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥

(२)भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

इत्यादि मन्त्र भी देखने योग्य हैं, किन्तु सुप्रसिद्ध होने के कारण उन की व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं मालूम होती। अन्त में यजुर्वेद ६। १५ को यहां उद्धृत कर के हम इस प्रकरण को

समाप्त करते हैं जिस से सब अङ्गों की सब प्रकार की पवित्रता सम्पादन करना ही वैदिक शिक्षा पद्धति का मुख्य तात्पर्य था यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी। मन्त्र निम्न प्रकार है -

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते
शुन्धामि ॥

गुरु की शिष्य के प्रति यह उक्ति है कि मैं (ते) तेरी (वाचम्) वाणी को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूं (ते) तेरे (प्राणं शुन्धामि) प्राण को शुद्ध करता हूं (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरी आंख को मैं शुद्ध करता हूं (ते नाभिं, मेढ्रं, पायुं च शुन्धामि) तेरी नाभि उपस्थेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय को मैं शुद्ध करता हूं (ते चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरित्र अथवा आचरणों को मैं शुद्ध करता हूं। मन्त्र का भाव अत्यन्त स्पष्ट है। सब इन्द्रियों को शुद्ध पवित्र रखना चाहिये और अन्त म इस प्रकार अपने चरित्र को उत्तम बनाना चाहिये जिस के विषय में मनु महाराजने ठीक कहा है कि

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः
प्रजाः। आचाराद् धनमक्षय्यमा-
चारो हन्त्यलक्षणम् ॥

यही चरित्र निर्माण ही वैदिक तथा प्राचीन शिक्षा प्रणालीकी आधार शिला थी और इसी आदर्श को हर्बर्ट स्पेन्सर आदि यूरोपीय अनेक शिक्षा वैज्ञानिकों ने भी 'Formation of character is the chief object of education अर्थात चारित्र निर्माण ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है इत्यादि वाक्य लिख कर फिर से स्थापित करने का यत्न किया है अस्तु।

तृतीय वैयक्तिक कर्तव्य।

पूर्ण आत्म संयम प्राप्ति।

प्रथम अध्याय में नवम सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आन्तरिक और बाह्य स्वराज्य को प्राप्त करना वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और समाज का कर्तव्य है यह प्रमाण सहित दिखाया जा चुका है तथापि इस विषय में अभी कुछ और लिखने की आवश्यकता मालूम होती है। आत्म संयम को वेद के अन्दर कितना आवश्यक माना गया है इस बात को भली भाँति समझने के लिये हमें ब्रह्मचर्य की महिमा वर्णन करने वाले सूक्तों पर फिर से दृष्टि दौड़ानी चाहिये। अथर्व वेद ११ वें काण्ड के कुछ मन्त्रों का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है एक दो प्रसिद्ध मन्त्रों का फिर उद्धृत कर देना यहां अप्रासङ्गिक न होगा।

(१) ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं
विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण
ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अ. ११। ५। १७

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य और (तपसा) तप के द्वारा (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण ही (ब्रह्मचारिणम् इच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। इस

प्रकार के सब मन्त्रों में ब्रह्मचर्य से तात्पर्य अविवाहित रहने से नहीं किन्तु आत्मसंयम प्राप्त करने से ही है। ब्रह्मचर्य का इन्द्रियों पर कांबू पाये बिना राजा अपनी प्रजा अथवा राष्ट्र का धारण अच्छी प्रकार नहीं कर सकता। जो अपने को वश में नहीं कर सकता उस से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दूसरों को अच्छी तरह वश में रख सकेगा इसी आशय से मनुस्मृति में लिखा है—

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे धारायितुं प्रजा : ॥

जो आचार्य आत्म संयमी नहीं वह अपने शिष्यों को भी पूर्ण जितेन्द्रिय कभी नहीं बना सकता। अब दूसरा मन्त्र देखिये—

(२)ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत् ॥

११।५।१९

अर्थात (ब्रह्मचर्येण तपसा)ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा (देवाः)ज्ञानी लोग (मृत्युम्) मौत को (उपाघ्नत)मारते हैं स्वाधीन कर लेते हैं (इन्द्रः) जीवात्मा (ह)निश्चय से (ब्रह्मचर्येण)ब्रह्मचर्य के प्रताप से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये (स्वः)सुख को (आभरत्) धारण करता है। पूर्ण आत्मसंयम प्राप्त किये विना कभी भी आत्मिक सुख और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता यह यहां तात्पर्य है। ब्रह्मचर्य से यहां आत्म संयम से ही अभिप्राय है न कि अविवाहित रहने से, अतः गृहस्थी लोगों को भी ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये इस बात को वेद में ओषधि वनस्पति संवत्सर आदि की उपमा से कैसा स्पष्ट कर दिया है यथा—

ओषधयो भूतभव्यमहो रात्रे वनस्पतिः। संवत्सरःसहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

११।५।२०

ओषधि वनस्पति आदि अपनी अपनी ऋतु के अन्दर ही फूलती फलती हैं इसी प्रकार गृहस्थियों को ऋतु गामी होना चाहिये यही उन के लिये ब्रह्मचर्य है जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है—

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः। ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि व्रतों द्वारा पूर्ण आत्मसंयम को प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का एक मुख्य कर्तव्य है। तप अर्थात् शीतोष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निन्दा स्तुति, मान अपमानादि द्वन्द्वों का सहन करना उस आत्म संयम की प्राप्ति में मुख्य साधन है, अतः उस का अनुष्ठान भी अवश्य ही करना चाहिये अब वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्यों के विषय में थोडा सा विवेचन किया जाएगा।

वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्य

इस विषय पर कुछ लिखने से पूर्व सामान्य तौर पर गृहस्थाश्रम के बारे में वेद में कैसा भाव रखा गया है और वेद के

अनुसार स्त्रियों की स्थिति क्या है इन दो विषयों पर थोडा प्रकाश डालना अत्यावश्यक है। निम्न लिखित कुछ वेद मन्त्रों पर यहीं अच्छी प्रकार विचार करना चाहिये।

(१)ऋ १०। ८५ का ३६वां मन्त्र इस प्रकार है —

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

विवाह के समय वर वधू को कहता है (सौभगत्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये (ते हस्तं) तेरे हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं (मया पत्या) मुझ पति के साथ (यथा) जिस से तू (जरदष्टिः) वृद्धावस्था पर्यन्त जीने वाली (असः) हो। (भगः) ऐश्वर्य शाली (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) जगदुत्पादक (पुरन्धिः) अत्यन्त बुद्धिवाला परमेश्वर तथा (देवाः) सब ज्ञानी लोग (त्वा) तुझे (मह्यम् अदुः) मेरे प्रति सौंप चुके हैं। तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार गृहस्थाश्रम मनुष्य के सौभाग्यकी वृद्धि का एक प्रधान कारण है और पति पत्नीके सम्बन्ध को पाशविक वासना ओं के तृप्त करने का साधन नहीं अपि तु उन दोनों के एक दूसरे की सहायता से उन्नति करने का परमेश्वर प्रेरित साधन समझते हुए व्यवहार करना चाहिये।

(२) यजु. ३। ४१। में इस विषयक निम्न मन्त्र अत्युत्तम भाव पूर्ण है --

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥

अर्थात् (गृहाः) हे गृहस्थी लोगो! अथवा मेरे घरके सम्बन्धियो! (मा बिभीत) मत् डरो (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होवो हमारे भविष्य जीवन के विषयमें किसी तरह की चिन्ता न करो क्यों कि हम (ऊर्जं बिभ्रतः) बल और अन्नादि धारण करते हुए (एमसि) आते हैं — गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। आगे वहीं ब्रह्मचर्य से द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति कहता है कि मैं (मनसा) मन से (मोदमानः) प्रसन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन वाला (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला और (ऊर्जं) बल को (बिभ्रद्) धारण करता हुआ (वः) तुम्हारे (गृहान्) घरों को (एमि) आता हूं। तात्पर्य यह है, कि जो ब्रह्मचर्य आश्रममें अपने मन बुद्धि शरीर आदि की शक्तियों को बढाते हुए और उन्हें पवित्र बनाते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है वही सुखमय जीवन गृहस्थाश्रम में व्यतीत कर सकता है नहीं तो आदमी चिन्ताओं के कारण प्रति दिन क्षीण होता चला जाता है अतः गृहस्थाश्रम को स्वर्ग धाम और नरक धाम बनाना मनुष्य के अपने ही हाथों में है।

(३) अथर्व वेद ७। ६०। १ में इस विषयका बहुत ही उत्तम शब्दों में प्रतिपादन

किया गया है –

" ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण। गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ "

अर्थात, मैं (ऊर्जं बिभ्रद्) बल धारण करता हुआ (वसु वनिः) ऐश्वर्य का सेवन करने वाला – (वन षण – संभक्तौ) (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (अघोरेण) सौम्य (मित्रियेण चक्षुषा) मित्र दृष्टिसे सम्पन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मनसे युक्त (वन्दमानः) वृद्ध पूज्य लोगों को नमस्कार करता हुआ (गृहान् एमि) घरों में आता हूं, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता हूं (रमध्वम्) तुम सब खुशी मनाओ (मत्) मेरे से (मा बिभीत) न डरो। यह ब्रह्मचर्यसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले के मुंहसे वेदमें कहाया गया है। जो लोग गृहस्थाश्रम को नरक धाम अथवा दुःख का मूल समझते हैं उन्हें इस प्रकारके वैदिक आशयोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में स्पष्ट ही–

' इमे गृहा मयो भुवः '

ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ यह है कि ये घर सुख देने वाले हैं, दूसरे शब्दोंमें गृहस्थाश्रम स्वर्गका धाम है, किन्तु इस स्थापना के साथ एक शर्त लगी हुई है कि जब मनुष्य बल, धन, मेधा, मित्र दृष्टि, उत्तम मन, नम्रता इन सब को धारण करते हुए ब्रह्मचर्य से गृहस्थमें प्रवेश करे तभी गृहस्थाश्रम स्वर्ग का धाम है, अन्यथा उसके नरक धाम होनेमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। अब स्त्रियों की स्थिति विषयक प्रश्नपर वैदिक दृष्टिसे थोडासा विचार करना है। इस विषयमें निम्न लिखित वेद मन्त्र विशेष मनन के योग्य है—

(१) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥
ऋ. १ । ३ । ११

अर्थात् (सूनृतानाम्) मधुर और सत्य वचनों की (चोदयित्री) प्रेरणा करने वाली (सुमतीनां चेतन्ती) उत्तम मति या सलाह को देने वाली (सरस्वती) विदुषी स्त्री (यज्ञं) शुभ कर्म को (दधे) धारण करती है अथवा अग्नि होत्रादिका अनुष्ठान करती है। इस मन्त्र में निम्न लिखित बातें कही हैं।



क्रमशः ।



[दयानन्द जन्म शताब्दिके उपलक्ष्यमें श्री०पं० अभय विद्यालंकार द्वारा संगृहीत।]

वैदिक-उपदेश-माला। (१) उपदेश ग्रहण करना।

संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।

दयानन्द जन्म शताब्दिका महोत्सव हम मनाने के लिये उद्यत हो रहे हैं। उत्सव के कार्य तथा प्रचार कार्य के लिये धन एकत्रित हो रहा है, आर्य समाज के सभासद खूब बढाये जा रहे हैं, धर्म प्रचार के लिये कई ग्रन्थ तैयार किये जा रहें। मतलब यह है,कि वैदिक धर्म समाजमें खूब यत्न हो रहा है। यह सब उत्तम है,शुभकार्य है। परन्तु फिर भी मेरा चित्त पूंछता है,कि क्या यह सौ वर्ष के बाद आनेवाला उत्सव यूं ही बीत जायगा—आयेगा और चला जायगा !

इसलिये मेरे असंतुष्ट चित्तसे प्रश्न उठाया है,कि इस महोत्सवसे मैं अपना क्या बनाऊँ?एक ऋषिके इस सार्वभौम स्मरण के शुभ अवसर से मैं अपना कल्याण किस प्रकार कर सकता हूं और फिर निश्चय किया है, कि इस अवसरसे लाभ उठाकर मैं अपने को दृढ "वैदिक धर्मी" बनाउं। इन आगामी १२ महीनोंमें प्रतिमास एक एक वैदिक उपदेश को चुनकर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करनेका यत्न करूं, और दयानन्द के पवित्र उच्च जीवन से इसमें सहायता लूं, जिससे कि अगली शिवरात्रि तक में १२ वेदोपदेशों से सज्जित होकर अपना उत्सव मना सकूं। उस दिन मैं कह सकूं,कि मैं वैदिकधर्मी हूं ,यह कह सकूं, कि मैं दयानन्द का शिष्य हूं। बस मैं इसी प्रकार दयानन्द महोत्सव को मनाना चाहता हूं। इसीसे मेरा चित्त संतुष्ट होता है। **विस्तार की उन्नति की अपेक्षा गहराई की उन्नति से ही मुझे विशेष संतुष्टि मिलती है।** आर्य समाजी कहने वालों की संख्या बढनेसे मेरे चित्तको संतोष नहीं मिलता, पुस्तकों और व्याख्यानों के बहुत हो जानेसे भी संतोष नहीं मिलता परन्तु यदि हम थोडे से मनुष्य ही उथले वैदिक धर्मीओंके स्थानपर गहरे वैदिक धर्मी बन जांय तो इससे बढकर वैदिक धर्म की सेवा मैं और कुछ नहीं समझता—उपदेशों के फैलानेवालों की जगह उपदेशों को धारण करने वाले समुद्र हम बनजांय, तो इससे बढ कर वैदिक धर्म का प्रचार मैं और कुछ नहीं समझता। इसलिये मैं उन वैदिक धर्मी सज्जनों के लिये जिनका कि मन मेरे जैसा है, इस लेखमाला में प्रतिमास उस उपदेश को लेख बद्ध करनेका यत्न करूंगा, जो कि उपदेश मैं वेद से— और दयानन्द के जीवनसे—ग्रहण कर उसे महीनेभर अपने जीवन में लाने का यत्न करूंगा। और इन्हीं पाठकों को दृष्टि में रखकर मैं इस लेखमालामें प्रायः "मैं" की जगह"हम" शब्द का प्रयोग करूंगा।

तो आइये सबसे पहिले हम यह प्रार्थना करें।—

ऊत नो धियो गो अग्राः पूषन् वि ष्णवेवयावः। कर्ता नः स्वस्तिमतः॥

हे पोषक देव, हे व्यापक देव, हे ज्ञान

प्रापक देव, हमारी बुद्धियां (ज्ञान) गो अग्र (गमन है आगे जिनके ऐसी) होवें । इस प्रकार हमें आप कल्याणयुक्त कीजिये ।

कल्याण का मार्ग सचमुच यही है, कि हमारे सब ज्ञान ऐसे हों कि उनके आगे गमन हो । जो कुछ हमें ज्ञान हो, जैसी हमें बुद्धि मिले वैसा हमारा गमन जरूर हो, वैसा हमारी इन्द्रियां कर्म करें । यही पहिला उपदेश है-मूलका उपदेश है, जिसके विना हम आगे नहीं चल सकते । हमें सबसे पहिले उपदेश ग्रहण करना सीखना चाहिये तब हम किसी उपदेश को ग्रहण कर सकेंगे! जो कुछ हमें ज्ञान मिले, उपदेश मिले उसे हम करें — आचरण में लावें - तदनुसार गति करें, यह पहिली बात हमें इस महीने सीखनी है ।

शिवरात्रि की घटना में इससे अतिरिक्त और क्या है । दयानन्द न इस रात्रि को बोध प्राप्त किया । शिवलिंग पर चूहे के चढनेकी घटना ने दयानन्द को प्रबुद्ध कर दिया । क्या उस रात्रिको किसीने वेदमन्त्र सुनाकर दयानन्द को उपदेश दिया था, या मेजके पीछे खडे होकर किसीने व्याख्यान सुनाया था । परन्तु फिर भी उस रात्रिसे दयानन्द को एक ऐसा बोध मिला कि जबतक दयानन्द का दुनिया में नाम है, तबतक यह रात्रि बोध रात्रि के नामसे प्रसिद्ध रहेगी। इसलिये सौ बातों की एक बात यह है कि दयानन्द उपदेश ग्रहण करना जानते थे-वे उपदेश ग्रहण करने के लिये तैय्यार थे इसलिये उन्हें उपदेश मिला। यही दयानन्द का मूल है। हम भी यदि उपदेश ग्रहण करना जान जांय, तो हमारे भी परम कल्याण का मूल यही बात हो सकती है । बस ---

उपदेश ग्रहण करने वाले बनो ॥

उपदेश ग्रहण करने वाले बनो ॥

शिव रात्री की घटना चिल्ला चिल्ला कर दयानन्द के शिष्यों को यही उपदेश दे रही हैं। क्या हमें यह उपदेश सुनाई देता है, या हम उन्हीं लोगों में से हैं, जिनके कि विषय में वेद ने कहा है —-

उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः
शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
ऋ. १० । ७१ । ४.

एक ऐसे लोग हैं जो देखते हुवे भी नहीं देखते सुनते हुवे भी नहीं सुनते ।

कहीं हम ऐसे तो नहीं हो गये हैं, कि हमारे कान खुले हुवे हैं, तो भी हमें सुनाई नहीं देता ! यह बहुत ही बुरी अवस्था है ।

सुनो, शिवरात्रिका उपदेश सुनो ।

अच्छी आदत के कारण जहां मनुष्यका भला आसानी और शीघ्रता से होने लगता है, वह बुरी आदत के कारण पतनभी इतने वेग से होने लगता है, कि उसका लौटना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।आदत ऐसी ही वस्तु है।प्रतीत होता है, कि हमें यह आदत पड गयी है, कि **" हम उपदेश पढें, व्याख्यान सुन लेवें, पर उसके अनुसार कर्म न करें "** । जरा ध्यान से सोचें कि यह कितनी भयंकर बात है । जिसे ऐसी आदत पड गयी है, उसका उद्धार होनेकी क्या कभी संभावना है वह जो कुछ सदुपदेश की बात सुनेगा, था

पड़ेगा, वह उसे मान ही नहीं सकता-वह उसे ग्रहण ही नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसकी आदत हो गयी है । यह बात अच्छीतरह विचारने योग्य है । यदि किसी को यह रोग हो जाय कि वह जो कुछ खावे, वह सब वैसा का वैसा निकल जाय, तो उसके घर भरमें घबराहट हो जायगी-लोग वैद्यों हकीमों के पास दौडेंगे -जी जानसे सब कुछ करेंगे-और यह भी हम जानते हैं, कि यदि ठीक इलाज न हुवा, तो उसका मर जाना निश्चित है । परन्तु महा आश्चर्य की बात यह है, कि हम में से बहुतों के मानसिक शरीर में यह भयंकर बीमारी हो चुकी है-परन्तु हम बिलकुल बेखबर हैं । हमें कुछ चिन्ता नहीं । ऐसे भी बहुतसे मनुष्य हैं, जिनकी कि इस घोर व्याधिसे मानासिक मृत्युभी हो चुकी है,- यद्यपि उनके केवल स्थूल शरीरको दृष्टिमें रख कर कह सकते हैं, कि वे अभी जीवित हैं । क्या आप इस घातक रोग को समझे? उपदेश आदि से जो हमें ज्ञान मिलता है,यह ही मानासिक भोजन है । जिन्हें यह आदत हो गयी है कि वे सुनते जाते हैं, और पढते जाते हैं, परन्तु उनपर उसका कुछ असर नहीं होता-उनका सुना औरपढा वैसाका वैसा निकल जाताहै,उनकी भगवान् ही रक्षा करें । महादुःख तो यह है कि उन्हें अपनी बीमारी पता ही नहीं है ! इस लिये हमें इस महीने अपने अन्दर टटोल कर देखना चाहिये, कि कहीं हमें यह रोग तो नहीं हो गया है? रोगका पता लगनेपर उसका हटाना कठिन नहीं है । परमात्मा सदा सहायक है । यदि हममें से किसी को यह रोग हो, तो सबसे पहिले उसे इससे मुक्त होना चाहिये। वे अपनी आदत को बदल डालें महीना भर यत्न करें कि जो कुछ उन्हें जहां कहीं से ज्ञान मिले, उसे अपने जीवन में लाने के लिये वे सब कुछ करें । तो कल्याण का मार्ग खुल जायगा । यही पहिला कदम है । जो सुनेंगे, वह करेंगे, यह निश्चय करना चाहिये । इस निश्चय के विना सब पढना या सुनना व्यर्थ है । व्यर्थ ही नहीं, अत्यन्त हानि कारक है, क्यों कि यह उस नरकमें ले जानेवाली आदत को बढायेगा । इस लिये आज से हम दृढ निश्चय करके इस आदत को एकदम त्याग दें और परमात्मासे पूर्ण विनय के साथ प्रार्थना करें ।-

सं श्रुतेन गमे महि मा श्रुतेन विराधिषि ।

अथ० १ । १ । ४ .

हम जो कुछ सुनें उससे हम संगत हो जांय-जुड जांय, जो कुछ सुनें, वह निकल न जाय। इसी का नाम है "**उपदेश को ग्रहण करना** ।" इसी का नाम है मानसिक भोजन को प्राप्त करना ।

यदि हम उपदेश ग्रहण करना सीख जाय, तो हमारे लिये सब तरफ उपदेश ही उपदेश हैं । जैसे दयानन्दने उस रात्रिकी घटनासे उपदेश लिये हम भी प्रतिदिन प्रकृतिसे, मानवी संसारकी घटनाओंसे उपदेश ले सकते हैं । परम कारुणिक भगवान हम पर उपदेशोंकी वर्षा कर रहे हैं, केवल हम उन्हें सुनते नहीं हैं। यदि हम

सुनने लगें, तो हम देखेंगे, कि उदय होता हुवा सूर्य हमें कुछ कहता है, तारा जटित रात्रिका आकाश हमें कुछ सुनाता है, बहती हुई नदियां और ऊचें खडे हुवे पहाड, वृक्षके हिलते हुवे पत्ते और बहता हुवा पवन, बल्कि प्राणि ओं के जटिल संसार में होने वाली धटनामें ये सब हमें उपदेश दे रही हैं ।

वृक्षसे गिरते हुवे सेवका उपदेश न्युटन ने सुना और वह आज सारे वैज्ञानिक संसार का "गुरु" हो गया है!!!

ऊपर से गिरती हई चीजें हममें से किसने नहीं देखी हैं! परन्तु हम देखते हुवे भी नहीं देखते, सुनते हुवे भी नही सुनते। चरण दास महात्मा कहते हैं, कि मैं ने २४ गुरु बनाये हैं, वे २४ गुरु हैं छिपकली, मकडी, वृक्ष, इत्यादि भगवान् बुद्ध ने एक वेश्या के गीत से वह उपदेश लिया, जिसके कि कारण उनका जीवन पलट गया, परन्तु हम बडे बडे विद्वान पुरुषों के उपदेश सुनते हैं और वेदोपदेश सुनते हैं, तो भी हमारे पल्ले कुछ नहीं पडता । कारण यही है, कि हम उपदेश लेनेके लिये तैय्यार नहीं हैं, हमारे आंखें और कान खुले नहीं है। इसलिये हरएक प्रकारसे सबसे पहिली बात यही है, कि हमें उपदेश ग्रहण करना सीखना चाहिये-उपदेश के लेनेके लिये तैयार होना चाहिये । और सब बातें इसके बाद में हैं ।

वेद "सचमुच रत्नों की खान है," और ऋषि दयानन्द के जीवन से भी हम बहुत से रत्न प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि हम इस पहिली बात को नहीं सीखेंगे-रत्नोंको ग्रहण करना, उठाना नहीं जानेंगे, तो हम रत्नों के ढेरके बीचमें बैठे हुवे भी कंगाल के ही कंगाल रहेंगें। इसमें किसी और का क्या दोष है!

* "सफल प्रार्थना।" *

(लेखक – श्री. पं. 'अभय' विद्यालंकार.)

१ विषय प्रवेश

यदि मनुष्य की सभी प्रार्थनायें सफल हो जाया करें -उसकी सब इच्छायें पूर्ण हो जाया करें, तो इससे बढ कर और कुछ आनंद नहीं हो सकता, इससे बढकर और कोई सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा होता नहीं है । यही दुनियामें सबसे बडा दुःख है-सबसे बडा

नहीं, बल्कि शायद एकमात्र दुःख है। इस दुःख की वास्तविकता कहांतक है यह तो हम आगे देखेंगें, परंतु इस दुःख को मिटाना, हरएक आदमी चाहता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। और यह उचित है-स्वाभाविक है। सब प्राणी स्वभावतः यह चाहते हैं, कि उन की प्रार्थना कभी विफल न हुवा करें-उनकी इच्छा कभी अपूर्ण न रहा करें, अपितु, सदैव ही उनकी — प्रार्थनायें व इच्छायें पूर्ण होती रहा करें। इसलिये इस सार्वभौम हित के विषयपर विचार करना कभी-भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

(२) प्रार्थना और इच्छा।

'**प्रार्थना**' का अर्थ अवश्य '**मांगना**' यह है। परन्तु मांगना केवल वाणी द्वारा ही नहीं हुवा करता। वास्तव में "मांगना" मनद्वारा होता है। जब वाणी आदि द्वारसे मांगा जाता है, तब भी मन से जरूर मांगा जाता है। तभी वह प्रार्थना बनती है। इस मानासिक प्रार्थनाका दूसरा नाम "इच्छा" है। प्रार्थना और इच्छा एक ही बात है। जब इच्छा को मांगनेके रूप में प्रकट किया जाता है, तब इच्छा ही "**प्रार्थना**" कहलाती है। परन्तु इच्छा के अंदर मांगनेका भाव स्वयं ही गुप्तरूपसे छिपा हुवा ही है। दूसरे शब्दों में मानसिक प्रार्थना को ही इच्छा कहते हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है, कि इच्छा और प्रार्थना मूलतः एक ही वस्तु हैं, और हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि प्रार्थना की सफलता के जो नियम हैं, वे ही इच्छा के पूर्ण होने के नियम हैं। इसलिये इस लेखमें पाठक देखेंगे कि, "**प्रार्थना**" और इच्छा इनका इकठ्ठा प्रयोग किया जा रहा है, और आगे भी किया जाएगा।

(३) "प्रार्थना की सफलता के विषयमें निराशा।"

हमारी इच्छायें अनगिनत हैं-हमारी प्रार्थनायें कभी खतम न होने वाली हैं। हम हमेशा ही कुछ न कुछ चाहते रहते हैं-मांगते रहते हैं प्रार्थना करते रहते हैं। मनुष्य इच्छामय है। मनुष्य यदि कभी इच्छाशून्य होता है, तो क्षणभरसे अधिक काल के लिये नहीं। नहीं तो मनुष्य गुप्त या प्रकट रूप में सदा इच्छा करता रहता है। और सदा अपनी इच्छा की पूर्ति चाहता है। परन्तु हम सब जानते हैं कि उसकी इतनी इच्छाओंमें से बहुत ही कम पूर्ण होती हैं-उसकी बहुत ही कम प्रार्थनायें सफल होती हैं। दुनियामें आये प्राणी को यह कडुआ अनुभव प्राप्त करना पडता है कि, उस की सब प्रार्थनायें पूर्ण होने के लिये नहीं होतीं। मनुष्य की प्रार्थनायें इतनी कम सफल होती हैं कि, वर्तमान मनुष्य समाजमें "**प्रार्थना करना**" एक व्यर्थ और मूर्खता का काम समझा जाता है! परन्तु हम देखेंगें कि, प्रार्थना अपने आपमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है। हमारी प्रार्थनायें प्रायः सफल नहीं होतीं, इसलिये प्रार्थनाके विषयमें हमारी बुरी दृष्टि हो गयी है। जो स्वभावतः प्रश्न उठता है, हमारी प्रार्थनायें फिर सफल क्यों नहीं होतीं! हममें इतनी इच्छायें क्या विफल होनेके लिये ही पैदा होती हैं?

बल्कि अपनी प्रार्थनाओं (इच्छाओं) की इतनी विफलता देखकर यह भी शंका होती है, क्या प्रार्थनायें सफल भी हो सकती हैं? बहुतों को यह संदेह होगा। इस विषयमें बहुत से निराश भी हो चुके होंगे। और स्वभावतः यह निराशा होती है। परन्तु यहां आशा स्थापित करनेके लिये सबसे पहिले ऐसी शंकाओं को अपने दिलसे निर्मूल कर लेना चाहिये। जबतक हम इन शंकाओं को निर्मूल नहीं करेंगे तबतक हम प्रार्थना को एक व्यर्थ कार्य ही समझते रहेंगे और तबतक प्रार्थना के महत्व को न समझ सकते हुवे कभी भी प्रार्थना करनेमें प्रवृत्त नहीं होंगे।

(४) प्रार्थना एक कर्म है, जो कार्यसिद्धि का एक उंचा साधन होता है।

जब प्रार्थना को बुरा कहा जाता है, तब प्रायः इस प्रकारका प्रयोग किया जाता है—

"प्रार्थना करनेसे कुछ नहीं होता, कर्म करना चाहिये।"

हमें ऐसे वाक्यों का असली अर्थ समझना चाहिये। इस वाक्यमें प्रार्थना को कर्मसे उलटा कहा गया प्रतीत होता है। परन्तु प्रार्थना तो स्वयं एक बल साध्य कर्म है, प्रार्थना कर्म को छोडकर और कौनसा कर्म करें? जब दोनों कर्म हैं तो प्रार्थना कर्म ही क्यों न करें? यदि प्रार्थना कर्मसे ही सफलता मिल सके, तो इसे क्यों न करें? यदि हम इन प्रश्नोंको उठाकर इस बात पर विचार करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि, यहां पर प्रार्थना को इसलिये नहीं मना किया जाता क्यों कि यह कर्म नहीं है, किन्तु इसलिये क्यों कि इस कर्म से सफलता मिलती नहीं देखी जाती। परन्तु यदि हमें ऐसी प्रार्थना करनी आजाय, जो कि सफल हुवा करे, तो शायद हमें प्रार्थना करनेसे कोई न रोकेगा। अतः उस वाक्य का अर्थ यह निकलता है कि, हमें वह प्रार्थना नहीं करनी चाहिये जो सफल न हो, परन्तु और कर्म करने चाहिये, जिससे कि प्रार्थित वस्तुकी सिद्धि हो! और साफ शब्दों में इसका अर्थ यह होता है कि हमारी प्रार्थना निर्बल नहीं होनी चाहिये, क्यों कि यह सफलता को नहीं प्राप्त कराती, किन्तु उसकी जगह या उससे पहिले हमें अन्य कर्म करने चाहिये, जो कि इस प्रार्थना को बलवान बनाकर उसे सफल बनाने अर्थात् इष्ट सिद्धि के साधन हों। मैं इस बातपर जोर देना चाहता हूं कि, हमें अन्य कर्म करने को इस लिये कहा जाता है, क्यों कि इससे हमारी प्रार्थना पूर्ण होती है, बलवान होती है-असली प्रार्थना बनती है। निर्बल प्रार्थना तो प्रार्थना ही नहीं है। इसलिये इस वाक्य में प्रार्थना करनेसे इनकार नहीं किया गया है किन्तु निर्बल प्रार्थना-झूटी प्रार्थना-करनेसे रोका गया है, जो कि प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना तो स्वयं एक शक्ति है, जो कार्य सिद्धि का स्वयं एक साधन है। जैसे अन्य कर्म साधन हैं, वैसे-ही प्रार्थना भी एक साधन है-एक उत्कृष्ट साधन है। जैसे कि हम हाथ द्वारा किये गये उठाने के कर्म द्वारा एक वस्तु को

प्राप्त करते हैं ठीक उसी तरह मन द्वारा किये गये प्रार्थना कर्म द्वारा भी वस्तु प्राप्त की जाती है।

हमें इस बातमें विश्वास इसलिये नहीं होता, क्यों कि हमारा वह प्रार्थना कर्म बलवान् नहीं होता, प्रायः सदैव ही निर्बल होता है। जैसे यदि हाथ में बल न हो, तो हम हाथ से उठानेके कर्म में सफल नहीं होते, वैसे ही हमारे मन में जोर न होनेसे हम अपने प्रार्थना कर्म में सफल नहीं होते। प्रार्थना के निर्बल होने का यही मतलब है। तब हम प्रार्थना कर्म कर ही नहीं सकते। निर्बल मन से मांगने को प्रार्थना कहना भूल है। तब हम **प्रार्थना** नहीं कर रहे होते, उसके लिये कुछ और शब्द होना चाहिये। प्रार्थना कर्म को तो बलवान मनुष्य ही कर सकते हैं, निर्बल नहीं। प्रार्थना एक-भारी हथियार है, जिसे कि सब कोई उठाकर नहीं चला सकता। इसके उठानेके लिये बल चाहिये। बल केवल शारीरिक ही नहीं होता। प्रार्थनाके लिये जिस उत्कृष्ट बल की जरूरत है, वह मानसिक बल है। क्योंकि यह मानसिक बल रखनेवाले मनुष्य थोडे होते हैं, इसीलिये इस हथियार को चला सकनेवाले भी थोडे ही होते हैं। परन्तु चूंकि हममें मानसिक बल नहीं और हम इस भारी हथियार को प्रायः चला नहीं सकते, इससे यह हथियार हीन नहीं हो जाता। इस कारण इस हथियार की निन्दा नहीं होनी चाहिये। बल्कि अपनी निर्बलता की निन्दा करनी चाहिये, और अपने को बलवान् बनाना चाहिये। इसी प्रकार इस कारण भी इस हथियार की निन्दा नहीं होनी चाहिये, क्यों कि प्रायः लोग इस हथियारके चलानेकी नकल को इस हथियारका चलाना समझते हैं, और इस लिये उनकी दृष्टिमें इस हथियार का चलाना सफल नहीं होता। उन्हें अपना भ्रम दूर करना चाहिये और स्वयं बलवान् बनकर इस हथियार की परीक्षा करनी चाहिये।

(५) प्रार्थना शक्ति।

इसलिये सबसे पहिले हमें यह शंका अपने दिलसे निकाल देनी चाहिये कि, प्रार्थनायें सफल नहीं हो सकतीं, और प्रार्थनाओं को शक्तिशाली–असली प्रार्थना –बनानेका यत्न करना चाहिये। प्रार्थना एक शक्ति है। जो इस शक्ति का उपयोग करेगा, वह जरूर सफल होगा। हम पहिले देख चुके हैं कि प्रार्थना -और इच्छा एक ही बात है। और आपने " इच्छा शक्ति " का नाम जरूर सुना होगा। जो इस इच्छाशक्तिका प्रयोग करेगा उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होगी। सभी को अपने मनको बलवान् बनाकर इस प्रार्थना शक्तिका उपयोग करना सीखना चाहिये।

(६) वेद और प्रार्थनायें।

जिन सज्जनोंने वेद को कुछ भी देखा है, वे जानते हैं कि, सब वेद प्रार्थनाओंसे भरे पडे हैं। वेदमें सब बातें, सब उपदेश प्रार्थना के रूपमें ही कहे गये हैं, इसका कुछ प्रयोजन है। मेरी समझमें वेदोक्त प्रार्थ-नाओंका यही मतलब है कि हम उन प्रार्थनाओं द्वारा इस इच्छा शक्ति को प्रयोग में लाते हुवे अपने अभीष्टोंको सिद्ध करें।

यदि हम प्रार्थना को बलवान् पुरुषोंका एक उत्कृष्ट हथियार न समझें, और जैसा कि साधारण लोगोंका विचार है कि, इसका अर्थ- " **निर्बलों का मांगना** " है, ऐसा ही समझे रहें, तो ये वेदमें लिखी हुई- अनगिनत प्रार्थनायें हमारे लिये किसी प्रयोजन की नहीं हो सकती। जबतक कि हमें यह ज्ञान न हो कि, प्रार्थनामें भी कोई बल है, तबतक हम वैदिक प्रार्थनायें भी क्यों करेंगें। वेद प्रार्थनामय क्यों है, हमें इस बातपर विचार करना चाहिये और यह बात तभी संगत हो सकती है, जब हमें यह ज्ञान हो जाय, कि प्रार्थना एकशक्ति है, और उसका प्रयोग करनेसे इष्टकार्य की सिद्धि होती है। वेद पढनेसे यदि हमें यह शिक्षा भी न मिली, तो हमने क्या वेद पढा? वेदों की प्रार्थना पूर्ण बनावट ही हमें यह उपदेश दे रही है कि, मनुष्य का जिवन प्रार्थनामय होना चाहिये। यदि हम सफल प्रार्थना करना सीख जांय, तो हम फिर वह वैदिक जमाना ला सकते हैं, जब कि मनुष्य अपना हरएक काम प्रार्थनासे करता था। तब हमें अपने हर एक काम में स्वाद आवेगा। इसलिये हमें वैदिक धर्मी बननेके लिये अपने को प्रार्थना करने योग्य बनाना चाहिये और तब ईश्वरसे प्रार्थना करते हुवे अपने सफल जीवन को बिताना चाहिये।

(७) प्रार्थना-सफलता की शर्तें।

इस प्रकार अबतक के विवेचन से यदि हमने यह समझ लिया है, कि प्रार्थनायें सफल हो सकती हैं और हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं, कि प्रार्थनाके साधन का हमें अवश्य यत्नपूर्वक उपयोग लेना चाहिये, तो हम यह देखने के लिये तैयार हो गये हैं, कि प्रार्थनाके सफल होने की शर्तें क्या हैं? सफल प्रार्थनामें क्या क्या गुण होने चाहिये? अथवा प्रार्थनारूपी हथियार के चलानेके नियम क्या हैं? इस प्रश्नका उत्तर यदि मुझ से पूछा जाय, तो मैं उत्तरमें निम्न लिखित दो वेदमंत्रों को उद्धृत कर दूंगा।

वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमा श्चरन्तिसुमतीरियानाः । हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः ॥ ७ ॥ यत्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम् । अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः ॥ ८ ॥ ऋ० मं० १० । सू. ४७॥

ये ऋग्वेद के दशममण्डल के ४७ वें सूक्तके अन्तिम दो मंत्र हैं। इस सूक्तका देवता 'इन्द्र' है। इस सूक्त के हरएक मंत्र का अन्तिम पाद यह है "**अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः**" अर्थात "हमें पूजनीय (या अद्भुत) तथा बलवान धन दीजिये"। इस सूक्तमें 'इन्द्र' से सर्वगुणसंपन्न प्रजाधनकी प्रार्थना की गयी है। इस सूक्त परिचय के बाद अब इन मंत्रोंके अर्थ देखिये।

(वनीवानः मम) मुझ अत्यन्त भक्त की (स्तोमाः) प्रार्थनायें (इन्द्रं) आप परमैश्वर्य युक्त देव को (चरन्ति) पहुंचती हैं। ये प्रार्थनायें (दूतासः) दूतकी तरह वर्तमान (सुमतीः इयानाः) आपकी सुमती प्राप्त करती हुई (हृदि स्पृशाः) आपके हृदय को स्पर्श करने

वाली और (मनसा वच्यमाना :) मनद्वारा बोली जाती हुई हैं। इसलीये (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः) मुझे पूज्य तथा बलवान प्रजाधन को दीजिये।

(त्वा यत् यामि) आपसे जो मांगता हूं (नः तत् दद्धि) वह हमें दीजिये। (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवाले (बृहन्तं जनानां असमं क्षयं) बहुत बडे और मनुष्यों के असाधारण शरणगृह ऐसे प्रजा धन को दीजिये। (तत् द्यावा पृथिवी अभि गृणीताम्) इस प्रार्थनाको द्यौ और पृथिवी अर्थात् सारा संसार स्वीकार कर अनुमोदित करे, (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः) हमें पूज्य और बली प्रजाधन दीजिये।

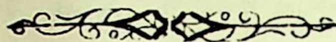
यदि पाठक इन मंत्रों के अर्थ को ध्यान पूर्वक देखेंगे, तो उन्हें प्रार्थना विषयमें निम्न सामान्य सिद्धान्त इन मंत्रों में वर्णित स्वयमेव स्फुरित होंगे। यहां एक विशेष प्रार्थनाका वर्णन है। पर हम इससे सामान्य प्रार्थनाके नियम निकाल सकते हैं।

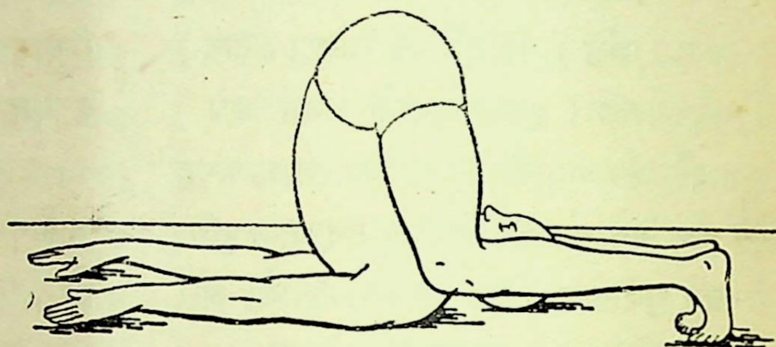
प्रार्थना की घटना के लिये चार सत्तायें आवश्यक हैं (१) **प्रार्थी** अर्थात् प्रार्थनाकरनेवाला, (२) **प्रार्थनीय देव** अर्थात् जिससे प्रार्थना की जावे, (३) **प्रार्थना** अर्थात् प्रार्थनाका कर्म, (४) **प्रार्थितवस्तु** अर्थात् वस्तु जो प्रार्थना द्वारा मांगी जा रही है।

अब पाठक देखेंगे कि (१) मंत्र का पहिला पद " **वनीवान :** " प्रार्थीके गुण को बतलाता है, कि प्रार्थी कैसा होना चाहिये। अर्थात प्रार्थी अतीव भक्त होना चाहिये, तब प्रार्थना सफल होगी ; (२) ' **इन्द्र** ' एक प्रार्थनीय देवका गुण बतलाता है, कि कैसे देवसे प्रार्थना करनी चाहिये, अर्थात् " **परमैश्वर्यवान्** " से मांगनेसे प्रार्थना सफल होती है ; (३) " **दूतासः** " " **सुमतीरियानाः** ", " **हृदिस्पृशा :** ", " **मनसा-वच्यमाना :** " ये चार शब्द प्रार्थना के गुण को बतलाते हैं, कि प्रार्थना कर्म कैसा होना चाहिये, अर्थात् प्रार्थना कर्म यदि दूतकी तरह हो, सुमति को प्राप्त करने वाला हो, हृदय-तक स्पर्श करनेवाला हो और मनद्वारा बोला गया हो तो प्रार्थना सफल होगी। (४) द्वितीय मंत्रमें यह वाक्य " **अभि तद् द्यावा पृथिवी** " प्रार्थित वस्तुके गुण को बतलाता है, कि किस प्रकारकी वस्तु मांगनी चाहिये अर्थात यदि ऐसी वस्तु मांगी जाय, जो कि सब संसार के अनुकूल हो, तो वह प्रार्थना सफल होगी। इस प्रकार ये चारों चीजें यदि ठीक हों, तो ये मिलकर प्रार्थनाको पूरा करती हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है, कि यदि एक ऐश्वर्य युक्त देवसे एक भक्त प्रार्थी ऐसी वस्तु मांगे, जो कि संसारके अनुकूल हो, और उसका प्रार्थनाकर्म ' दूत ' होने, आदि चार गुणों से युक्त हो, तो वह प्रार्थना अवश्य अवश्य सफल होगी। अब हम क्रमशः इनमेंसे एक एक गुण को लेकर उसपर कुछ विस्तारसे विचार करेंगे और साथ साथ यह भी विचार करते जायंगे, कि उस गुण को प्राप्त करनेके लिये क्या साधन करना चाहिये।

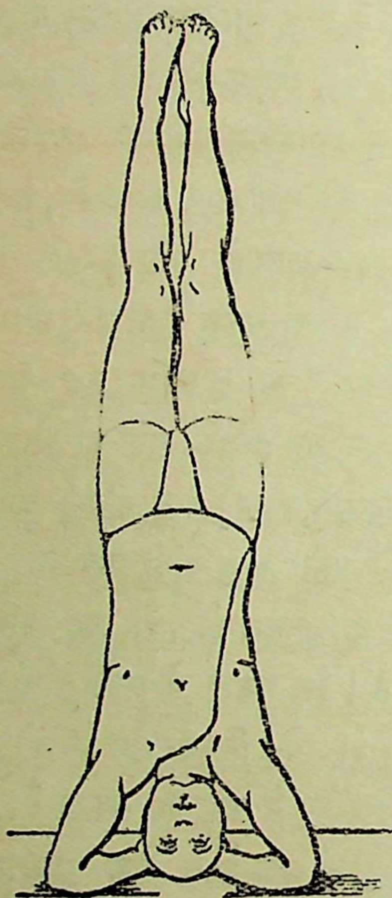


यकृत् "तिल्ली" का सुधार करनेवाले आसन ।

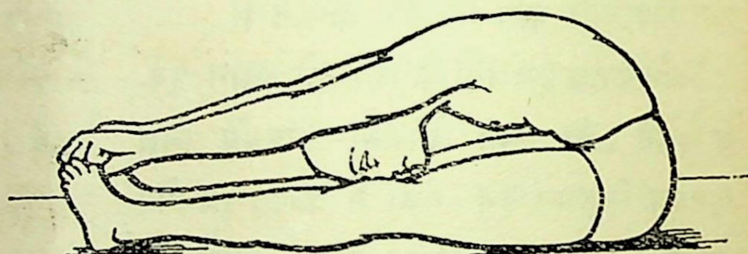




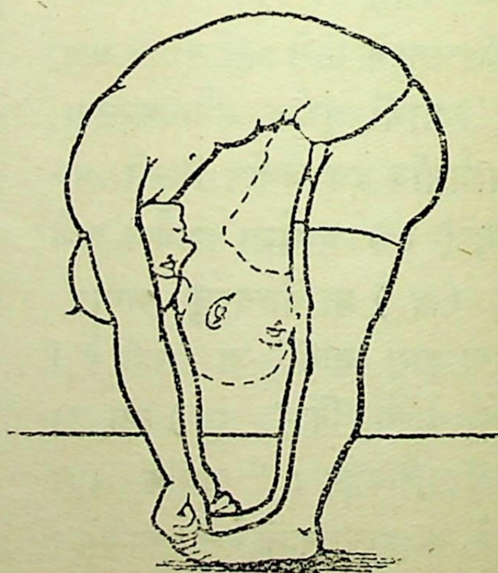
कर्णपीडनासन ।



शीर्षासन ।



पश्चिमोत्तानासन ।



हस्तपादासन ।

शीर्षासन और तिल्ली का दर्द।

(लेखक – श्री पं. वंशीधर विद्यालङ्कार)



५६ आलिपुर रोड
कलकत्ता
८।३।२४

मान्यवर पण्डित जी !

सादर नमस्ते.

आज हमारे घर में एक विचित्र घटना घटी है, **जिसने लोगोंका योग के आसनोंमें जबरन विश्वास कराया है।** मैं उस घटना का उल्लेख "**वैदिक धर्म**" के पाठकोंके आगे रखना चाहता हूं, आशा है कि आप इसे अपने योग्य पत्रमें कृपया स्थान देकर कृतार्थ करेंगे। इस पत्र के लिखनेका एक मात्र यही तात्पर्य है कि, जिससे बीती घटनाओंको जानकर सर्व साधारण का यौगिक आसनों के प्रति अधिकाधिक विश्वास हो। आपने ही सत्र से पूर्व इन साधनोंको सर्व साधारण के सन्मुख उपस्थित किया है, इसलिये ऐसे अवसर पर मैं आपको हृदय से धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता। उक्त घटना इस प्रकार हुई —

बाबू तुलसीदास जी दत्त के घरमें उनका एक नौकर जिसका नाम "मदन" है और उडीसा का रहनेवाला है, उनकी गौओं का कार्य करता है। आज ८-६-२४ शनिवार को प्रातःकाल जब वह दूध दुहकर अन्दर दूध की बाल्टी देने जाता था, अचानक उसके पेटमें बडी ही जोरसे तिल्लीका दर्द उठा। उसने दूध की बाल्टी एकदम रख दी और बडी जोरसे कराहने लगा। फिर धीरे धीरे से चलकर एक कोने में वह ६॥

फूट का लम्बा जवान सिमट कर पड गया और उसने आहें भरनी आरंभ कीं।

उसकी आहें सुनकर मेरे दो छात्र रमेश और भूमीश मेरे पास भागकर आये और कहने लगे कि, पण्डितजी ! मदन के पेटमें बडी जोर से दर्द हो रही है – वह चीखें मार रहा है। आस पास के घरोंके व्यक्ति भी मौजुद हो गये उस दर्द के अवसर पर कोई कुछ कहने लगे और कोई कुछ। देखनेवाले उसके कराहने को सुनकर घबरा जाते थे। इसपर मैं ने कहा कि, इसे ' **शीर्षासन** ' कराना चाहिये।

पहिले तो लोगों को बडी हँसी आई, कि इस उल्टे खडे होनेसे क्या होगा ? यहां तक कि वह नौकर " मदन " भी इसके लिये तय्यार नहीं हुवा !!

अन्तमें मेरे बहुत कहनेपर " मदन " ने मानलिया और मैं ने औरएक दो आदमियोंने मिल कर उसे "**शीर्षासन** " कराया। तीन मिनिट तक उसे लगातार हमने खडा रक्खा, किन्तु दर्द शान्त नहीं हुआ। उसे नीचे उतारा। लोगों ने इस आसन को बडी अश्रद्धा और अविश्वास से देखा !!

फिर मैंने एक गद्दा रखकर एक वार शीर्षासन करनेके लिये फिर अनुरोध किया। इस वार ठीक विधिपूर्वक हाथोंके उपर उसके सिर को रखवाकर ठीक तरह सीधा खडा किया। उसके पेटको मैं बडे ध्यानपूर्वक देखता रहा। उसका पेट! बडा सख्त था। मैं ने " मदन " से पूछा कि, क्यों दर्द कैसी है ? उसने उत्तर दिया " बढ रही है '।

मैं ने कहा, तो फिर अभी अच्छी हो जायगी उसने मुख बन्द कर के नाकसे श्वास लेना प्रारंभ किया। मैं ने उसके पेटको हाथ लगाया हुआथा। तीन मिनिट के बाद देखा कि उसके पेटमें अब सख्ती नहीं है, वह बिल्कुल नर्म हो गया है। मैं ने पूछा मदन दर्द है ? उत्तर मिला - " अच्छी हो गई " धीरे धीरे हमने नीचे उतार दिया। वह धीरे से खडा हो गया और फिर पूर्ववत हंसने लगा ! उसके बदन में किसी प्रकार की कम जोरी नहीं हुई।

इन ६ मिन्टों के बीच में उसका स्वास्थ्य बिल्कुल अच्छा होगया ! वह पहिली तरह से ही काम काज करने लग गया !!! सबको यह देखकर बडा अचम्भा हुआ !!! सब कहने लगे कि **"यह सब योग के आसनों की करामात है !!"**

उस समय मुझे, अपने विद्यार्थियों, तथा लोगों के मुखसे यह सुनकर बडी प्रसन्नता हुई कि, **"आज से हमारा योग के आसनों में बडा विश्वास हो गया है। "**



अपने मित्रको द्वेषी बनाना सबसे बडी हानि है ।

योग चिकित्सा ।

(लेखिका— श्री० सत्यवतीजी शास्त्रिणी ।

षट्‌चक्र ।

ब्रह्माण्ड की भान्ति पिण्ड (शरीर) में भी अनेक ही केन्द्र हैं । इस लिये शरीर को क्षुद्र ब्रम्हाण्ड कहा है । गुप्तवादियों का मत है, स्रष्टा तथा सृष्टि पूर्णतया इस शरीरके अन्दर विद्यमान हैं ! यदि पुरुष अपने अन्दरके भेद को प्राप्त कर ले तो बाहिर सारा भेद इसे स्वयं ही मिल जाये । अपने अन्दर के जिस जिस केद्र चक्रपर मनुष्य अधिकार प्राप्त कर लेता है। ब्रम्हाण्ड का वह वह चक्र या केन्द्र उसके आधीन हो जाता है । और उस भाग की शक्तिएं आदि सर्व प्रकार से उसके आधीन हो जाती हैं ।

रहस्य शास्त्र के नियमानुसार गुप्त वादियों ने इन चक्रोंके विशेष भेद को नहीं खोला, प्रत्युत केवल उतना ही वर्णन किया है , जितना कि अधिक से अधिक मध्यमाधिकारी के लिये वर्णन करना चाहिये था ।

शरीर में षट्‌चक्र बताये गये हैं, जो मेरु दण्ड या रीड की हड्डी में हैं । अन्त के चक्र (आज्ञाचक्र) तक चाहे और भी कई चक्र हैं परन्तु मुख्य यह छः ही हैं । शेष इनकेअन्तर्गत हैं । इसलिये उनकी विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है ।

प्रथम चक्र मूलाधार है जिसे गुदा चक्र भी कहा है, यह ठीक सीउण के पीछे है ।

दूसरा स्वाधिष्ठान या लिङ्ग चक्र है। उपस्थेन्द्रिय के ऊपर जो गहराईसी प्रतीत होती है, यह चक्र ठीक उसके सामने पृष्ट- वंश में है ।

तीसरा मणिपूर या नाभिचक्र है, जो नाभिकी पिछली ओर है ।

चौथा अनाहत चक्र या हृदय चक्र है,जो ठीक कौडीके पीछे है ।

पांचवां विशुद्ध या कण्ठ चक्र है, जो कण्ठ कूपकी पिछली ओर है ।

छटा आज्ञाचक्र या ज्योतिर्मण्डल चक्र है, जो नाक के मूल में दोनों भवोंके बीचमें है ।

यह सर्व चक्र पिछली ओर रीड की हड्डीमें हैं । सामने की ओर जो गढे से प्रतीत होते हैं उस ओर चक्रों की पीठ है । और यह गढे

चक्रों के पहचाननेका कामभी देते हैं।

इनके ऊपर और भी कई चक्र हैं, परन्तु उनका संबन्ध केवल ब्रह्मविद्यासे है। और गुप्त वादियोंमें साधारणतया उनके प्रगट करनेकी आज्ञा नहीं है।

इन उपरोक्त षट् चक्रोंके बीचोंबीच एक अत्यन्त सूक्ष्म नाडी मूलाधार चक्रसे लेकर मुख्य मस्तिष्क पर्यन्त गई है। जिसे सुषुम्ना नाडी कहते हैं। यही नाडी प्राणका भण्डार है।

कनिष्ठ मस्तिष्क से दो प्रकार की नाडिएं निकलती हैं। एक को ज्ञान-वाहिनी और दूसरी को शक्ति वाहिनी कहते हैं। यह नाडियां कई भागों में विभक्त होकर शरीरके चारों ओर फैली हुई हैं। और उनका मूल (जड) चक्रोंमें होता है। दोनों प्रकार की नाडियों में न्यूनता और अधिकता होने के कारण सर्व रोग उत्पन्न होते हैं। और आरोग्यता की दशामें ज्ञान और शक्ति अपनी अपनी विशेष नाडीयोंमें साम्यावस्थामें होती हैं।

प्राण शक्ति से उस असमता को दूर करके समानता या समता पैदा हो सकती है। और सर्व प्रकारके रोग निवृत्त हो सकते हैं।

स्मरण रहे कि ज्ञान की अधिकता से शक्तिमें न्यूनता और शक्ति की अधिकता से ज्ञान में न्यूनता होती है। इसलिये जिसको दबाना या कमजोर करना हो, उसके विरुद्ध दूसरी नाडी को उकसानेसे मतलब पूरा हो सकता है।

नाडी को उकसाने की विधि यह है कि, चक्रों पर दायां हाथ रखकर मात्रा सहित श्वास लो, और स्थापक प्राणशक्ति को प्रविष्ट करो। और जिस नाडी को ताकत देनी हो उसका संकल्प करो।

शारीरिक चिकित्सा के लिये अधिक आवश्यकता ४ चक्रों की पडती है।

(१) आज्ञा चक्र—यह शरीर के सर्व भागोंसे संबन्ध रखता है। विशेषतया सिर, आंख, नाक, मुख, कान जिह्वासे संबन्धित है।

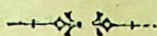
(२) कण्ठचक्र— भुजा, फेफडा, दिल और फेफडेके निचले पर्देसे संबन्ध रखता है।

(३) हृदय चक्र—जो आमाशय, दिल, जिगर, तआल, और फेफडे के उस पर्देसे जो सांस लेनेमें सहायता देता है, संबन्ध रखता है। हृदय चक्रके निकट एक सूर्य चक्र है, यदि अभ्यासी को उसका ठीक पता लग जाये, तो उससे उदर के सर्व रोगोंपर प्रभाव डाला जा सकता है। इस चक्र को पाश्चात्य लोगोंने उदर का मस्तिष्क भी कहा है।

(४)नाभिचक्र --- जो पांव, गुर्दे, गुप्तेंद्रिय, मसाना और आन्तडियोंसे संबन्ध रखता है।

जब उपरोक्त अवयवों में से किसी में नुक्स आजाये, तो उससे संबन्धित चक्रपर हाथ रखकर प्राण शक्ति पहुंचानेसे उस चक्रकी शक्ति वाहिनी नाडी को बल प्राप्त होगा। और रोगपर प्रभाव पडेगा। संक्षिप्त से योग चिकित्सा के यही नियम हैं। अवसर मिलने पर भिन्न भिन्न रोगों की --- चिकित्सा के संबन्धमें लिखा जायगा।

आनंद समाचार।



अथर्ववेद पूरा छप गया, शीघ्र मंगाईये।

अथर्ववेद का अर्थ अब तक यहां की किसी भाषा में नहीं था और संस्कृत में भी सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपासे इस वेदका हिन्दी संस्कृत में प्रामाणिक भाष्य पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ बीसों कांड, विषयसूची, मंत्र सूची, पदसूची आदि सहित २३ भागों में पूरा छप गया है। मूल्य ४७॥) [डाक व्यय लगभग ४)] रेलवे से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें, बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेर है। अलग भाग यथासम्भव मिल सकेंगे। जिन पुराने ग्राहकों के पास पूरा भाष्य नहीं है, वे शेष भाष्य और नवीन ग्राहक पूरा भाष्य शीघ्र मंगालें। पुस्तक थोडे रह गये हैं, ऐसे बडे ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है।

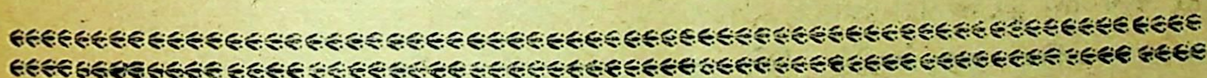
हवन मंत्र:-धर्मशिक्षा का उपकारी पुस्तक चारों वेदों के संगृहित मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्य गान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित संशोधित गुरुकुल आदिकों में प्रचालित। मूल्य ।-)

रुद्राध्यायः-प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ [ब्रह्म निरूपक अर्थ] संस्कृत हिन्दी अंगरेजी में। मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः मूल मात्र। मूल्य)॥ वा २) सैंकडा।

वेद विद्यायें-कांगडी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ आतिथि, सभा ब्रह्मचर्यादि का वर्णन। मू।-)॥

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकर गंज, अलाहाबाद



दिया सलाई का धंदा।

हम दिया सलाई का धंदा सिखाते हैं। अनेक देसी लकडियों से दियासलाईयां बनाना, बक्स तैयार करना, ऊपर का मसाला लगाना आदि कार्य एक मास में पूर्णता से सिखाये जाते हैं। सिखलाने की फीस केवल ५०)पचास रु० है। हमारी रीतिसे दियासलाई का कारखाना ५००) से ७००) रु० में भी शुरू किया जा सकता है और लाभ भी होता है।

मोहिनीराज मुले एम्० ए०
स्टेट लैबोरेटरी, औंध
(जि० सातारा)

स्वाध्याय के ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)

(६) योग के आसन। मू. २)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)

(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग। १॥)

[६] आगम--निबंध--माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।-)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)

(४) वैदिक चिकित्सा--शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)

(१०) वैदिक धर्मकी विषेशता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-)

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥।=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री--स्वाध्याय--मंडल;
औंध
(जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :-- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक ६
क्रमांक ५४



ज्येष्ठ सं. १९८१
जून स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

——:o:——

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

आरोग्यके साधक आसन .

योग की आरोग्य वर्धक व्यायाम पद्धति।



अब यह बात निश्चित हो चुकी है, कि जिस प्रकार योग के व्यायामों से आरोग्य प्राप्त होता है, और मनुष्य नीरोग रह सकता है; उस प्रकार किसी भी अन्य उपायोंसे नहीं हो सकता। अनादि काल से भारतीय आर्य योगियोंने यह "आसन पद्धति" सिद्ध करके सब सज्जनोंके सन्मुख रखी है! इस पद्धातिसे बाल, तरुण, वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, स्त्री और पुरुष; सब लोग लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

यह पद्धाति अति सुगम और निःसंदेह लाभकारी है।

आ स नों का पु स्त क।

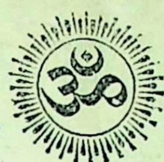
(सचित्र)

मूल्य २) रु० शीघ्र मंगवाईये।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वर्ष ५
अंक ६
क्रमांक
५४

ज्येष्ठ
सं. १९८१
जून
स. १९२४



वैदिक धर्म

वैदिक-तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

सार्वजनिक अग्नि।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ॥
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रवृषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

अथर्व. १२ । १ । ६

(विश्वंभरा) सबका धारण करने वाली (वसुधानी) धन का धारण करनेवाली (हिरण्य वक्षा) सोने को अपने अंदर धारण करने वाली (प्रतिष्ठा) सब को आश्रय देने वाली और (जगतः निवेशनी) प्राणियोंका निवास कराने वाली तथा (वैश्वा-नरं अग्निं) सब-मनुष्य-संघ रूप अग्नि का (बिभ्रती) भरणपोषण करने वाली (इंद्र वृषभा) इंद्र शक्तिसे बलवती हमारी (भूमि:) मातृभूमि (नः) हम सबको (द्रविणे) धनमें (दधातु) धारण करे।

हमारी मातृभूमि हमें बहुत धन देवे।



वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

(लेखक- श्री. पं. धर्मदेव जी सिद्धांतालंकार)

(१) मधुर और सत्य वचन स्वयं बोलना और दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा करना।

(२) अपने पति तथा दूसरे लोगों को उत्तम सलाह देना और –

(३) यज्ञादिका अनुष्ठान करना यह देवियों का धर्म है। इस धर्म का पालन करने वाली जो सरस्वती अर्थात विदुषी स्त्री होती है उस की सब पूजा करते हैं, इस भावको ऋ. १० । १ । ७ में इस प्रकार प्रकट किया गया है –

(२) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते, सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त, सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

अर्थात् (देवयन्तः) दिव्य शुभ गुणों की इच्छा करने वाले पुरुष (सरस्वतीं) विद्यावती देवी की (हवन्ते) पूजा करते हैं, (अध्वरे) अहिंसात्मक शुभ कर्म के (तायमाने) विस्तृत होने पर पुरुष (सरस्वतींहवन्त) विदुषी स्त्री को निमन्त्रण देते हैं। (सुकृतः) उत्तम कार्य करने वाले सब सज्जन (सरस्वतीं) विदुषी देवी को सहायता के लिये (अह्वयन्त) बुलाते हैं और इस प्रकार (दाशुषे) सत्कार पूर्वक निमन्त्रण देने वाले पुरुष के लिये (सरस्वतीं) विदुषी स्त्री (वार्यं) उत्तम ज्ञान अथवा सलाह (दात्) देती है। इस मन्त्र के अन्दर प्रत्येक शुभ कर्म करते हुए विदुषी देवियों की सलाह ले लेना और उन की पूजा करना आवश्यक है यह भाव सूचित किया गया है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता :॥

मनु महाराज के इस वचन को यहां स्मरण करना चाहिये।

(३) यजु० अ० ८ में जिस का पत्नी देवता है स्त्रियों के विषय में निम्न मन्त्र आया है, जो बहुत ही उत्तम है—

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥

यजु० ८ । ४३

अर्था (इडे) हे प्रशंसित गुण युक्त (रन्ते) रमणीय (हव्ये) पूज्य (काम्ये) कामना करने योग्य (चन्द्रे) आल्हादित करने वाली (ज्योते) घर में ज्योति के समान प्रकाशमान (अदिते) दीनता और दुर्बलता के भावों से रहित (सरस्वति) सर अथवा प्रवाह (परम्परा) से जो श्रेष्ठ ज्ञान चला आता है उस को प्राप्त करने वाली विदुषी (महि) महान उदार भावों से युक्त (विश्रुति) बहुत कुच्छ जिस ने श्रवण किया हुआ है ऐसी, हे बहुश्रुत देवि ! (अघ्न्ये) हे कभी न मारने वा तिरस्कार करने योग्य देवि ! (ते) तेरे (एता) ये सब इडा रन्ता आदि (नामानि) नाम हैं अर्थात् इन सब ऊपर कहे हुए गुणों से तू सम्पन्न होने के कारण इडादि नामों से पुकारी जाती है । वह तू (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये और (मा) मेरे लिये (सुकृतम्) जो शुभ कर्म है, उसका (ब्रूतात्) उपदेश कर। इस मन्त्र की विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं । एक सच्ची देवी घरमें ज्योति का काम देती है, हृदय में जिस समय अन्धकार छा जाता है वही चन्द्रका काम करती है, जिस समय पुरुषके अन्दर हीनता दुर्बलता के भावोंका राज्य हो जाता है, तो वही सच्ची देवी अदितिके रूप में उसको उत्साह दिलाती है, जब पुरुषके अन्दर संकुचित स्वार्थ भावोंकी प्रधानता होने लगती है, तो सच्ची देवी उदार भावोंका वहां प्रवेश कराती है, अपने ज्ञान के प्रकाश से वह सम्पूर्ण अन्धकारको दूर भगा कर पुरुष को सदा धर्म के मार्ग में प्रेरित करती है, इसी लिये ऐसी विद्यावती देवी की सदा पूजा करनी चाहिये; उस के उत्तम गुणों की सदा प्रशंसा करनी चाहिये, ता कि उत्तम सुख की प्राप्ति हो सके । यह भाव है जो यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र में स्पष्ट रूप से प्रगट किया गया है। मैं पूछता हूं कि क्या देवियों के विषय में इतना उत्तम और पवित्र भाव किसी दूसरे धर्म ग्रन्थ में पाया जाता है ?क्या सभ्य से सभ्य आधुनिक पुरुषों के ग्रन्थों में भी कहीं देवियों के विषय में इतने ऊंचे भाव का प्रकाश किया गया है? यदि नहीं तो सामाजिक विकास वादके सिद्धांत को मानते हुए वेदों को जङ्गलियों के गीत बतलाना कितना पक्षपात पूर्ण और सार हीन है यह स्वयं बुद्धिमान् विचार कर सकते हैं ।

(४)अथर्व वेद का १४ वां काण्ड सारा ही गृहस्थाश्रम विषयक है जिस में पति पत्नी सम्बन्ध और कर्तव्य विषय में बहुत उत्तम उपदेश पाये जाते हैं, उन में से दो तीन ऐसे मन्त्रों का यहां उल्लेख किया जाएगा जिन से यह स्पष्ट है कि देवियों को अपने पतियों के प्रत्येक धार्मिक कार्य में सहयोग देना चाहिये और इस के लिये उत्तम ज्ञान का सम्पादन करना चाहिये ।

अथर्व १४ । १ । ४२ इस प्रकार है—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् । पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ।'

अर्थ—हे देवि (सौमनसम्)उत्तम मन

(प्रजाम्) उत्तम सन्तान (सौभाग्यम् रयिम्) उत्तम भाग्य ऐश्वर्य इन सब की (आशासाना) इच्छा करती हुई तू (पत्युः) पति के (अनुव्रता भूत्वा) अनुकूल शुभ कर्म करने वाली हो कर (अमृताय) अमृतत्व की प्राप्ति के लिये (कम्) सुख को (संनह्यस्व) बांध अथवा सम्पादन कर। अनुव्रता होने का तात्पर्य यह है कि पति का जो अध्यापन प्रचारादि परोपकारार्थ उत्तम कर्म है उस में सहयोग देना अर्थात् कन्याओं को पढाने और स्त्रियों के अन्दर प्रचार करने का कार्य अपनी इच्छा से लेकर पति की शुभ भावनाओं को पूर्ण करने में सहायता देना यह प्रत्येक पतिव्रता देवी का मुख्य धर्म है। इस धर्म का पालन करने से न केवल इस लोक और पर लोक में ही सुख मिलता है, बल्कि पूर्णानन्द रूप मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है; यह भाव यहां सूचित किया गया है।

(५) अपने पति सास ससुर आदि को सुख देना तथा घरके सब कार्यों को अच्छी प्रकार करना यह तो देवियों का धर्म है ही, किन्तु इतने में ही उनके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, सारी प्रजा का कल्याण करना यह भी उन के कर्तव्य के अन्तर्गत है इस बात को समझने के लिये अथर्व वेद का निम्न लिखित मन्त्र विशेष विचारणीय है-

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥

अ० १४।२।२७

अर्थात् हे देवि (श्वशुरेभ्यः) श्वशुर आदि वृद्ध पुरुषों के लिये (स्योना) सुख देने वाली (भव) हो (पत्ये) पति के लिये और (गृहेभ्यः) घर वालों के लिये (स्योना) सुख देने वाली हो (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सारी (विशे) प्रजा के लिये स्योना तू सुख देने वाली हो (एषाम्) इन सब पुरुषों की (पुष्टाय) पुष्टि अथवा उन्नति के लिये (स्योना भव) तू सुख देने वाली हो। इस मन्त्र के पूर्वार्ध में अपने घर के सब सम्बन्धियों को सुख देना स्त्री का कर्तव्य बताते हुए उत्तरार्ध में सारी प्रजा का कल्याण करना और पुरुषों की उन्नति में सहायता देना यह भी देवियों का कर्तव्य बतलाया गया है, वह अत्यन्त महत्व पूर्ण है और उस से उन लोगों के मत का समर्थन नहीं होता, जो केवल घर का कार्य भली प्रकार करना ही देवियों का धर्म है, घर से बाहर कार्य क्षेत्र में उन्हें उतरने की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहते हैं, क्यों कि बिना सामाजिक अथवा राष्ट्रीय काम किये देवियां कभी सारी प्रजा का कल्याण नहीं कर सकतीं, जैसी कि इस मन्त्र में उन्हें आज्ञा दी गई है।

(६) प्रत्येक शुभ कर्म को करते हुए पत्नी की अनुमति लेनी वेद में आवश्यक माना गया है। महाभारत में एक स्थानपर कहा है —

" अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा "।

अर्थात् पत्नी पुरुष के आधे शरीर के

समान और वही सब से श्रेष्ठ मित्र के समान है, इसी भाव को वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्व वेद ७।२०।५ में कहा है —

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सु क्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्। भद्रा ह्यस्य प्रमति र्बभूव सेमं यज्ञमवतु देव गोपा॥

यहां इसी भाव को प्रकट करने के लिये कि विवाह सम्बन्ध निश्चित करने और अन्य कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के लिये पत्नि की अनुमति लेना अवश्यक है, इसे अनुमति नाम से पुकारा गया है। मन्त्र का अर्थ यह है कि (अनुमतिः) जिस की अनुमति आवश्यक है ऐसी यह देवी (इमं यज्ञम्) इस विवाह यज्ञ को करने के लिये (आजगाम) आई है। यह यज्ञ कैसा है किस उद्देश्य से विवाह यज्ञ रचा गया है, (सुक्षेत्रतायै) उत्तम सन्तान के लिये एक क्षेत्र तय्यार करने और (सुवीरतायै) उत्तम वीर पुत्रों की उत्पत्ति के लिये (सुजातम्) सुप्रसिद्ध बनाया गया (अस्याः) इस देवी की(प्रमतिः) उत्तम बुद्धि (हि) निश्चय से (भद्रा प्रबभूव) कल्याण कारक है (सा) वह (देव-गोपा) परमात्म देव जिस के रक्षक हैं अथवा देव-शुभ गुणों की रक्षा करने वाली यह देवी (इमं यज्ञम्)इस यज्ञ की (अवतु) रक्षा करे। यहां क्षेत्रादि की उपमा दे कर विवाह यज्ञ का मुख्य प्रयोजन उत्तम वीर सन्तान का उत्पन्न करना है, यह भाव सूचित किया गया है। साथ ही जहां इस प्रकार एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह नहीं होता वहां उत्तम सन्तान भी उत्पन्न नहीं हो सकती, इस बात का निर्देश कर दिया गया है। वर वधू दोनों की पूर्ण प्रसन्नता से ही विवाह होना चाहिये इस बात पर जोर देते हुए वेदमें सैंकडों स्थानों पर—

'सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीम्' (अथर्व १४।१।९.)

'मोदमानौ स्वे गृहे (ऋ. १।५।)

'आ रोह तल्पं सुमनस्यमाना' (अ. १४।२।३१।

'परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः' (अ. १४।२।३९)

'हसामुदा महसा मोदमानौ' (अ. १४।२।४३)

इत्यादि शब्द आए हैं जिन में परस्पर प्रसन्नता पूर्वक विवाह करने तथा गृहस्थ के व्यवहार करने का स्पष्ट उपदेश है। जहां इस वेदकी आज्ञा का पालन नहीं होता और वर वधू को एक दूसरे की अनुमति लिये विना नाइयों या पुरोहितों द्वारा ऐसे ही कहीं से पकडकर बांध दिया जाता है, वहां क्या परिणाम होता है इस विषय में मनु महाराजने ठीक कहा है कि—

यदि हि स्त्री न रोचेत, पुमांसं न प्ररोचयेत्। अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते॥

इस लिये वेद के अन्दर सर्वत्र विवाह सम्बन्ध का निश्चय माता पिता आदि पर न

छोड कर विवाहार्थी युवक पुरुष और युवति कन्या पर छोडा गया है,इस स्थापना की पुष्टि के लिये निम्न लिखित कुछ प्रमाण पेश करना पर्याप्त है।—

(१)ऋ० १० । १८३ में युवती कन्या युवा अविवाहित पुरुष को इस प्रकार कहती है-

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम् । इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामः ॥

अर्थात् (पुत्र कामः) गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पुत्र की कामना करने वाले युवक मैं ने (मनसा) मन से (चेकितानं) जानने वाले अथवा मुझे चाहने वाले(तपसःजातम्) सादगी में पले हुए और (तपसः विभूतम्) तप की विभूति से युक्त (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (अपश्यम्) देखा है (इह) यहां (प्रजां) सन्तान और (इह) यहां गृहस्थाश्रम में (रयिं) ऐश्वर्य को ले कर (रराणः) रमण करता हुआ तू(प्रजया)प्रजा के साथ(प्रजायस्व) फिर उत्पन्न हो अथवा वृद्धि को प्राप्त हो ।

' आत्मा वै पुत्र नामासि' ।

के अन्दर जो भाव है कि मानो पिता ही पुत्र के अन्दर प्रवेश करता है, वही यहां 'प्रजया प्रजायस्व' का भाव है । 'तपसो जातं तपसो विभूतम् ' ये शब्द स्पष्ट उस युवक के ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करने की सूचना देते हैं। इस प्रकार अपने गुणकर्मानुसार किसी युवक ब्रह्मचारी को कन्या पसन्द कर लेता है, तो वह भी उस के गुण कर्म स्वभाव को सर्वथा अनुकूल पा कर कन्या से कहता है,

'अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् । उपमामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥

ऋ० १०।१८३।२

अर्थात् (पुत्र कामे) हे पुत्र की कामना करने वाली कुमारि ! (मनसा) मन से (दीध्यानां)मेरा ध्यान करती हुई(स्वायां तनू) अपने शरीर को (ऋत्व्ये) ऋतु गामी हो कर गर्भाधान के लिये (नाधमानाम्)प्रार्थना करती हुई—वा गर्भाधान की इच्छा करती हुई (त्वा) तुझको (अपश्यम्) मैं ने देखा है (उच्चा) उच्च भाव युक्त (युवतिः) युवावस्था वाली तू (माम् उप बभूयाः) मेरे समीप आ अथवा मेरे साथ विवाह सम्बन्ध कर और फिर(प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो। यहां भी'मनसा दीध्यानाम्।अपश्यम् युवतिः' इत्यादि शब्दों से यह बात बिल्कुल साफ जाहिर होती है, कि विवाह युवावस्था में और वर वधू की अपनी ही प्रसन्नता से होना चाहिये । माता पिता आदि से केवल अनुमति ले लेना पर्याप्त है। जहां इस प्रकार वर वधू एक दूसरे का चुनाव करते हैं, वहीं सच्चा स्थायी प्रेम रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इस बातको देखिये ऋग्वेद के निम्न लिखित मन्त्र में कितनी स्पष्ट रीति से बताया है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण । भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सामित्रं वनुते जने चित ॥　ऋ. १०।२७।१२

अर्थात् (पन्यसा वार्येण) प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुणों से युक्त (वधूयोः) स्त्री की कामना करने वाले (मर्यतः) मनुष्य के लिये (कियती योषाः) कैसी स्त्री (परि प्रीता भवति) अनुकूल होती है—कैसी स्त्री को एक गुणी पुरुष पसन्द करता है (यत्) जो (सुपेशाः) सुन्दर रूप वाली (भद्रा) कल्याण और सुख देने वाली (वधूः) स्त्री (जने चित्) मनुष्यों के अन्दर से (स्वयं) अपने आप (मित्रं) अनुकूल मित्र अथवा साथी को (वनुते) चुनती है और चुन कर उस की सेवा करती है।

इस विषय में अधिक प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि विवाह के मंत्रों में 'सुमनस्यमानौ मोदमानौ' आदि शब्द इसी बात की सूचना देने वाले हैं।

विवाहित पति पत्नी का परस्पर कितना प्रेम होना चाहिये इस बात की शिक्षा अथर्व में उन दोनों के मुख से—

"अन्तः कृणुष्व मां हृदि, मन इन्नौ सहासति" (अथर्व ७।३५।४)

तथा

"ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन"

(अथर्व ७।३८।४)

इत्यादि वचन कहला कर दी गई है जिन का अर्थ यह है कि हे वधु (मां) मुझ को (हृदि अन्तः कृणुष्व) अपने हृदय के अन्दर बैठा ले (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन तक भी (सह असति) इकठ्ठा एक हो जाय। दूसरे में वधू वर को कहती है (त्वं) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही हो कर (असः) रह (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों की (कीर्तयाः चन न) चर्चा तक न कर। पतिव्रता धर्म और पत्नीव्रत धर्म का यह कितना सुन्दर उपदेश है। अथर्व १४।२।६४ में इस पति पत्नी प्रेम के भाव को स्पष्ट करने के लिये चक्रवाक चक्रवाकी अथवा चकवा चकवी की उपमा दी गई है, जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इस से एक पत्नी व्रत का भाव बहुत ही साफ हो जाता है, क्योंकि चकवा चकवी का प्रेम और पत्नी पति व्रत बहुत ही प्रसिद्ध है मन्त्र इस प्रकार है—

इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्व-मायुर्व्यश्नुताम् ॥

अथ० १४।।२।६४

अथर्व ३।३० में पारिवारिक कर्तव्यों का एक संक्षिप्त किन्तु अत्युत्तम वर्णन आया है, वहां पुत्र का पितामाता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये तथा भ्राता भगिनी, पति पत्नी का कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, इस विषय में कहा है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसार-मुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

जिनका तात्पर्य यह है कि (पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल कर्म करने वाला हो, (मात्रा) माताके साथ पुत्र (संमनाः) समान मन वाला (भवतु) होवे, (जाया) पत्नी (पत्ये) अपने पतिके लिये (शन्तिवाम्) शान्ति देने वाली (मधुमतीं) अत्यन्त मधुर मानो जिस में शहद लगा हुआ हो ऐसी (वाचं) वाणी को (वदतु) बोले । यहां पहले चरण का आशय विशेष ध्यान में रखने योग्य है, उसका अर्थ यह है कि यदि पिता ने कोई परोपकारार्थ शुभ कर्म प्रारम्भ किया था, तो उसको पूरा करना यह पुत्रका मुख्य कर्तव्य है । व्रतका अर्थ ही शुभ कर्म है, अतः पिता के हरेक काम का पुत्र को अनुसरण करना चाहिये, यह भाव यहां नहीं है, किन्तु अच्छे कामों को पूर्ण करने में सहयोग देनेसे यहां मतलब है, मनुके—

येनास्य पितरो याता येन याताः
पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं,
तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

इस श्लोक का भी ऊपर कहा हुआ ही आशय है । भाइयों का भी ऐसा ही परस्पर प्रेम और मेल जोल होना चाहिये और उन्हें मिलकर एक दूसरेके शुभ संकल्पोंके पूर्ण करने और अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदा यत्न करना चाहिये यह ' सम्यञ्चः ' और ' सव्रता ' शब्दोंसे प्रकट होता है, जिनका अर्थ मिलकर एक उद्देश्य की सिद्धिके लिये यत्न करते हुए और समान शुभ कर्म वाले ऐसा है । जिस प्रकार पति के साथ मधुर वाणी बोलना पत्नी का और पत्नी के साथ मधुर शब्द बोलना पतिका भी कर्तव्य है इस बात को अथर्व १४ । १ । ३१ में स्पष्ट सूचित किया गया है । तथा—

" युवं भगं सं भरत समृद्धमृतं
वदन्तावृतोद्येषु । ब्रह्मणस्पते पति-
मस्यै रोचय चारु संभलो वदतु
वाचमेताम् ॥ "

अर्थात् (युवं) तुम दोनों वर वधू (स-मृद्धम्) सदा बढने वाले (भगं) ऐश्वर्य को (सं भरतम्) पूर्ण करो — भरो, क्या करते हुए (ऋतोद्येषु) सत्य से कथन करने योग्य व्यवहारों में (ऋतं वदन्तौ) सत्य भाषण करते हुए (ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञानके स्वामी जगदीश्वर ! (अस्यै) इस वधू के लिये (पतिम्) पतिको सदा (रोचय) अनु-कूल एकही रुचि वाला बना, जिससे (संभ-लः) अच्छी प्रकार भार्याका भरण पोषण करता हुआ वह (एताम्) इस (चारुवाचम्) सुन्दर मधुर वाणी को (वदतु) बोले । मंत्रके पूर्वार्ध में सत्य भाषण और सत्य व्यव-हार करते हुए इमान दारी के साथ जो वर वधू को ऐश्वर्य कमाने का उपदेश है वह बहुत भाव पूर्ण है । उससे वैदिक आशय की उच्चता और गंभीरता पर प्रकाश पड सकता है । इस विषयमें अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु विस्तार के भय से एक आध और आवश्यक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है । गृहस्था-

श्रम में प्रवेशका मुख्य तात्पर्य उत्तम सन्तान को उत्पन्न कर के उत्तम राष्ट्रके निर्माण में सहायता देना है । जब तक प्रत्येक गृहस्थी उत्तम सन्तान उत्पन्न करना अपना कर्तव्य नहीं समझता, तब तक उत्तम राष्ट्र कभी बन ही नहीं सकता । इस लिये वेदमें पुत्रके लिये अनेक स्थानोंपर रयि शब्दका प्रयोग किया गया है । ऋ. १० । ४७ सारा सूक्त ही उत्तम सन्तान के गुण वर्णन परक है, उदाहरणार्थ मं. २ में प्रार्थना है —

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम् । चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिंदाः।

अर्थात् (स्वायुधम्) उत्तम शस्त्रास्त्र युक्त (स्ववसम्) अच्छी रक्षा करने वाले (सुनीथम्) अच्छे नेता (चतुः-समुद्रम्) चारों समुद्रों तक जिस के यशका विस्तार हो (रयीणां) ऐश्वर्य के (धरुणम्) धारण करने वाले (चर्कृत्यम्) लगातार कर्म करने वाले पुरुषार्थी (शंस्यम्) प्रशंसनीय (भूरि वारम्) जिसको बहुत से पुरुष स्वीकार करते हैं ऐसे (वृषणम्) पराक्रमी (चित्रं) अद्भुत (रयिम्) पुत्र रूप धन को (अस्मभ्यं) हमें (दाः) दे । इस मन्त्र में उत्तम सन्तान के जो गुण बताये गये हैं वे यद्यपि किसी एक व्यक्तिमें पाये जाने कठिन हैं, तथापि उस आदर्श तक सन्तान को पहुंचाने का यत्न करना प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य है । इसी सूक्त का तीसरा मन्त्र देखिये—

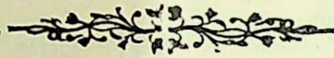
सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र । श्रुतऋषिमुग्रम-भिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

अर्थात् (सुब्रह्माणम्) उत्तम ब्रह्म ज्ञान से युक्त अथवा जिस के अध्यापक उत्तम हैं (देव वन्तम्) दिव्य गुण सम्पन्न (बृहन्तम्) महान् (उरुम्) उदार भाव वाले (गभीरम्) गम्भीरता युक्त (पृथुबुध्नम्) बडे दिमाग वाले (श्रुत ऋषिम्) वेद का जिस ने अच्छी प्रकार श्रवण किया है अथवा ऋषियों, तत्व-ज्ञानियों, के उपदेशों का जिस ने श्रवण किया है (अभिमातिषाहम्) अभिमानादि आन्त-रिक और बाह्य शत्रुओं को परास्त करने वाले (चित्रं) अद्भुत (वृषणं) बलयुक्त (रयिम्) पुत्र रूप धन को (इन्द्र) हे परमैश्वर्य युक्त प्रभो (अस्मभ्यं) हमारे लिये (दाः) दे । जिस समय प्रत्येक गृहस्थी इस प्रकार के सर्वाङ्गीण उन्नति से सम्पन्न पुत्र की उत्पत्ति को अपना आदर्श बनाता होगा, तो राष्ट्र कितना उन्नत होगा इस की सहज में कल्पना हो सकती है । इस लिये इस कर्तव्य की ओर गृहस्थी सज्जनों को विशेष ध्यान देना चाहिये। अतिथि सत्कारादि के बारे में वेद में अत्युत्तम उपदेश पाये जाते हैं । विद्वानों का सब प्रकार से सत्कार करना यह सब गृहस्थियों का मुख्य कर्तव्य है । ऋ. १ । १२५ में इस विषय में बडा जोरदार उपदेश है । अन्तिम मन्त्र में कहा है—

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः । अन्यस्त्वेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि संयन्तु शोकाः॥

ऋ. १।१२५।७

अर्थात् (पृणन्तः) अतिथियों और विद्वानों का अन्नादि से सत्कार करने वाले (दुरितमेन) दुःखमय मार्ग से (मा आर) न जाएं, कभी दुःखी न हों । (सुव्रताः) शुभ कर्म करने वाले (सूरयः) विद्वान (मा जारिषुः) कभी न नष्ट होवें (तेषाम्) उन का (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा (परिधिः अस्तु) धारण करने वाला हो (अपृणन्तम) अतिथि सत्कारादि न करने वाले कृपणको (शोकाः) शोक (अभि संयन्तु)प्राप्त होवें। इस विषयक अन्य कुछ मन्त्रों को हम फिर लिखेंगे यहां इस प्रकरण को विस्तार भय से समाप्त किया जाता है ।





मरुत् ।



वेदमें "मरुत्" देवता अनेक मंत्रों में वर्णित हुई है। मरुत् देवता का मूल स्वरूप क्या है, इसका विचार अनेक पंडितों ने इस समयतक किया है। युरोपीयनों का मत यह हुआ है, कि "मरुत्" देवता "वायु"ही है। भारत देशके पंडित भी कहते हैं, की मरुत् देवता से वेदमें वायुका वर्णन हुआ है। परंतु वेद मंत्रों का अनुशीलन करने से पता लगता है कि यह मत पूर्ण अंश से सत्य नहीं है, इस विषयपर विस्तृत लेख माला प्रसिद्ध करने का विचार है, परंतु इस लेख में केवल एकही मंत्र पाठकों के सामने रखते हैं, इस

से पाठकों को स्वयं पता लग सकता है, कि उक्त मत मूल तत्व से कितना पृथक् है। देखिये—



> अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो
> वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
> अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः
> शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययी ॥
>
> ऋ. ५।५४।११

हे (मरुतः) मरुतो! आपके (अंसेषु ऋष्टयः) कंधोंपर शस्त्र हैं, (पत्सु खादयः) पांवोंमें पग हैं, (वक्षःसु रुक्मा) छाती पर कंठ हैं, (रथे शुभः) रथमें शुभपदार्थ हैं, (गभस्त्योः) हाथोंमें बिजली के समान चमकदार अस्त्र हैं, और (शीर्षसु) सिरमें (हिरण्ययी शिप्राः) सुनरा पगडी (वितताः) फैली है।

यह वर्णन स्पष्टतासे बता रहा है, कि "मरुत्" नाम उन वीरों का है, कि जो वीर "मरने के लिये उद्युक्त" हुए हैं। इस प्रकार विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि वैदिक देवताओंका स्वरूप जो समझा जाता है वह मूल स्वरूप से कितना भिन्न है। इसी कारण हरएक देवताके मूल स्वरूप का अतिसूक्ष्म दृष्टिसे विचार करना अत्यंत आवश्यक है, इसके

मरुत्—वीर।

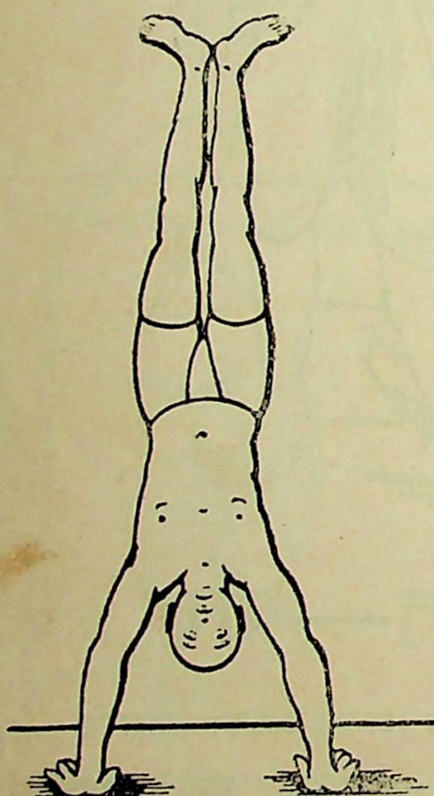
बिना वेदका अध्ययन करना अशक्य है।

इसलिये "वैदिक धर्म" मासिकमें क्रमशः मरुत् देवताका विचार किया जायगा, आशा है कि पाठक भी अपने विचार प्रकाशनार्थ भेजेंगे और विचार विनिमयमें सहायता देंगे।



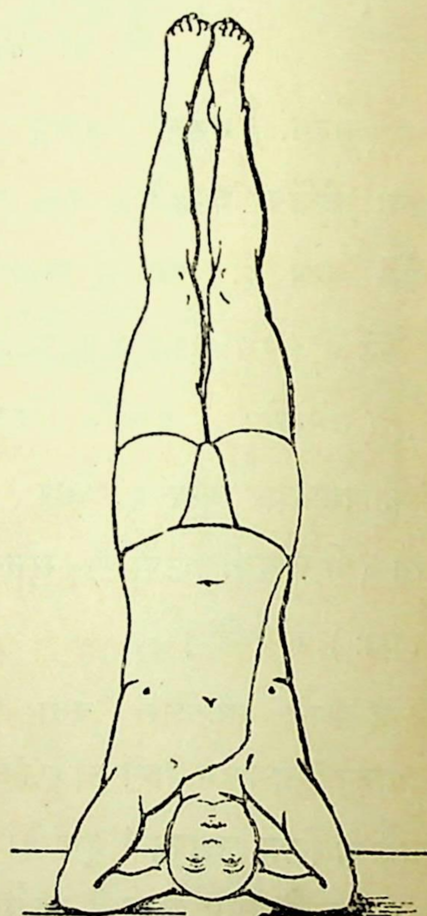
जुकाम और सर्दीको दूर करने वाले आसन ।





मुक्तहस्तवृक्षासन ।

जो लोग नियम पूर्वक इनका उचित प्रमाण में अभ्यास करेंगे, उनको जुकाम, सर्दी, गले पडने, आदि विकार नहीं होंगे।



शीर्षासन ।

शरीरमें फुर्ती और उत्साह रहेगा। तथा फेंफडोंका बल बढेगा ।



सफल प्रार्थना।

(लेखक– श्री० पं० अभय देव शर्मा, विद्यालंकार)

(८) प्रार्थी कैसा होना चाहिये?

(१) वनीवानः– यह शब्द 'वन' धातु से बना है, जिसका कि अर्थ है, **'संभक्ति' अर्थात् सम्यक् भक्ति।** प्रार्थी को अतीव भक्त होना चाहिये। यदि प्रार्थी भक्त है, तो प्रार्थनीय देव तुरन्त उसकी प्रार्थना सुनता है। आर्य समाज की आरती में गाया जाता है **"भक्त जनन के संकट क्षण में दूर करे"।** भक्तों को ऐसा ही विश्वास होता है। वे जानते हैं, कि हमारी प्रार्थना की सुनवाई जरूर होगी, और दुःख दूर होनेमें क्षणभर भी न लगेगा। बालक जब मां से कुछ मांगता है, तो वह खूब जानता है, कि मां मुझे जरूर देगी, यह हो ही नहीं सकता, कि मां मुझे मेरी मांगी चीज न देवे। भक्त भी बालक की तरह प्रार्थनीय देवके साथ अपने **'माता'** जैसे ही किसी अतीव संनिकृष्ट संबन्ध को जानता है, तभी वह ऐसा दृढ विश्वासी होता है। इसलिये भक्त की सुनाई क्यों होती है, यदि हम इसका कारण जानना चाहें, तो यही है, "दृढ विश्वास" प्रार्थना के सुने जाने में पूर्ण विश्वास, श्रद्धा। इस विश्वास, श्रद्धा के विना, प्रार्थना नहीं सफल होती। परन्तु यह विश्वास भक्ति के साथ होता है। भक्ति इसका साधन है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि विना माता जैसे किसी घनिष्ठ संबन्ध के विना हम में यह विश्वास नहीं पैदा हो सकता। और ऐसा संबन्ध भक्ति द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। भक्ति द्वारा प्रार्थनीय देव के साथ एक संनिकृष्ट संबन्ध स्थापित होता है और वह संबन्ध हम में विश्वास पैदा करता है, कि मेरी प्रार्थना सुनी जायगी। इसलिये प्रार्थना सफलता की पहिली शर्त है– प्रार्थी के अन्दर प्रार्थनीय देव के प्रति विश्वास श्रद्धा। और यह स्पष्ट है। सब जानते हैं, कि विश्वास और श्रद्धा में कितना बल है। यहां पर यह बात भी साफ हो जाती है, कि प्रार्थना इच्छा शक्ति का ही एक रूप है— प्रार्थना करना मनः शक्ति का जोर लगाना है। क्यों कि विश्वास क्या वस्तु है? विश्वास होने का अर्थ है,

किसी अनुकूल संबन्ध के स्थिर हो जानेसे मनःशक्ति का किसी जगह केन्द्रित हो जाना। मनोविज्ञान की दृष्टिसे विश्वास का यही लक्षण होता है। मन की शक्ति को एक जगह केन्द्रित करना बडा कठिन काम है, परन्तु यदि किसी वस्तुमे ह . रा विश्वास हो जाय, तो वहां मनःशक्ति स्वयमेव केन्द्रित हो जाती है। इसी कारण श्रद्धा और विश्वास की इतनी महिमा है। और यही श्रद्धाद्वारा कार्य सिद्धि होने में वैज्ञानिक कारण है। इसलिये यदि हमारी प्रार्थना भी विश्वास (मनःशक्ति का स्वयमेव केन्द्रित होना) से युक्त हो, तो उस प्रार्थना द्वारा भी हम यथेच्छ कार्यसिद्धि को प्राप्त कर सकते है। यह बात बहुत आसानीसे समझमें आसकती है परन्तु सब कठिनता तो यह है, कि विश्वास या श्रद्धा कैसे होवे! श्रद्धा तो जबरदस्ती नहीं की जा सकती । जब मन मानता ही नहीं, तो कैसे मानलें, कि हमारी प्रार्थना जरूर सुनी जायगी। इस श्रद्धा के प्राप्त करने का उपाय है "**भजन**" **करना**। इसीलिये प्रार्थना की सफलता की यह शर्त '**श्रद्धा या विश्वास**' न कह कर वेदमें '**भक्ति**' करके कही गयी है। यदि आप प्रार्थनीय देवमें अपनी श्रद्धा पाना चाहते हैं, तो उसका बार बार भजन कीजिये, और प्रेम संबन्ध स्थापित कीजिये। बार बार भजन करके जब मनुष्य अतीव भक्त हो जाता है, तब उसके अन्दर की श्रद्धाके बलसे वह अपनी सब प्रार्थनायें प्राप्त कर लेता है। वह भक्त निश्चयसे कह सकता है कि मुझ भक्तकी प्रार्थना तुझे जरूर स्वीकार करनी होगी'। वह बच्चे की तरह जिद कर सकता है। क्यों कि भक्ति द्वारा उसने उस भजनीय देव के साथ एक घनिष्ठ संबन्ध जोड लिया है। रामकृष्ण परमहंस को जिन्होंने '**मां मां**' पुकारते हुवे देखा है, वे उनकी पुकारसे ही संशयरहित हो जाते थे, कि उनकी इच्छा '**मां**' कैसे नहीं सुनेगी। वे भगवती जगन्माता से बातें करते थे। तभी कुछ भी अक्षरज्ञान न रखते हुवे भी वे सब तत्व जानते थे। यह सब भक्ति का ही चमत्कार है ॥

भक्त के अन्दर केवल विश्वास ही वह चीज नहीं है, जिससे कि उसकी प्रार्थना जरूर सफल होती है । भक्ति में एक और भी भाव है, जिसका कि प्रार्थना की सफलता के प्रकरणमें जरुर विचार करना चाहिये । यह है "**नम्रताका भाव**।" और यही इच्छाशक्ति और प्रार्थनामें सूक्ष्म भेद है । इच्छाशक्तिको नम्रतापूर्वक लगाना ही प्रार्थना कहलाता है। इच्छाशक्ति लगानेवाला कहता है, कि "मेरे पास वह वस्तु आवे" वह जरूर आवे ' परन्तु प्रार्थना करने वाला प्रार्थनीय देव के सामने झुककर कहता है "आप सब कुछ देनेवाले हैं, मुझे दीजिये" । इस नम्रताका प्रयोग ही प्राचीन लोगोंकी इच्छाशक्ति लगानेमें, आधुनिक इच्छाशक्ति लगाने वालोंसे, विशेषता है। दोनोंमें मनः शक्ति लगानेका भाव समान है- दोनोंमें सफलता का विश्वास समान है, परन्तु एक नम्रतापूर्वक उसे मांगता है, और एक

अधिकार पूर्वक उसे आने की आज्ञा करता है। पहिली अवस्थामें उसका नाम "प्रार्थना" है, दूसरी अवस्थामें "इच्छाशक्ति।" ये दोनों अपने स्थानपर उचित हैं, परन्तु भक्तको प्रार्थना करना ही प्रिय होता है। और भक्त की प्रार्थनामें यह नम्रता एक अनिवार्य गुण है। नम्रता से ही उसकी परमात्मातक पहुंच होती है। इसी सूक्त में इन उद्धृत मंत्रोंसे ठीक पहिले मंत्रमें कहा है "**य आङ्गिरसो नमसोपसद्यः**" अर्थात् जो आप प्राण स्वरूप हैं और नम्र भाव द्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। अर्थात् नम्रता द्वारा परमात्मा (इन्द्र) के पास पहुच जाता है। इसी लिये भक्त एक प्रार्थी होता है, और यह नम्रता ही उसकी प्रार्थना को पूरा करनेवाली होती है।

नम्र होनेसे मानो प्रार्थित वस्तु हमारी तरफ बहती है, ठीक उसीतरह जैसे कि जल उंची जगह से नीची जगह में स्वभावतः बहता है। विना नम्र हुवे हम अपनी तरफ बहती हुई अभीष्ट वस्तुको भी नहीं ग्रहण कर सकेंगे। मनोविज्ञान की भाषामें इसे कहें, तो नम्रताद्वारा मनुष्य अपने आपको प्रार्थित वस्तु को ग्रहणकरने योग्य अवस्था में लेआता है। इसलिये प्रार्थना सफलता के लिये **प्रार्थी के अन्दर "विश्वास" के साथ साथ यह नम्रता का भी गुण अत्यन्त आवश्यक** है। इन दोनों द्वारा भक्त अपनी प्रार्थित वस्तु को प्राप्त करता है। जहां उसमें 'विश्वास' का आत्माभिमान होता है, वहां उसमें नम्रता की मृदुलता सी होती है और वह अपने विश्वास द्वारा बाधाको हटाता है - रास्ता बनाता है, और अपनी नम्रता द्वारा प्रार्थित वस्तुको अपनी तरफ बहाकर उसे हस्तगत करता है। भक्त की प्रार्थना सफल होने में कारणभूत ये दो भक्तके अन्दर रहनेवाले गुण इसप्रकार ढूंढे जा सकते हैं। ये हैं विश्वास और नम्रता। और उसकी जननी है भक्ति। अब अपने आपको भक्त बनानेके साधन देखने हैं। वे एक प्रकारसे इसी विवरण में कहे जा चुके हैं। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है, कि भजनीय देवके दिव्य गुण बार बार सुनने चाहिये। उन्हीं का बार बार मनमें विचार करना चाहिये। भक्तों की कथायें सुननी चाहिये और सदा भक्तों की संगत में रहने चाहिये। इस प्रकार धीरे धीरे भजनीय देवमें प्रीति बढती जायगी और उसके साथ भक्ति संबन्ध दृढ हो जायगा तब उससे वह अभीष्ट भक्ति और श्रद्धा उत्पन्न हो जायगी, जो कि प्रार्थना को अवश्य सफल कराती है।

(९) प्रार्थनीय देव कैसा होना चाहिये ?

(२) '**इन्द्र**' — अब दूसरा विचार यह है, कि कैसे व्यक्तिसे प्रार्थना करनी चाहिये। इसका उत्तर है '**इन्द्र**' '**इदि परमैश्वर्ये**'। **इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् से ही ऐश्वर्य मांगना चाहिये।** हर एक मांगी जानेवाली वस्तुका सामान्यनाम ऐश्वर्य रखा जा सकता है। तो साफ बात है, कि ऐश्वर्ययुक्तसे ही ऐश्वर्य की प्रार्थना करना उचित है। तभी वह प्रार्थना पूरी

होगी। अतः प्रार्थनीय देव ऐश्वर्यवान् होना चाहिये। जिस प्रार्थनीय देवसे जो ऐश्वर्य मांगा जा रहा है, वह ऐश्वर्य उसके पास होना चाहिये। जिसके पास जो नहीं है, उससे वह मांगना वृथा है। यदि कोई अग्नि देवसे शीतलता का ऐश्वर्य मांगे, तो वह मूर्ख है। अग्नि देवता तेज का ऐश्वर्य द सकते हैं, परन्तु शीतलता का ऐश्वर्य यदि वे भक्तिसे प्रसन्न हो कर देना चाहें भी तो भी नहीं दे सकते। इसी प्रकार धन का ऐश्वर्य धनैश्वर्यवान् देवसे ही मांगना चाहिये, आरोग्य का ऐश्वर्य इस ऐश्वर्य को रखनेवाले देवसे ही मांगना चाहिये। स्वराज्य का ऐश्वर्य स्वराजैश्वर्य दे सकनेवाले देवसे ही मांगना चाहिये और ज्ञान या मोक्ष का ऐश्वय इस ऐश्वर्यवालेसे मांगते ही मिलेगा। परन्तु अन्तमें असली ऐश्वर्यवान् एक ही है। वह है **ईश्वर**। उसीका यह सब जगत् ऐश्वर्य है, जिसका कि वह ईश्वर है। इसी लिये विद्वान पुरुष एक मात्र उसीको प्रार्थनीय देव मानते हैं। सब प्रकारका ऐश्वर्य उसके पास है, और उसी का है। ज्ञानी लोग जो भी कुछ जहां भी कहीं से प्राप्त करते हैं, उनकी यही दृष्टि रहती है, वह उसी परमेश्वरसे प्राप्त हो रहा है। वे अग्नि से तेजकी प्रार्थना करते हुवे भी अग्निका अर्थ उसे ही समझते हैं, जिसने कि अग्निको भी तेजका ऐश्वर्य दिया है। परमेश्वरके भक्त कल्पनाही नहीं कर सकते, कि परमेश्वर के सिवाय कोई और उन्हें कुछ दे सकता है। भक्तके लिये ऐसा स्वाभाविक है, और अवश्यंभावी है। जो किसी अन्य देवका (व्यक्तिका) भक्त है, उसको भी यही दृष्टि होनी चाहिये, कि उसके बिना कोई अन्य देव मुझे इष्ट वस्तु नहीं दे सकता। यदि उसकी समझमें कोई अन्य देवभी वह वस्तु दे सकता है, तो उसकी उस देवमें अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं हो सकती, और इस लिये उसकी प्रार्थना जरूर सुनी जायगी, पर संभावना भी घट जायगी। प्रार्थनाकी सफलता के लिये जो विश्वास ऊपर वर्णन किया जा चुका है, उसमें विश्वास का यह रूप आवश्यक है, कि उस देवके सिवाय उसे और कोई देनेवाला नहीं है, तभी उसकी उसमें पूरी भक्ति हो सकती है और उससे उसकी प्रार्थना अवश्यंभावितया सफल हो सकती है। परन्तु मनुष्य की **अन्तिम** भक्ति उसी परमेश्वर में हो सकती है। वही देवोंका देव एकमात्र देव है। वही परमैश्वर्यवान् एक देव है, जिससे कि सभी ऐश्वर्य मांगे जा सकते हैं, और मिल सकते हैं। उसीको इस उद्धृत मंत्रमें ' **इन्द्र** ' नामसे स्मरण किया गया है।

प्रार्थनीय देव को प्राप्त करनेका साधन है विवेक, ज्ञान। हमें ज्ञान बढाकर यह पता लगाना चाहिये, कि किस देवसे क्या वस्तु मिल सकती है। जबतक हम अज्ञान में रहेंगे तबतक देवको नहीं पहिचान सकेंगे और कई वार ठोकरें खायेंगे और असफलता का मुख देखेंगे। इस लिये ज्ञान बढाते हुवे धीरे धीरे सबको इस सत्य पर पहुंचने का यत्न करना चाहिये, कि अंतम एक ही प्रार्थनीय देव है, वही असली प्रार्थनीय देव है और उसीसे सब

कुछ मांगना कल्याणकारी है।

१० प्रार्थना कर्म कैसा होना चाहिये ?

(३) (क) **दूतासः**— हमारी प्रार्थना दूत होनी चाहिये। इसपर अधिक लिखना इसके सौन्दर्य को मारना प्रतीत होता है। क्या इससे यह संदेह निवृत्त नहीं हो जाता, कि वेदोक्त प्रार्थनासे तात्पर्य हमारी न सफल होनेवाले मांगनेसे नहीं है। जैसे हमारा भेजा हुवा दूत हमारा काम कर लाता है, वैसी ही जीवित जागृत मनुष्य की तरह हमारी प्रार्थना प्रार्थनीय देव क पास पहुंचनी चाहिये और प्रार्थित वस्तु को लेकर लौटनी चाहिये। क्या ऐसी प्रार्थना सफल न होगी? इसमें भी संदेह है!! पर क्या हमारी प्रार्थनाभी ऐसी होती है? हमारी मुर्दा प्रार्थनाओंमें जान कहां से आवे? हम तो प्रार्थना को शक्ति ही नहीं समझते। हमारे जीमें तो बैठा हुवा है, कि प्रार्थना हमारे मुंहमें ही रह जाती है, उसने कहीं क्या पहुंचना है? हम समझते हैं, कि हमारे मन में जो इच्छा पैदा होती है, वह मन की मनमें ही रह जाती है, उसका दुनियापर क्या असर होना है? बस इसीलिये हमारी प्रार्थना का कुछ असर नहीं होता - वह कहीं नहीं पहुंचती। फिर हमारी प्रार्थनायें विफल क्यों न हों?

तो यदि आप अब अपनी प्रार्थना को प्रार्थना बनाना चाहते हैं, तो इसे वेदोक्त रीतिसे कीजिये - अपनी प्रार्थना को अपना दूत बनाइये। यदि किसी काम के लिये एक चिठ्ठी भेजनेकी जगह एक आदमी को भेजदिया, तो उस कार्य की सफलता की संभावना कितनी अधिक बढ जायगी? परन्तु हमारी प्रार्थना तो निर्जीव चिठ्ठीका काम भी नहीं देती, और चाहिये यह है कि, यह सजीव मनुष्यका -- दूतका -- काम देवे। प्रार्थनाके सजीव दूत होनेका मतलब यह है, कि हमारी प्रार्थनाका मानसिक भाव एक मनस्तत्त्व की बनी हुई वस्तु बनकर मानस माध्यमद्वारा प्रार्थनीय देवतक पहुंचना चाहिये, और यह भाव इतना सत्य होना चाहिये कि, इसे अपना प्रतिनिधि -- मनोमय शरीरधारी अपना दूत - कहा जा सके, यह है प्रार्थनाको दूत बनाना।

इसके साधन के लिये अपनी मनः शक्ति को बढाना चाहिये, और इससे पहिले यह विश्वास प्राप्त करना चाहिये, कि कोई सर्व व्यापी मनस्तत्व है, जिसके कि द्वारा अपने मनोमय भाव को भेजा जा सकता है। इसके अन्य सामान्य साधन शेष तीन गुणोंके भी वर्णन कर चुकनेपर इकट्ठे प्रदर्शित किये जांयगे।

(ख) **सुमतीरियानाः**— प्रार्थनायें प्रार्थ्य देवकी सुमति को प्राप्त करती हुई होनी चाहिये। जबतक प्रार्थ्य देवकी सुमति नहीं प्राप्त होती, तबतक उससे अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती। जैसे कि दूत जाकर उस मनुष्यको अभिमुख करता है, और उसकी अनुकूल दृष्टि (शोभनमति) को जब पा लेता है, तभी कृतकार्य हो सकता है, उसी प्रकार प्रार्थनाको वहां पहुंचकर प्रार्थ्य देवको अनुकूलतया

अभिमुख करना चाहिये ।

प्रार्थनाका वहांतक पहुंच जाना ही पर्य्याप्त नहीं है, उसे वहां पहुंचकर देव पर ऐसा असर करना चाहिये, कि वह उसकी तरफ अनुकूल तथा अभिमुख होकर प्रत्युत्तर के रूपमें अपनी अनुकूल मति को प्रकाशित करें । बहुत सी प्रार्थना ओं के सफल होने में देर इसीलिये लगती है, कि वे शीघ्र ही प्रार्थ्य देव को अभिमुख कर उसकी सुमति नहीं प्राप्त कर सकती । प्रार्थनामें पर्याप्त बल न होनेसे इस कार्य में देर लगती है । इसके लिये प्रार्थना कर्म और भी तीव्र होना चाहिये । जैसे कि तीव्रता से छोडा हुवा एक तीर न केवल लक्ष्य तक पहुंचता है, किन्तु उसमें घुस भी जाता है, या उसे हिला भी देता है । यह प्रवेश कहांतक होना चाहिये, इसका वर्णन अगला गुण करता है ।

(ग) **हृदिस्पृशः**— प्रार्थना देवके हृदय-तक पहुंचनी चाहिये, इसे केवल प्रार्थनीय देवके कानोंतक पहुंचानेसे काम नहीं चलेगा । यह देवके अन्दर प्रविष्ट होनी चाहिये, और उसके हृदयको अपनी ओर खींचनेवाली होनी चाहिये । वास्तवमें उस के हृदय को ही अभिमुख करना है । क्यों कि सुमति उसके हृदयने ही देनी है, और इसलिये प्रार्थित वस्तु भी उसके हृदयसे ही प्राप्त होनी है । इसी क्रिया का नाम है, " **हृदयको जीतना ।** " इसे ही कहते हैं हृदयको परिवर्तित कराना । विना हृदय परिवर्तन कराये, किसीसे कोई प्रार्थित वस्तु प्राप्त करना असंभव है । इसलिये कहा है कि, प्रार्थना हृदय को छूनेवाली होनी चाहिये ।

इस हृदय परिवर्तन कराने में बहुत वार देर लगती है । तबतक जैसा कि आगे कहा जायगा, त्याग आदि तदनुकूल कर्म करने चाहियें, जिससे प्रार्थना की सचाई और तीव्रता जानकर देव अपना हृदय बदल ले और वह इष्ट वस्तु देनेके लिये तैय्यार हो जाय ।

(घ) **मनसा वच्यमानाः**— प्रार्थनामें चौथा गुण यह होना चाहिये कि, वह मन द्वारा बोली गयी हो । साधारण लोग यही जानते हैं, मुंहसे बोला जाता है । परन्तु ऐसी बात नहीं है । वद कह रहा है, कि प्रार्थना मनसे बोलनी चाहिये । और वेदानुयायी पुरान ऋषि हमें बतलाते हैं, कि वाणी चार प्रकारकी होती है, उनमेंसे मुंह द्वारा बोली जाने वाली '**वैखरी**' वाणी तो सबसे निकृष्ट है । जब इससे और उत्कृष्ट वाणियां मौजूद हैं, तो मुंहसे बोली जानेवाली इस निकृष्ट वाणीसे बोलकर प्रार्थना करना, यदि बिलकुल व्यर्थ नहीं होगा, तो निकृष्ट फल का ही देनेवाला होगा । इसलिये सफलता के लिये हमें उत्कृष्ट वाणीका प्रयोग करना चाहिये, जिसे कि यहां मानस वाणी कहा गया है । जिन्होंने जपके विषयका अध्ययन किया है, वे जानते हैं, कि जप तीन प्रकारका होता है, " **वाचिक जप, उपांशु जप और मानस जप** । " इनमें क्रमशः उत्तर उत्तर जप श्रेष्ठ है । मानस जप अर्थात् मन द्वारा जप करना सबसे श्रेष्ठ और सबसे अधिक फल दायक है । इसी प्रकार वाचिक प्रार्थनासे

भी मानस प्रार्थना न केवल श्रेष्ठ है, अपितु वेदके अनुसार मानस ही प्रार्थना करनी योग्य है। केवल वाचिक प्रार्थना तो प्रार्थना ही नहीं है। फिर प्रार्थना का मनसे बोला जाना इस लिये कहना आवश्यक होता है, कि इसे उस झूठी प्रार्थनासे जुदा किया जा सके, जो कि मनकी इच्छा के विरुद्ध केवल मुखसे बोली जाती हैं। बहुतसे लोग ऐसे झूठी प्रार्थनायें करते हैं। कई मुखसे प्रार्थना करते हैं, कि 'हे ईश्वर ! तू मुझे मोक्षप्रदान कर' परन्तु अन्दर से उनका दिल मोक्षको बिलकुल नहीं चाह रहा होता, -- उनका दिल सांसारिक विषयोंके आनन्द को क्षणभर के लिये भी छोडना नहीं चाह रहा होता। ऐसी झूठी अहार्दिक प्रार्थनायें करके हम अपने आपको प्रार्थना करनेके अयोग्य बनाते जाते हैं ! प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, दिली होनी चाहिये। प्रार्थना जितनी हृदय की गहराई से निकलेगी, उतनी ही सफल होनेवाली होगी। प्रार्थना हृदिस्पृश तभी हो सकती है, जब कि वह हृदयसे ही निकले। प्रार्थना तो परस्पर दो हृदयों-दो मनोंका-संबन्ध है। मनसे मन द्वारा मनतक पहुंचती है। अब यह संदेह नहीं रहना चाहिये, कि प्रार्थना अन्तःकरण- मन- का धर्म है,वाणी का नहीं, चाहे उसे फिर वाणीसे भी बोल दिया जाय। प्रार्थना जितना अधिक अन्तःकरण की गहराई से निकलेगी, उतनीही देवके हृदयमें चुभनी वाली होगी और उतनी ही शीघ्र सफल होगी। पाठकोंमें से भी बहुतों को यह अनुभव होगा, कि जो प्रार्थना हृदय से निकले तब प्रायः वह पूरी होती है। इसलिये कहा है कि प्रार्थना **"मनसा वच्यमाना"** होनी चाहिये।

इसका साधन यह है, कि प्रार्थना सच्ची ही करनी चाहिये। सच्ची प्रार्थना स्वयमेव हार्दिक होगी -- मनसे बोली जायगी और इसलिये वह हृदिस्पृश भी होगी। लोगोंमें यह विश्वास फैला हुवा है, कि बालक की प्रार्थना जरूर पूरी होती है। उसका कारण यही है क्यों की बालक सच्चे होते हैं, वे बनावट नहीं जानते, वे जो कुछ प्रार्थना करते हैं, वे शुद्ध हृदयसे करते हैं; इसलिये उनकी प्रार्थना का सफल होना स्वभाविक है। इसलिये अपनी प्रार्थनाको हार्दिक बनाने के लिये हमें अपनेमें बालकों जैसे शुद्ध हृदयता और सचाई लानी चाहिये। प्रार्थनीय देव प्रार्थी की परीक्षा भी किया करते हैं। जब उन्हें पूरा विश्वास हो जाता है, की प्रार्थी वस्तुतः सच्चा है, अपनी प्रार्थित वस्तुके लिये सब कष्ट सहने को भी तैयार है, तब वे उसे प्रार्थित वस्तु देते हैं। अपनी प्रार्थना कि सचाई को प्रकट करने के लिये प्रायः घोर तप करना पडता है। जब प्रार्थनाके मुकाबिलेमें अन्य कर्म करनेको कहा जाता है, तब उसका यही मतलब होता है। जो अपनी प्रार्थनामें सच्चा है, अवश्य ही उसके लिये सब प्रकारके कष्ट सहनेके लिये तैय्यार होगा; प्रार्थी का यह कष्ट सहन ही प्रार्थनीय देव के हृदय को अपनी सचाई द्वारा परिवर्तित करता है। जब तक प्रार्थना **"हृदिस्पृश्"** नहीं होती, हृदय को नहीं परिवर्तित कराती, तबतक ऐसे तप करने पडते

है । हृदय परिवर्तित होते ही प्रार्थित वस्तु मिल जाती है । परन्तु यदि प्रार्थना वैसे ही हृदिस्पृश् हो तो ऐसे कर्मों की भी जरूरत नहीं होती । सबसे बडा प्रार्थनीय देव परमात्मा भी ढीले पुरुषको ऐसी परीक्षामें से गुजारकर उसकी इच्छा को पहिले दृढ बना लेता है, तब प्रार्थित वस्तु को देता है । परन्तु जिसकी प्रार्थना बिलकुल सच्ची होती है;- जैसे कि परम भक्तों की-उनकी प्रार्थना इतनी हृदिस्पृश् होती है, कि भगवान्को - तुरन्त पूरी करनी पडती है । इसलिये प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, परन्तु सचाई के साथ साथ एक और भी बात होनी चाहिये और यह है **तीव्रता** ।

प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये और तीव्र होनी चाहिये, तब प्रार्थना कर्म के ये चारों गुण स्वयमेव प्रार्थना में आजाते हैं । सच्ची होनेके अतिरिक्त प्रार्थना जितनी तीव्र होगी, उतनी ही शीघ्र सफलता को प्राप्त करने वाली होगी । प्रार्थनाको तीव्र बनानेके लिये एक बात ध्यान में रखनी चाहियें । वह यह है, कि अपनी अन्य इच्छाओं को रोका जाय, — एक समयमें एक ही इच्छा रखी जाय एक ही प्रार्थना की जाय । जैसे कि एक जल पात्रमें जिसमें कि बहुतेक छिद्र हों, जिनसे कि जलधारायें निकलती हों, उसके यदि अन्य सब छिद्रोंको बन्द कर एक ही छिद्र को खुला रहने दिया जाय, तो इस छिद्रसे निकलेवाली धारा पहिले की अपेक्षा कई गुना तीव्र हो जायगी। इसी तरह अन्य इच्छाओंके रोकनेसे उस एक इच्छामें प्रबलता आती है । **जिन लोगोंकी सैकडों इच्छायें होती हैं; उसकी एक भी इच्छा पूरी नहीं होती** । अपनी इच्छाओं को कम करना चाहिये और अपनी एक इच्छा के लिये (जिसकी कि आप पूर्ति चाहते हैं) अन्य दैनिक इच्छाओंका भी संयम करना चाहिये । हम देखते हैं, कि तीव्र इच्छा, लगन, व्याकुलता के समय में मनुष्य को खाना पीना भी भूल जाता है, वहां पर यही सिद्धान्त काम करा होता है । इच्छा की तीव्रता की अन्तिम अवस्था यह है, कि मनुष्य यह अनुभव करे, कि इसके बिना अब मैं रह नहीं सकता, इसके बिना मेरे सब काम अटके पडे हैं, इसके बिना मानो मेरा दम छुटा जा रहा है । जब ऐसी तीव्र इच्छा होती है, तब वह इच्छा दूत बनकर पहुंचती है, वेदवी सुमति को एक दम लेती है, और आन्तरिक मनसे निकलनेके कारण देवके हृदय को जीत लेती है और देवको उसकी इच्छा पूरी करनी पडती है ।

संक्षेप में हमें यह साधन करना चाहिये, कि हम ऐसी ही प्रार्थना करें, जिसे हम दिल से मांग रहे हों, और उस समय और सब इच्छाओंको छोडकर उसे ही मनमें तीव्रतासे धारण करें, तब धीरे धीरे हमारे प्रार्थनाकर्म में ' दूत होने ' आदि के चार गुण आ जायगें ।

(११) प्रार्थित वस्तु कैसी होनी चाहिये?

अभि तद् द्यावा पृथिवी गृणीताम् ॥ अब अन्तिम विचार यह है, कि किस प्रकारकी वस्तु

की प्रार्थना करनी चाहिये। यह प्रश्न ही सूचित करता है, कि जो कोई चीज अर्थात् हर एक मनमानी चीज नहीं मांगी जा सकती। प्रकृति के महान नियमों के अनुसार यह असंभव है। क्यों कि अल्पज्ञ और स्वार्थी जीव की प्रार्थनायें एक दूसरे के विपरीत होती हैं। दो लडते हुवे राष्ट्रों के पुरोहित अपने गिरजों या मन्दिरों में प्रार्थना करते हैं, कि हम विजयी हों और शत्रु पराजित हो। दोनों की प्रार्थनायें सर्व शक्तिमान् परमात्मा भी कैसे पूरी कर सकता है? यह असंभव है। एक साधु की सुनाई हुई कहानीके अनुसार एक कुम्हार जिसने कि मट्टीके बरतन बना कर सुखाने के लिये रखे हैं, प्रार्थना करता है, कि हे ईश्वर अभी पानी न बरसाना; और दूसरा पडोसी किसान जिस की कि खेती सूखी जा रही है, प्रार्थना करता है, कि 'भगवन् पानी बरसाओ नहीं तो अब हमारा नाश हुवा'। यदि दोनोंका परमात्मा एक ही है, तो दोनों की प्रार्थना कैसे पूरी हो सकती है। इन इच्छाओं की विषमता को देखकर हमें बलात यह सत्य स्वीकार करना पडता है, कि हम हरएक चीज की प्रार्थना नहीं कर सकते,जिस किसी चीज को मांगनेसे वह नहीं मिल जायगी।

तो फिर हमें कैसी वस्तु मांगनी चाहिये? इसका उत्तर है, कि ऐसी ही वस्तु मांगो, जिसे कि द्यौलोक और पृथिवीलोक, सारा संसार अनुमोदित करे, अर्थात् जो संसार के सत्य नियमोंके प्रतिकूल नहो, जो कि संसार के अहितके लिये न हों,इसलिये जिसे सारा संसार मिलकर अनुमोदित कर सके। भगवान् सारे जगत् का - कल्याण ही करनेवाले हैं। इसलिये यदि आप किसी के अकल्याण की प्रार्थना करेंगे, तो वह भगवान् के दरबारमें कभीभी स्वीकृत नहीं हो सकती। इसलिये सन्तलोग सदा यही प्रार्थना करते रहते हैं, कि "**सबका भला हो, सब नीरोग हों, सब सुखी हों**' जगत् का कल्याण करने वाले परम कारुणिक भगवान की भी सतत यही प्रार्थना चल रही है, कि सबका कल्याण हो, हम इसे समझें या न समझें। जो इसके विपरीत किसी के अकल्याणकी प्रार्थना करता है, वह भगवान् से लडाई करता है, भगवान् की प्रार्थना के मुकाबिले में उसकी प्रार्थना पूरी होने की क्या त्रिकालमेंभी संभावना हो सकती है? आप कहेंगे कि, बहुत सी अकल्याण की प्रार्थना भी स्वीकृत होती हुई देखी जाती हैं। मैं निश्चय पूर्वक उत्तर दूंगा कि, यह आपका भ्रम है। जैसे कि हमारी दृष्टि म सबका कल्याण होता हुवा नहीं दिखाई दे रहा है, उसी तरह आपको यहभी भ्रम होता है, कि अकल्याण की प्रार्थना स्वीकृत होति है। परन्तु इस प्रकरणमें एक बात तो आसानीसे समझी जा सकती है, पिता जब पुत्रको उसके भलाई के लिये ताडण करता है, तब पुत्र यही समझता है, कि यह मेरा अकल्याण हो रहा है, यद्यपि उसका कल्याण ही हो रहा होता है। इसी प्रकार महात्माओं की कई प्रार्थनायें ऐसी प्रतीत होता हैं, कि वे

किसीके अकल्याण के लिये हो रही हैं- और वह मनुष्य जिसके विषयमें प्रार्थना हो रही है वह भी अपना कल्याण ही समझ रहा हो, पर फिर भी वे कल्याण प्रेरित होनेसे भगवान् के यहां सुनी जा सकती हैं। इसके विपरीत एक ठग एक बालक का धन हरने के लिये उसे मिठाई खिलाता है-तब बालक यहीं समझता है, कि मेरा कल्याण हो रहा है, यद्यपि उसका अकल्याण हो रहा होता है। इसी प्रकार झूठे पुरुषों की प्रार्थनायें ऐसी प्रतीत होती हैं, कि किसी के कल्याण के लिये हो रही हैं-वह मनुष्य जिसके विषयमें हो रही है, वह भी यह समझता है, कि मेरा कल्याण हो रहा है, परन्तु अकल्याण से प्रेरित होनेके कारण वह भगवान् के यहां नहीं सुनी जातीं। सांसारिक किसी अन्य प्रार्थनीय देवके यहां 'अकल्याण' की भी प्रार्थना स्वीकृत हो सकती है, परन्तु वह अन्तिम निर्णय नहीं होता है। भगवान् के अन्तिम निर्णयके समय सब कल्याण ही कल्याण रह जाता है। मतलब यह कि मनुष्य अल्पज्ञ और स्वार्थी होनेके कारण कल्याण और अकल्याण के समझनेमें बहुत धोखा खाता है। इसलिये इन बातों को देखकर प्रार्थी को अपनी दृढ श्रद्धा को कभी विचलित नहीं करना चाहिये, कि सर्व जगत् के कल्याण की प्रार्थना सुनी जायगी। और वह स्वयं कल्याण के भाव से ही सदा प्रार्थना करें, चाहें और दुनिया उसे उलटा समझती रहे। सच बात तो यह है, कि दुनियामें एक ही प्रार्थना स्वीकृत हो सकती है, और स्वीकृत हो रही है-वह है परमात्मा की प्रार्थना, सब जगत् के कल्याण की प्रार्थना। जो मनुष्य उसके अनुकूल प्रार्थना करता है, वह तो स्वीकृत होती है और हो सकती है; परन्तु और सब परमात्मा के नियमोंके विरुद्ध जितनी प्रार्थनायें हैं, उनका करना व्यर्थ है। जरा देखिये कि, हमारी अनगिनत प्रार्थनाओं व इच्छाओं में से कितनी ऐसी सर्व जगत हितके अनुकूल होती हैं?

क्या वे प्रायः सबकी सब स्वार्थ के कीचड में सनी हुई और पर अहित के दुर्गन्ध से दूषित नहीं होती? तो क्या वे भगवान् के यहां पहुंचने योग्य होती हैं? यदि हम अच्छी तरह अपने मनको देखें, तो हमारी इच्छामें इतनी दुष्टता होती है, कि यदि वे किसी तरह स्वीकृत हो जांय, अर्थात् परमात्मा का राज्य हट जाय, तो क्षणभरमें संसार नष्ट भ्रष्ट हो जाय। एक कविने सच कहा है कि —

सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्। अभिप्रायाः नैव सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥

तो क्या यह एक महान् आश्वासन नहीं है, कि हम पर कभी न हटने वाला भगवान् का राज्य है, और हमारी सब इच्छायें पूरी नहीं की जातीं। परमात्मा हमारे ही परम कल्याण के लिये हमारी सब इच्छायें नहीं पूरी करता, हम अपनी इच्छाओं की विफलता पर मूर्खता से दुःखी होते हैं। उनकी विफलता तो आवश्यक है और हमारे कल्याण के लिये है। इसलिये यदि हम इच्छाओंके न

पूरा होने के दुःख से बचना चाहता है, तो हमें अपनी इच्छाओं को जगत् के नियमों के अनुकूल बनाना चाहिये-इच्छाओं से उन्हीं चीजों को मांगना चाहिये, जो कि सर्व जगत हितके प्रतिकूल नहीं हैं। **यदि हम सृष्टि नियमों के सर्वथा अनुकूल चलें, तो हममें इच्छायें ही ऐसी पैदा हों, जो विश्व के अनुकूल हों और वे इच्छायें पूरीभी हुवा करें।** वस्तुतः जो जो हममें इच्छा पैदा होती है, वह पूरी होनेके लिये ही होती है। परन्तु हमने अपने आपही अपनेको बेसुरा कर लिया है-स्वार्थ में फँसकर सर्व जगत् से अपना संबन्ध अस्वाभाविक कर लिया है, इसीलिये हममें ऐसी अस्वाभाविक, उलटी इच्छायें पैदा होती हैं और उनके पूरे न होनेसे दुःखी होते हैं। इसलिये हमें कमसे कम सफलता तो अपनी उन्हीं इच्छाओं और प्रार्थनाओं की चाहनी चाहिये, जो कि सब जगत् के हितके प्रतिकूल न हों,-जिनका कि सब जगत् अनुमोदन करता हो। प्रार्थित वस्तु कैसी होनी चाहिये, इसकी यही शर्त है। ऐसी ही प्रार्थित वस्तु प्रार्थना से मिल सकती है।

इसके साधन के लिये हम जगत के साथ अनुकूल संबन्ध जोडना चाहिये और स्वार्थहीन प्रार्थना करनेका अभ्यास करना चाहिये। सब से पहिले मन को यह अभ्यास डलवाना चाहिये कि वह सदा सब जगत् का हित ही चिन्तन करें। '**सबका भला हो सब सुखी हों, सब नीरोग हो**' इसका मंत्रकी तरह अर्थ ध्यान पूर्वक जप करना चाहिये, पूरा दिल लगा कर समय समय पर वह ऐसी प्रार्थना किया करें। ऐसा अभ्यास करनेसे अभ्यासी अपनी प्रार्थना को परमात्मा की पवित्र प्रार्थना से मिलाता है। इससे उनकी प्रार्थना स्वाभाविक बनती है, और परमात्मा से पोषित होती है। उसके बाद ऐसा अभ्यास करे, कि दिनमें जिस किसी भी व्यक्ति को, किसी मनुष्य को, या किसी प्राणी को, दुःखी देखे, तो एकान्तमें उसके दुःखहरण के लिये प्रार्थना किया करे। अपनी दैनिक संध्या के समय इस कार्य के लिये भी समय रखले। प्रार्थना चुपचाप करे, किसीसे प्रकट करनेकी जरूरत नहीं, कि मैं अमुक के लिये प्रार्थना करता हूं और प्रार्थना बिलकूल फलकी इच्छासे रहित करे। इसकी कुछ परवाही न करे कि प्रार्थना सफल होती है, या नहीं। प्रार्थना करने में ही इतिकर्तव्यता समझे। केवल यह समझे, कि इससे मेरी आत्मा शुद्ध होती है। प्रारंभ में ऐसे प्राणिओंके लिये ही प्रार्थना करें, जिनसे कि अपना कुछ संबन्ध न हो। ऐसे आदमिओंके लिये साधारणतया प्रार्थना तीव्रतासे नहीं की जावेगी। परन्तु अभ्यासी को चाहिये, कि अनजान मनुष्य के लिये भी पूरी तरह से --उसका दुःख अपना दुःख समझकर--- चुपचाप प्रार्थना करें।

यदि कभी किसी ऐसे व्यक्ति को कष्टमें देखे, जिसके साथ अभ्यासीका कभी वैमनस्य हो चुका हो, या जो किसी कारण से अभ्यासी को अपना विरोधी समझता हो, तो उसके लिये तो वह अभ्यासी विशेषतया और बार बार

परमात्मा से सच्चे दिल से प्रार्थना करे, कि **'इस मेरे भाई का दुःख दूर करो'** । प्रारंभ में अपने मित्रोंके लिये, सम्बन्धीओं के लिये, या जिनसे अपना कुछ स्वार्थ हो, और अपने लिये, प्रार्थना नहीं करनी चाहिये । क्यों कि इनके लिये ज्यादा उच्च मनो अवस्थाकी जरूरत है । इस उपर्युक्त अभ्यास से जब धीरे धीरे सब जीवोंमें समता का भाव, सब संसार के लिये प्रेम का भाव उसमें दृढ हो जायगा, तब अपने मित्रों और अपने लियेभी प्रार्थना की जासकती है। जब कभी ऐसी निःस्वार्थ प्रार्थनायें उसकी सफल हुवा करेंगी, तो उसमें उत्साह बढेगा । परन्तु अहंकार मनमें न आने देना चाहिये । प्रार्थना की सफलता को भजनीय देव का प्रसाद ही समझना चाहिये । इस बात की शिक्षा अभ्यासी को अपने आप ही समय पर मिल जावेगी । प्रार्थनाको निस्वार्थ बनाने की एक और विधि भी है । अभ्यासीओं को उसका भी परीक्षण करके देखना चाहिये। किसी प्रार्थना को तीव्रतासे करके उसे एक दम छोड दिया जाय-बिलकुल भुला दिया जाय मनमें सचमुच ऐसी उदासीनता ले आयी जाय, कि यह सफल हो या न हो, मुझे कुछ मतलब नहीं । यह बात सुनने में जितनी आसान है, उतनी करनेमें नहीं है । उदासीनता का भाव लाना बडा कठीण है । कुछ परीक्षणों से देखा गया है, कि इस प्रकारसे की गयीं इच्छायें पूरी हो जाती हैं। यह भी प्रार्थना में स्वार्थ को निकालने का एक तरीका है । अपने मित्रों के विषयमें या अपने विषयमें प्रार्थना करते हुवे ऐसा करना बहुत अच्छा है।

अन्तमें मैं वह अभ्यास लिखता हूं जिसको कि अपने विषयमें स्थिर प्रार्थना करनेके लिये करना चाहिये । स्थिर प्रार्थनासे मेरा मतलब उस प्रार्थनासे है, जिसमें आप किसी लक्ष्य को पहुंचने के लिये प्रतिदिन उस लक्षित वस्तु को मांगते हैं, अर्थात् जिसमें आप अपने सब जीवनके परिश्रम से प्राप्त होने वाली वस्तु की प्रार्थना करते हैं, और उस द्वारा अपने जीवन में सफल होना चाहते हैं । यह विधि कुछ परिवर्तनसे अन्य प्रकारकी वस्तु के प्राप्त करनेमें भी प्रयोग की जा सकती है । यह विधि मैंने एक प्राणायाम की विधि बताने वाली पुस्तकसे ग्रहण की है । इस की विधि देखनेसे पता लगेगा, कि इसे प्राण द्वारा प्रार्थना करना भी कहा जा सकता है ।

(१२) प्राणकी सहायतासे प्रार्थना ।

प्रातःकाल या सायंकाल यह अभ्यास करना उत्तम है । खडे होकर एक दो दीर्घ श्वास लेने चाहिये, जिससे की मन स्थिर हो जाय । फिर दो चार मिनिट तक यह कल्पना स्थिर करनी चाहिये , कि मैं एक प्रेम का सूर्य हूं और मुझसे प्रेम की किरणें वेगसे सब संसार में फैल रही हैं । केवल इसी लोक में नहीं , किन्तु सब लोक लोकान्तरोंतक पहुंच रहीं हैं । संसार में प्रेम ही प्रेम का राज्य है । मेरी प्रेम की किरणें सब कहीं व्याप्त हो रही हैं ! यह कहने की जरूरत नहीं , कि यदि अभ्यासी के मनमें संसार के किसी प्राणी से द्वेष का भाव है, तो उसे इस क्रिया से पहिले

ही सर्वथा निकाल देना चाहिये और उसकी जगह प्रेम का भाव स्थापित करलेना चाहिये। संसार में सब हमारे मित्र ही होने चाहियें। इस क्रिया से केवल यह चौथी शर्त ही पूरी की जाती है अर्थात् सब संसार को अपने अनुकूल बनाया जाता है। जब यह चित्र पूरा स्थिर हो जाय -जब अभ्यासी का मन कहे, कि संसार में उसका प्रेम भर गया है,और द्युलोक और पृथिवी लोक में कोई भी वस्तु नहीं है, जो कि उसके प्रतिकूल हो, तब वह अपनी अभीष्ट वस्तुका चित्र मनमें खिंचता हुवा अन्दर दीर्घ गंभीर श्वास ले। ऐसा अनुभव करे,कि उसकी प्रेम के किरणें उसकी अभीष्ट वस्तुको लोक लोकान्तरमें जहां भी कहींसे वह आ सकती हों, वहां से ला रहीं हैं। सचमुच विश्वास करे, कि वह आ रही हैं। अब कोई बाधा नहीं है—वह धीरे धीरे मेरे समीप पहुंच रही है। इस प्रकारका अभ्यास प्रतिदिन करें, तो वह अपने जीवन के लक्ष्य में जरूर सफल होगा।

प्राणद्वारा प्रार्थना करनेके विषय में एक सामान्य बात यह है, कि जब श्वास अन्दर आवे, तो यह अनुभव करें, कि अभीष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो रही है, और जब बाहर श्वास जावे, तब यह अनुभव करे, कि विरोधी वस्तु बाहर निकल रही है। वेदमें बहुत स्पष्ट लिखा है कि

दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातुयद्रपः।

उदाहरण के लिये यदि आपको दर्द है, तो श्वाससे शान्ति अन्दर लाइये और प्रश्वास से दर्द बाहर निकालिये! सामान्यतः सब अस्वस्थता के लिये कहा जा सकता है, कि श्वास द्वारा बल (दक्ष) अपने अन्दर लाइये और प्रश्वास द्वारा अस्वस्थता कारक मल (दोष)को बाहर निकालिये। यह विचार प्रार्थना की सफलता में बहुत सहायता देगा।

योग विषयक अध्ययन से एक और संकेत इस विषयमें मिलता है,उसे भी मैं यहां लिख देता हूं। वह यह है कि, जब सुषुम्ना नाडी चल रही हो, तब श्वास के अन्दर आते हुवे जो परमात्मा से प्रार्थना की जाती है, वह अवश्य सफल होती है। योग की तरफ रुचि रखनेवाले अभ्यासीओंको इसका भी अनुभव लेना चाहिये। इस प्रकार प्रार्थना सफलता के लिये आवश्यकगुण और उनके साधनों का प्रकरण यहां समाप्त होता है।

(१३)सफल प्रार्थनाओंके कुछ उदाहरण।

अन्तमें मैं पाठकों को इस विषय में श्रद्धा दिलाने के लिये कि प्रार्थना अवश्य सफल हो सकती है, तथा उन्हें उत्साह दिलाने के लिये तीन चार प्रार्थना सफलता के सच्चे उदाहरण वर्णन कर देना चाहता हूं। यदि कोशिश की जाय, तो ऐसे सैकडों बल्कि हजारों उदाहरण इकठ्ठे किये जा सकते हैं। इस लेख के पाठकों में से बहुतों को आस पास के महात्माओंके विषय की ऐसी बहुत सी बातें मालूम होंगी। जिस किसी को इस प्रकारकी कहानियां जानने की और अन्वेषण करने की इच्छा हो, वह कुछ प्रयत्न से इस विषयक बहुत सा मसाला तैय्यार कर सकता है। यहां हम केवल नमूनेके तौर पर चार घटनाओंका वर्णन करते हैं। आशा है कि पाठकों से ही

कुछ लोग स्वयं ही अपने हृदय को शुद्ध करके और कुछ अभ्यास करके इस विषय का अपना अनुभव प्राप्त करेंगे ।

१ ली घटना ।

कई बालकों के साथ यह घटना हुई है ! यह बात ही ऐसी है, कि बहुतों के साथ हो सकती है। एक बालक अपनी मां से दूध और बताशे मांग रहा था। उसने किसी अमीर लडके को दूध बताशे खाते देखा था । उसकी मां ने कहा कि बेटा हम रीब हैं, हमें ये चीजें कहां से नसीब हों। बच्चे ने जिद की। बच्चे ने कहा कि फलाना लडका तो दूध बताशे खाता था। मां ने कह दिया कि उसेतो परमात्मा ने दिये,तुझे नहीं दिये। सरल हृदय बालक ने गंभीरता पूर्वक पूछा कि,यदि मैं मांगू तो मुझेभी परमात्मा देगा। मां शायद चुप रही। बालक ने कहा " नहीं,मैं जरूर मांगूंगा, परमात्मा कहां रहते हैं"। मां क्या जबाब देती! कुछ देर में बातोंमें मांने हंसी से कह दिया कि परमात्मा को चिठ्ठी लिखदे, वह तुझे दे देगा। बालक के बनावट रहीत हृदयने इसे सच माना और विश्वास किया, कि चिठी लिखने पर परमात्मा जरूर देगा, जैसे कि मेरे उस साथी को दिया है। उसने बडे प्रेमसे चिठी लिखी लिफाफेमें बन्द की, उस पर पता लिखा कि, **"यह चिठ्ठी परमात्मा को पहुंचे"** और पत्र पेटक में डालने चल दिया। हम में से कौन विश्वास कर सकता है, कि वह चिठ्ठी परमात्मा के पास कभी पहुंचेगी और उसकी प्रार्थित वस्तु उसे मिलेगी। परन्तु उस बालक का विश्वास था, चाहे आप उसे झूटा विश्वास कहें। और विश्वास की अन्तमें जीत हुई। वह बालक छोटा था, पत्र पेटक के मुंहतक उसका हाथ नहीं पहुंचता था। पास से जाते हुवे एक मनुष्य ने उसकी यह हालत देखी और वह चिठ्ठी स्वयं पत्र पेटक में डालनेके लिये उसके हाथसे ले ली। परन्तु अचानक उसकी नजर ऊपर लिखे हुवे पते पर पड गयी। वह विस्मित हुवा। कौतुहल वश उसने वह चिठ्ठी फाडकर पढी और पढकर जेबसे दो रुपये निकाल कर बोला, कि चलो मैं तुझे दूध बताशे दूं। बालक ने देखा कि परमात्मा ने उसे दूध बताशे दे दिये !

ऐसे ही घटना दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध पुरुष के बालकपन में भी हुई थी भेद केवल इतना था कि, वहां दूध बताशे की जगह कोई और वस्तु मांगी गयी थी, और चिठ्ठी किसी और घटना से किसी आदमी के हाथ में लगी थी।

दूसरी घटना ।

दूसरी घटना मैं "एकाग्रता व दिव्य शक्ति" नामक पुस्तकसे उद्धृत करता हूं। यह घटना जिनके साथ हुई है उनका नाम है डाक्टर जौसफ स्मिथ। वे कई वर्षों से वारीङ्गटन में एक प्रधान डाक्टर हैं। उनके ही शब्दोमें हम यह घटना पाठकों को सुनाते हैं।

"कोई चालीस वर्षों की बात है, कि मैं पैकथ में रहा करता था। एक दिन मैं शाम केवल बैठा हुवा पुस्तक पढ रहा था, कि मुझे यह आवाज सुनाई दी-'जेम्ज गैन्डी के घर रोटी भेजो, परन्तु मैं ने उसपर कुछ ध्यान न देकर

पढना जारी रखा। इतने में फिर आवाज आ थी' जेम्ज गैंडी के घर रोटी भेजो'। इस पर भी मैंने पुस्तक को न छोडा, परन्तु फिर तीसरी बार बडे जोरसे आवाज आयी कि' जेम्ज गैंडी के घर रोटी भेजो'। इस बार आवाज के साथ ही मेरे मनमें एक आकस्मिक वेग उत्पन्न हुवा उसे मैं रोक न सका और उठ खडा हुवा। उठकर मैं ग्राम में गया और मैंने रोटी मोल ली। दुकान के द्वार पर एक लकडा खडा था, मैं ने उससे पूछा कि, तुम जेम्ज गैंडीका घर जानते हो? उसने उत्तर दिया-हां मैं जानता हूं। मैंने उसे दो पैसे देकर उसके हाथ जेम्ज गैंडी के घर रोटी भेज दी और कहला भेजा कि एक सज्जन ने यह रोटी भेजी है। श्रीमती गैंडी वैजलियन मैथोडिस्ट चर्चके संबन्ध में मेरी ही श्रेणी की सभासद थीं। मैं दूसरे दिन प्रातः देखने गया कि इसका क्या परिणाम हुवा। मेरे जाने पर उसने बताया कि कल शाम को एक विचित्र ही घटना घटी। वह कहने लगी, कि मैं बच्चों को सुलाना चाहती थी, परन्तु वे रोटी मांगते और रोते थे। मेरे पास रोटी नहीं थी; क्यों कि मेरे पति को तीन चार दिनसे काम नहीं मिला था। तब मैं ईश्वर से प्रार्थना करने लगी कि, "हे पिता! हमारे खानेके लिये कुछ भेजो। आश्चर्य है, कि मेरी प्रार्थना के थोडी ही देर बाद एक लडका रोटी लेकर मेरे द्वार पर पहुंचा"। मैं ने श्रीमती गैंडी से भली भांति पूंछने पर पता लगाया, कि उसके प्रार्थना करने और मेरे आवाज-सुनने का समय बिलकूल एक ही था।

तीसरी घटना।

तीसरी घटना मेरे एक मान्य मित्रके साथ संबन्ध रखती है। जब वे लगभग आठ वर्षोंके बालक थे, उस समय की निम्न कथा उनको पिताजी सुनाते हैं। मेरे पुत्रको बहुत जोर का ज्वर आगया। इलाज के लिये कई लाहौर के प्रसिद्ध डाक्टर आये। उन्होंने कहा कि। यह टाईफाइड नाम का मियादी बुखार है जब आठ दस दिन बीत चुके और ज्वरमें कुछ अन्तर न आया, तब मैं ने बालक के आचार्य जी श्रीयुत रघुनाथ जी से दुःखी होकर कहा कि, आप बालक की रक्षा कीजिये। श्रीयुत रघुनाथ जी योगी और सच्चे महात्मा थे। उन्होंने कहा, अच्छा, मैं एक तरकीब बताता हूं, वह करो। उन्होंने पहिले पूछा कि आज आप शुद्ध हैं-ब्रह्मचर्य से रहे हैं। मैंने कहा नहीं। तब उन्होंने कहा कि "अच्छा, और किसीका नाम बताओ जो कि इस बालक से प्रेम रखता हो और शुद्ध भी हो"। तब इस बालक के चाचाजी इस काम के लिये तैय्यार हुवे। वे सचमुच अबतक इस महाशयमें बहुत प्रेम रखते हैं। अस्तु, इन्हे आचार्यजी ने एक मंत्र बताया, (संभवतः वह गायत्री मंत्र था) और कहा कि जलमें खडे होकर इसके इतने जप करो और फिर वहीं से पानी भर लाओ। ऐसा ही किया गया। फिर उस पानी में आचार्य जी ने भी फूंक मार कर कुछ मन में पढा और कहा, कि इस पानी के लोटेको नीचेसे हथेली पर रख कर और ढककर ले जाओ, रास्ते में किसीसे कुछ बात मत करो

और बालक को इसमें से जितना वह पानी पी सके, पिला दो । बालक को लगभग दो प्रहर, के समय यह पानी पिलाया गया और रात के प्रथम हिस्से में बालक का ज्वर उत्तर गया । बालक को प्राय: १०४ दर्जेका ज्वर रहा करता था ।

और पाठकों को यह भी विदित होगा कि टाइफाइड ज्वर इक्कीस दिनसे पहिले नहीं उतरा करता । कमसे कम डाक्टर लोक ऐसा ही मानते हैं

इस उपर्युक्त घटना में पहिले जप द्वारा शुद्धता और अनुकूल अवस्था प्राप्त की गयी है, और फिर प्रार्थना के मानसिक भाव को जलद्वारा पहुंचाया गया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

चौथी घटना ।

एक महात्मा आजकल युक्त प्रान्तके एक पुराने ऐतिहासिक नगर के पास रहते हैं । वे पहिले एक प्रतिष्ठित सरकारी ओहदेपर रह चुके हैं, तथा आंग्लभाषा, फारसी तथा कुच्छ संस्कृत के भी विद्वान हैं । उनके संबन्ध में कई घटनायें सुनाई जा सकती हैं । उनमें से एक मैं नीचे देता हूं । --

एक वह उनपर कुछ ऋण चढ गया था और उत्तमर्ण लोग उन्हें दिक कर रहे थे, कि हमें रुपये दो । उन पर ऋण होने का कारण यह था, कि वे बडे 'दानी' थे । अपनी सब तनख्वाह दे चुकने के बाद भी यदि कोई दुःखी उनसे मांगता था, तो वे दूसरों से ऋण लेकर दे देते थे । अब जब कि वे अपने को इस प्रकार दुःखी अनुभव कर रहे थे, और उनके पास ऋण चुकाने के लिये एक पैसा भी नहीं था, तब वे एक रातको परमात्मा से प्रार्थना करने लगे, मैं पाठकों को यह बतलाऊं, कि वे अत्यन्त भक्त पुरुष हैं, और **'राम'** नाम से परमात्मा का भजन करते हैं । प्रातःकाल क्या हुवा कि एक पुरुष जो कि दूसरी जातिका था, उनके पास रुपयों की एक थैली लेकर आया और रखकर जाने को हुवा । उससे पूछा गया कि यह क्या? उसने कहा कियहआपका रुपायाहै।मुझे रात्रि यह स्वप्न आया है, कि इतने रुपये आपको दे दूं । महात्माने कहा कि, नहीं, इन्हें ले जाओ । उसने कहा मैं इन्हें ले जा नहीं सकता, मुझे इतने जोरसे आपके यहां पहुंचाने की प्रेरणा हुई है कि मैं लौटाने का विचार तक मन में नहीं ला सकता, यह कहता हुवा चला गया । उसके जाते ही वे उत्तमर्ण लोग आ पहुंच । उस थैली में देखा भी नहीं गया था, कि कितने रुपये हैं । थैली उन्हें देदी गई, उन लोगोंने रुपये निकाल कर गिने । वे रुपये आना पैसे तक पूरे उतने थे, जितने कि सूद सहित उन लोगों को चाहिये थे ।

पाठक इन चारों उदाहरणों में देखेंगे, कि प्रार्थना किन भिन्न भिन्न प्रकारों से पूरी की जाती है, और प्रार्थना में सचाई की कितनी जरूरत है । इन उदाहरणों में क्रमशः हृदय की शुद्धता, प्रार्थना की तीव्रता, मनोबल, और भक्तिकी प्रधानता है । इन्हीं के ये चारों घटनायें क्रमशः उदाहरण हैं ।

सूर्यभेदन व्यायाम ।

योग के आसनों को एक दूसरे के साथ मिलाकर करनेसे "सूर्य भेदन" व्यायाम की पद्धाति सिद्ध होती है। शरीरका मेद दूर करने के लिये इस व्यायाम के समान और कोई साधन नहीं है।

ऋषि मुनियों के बलवर्धक और आरोग्य साधक व्यायामों में "सूर्य भेदन व्यायाम" सबसे मुख्य और सबसे सुगम है।

इस समय सहस्रों मनुष्य इस से लाभ उठा रहे हैं। इस लिये आप स्वयं इस व्यायाम को करके आरोग्य प्राप्ति पूर्वक अपना बल बढाइये।

इस व्यायामसे दो मास के अंदर ही शरीर सुडौल बनता है।

(१) सूर्य भेदन व्यायाम का पुस्तक।

मूल्य ।=) छः आने।

(२) योगके आसन।

मूल्य. २) दो रु.

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

स्वाध्याय के ग्रंथ ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय ।
(१) य. अ. ३० की व्याख्या । नरमेध ।
मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन । १)
(२) य. अ. ३२ की व्याख्या । सर्वमेध ।
" एक ईश्वरकी उपासना । " मू. ॥)
(३) य. अ. ३६ की व्याख्या । शांतिकरण ।
" सच्ची शांतिका सच्चा उपाय । " मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला ।
(१) रुद्र देवताका परिचय । मू. ॥)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता । मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार । मू. =)
(४) देवताविचार । मू. ≡)
(५) वैदिक अग्नि विद्या । मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला ।
(१) संध्योपासना । मू. १॥)
(२) संध्याका अनुष्ठान । मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या । मू. १)
(४) ब्रह्मचर्य । मू. १।)
(५) योग साधन की तैयारी । मू. १)
(६) योग के आसन । मू. २)
(७) सूर्यभेदन व्यायाम । मू. ।=)

[४] धर्म--शिक्षाके ग्रंथ ।
(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा । प्रथमभाग -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा । द्वितीयभाग =)
(३) वैदिक पाठ माला । प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला ।
(१) वेदका स्वयं शिक्षक । प्रथमभाग । १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक । द्वितीय भाग । १॥)

[६] आगम--निबंध--माला ।
(१) वैदिक राज्य पद्धति । मू. ।-)
(२) मानवी आयुष्य । मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता । मू. ॥।)
(४) वैदिक चिकित्सा--शास्त्र । मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा । मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प--विद्या । मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय । मू. ॥)
(८) वेदमें चर्खा । मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय । मू. ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता । मू. ॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ । मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र । मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न । मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने । मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या । मू. ≡)
(१६) वैदिक जलविद्या । मू. =)
(१७) आत्मशक्ति का विकास । मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला ।
(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या ।
. ॥=)
(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला ।
(१) शतपथ बोधामृत । मू. ।)

मंत्री--स्वाध्याय--मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :-- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा).

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक ७
क्रमांक ५५



आषाढ सं. १९८१
जुलइ स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

——:०:——

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

महाभारत।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है। १२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म. आ. से ६) और वी. पी. से ७) रु. है।

इस में मूल महाभारत और उसका सरल भाषानुवाद प्रसिद्ध होता है।

इस समय तक आधा आदिपर्व ग्राहकों के पास पहुंच चुका है और क्रमशः एक एक अंक ग्राहकों के पास जा रहा है।

आप अपना नाम ग्राहक श्रेणीमें लिखवा कर अपना चंदा म. आ. से ६) रु. भेज दें तथा अपने मित्रोंको ग्राहक बनने के लिये उत्साह दीजिये।

महाभारत के पठन से लाभ।

(१) आर्यजातिका अत्यंत प्राचीन इतिहास विदित होगा।

(२) आर्यनीति शास्त्रका उत्तम बोध होगा।

(३) भारतीय राजनीति शास्त्रका ज्ञान होगा।

(४) आर्यों की समाजसंस्थाओंकी उत्क्रांतिका बोध होगा ।

(५) आर्य राजशासन पद्धतिका पता लगेगा ।

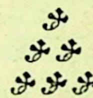
(६) ऋषियोंके धर्मवचनों का बोध होकर सनातन मानव धर्मका उत्तम ज्ञान होगा।

(७) चार वर्णों और चार आश्रमों की प्राचीन व्यवस्था के स्वरूपका पता लग जायगा ।

(८) कई आलंकारिक कथाओंके मूलका पता लग जायगा ।

(९) वैदिकधर्मके प्राचीन आचार विचारोंका ज्ञान होगा और —

(१०) प्राचीन आर्य लोगों का सदाचार देखकर हमें आजकी स्थितिमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इसका निश्चित ज्ञान होगा ।

तात्पर्य हरएक अवस्थामें अपने प्राचीन पूर्वजोंके इतिहास का ज्ञान प्राप्त होनेसे अनन्त लाभ हो सकते हैं ।



इसलिये, आप स्वयं महाभारत का पाठ कीजिये, मनन कीजिये, और बोध प्राप्त कीजिये; तथा दूसरोंको वैसा करनेके लिये प्रेरणा कीजिये ।



शीघ्र ही म. आ. से. ६) रु. भेजकर ग्राहक बन जाईये । पीछेसे मूल्य बढ जायगा ।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल
औंध (जि. सातारा)

वर्ष ५
अंक ७
क्रमांक
५५



वैदिकधर्म

आषाढ
सं. १९८१
जुलाई
स. १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मातृभूमिकी प्रमादरहित रक्षा ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ॥
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

अ० १२।१

(यां) जिस (विश्व--दानीं) सब कुछ देनेवाली (पृथिवीं भूमिं) विस्तृत मातृभूमि की (अ–स्वप्नाः देवाः) सुस्ती न करनेवाले ज्ञानी (अ–प्रमादं) प्रमाद न करते हुए (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं। (सा) वह हमारी मातृभूमि (प्रियं मधु) प्रिय मधुर रस (नः) हमारे लिये (दुहां) देवे (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) तेजसे संयुक्त करे।

(१) हरएक मनुष्य को अपनी मातृभूमिकी रक्षा प्रमाद न करते हुए और सुस्ती को छोडकर करनी चाहिये। (२) मातृभूमि में जो मधुर और पोषक भक्ष्य भोज्य और पेय होंगे, वे सब उस भूमिके पुत्रों को ही मिलने चाहियें।

वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीयकर्तव्य।

(लेखक- श्री. पं. धर्मदेव जी सिद्धांतालंकार)

द्वितीय अध्याय में संक्षेपसे वेदोक्त वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का वर्णन किया जा चुका है । इस अध्याय में सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में वेद क्या कहता है इस विषय का दिग्दर्शन कराना है । अनेक वेदज्ञ विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इस आवश्यक विषय का उचित रीतिसे निरूपण किया है अतः हमें विस्तार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

सूक्ष्म रीतिसे वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का विचार किया जाए तो मालूम हो जायगा कि यज्ञ शब्द के अन्दर प्रायः सब सामाजिक कर्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है । केवल वेदमें ही नहीं प्रायः सभी प्राचीन संस्कृत ग्रथों में यज्ञकी जो इतनी महिमा गाई गई है उस में कुछ विशेष कारण होना चाहिये । यह बात साफ है कि अग्नि के अन्दर सामग्री और घृत डालने का नाम ही वेदादि में यज्ञ नहीं है, इस का अत्यन्त व्यापक अर्थ है । भगवद्गीता के अन्दर यज्ञ की व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने स्पष्ट बताया है कि —

द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ भ० गी० ४।२८

अर्थात् व्रतधारी जितेन्द्रिय पुरुषों में से कई द्रव्ययज्ञ करने वाले होते हैं, कई शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन रूप तपोयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, कई चित्तवृत्ति संयम रूपी योग यज्ञ करते हैं और अन्य कई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। कृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन को यह भी उपदेश दिया है कि निःसन्देह अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किये जाते हैं वे जन्ममरण के चक्र में आदमी को डालने वाले होते हैं पर यज्ञ के लिये जो कर्म किया जाता है वह बन्धन में नहीं डालता, अतः तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥

भ० गी.३।८

इससे स्पष्ट है, कि श्रीकृष्ण का अभिप्राय केवल प्राकृतिक द्रव्यमय यज्ञ से नहीं किन्तु

परोपकार के लिये निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सबको यहां यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। यज्ञ विषयको मुख्यतः प्रतिपादन करने वाले यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में—

"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे"

ये जो शब्द आये हैं वे स्पष्ट तौर पर यज्ञ का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की सूचना देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी अनेक स्थानों पर प्रत्येक शुभ कर्म के लिये यज्ञ शब्दका प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त क्यों कि 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' इस सिद्धान्त के अनुसार सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, यहां यज्ञ शब्दके धात्वर्थपर थोड़ा सा विचार करना अनुचित न होगा।

यज्ञ शब्द यज्-धातु से बनता है जिस का अर्थ धातुपाठमें देवपूजा संगतिकरण दान बताया गया है। वे देव लोग कौन हैं जिनकी पूजा करना यज्ञका प्रधान अङ्ग माना गया है यह एक आवश्यक और कठिन प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। 'विद्वांसो हि देवाः' ऐसा शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें यद्यपि लिखा है और भगवद्गीता के १६ वें अध्यायमें—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

इत्यादि श्लोकों द्वारा दैवी प्रकृति का स्पष्ट वर्णन किया गया है तो भी स्वयं वेदमें आये हुए इस विषयक वर्णन का संक्षेपसे निरूपण किये विना हमें सन्तोष नहीं हो सकता। अतः वेदमन्त्रों के आधार पर देव तथा उन की प्रकृति पर थोड़ासा यहां विचार किया जाता है। ऋ. १० म मण्डल क ६२—६६तकके सूक्त विश्व- देव- विषयक हैं, उनके आधार पर विचार करने में हमें बड़ा सुभीता रहेगा। ६२ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है --

(१) ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः। तेभ्यो भद्रमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

ऋ. १०। ६२। १

अर्थात (ये) जो (यज्ञेन) यज्ञ और (दक्षिणया) दक्षिणा से (समक्ताः) सम्पन्न होकर (इन्द्रस्य) परमेश्वरकी (सख्यम्) मित्रता को और (अमृतत्वम्) मोक्षको (आनशुः) प्राप्त होते हैं ऐसे (अंगिरसः) अग्निके समान तेजस्वी (सुमेधसः) प्रतिभाशाली देवो (वः) तुम्हारा (भद्रम् अस्तु) सदा कल्याण हो तुम कृपा करके (मानवं) साधारण मनुष्य को (प्रति गृभ्णीत) अपनी संरक्षा में ग्रहण करो अर्थात् अपने उपदेश और सङ्ग से उसे उठाओ। इस मन्त्रके अंदर देवों के निम्न लिखित गुण बताये गये हैं।

(१) वे यज्ञ और दानके द्वारा परमेश्वर के साथ अपनी मित्रता करते हैं अर्थात्

शुभकर्मोंके अनुष्ठान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते और उसे अपना सहायक समझते हैं।

(२) उसी भगवान् के आश्रय से वे अन्तमें इस शरीर को छोडने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(३) वे कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय करने वाली मेधा से सम्पन्न होते हैं।

(४) वे परोपकार में तत्पर रहते हुए अपना और अन्यों का कल्याण करते हैं। इसी ६२ वें सूक्तका दूसरा मन्त्र इस प्रकार है।

ये ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्य-प्रथयन् पृथिवीं मातरं वि। सुप्रजा-स्त्वमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

ऋ० १०।६२।३.

अर्थात् (ये) जो (ऋतेन) सत्यभाषण सत्य व्यवहार अथवा ज्ञान के द्वारा (दिवि) आध्यात्मिक विज्ञान रूप प्रकाश में (सूर्यम्) आत्मिक अन्धकार को दूर करने वाले परमेश्वर को (आरोहयन्) उदयकराते हैं-परमेश्वरीय दिव्य ज्योति का दर्शन करते हैं (ये) जो (पृथिवीं मातरम्) मातृभूमि अथवा उसके यश को (वि अप्रथयन्) विस्तृत करते हैं-मातृ भूमिके मुख को उज्ज्वल करते हैं ऐसे (अङ्गिरसः) अग्निके समान तेजस्वी देवो (वः) तुम्हारी (सुप्रजास्त्वम् अस्तु) उत्तम सन्तान हो और तुम कृपा करके (सुमेधसः) उत्तम मेधासे स्वयं युक्त होते हुए (मानवं प्रतिगृभ्णीत) मनुष्य मात्र को अपनी संरक्षा वा शरणमें ग्रहण करके उसे उन्नत करो। इस मन्त्र में 'दिवि सूर्यमारोहयन्' का भाव बहुत स्पष्ट नहीं तो भी ऊपर कहा हुआ अर्थ सर्वथा सम्भव है। शेष मन्त्र में देवों के विषय में मुख्यभाव ये हैं (१) वे आत्मिक ज्योति को प्राप्तकर के आन्तरिक अन्धकार को दूर करते हैं, (२) वे मातृ- भूमि के यश का विस्तार करते हैं, (३) वे स्वयं बुद्धि और ज्योति से सम्पन्न होकर मनुष्य मात्रको उन्नत करने का यत्न करते हैं। इस विषय में यजु० अ० ३का ३३ वां मन्त्र देखने योग्य है जो देवों का ऐसा वर्णन करता है—

"ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्" ॥

"य० ३।३३

अर्थात् (ते) वे सब देव (अदितेः पुत्रासः) स्वतन्त्रता देवी के अथवा अदीन प्रभावशालिनी माता के पुत्र हैं, वे (हि) निश्चयसे (मर्त्याय) मनुष्यके लिये (प्रजीवसे) उत्तम और दीर्घ जीवन व्यतीत करने के वास्ते (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः यच्छान्ति) ज्योति-प्रकाश-देते हैं। इस मन्त्र में देवों के विषय में कहा है, कि (१) वे स्वतन्त्रता देवीके पुत्र अर्थात् अत्यन्त स्वतन्त्रता प्रेमी हैं, (१) मनुष्य अच्छीरीति से देरतक जी सकें इस के लिये वे उन्हें उत्तमज्ञान रूपी प्रकाश लगातार देते रहते हैं उससे भी देवों की परोपकारार्थ प्रवृत्ति स्पष्ट मालूम होती है।

(४) देवों की प्रकृति समझने के लिये

ऋ. १० । ६६ । १ भी विशेष मनन के योग्य है अत: उसका उल्लेख अनुचित न होगा —

"देवान् हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये
ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्र-
ज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥"

अर्थात् (स्वस्तये) कल्याणके लिये (बृहच्छ्रवसः) बडी कीर्तिवाले यशस्वी (ज्योतिष्कृतः) प्रकाश करने वाले अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले (अध्वरस्य) अहिंसामय व्यवहारका (प्रचेतसः) बोध कराने वाले (देवान् हुवे) ज्ञानियों को मैं निमन्त्रण देता हूं। (ये) जो (ऋतावृधः) सदा सत्य का पक्ष पोषण करने वाले(विश्ववेदसः) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वा ज्ञान से युक्त (अमृताः) आत्मिक अनुभव के कारण अपने को अमर मानने वाले (इन्द्र ज्येष्ठाः) सर्वैश्वर्ययुक्त परमात्मा को ही सब से ज्येष्ठ अथवा बड़ा स्वीकार करने वाले देव (प्रतरं) अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ (वावृधुः) वृद्धि को प्राप्त करते अथवा उन्नति करते हैं। इस मन्त्रमें देवों की प्रकृति के विषयमें निम्न लिखित बातें कही हैं--

(१) देव अहिंसामय व्यवहार का बोध कराते हैं।

(२) वे सदा सत्यका ही पक्ष लेते हैं।

(३) स्वयं ज्ञानी होते हुए वे अन्यों को ज्ञान देते हैं। इन मन्त्रों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर देवों के जो विशेषणादि आये हैं अब उन का थोडासा विचार करेंगे। ऋ. १०।६३।४ में देवों के लिये "**नृचक्षसः, अनिमिषन्तः, ज्योतीरथाः, अनागसः**" ये शब्द आये हैं जिन के द्वारा देवों की प्रकृति के विषय में निम्न सूचना मिलती है।

(१) **नृचक्षसः** —मनुष्यों के व्यवहार का अच्छी प्रकार निरीक्षण करने वाले और उन्हें शिक्षा देने वाले।

(२) **अनिमिषन्तः**—कभी प्रमाद न करने का भाव इस शब्दके अन्दर है लोकहित में देव लोग कभी आलस्य प्रमाद नहीं करते यह तात्पर्य है।

(३) **ज्योतीरथाः**— प्रकाश रूपी रथ पर देव लोग बैठते हैं अर्थात् आन्तरिक ज्योति आत्मिक प्रकाश को प्राप्त करके सदा उस के आश्रयसे वे सब कार्य करते हैं। रथ का अर्थ रमण करने वाला भी हो सकता है।

(४) **अनागसः**--- अपराध अथवा पाप रहित सदा धर्म मार्ग पर चलने वाले।

ऋ. १०।६३। में देवा के लिये '**प्रचेतसः**' तथा '**विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः**' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। **प्रचेतसः** का अर्थ ज्ञानी स्पष्ट ही है। **मन्तवः** यह शब्द मन् धातुसे बना है जिस का अर्थ मनन करना अथवा अच्छी प्रकार विचार करना है। वाक्य का अर्थ यह होगा कि जो (स्थातुः) स्थावर, (जगत :) जंगम (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् के (मन्तव :) हित का विचार करने वाले हैं।

ऋ १०.६३।१२ में "आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये" ये शब्द आये हैं जिन में देवों से प्रार्थना है कि हे (देवा:) ज्ञानियो (द्वेषः) द्वेषभाव को (अस्मद्) हमारे से (आरे युयोतन) निकाल कर दूर फैंक दो और (स्वस्तये) कल्याण के लिये (नः) हमें (उरुशर्म यच्छत) बडे उत्तम सुखका दान करो। इस प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्राय है कि देव लोग किसी से द्वेष नहीं करते इसी लिये उनके लिये अनेक स्थानों पर अद्रुहः आदि शब्द आये हैं। अथर्व वेदमें स्पष्ट ही—

'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ।

आदि मन्त्रों द्वारा देवों की अद्रोह--प्रेम-की प्रकृति का वर्णन किया गया है। ऋ.१० ६४।७ में देवों के विषय में कहा है 'ते हि **देवस्य सवितुःसवीमनि क्रतुं सचन्ते साचितः सचेतसः** ॥ " जिसका अर्थ यह है कि(ते) वे देव (हि) निश्चयसे (सवितु: देवस्य) सर्वोत्पादक जगदीश्वर की(सवीमनि) शरण में रहते हुए (साचितः) ज्ञानसम्पन्न और (सचेतसः) समान चित्त अर्थात परस्पर प्रीति भाव को धारण करते हुए (क्रतुं सचन्ते) शुभकर्म का अनुष्ठान करते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि सब के सब देव एक ही परमेश्वर की उपासना करते और परस्पर प्रेमभावको धारण करते हुए परोपकारार्थ उत्तम कर्मों के अनुष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं।

ऋ. १०।६५।३ में देवों के लिये **ऋतज्ञाः ऋतावृधः सुमित्र्याः** इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिन के अन्दर निम्न भाव हैं-

(१) देव ऋत अर्थात् सत्य अथवा अटल प्रकृति नियामों को जानने वाले हैं।

(२) देव सत्यको जानते हुए उसी की सदा वृद्धि करते हैं वे सत्यके ही पक्षपाती हैं।

(३) देव सब के साथ मित्रता धारण करते हैं उन की मित्रता सच्ची मित्रता होती है जिस का उद्देश्य दूसरों को उन्नति मार्ग पर चलाना है।

ऋ.१०।६५।६ में देवों के विषय में **ऋतावृधः ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते** ' ऐसा कहा है। ऋतावृधः की व्याख्या की जा चुकी है, दूसरे शब्दों का अर्थ यह है कि देव लोग ऋत अर्थात् जगत् में कार्य करने वाले अटल नियमों के योनि-मूल कारण वा व्यवस्थापक परमेश्वर का सदा चिन्तन करते रहते हैं।

ऋ. १०।६५।११में **'आर्याव्रता विसृजन्तो अधिक्षमि'** ये शब्द देवों के बारे में आये हैं जिन का तात्पर्य यह है कि (१) देव लोग आर्य अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ सदाचारी हैं।

(२) देव (अधिक्षमि) पृथिवी पर (व्रता विसृजन्तः) उत्तम सत्य भाषणादि व्रतों का विशेषरूपसे पालन करने वाले हैं।

मन्त्र १४ में देवों को 'अमृता ऋतज्ञाः, मनोर्यजत्राः, रातिषाचः, अभिषाचः, स्वर्विदः इन् शब्दों से पुकारा गया है। पहले दो की व्याख्या हो चुकी है शेषका अर्थ इस प्रकार है

मनोःयजत्राः= मनुष्य मात्र के पूजनीय।

रातिषाचः= दानी (रा-दाने)

अभिषाचः= सज्जनों के साथ अच्छी प्रकार मिलनेवाले [पच-- समवाये]

स्वर्विदः= सुख जिस प्रकार प्राप्त हो सकता है उस बात को जानने वाले।

इन सब विशेषणों पर बिचार करना चाहिये ॥

ऋ. १०।६७।२ में देवों के लिये '**ऋतं शंसन्तः, ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः॥**' ये शब्द आये हैं जिन का भाव यह है कि (१) देव लोग सदा सत्य का उपदेश करते हैं (२) कुटिलताका परित्याग करके वे ऋजु अर्थात सरल मार्ग का ही सदा निरन्तर ध्यान करते हैं (३) वे प्रकाश के पुत्र हैं और स्वार्थ भाव रूपी असुर के वीर अर्थात् मारने वाले हैं। प्रकाश पुत्र से अभिप्राय आत्मिक ज्योति और विद्यारूपी प्रकाश से मालूम होता है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डलके ३ य सूक्त के सातवें मन्त्र में देवों के विषय में निम्न लिखित शब्द आये हैं--

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आगत। दाश्वांसो दाशुष सुतम्॥

इस मन्त्र में कहा है कि देव लोग (ओमासः) सब की रक्षा करने वाले होते हैं,(अव--रक्षणे)(२) देव लोग चर्षणीधृतः अर्थात् सब मनुष्यों को धारण करने वाले होते हैं। चर्षणी का अर्थ मनुष्य निरुक्त में दिया ही है।

(३) दव (दा श्वांसः) दान शील होते हैं। देवों के ये ३ तीन गुण भी ध्यान में रखने योग्य हैं। ऋ १।३।५ में "**विश्वेदेवासो अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः ॥**" ये शब्द आते हैं, जिन में देवों को अप्तुरः कहा है। इस शब्दका अर्थ कर्मशील है. अप्=कर्म, तुर=त्वरा करने वाले। तूर्णयः में फुर्तीले का भाव है। ऋ १।३।९ में "**विश्वे देवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः ॥** " ये शब्द हैं जिन में देवों के विषय में कहा है, कि वे (१) अहिंसक होते हैं। अस्रिधःका अर्थ अहिंसक प्रसिद्ध ही है। (२) वे कर्म शील होते हैं। श्रीस्वामी दयानन्द जी ने इस पदका 'आसमन्ताच्चेष्टायां माया-प्रज्ञा येषां ते 'अर्थात् कार्य करने में जिन की बुद्धि लगी रहती है ऐसे, यह अर्थ किया है। आस्रिधः का अर्थ उन्हों ने अक्षयविज्ञान युक्त किया है। (३) देव 'अद्रुहः' अर्थात् द्रोह रहित होते हैं।

इन सब वेद में आये हुये देव विषयक वर्णनों पर विचार करके हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि देवों की प्रकृति का श्रीकृष्ण महाराज ने भगवद् गीता के १६ वें अध्याय में जो वर्णन किया है वह वेद के ही आधार पर है। अनेक गुणों का आधार वेद में से यहां दिखाया गया है, शेषका भी दिखाया जा सकता है, पर अत्यन्त विस्तार के भयसे यहां अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। भगवद् गीता के श्लोकों को एक बार फिर उद्धृत करके अगले विषय का विचार किया जायगा।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता॥ भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

इन श्लोकों के अन्दर निर्भयता , चित-शुद्धि , ज्ञान कर्म , दान, दम, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि को देवों की प्रकृति का आवश्यक अङ्ग माना गया है वही वेद का तात्पर्य है। पुराणों में वर्णित गाथाएं देवों के जिस स्वभाव का परिचय देती हैं वह सर्वथा अवैदिक और अनेक स्थानों में घृणित है। अस्तु तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के देवों की पूजा करना ही मुख्यतया यज्ञका अर्थ है। यही वेद के अनुसार **'प्रथम धर्म'** अथवा मुख्य कर्तव्य है। **"तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥"**

अब संगति करण का थोडासा विचार करना आवश्यक है। वेद में इस विषय में बहुत ही उत्तम उपदेश पाए जाते हैं। वेदके अनुसार व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है और इसलिये समाज की उन्नति के लिये अपनी संपूर्ण शक्तियों को लगा देना सब का प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्यके लिये 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानोंपर प्रयोग किया गया है जिस का अर्थ समुदाय अथवा संघ प्रिय है, इस से मनुष्य सामाजिक प्राणी है इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होती है। ऋ. १०।१९१ में संगतिकरण अथवा संघ बनाकर उन्नति करने का 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' इत्यादि मन्त्रों द्वारा अत्युत्तम उपदेश किया गया है जिन में मिल कर जाने अर्थात् उद्देश्यकी पूर्ति के लिये यत्न करने मधुर वाणी बोलने और मनको उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने वा ज्ञान सम्पन्न बनाने का भाव पाया जाता है। इसी सच्ची एकता के भाव को देखिये अथर्व के निम्न लिखित मन्त्रोंमें कितनी उत्तमतासे प्रकट किया गया है-

(१) सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता । सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥

अर्थात् (वः) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (संपृच्यन्ताम्) मिले हुए हों (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिले हुए हों (व्रता) शुभकर्म अथवा सत्यभाषणादि विषयक निश्चय (समु) अविरोधी एक रूप हों। (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान के स्वामी आचार्य अथवा परमेश्वर ने और (भगः) ऐश्वर्य शाली भगवान् ने (वः) तुम्हें (समजीगमत्) मिलाया है केवल ऊपर की एकता से कुछ नहीं बन सकता, जब तक हमारे मन एक न हों, जब तक सभी सत्यभाषण देशसेवादि का व्रत न लें, तब तक सच्ची एकता कभी स्थापित नहीं हो सकती। इसी लिये वेद में मन के अविरोधी होने पर इतना बल दिया गया है। इस के अगले ही मन्त्र में कहा

"संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः" अर्थात् तुम्हारे मन और हृदय का मिलाप होवे! इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में फिर देवों की परस्पर प्रीति का वर्णन करते हुए "इमान् जनान् संमनसस्कृधीह" यह प्रार्थना है जिस का अर्थ यह है कि इन सब पुरुषों को समान मन वाला बनाओ। ऋग्वेद तथा अथर्व वेद दोनो में "समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वःसुसहासात॥" यह मन्त्र आया है जिसके अन्दर फिर संकल्प, हृदय और मन की समानता पर बड़ा जोर दिया गया है। यह बात विशेष तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि वेद में एकताका उपदेश करते हुए सर्वत्र मन और हृदय के अन्दर एकता स्थापित करने पर बल दिया गया है।

(२) ऋ. १।१९१।३ का ही मन्त्र अथर्व ६।६४।२ में थोडे पाठ भेदसे इस प्रकार आया है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥

इस का अर्थ यह है कि (समानो मन्त्रः) सब पुरुषों का विचार समान हो (समितिः समानी) सभा समितियें सब समान हों। अर्थात् उन में प्रवेश करने का योग्यतानुसार प्रत्येक पुरुषको समान अधिकार हो (समानं मनः) सब का मन समान अथवा प्रीतियुक्त हो (एषाम्) इन सब मनुष्यों का (चित्तं समानम्) चित्त समान हो। मैं ईश्वर (वः) तुम सब को (समानेन हविषा जुहोमि) समानरूप से सब भोग्य पदार्थ पृथिवी जल वायु आदि देता हूं, इस लिये तुम सब (समानं चेतः) एक चित्त के अन्दर (अभिसंविशध्वम्) प्रवेश करलो अथवा एक दूसरेके साथ अपना चित्त ऐसा जोड दो कि शरीर अलग अलग होते हुए भी तुम्हारा एक ही चित्त मालूम होवे। सच्ची स्थिर एकता के भाव को कितने जोरदार शब्दों में यहां बताया गया है इस को प्रत्येक विचारक स्वयं जान सकता है। अथर्व ३।३०। म संगति करण के विषयम अत्यन्त प्रभावशाली उपदेश पाये जाते हैं उनम से कुछ की व्याख्या की जा चुकी है शेष भी सुगम और सुप्रसिद्ध हैं अतः यहां इस प्रकरण का विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। वेदम सभा समिति और संसद् इन तीन प्रकारकी सभाओं का स्पष्ट वर्णन आया है जिन से प्रायः ग्रामसभा, नागरिक सभा वा (Municipality) और व्यवस्थापक सभा (council) का ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार संगति करण पर संक्षेपसे विचार करनेके अनन्तर दान विषयक वेद के भावको देखना है। ऋग्वेद दशम मण्डल के १०७ तथा ११७ वे दो सूक्त सम्पूर्ण रूपसे इसी दान की महिमा का वर्णन करने वाले हैं। कृपण पुरुषकी निन्दा करते हुए ऋ. १०।११७।१ में कहा है कि " उतापृणन्मर्डितारं न विन्दते " अर्थात् (अपृणन्)

दूसरोंका पालन न करके केवल अपना पेट भरने वाला पुरुष (मार्डितारं) सुख देने वाले को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता। स्वार्थी कञ्जूस मक्खी चूस की कोई सहायता नहीं करता यह उसका भाव है । दान देने वाले उदार पुरुषको दान रूपी पुण्य के बदले में बहुत कुछ प्राप्त होता है । उसका सब जगह मान होता है, सब शुभकार्यों में संमिलित होनेके लिये उसे निमन्त्रण दिया जाता है, उत्तम उत्तम भोज्य पेय पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, विवाहके लिये सुन्दर कन्या उसे प्राप्त होती है, इस प्रकार दान करनेसे केवल सांसारिक दृष्टिसे भी बडा भारी लाभ होता है इस बात को दोनों सूक्तों में बडे जोरदार शब्दों में बताया गया है । इन दोनों सूक्तोंमें दान से अभिप्राय न केवल द्रव्यके दान, बल्कि विद्या आदि के दान का भी है इसी लिये १०।११७। ७ में कहा है "उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति" अर्थात् देने वाले का ऐश्वर्य कम नहीं होता किन्तु बढता ही है । यह बात विद्या दान के विषय में ही पूरे तौर पर घट सकती है । ऐश्वर्य कभी किसीके पास निरन्तर रहने वाला नहीं है आज एकके पास है तो कल दूसरेके पास चला जाता है । परसों तीसरे के पास, इस प्रकार रथ चक्रकी तरह धन का चक्कर चलता रहता है, इस लिये ऐश्वर्यको अनित्य समझ कर गरीब लोगों की सहायता के लिये उस का उपयोग करना चाहिये इस प्रकार करने से न केवल दूसरे का भला होता है बल्कि दूर-दृष्टि से देरपर जाए तो अपना भी बडा भारी लाभ होता है इस बातको ऋ. १०।११७।५ में

"पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्। ओ-
हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपति
ष्ठन्तेह रायः ॥"

इत्यादि मन्त्रों द्वारा बताया गया है। इतना ही नहीं, मं. ६में कहा है कि कृपण मूर्ख पुरुष के पास जो ऐश्वर्य आता है वह उसके नाश ही का कारण होता है। जो पुरुष अर्यमा अर्थात् न्यायप्रिय धर्मात्मा आदमियों को दान नहीं देता और न आपत्ति के समय मित्रों की धन द्वारा सहायता करता है वह अकेला धन का उपभोग करता हुआ पुरुष वास्तव में पाप को खाता है । देखिये कितने कडे शब्दों में स्वार्थ के राक्षसी भाव की निन्दा की गई है । मैं समझता हूं कि "केवलाघो भवति केवलादी" यह उपदेश न केवल प्राकृतिक भोजन अथवा अन्य द्रव्योंके विषय में है बल्कि आध्यात्मिक भोजन वा Spiritual Food के विषय में भी है। जो पुरुष स्वयं आध्यात्मिक उन्नति कर के सन्तुष्ट हो जाता है और दूसरों के लाभ के लिये कोई काम नहीं करता वह भी मेरे विचार में वैसा ही पाप का भागी है जैसा कि अन्न और द्रव्यका केवल अपना पेट भरने के लिये उपयोग करने वाला कृपण पुरुष । यह मन्त्र अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है अतः इसका यहां पूरा उल्लेख करना अनुचित न होगा।

"मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

इसी मन्त्र की अन्तिम पंक्ति के आशय को लेकर मनुस्मृति में "अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्" और गीता में "भुंजते तेत्वघंपापाये पचन्त्यात्मकारणात्" ये श्लोक आये हैं इन सबका आशय समान ही है । ज्ञान सम्पादन करके जो पुरुष जंगल में जा समाधि लगा कर बैठ जाता है उसकी अपेक्षा उस यथार्थ ज्ञान का प्रचार करने वाला तथा कृपण की अपेक्षा उदार दानी पुरुष हजारों गुणा अच्छा और पूजनीय है । इस बात को १० । ११७ ७ में साफ शब्दोंमें कहा है "वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात् ॥ जिस का शब्दार्थ यह है कि (वदन्) उपदेश न करने वाले की अपेक्षा (वनीयान्) अधिक पूजनीय है (पृणन् आपिः) दान दे कर गरीबों को तृप्त करनेवाला (आपिः) सम्बन्धी (अपृणन्तम्) दान न देने वाला कंजूस को (अभिष्यात्) मातकर देता है उससे अधिक मानप्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

ऋ. १० । १०७।४ में कहा है कि जो दक्षिणा देकर सिद्धि को प्राप्त होता है उसे ही ऋषि ब्रह्मा यज्ञन्यं (याज्ञिक) सामगायी और वेदज्ञ वा ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् । स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥   ऋ १० । १०७ । ६

इस मन्त्र के अन्दर स्पष्ट तौर पर ब्रह्म दान का महत्व बताया गया मालूम होता है । जो पुरुष स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अथवा सामगानादि सीख कर अन्यों को उस का उपदेश देता है ता कि वे भी उससे लाभ उठा सकें वही सच्चा ऋषि विद्वान याज्ञिक और ब्रह्मज्ञानी है न कि वह जो ज्ञान प्राप्त करके घने जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाता है। भगवद् गीता के छटे अध्याय में कृष्ण भगवान ने "अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स सन्यासी च योगी च ननिरग्निर्न चाऽक्रियः। इत्यादि श्लोकोंद्वारा उपर्युक्त वैदिक भावको ही स्पष्ट किया है ।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥   गीता ५ । २५

इस श्लोक को पहिले भी उध्दृत किया जा चुका है यहां ऋषियोंके लिये कहा है कि वे सब भूतों के हित में तत्पर होते हैं क्या इसका यही तात्पर्य नहीं कि वे योगसाधनादि द्वारा दिव्य शक्ति शान्ति और ज्योति का अनुभव प्राप्त करके दूसरों के हितके लिये उनका उपयोग करते हैं, हमारी सम्मति में तो इस श्लोक का यही अभिप्राय है । दान अपना कर्तव्य समझ कर ही करना चाहिये, मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के विचार से नहीं, तथापि राजस लोगों को

दानादि में प्रवृत्त कराने के लिये वेद में 'दाक्षिणावान् प्रथमो हूत एति' आदि प्रशंसात्मक वाक्य कहे गये हैं। किसी भी भावसे प्रेरित हो कर दान किया जाए अन्ततः दान करना धर्म है और दान दे कर केवल अपना पेट भरना पाप और अनर्थ का हेतु है इस भावसे ऋ १० । १०७ । ३ में कहा है

"अथा नरः प्रयत दक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणान्ति ॥"

अर्थात् (बहवः) बहुतसे (प्रयतदक्षिणासः) दान देने का सामर्थ्य रखने वाले पुरुष (अवद्यभिया) पापके भयसे अथवा अनर्थके डरसे (पृणान्ति) गरीबोंको पालते वा दान देते हैं। बहुत से मनुष्य केवल अनर्थ वा पाप के भय से दान करते हैं इसी से यह अर्थापत्ति निकलती है कि कुछ सात्विक पुरुष पापके भय से नहीं किन्तु केवल कर्तव्य समझकर ही दानादि पुण्य कर्म करते हैं। इस प्रकार भगवद् गीता के सात्विक राजस दानों का मूल यहां पाया जा सकता है। दान विना विवेक के नहीं होना चाहिये, किन्तु देश काल पात्रका विचार कर के ही करना चाहिये, ऐसा जो गीतामें सात्विक दान का लक्षण करते हुए कहा गया है वेदमें भी आध्राय, रफिताय, कृशाय, नाधमानाय इत्यादि शब्दों द्वारा जो वस्तुतः गरीब हों जो कृश हों और काम में असमर्थ होनेके कारण मांगने को बाधित हों, उन्हें अवश्य देना चाहिये। जो कठोर हृदय पुरुष ऐसे लोगों को भी दान नहीं देता और उन को तरसाता है उसे कभी कोई सुख देने वाला नहीं मिलता।

"स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते"

इत्यादि कह कर उसी भाव को सूचित किया गया है। केवल पात्रको ही दान देना चाहिये इसी भाव को प्रकट करने के लिये

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचा भुवे सचमानाय पित्वः। नार्यमणं पुष्यति नो सखायम् ॥

इत्यादि शब्द इस सूक्त में आये हैं जिन का अर्थ यह है की अर्यमा अथात् श्रेष्ठ पुरुषों वा संस्थाओं की सहायता करना और आपत्ति के समय मित्रोंकी पूरी मदद करना यह प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है। इस प्रकार दानके विषय में वेद के अत्युत्तम उपदेशोंका निर्देश करते हुए हम कुछ और सामाजिक कर्तव्य का वर्णन करना चाहते हैं।

इस बातके विस्तार में यहां पर जाने की आवश्यकता नहीं कि वेद के अन्दर ब्राह्मणादि चार वर्णों में सारे समाज को बांटा गया है। यद्यपि ऐसे मन्त्र वेद में बहुत नहीं जहां ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन नामों से स्पष्ट वर्णों के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है तथापि अग्नि, इंद्र, मरुत्, पूषा आदि देव नामों से इन चारों वर्णों के कर्तव्योंका वेद में वर्णन किया गया है इस में सन्देह नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ —

अग्निर्ऋषिः पवमानःपाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयम् ॥ "

इत्यादि मन्त्र में अग्नि पदसे ज्ञानी ब्राह्मण का ग्रहण ही सर्वथा उचित मालूम होता है। उस अवस्थामें अर्थ यह होगा कि (अग्निः) अग्नि के समान अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला ब्राह्मण (ऋषिः) तत्त्वदर्शी वा ज्ञानी (पवमानः) सब को पवित्र करने वाला, (पांचजन्यः) पञ्चजन अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद इन सब प्रकार के मनुष्यों का हित करने वाला (पुरोहितः) सत्योपदेष्टा अग्रणी वा नेता है ऐसे (महागयम्) बडे बडे भारी विद्यादि ऐश्वर्य सम्पन्न ब्राह्मण को हम सब (ईमहे) चाहते हैं वा उस से सत्योपदेश करने की प्रार्थना करते हैं।

मैं समझता हूं कि अग्नि का यहां ज्ञानी ब्राह्मण नेता ऐसा अर्थ करने पर मन्त्र की संगति बहुत अच्छी तरह लग जाती है। यह केवल मेरी मन-घडन्त कल्पना नहीं है।

अग्नि देवता विषयक मन्त्रों में इस बात के साफ निर्देश पाए जाते हैं कि वहां भौतिक अग्नि और परमात्माके अतिरिक्त इस ब्राह्मण अर्थका स्पष्ट ग्रहण अभिप्रेत है। उदाहरणार्थ ऋ. ३। १। १७ में अग्नि को सम्बोधन करके कहा है—

" आ देवानामभवः केतुरग्ने,
मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् ॥

अर्थात् हे अग्ने, ज्ञानी ब्राह्मण तू (मन्द्रः) मृदु स्वभाव वाला और (विश्वानि) सम्पूर्ण (काव्यानि) काव्यों को (विद्वान्) जानने वाला हो कर (देवानाम्) अन्य साधारण विद्वानों का (केतुः) झण्डे के समान नायक (अभवः) हुआ है। यहां न तो भौतिक अग्नि का ग्रहण हो सकता है और ना ही मुख्यतः परमात्मा का किन्तु ब्राह्मण नेता का ग्रहण करने पर अर्थ वडा संगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार ऋ. ३। २। ८ में अग्नि के विषय में "रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत्पुरोहितः ॥ " ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ यह है कि अग्नि (बृहतः ऋतस्य विचर्षणिः) बडे विस्तृत सत्य का प्रकाश करने वाला (रथीः) शरीर रूपी अपने रथ का पूर्ण स्वामी और (देवानाम्) विद्वानों का (पुरोहितः) नेता (अभवत्) है। इस मन्त्र का वर्णन भी भौतिक अग्नि और परमात्मा पर पूर्णतया न घट कर के केवल ज्ञानी ब्राह्मण नेता पर ही ठीक तौर पर घटता है।

इसी तरह ऋ. ३६। ४ में अग्निके बारे में कहा है—

व्रता ते अग्ने महतो महानि, तव
क्रत्वा रोदसी आततन्थ। त्वं दूतो
अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्॥ "

अर्थात् हे ज्ञानी ब्राह्मण! (महतः ते) बडे ज्ञानादि गुण युक्त तेरे (महानि व्रता) बडे भारी कार्य हैं। तू (तव क्रत्वा) अपने कर्म से (रोदसी) दोनों लोकों में

(आततन्थ) विस्तृत हो रहा है— तेरे यश का सब लोकोंमें विस्तार हो रहा है (जायमानः) प्रसिद्ध होता हुआ तू (दूतःअभवः) दूत के समान उत्तम ज्ञान को सर्वत्र ले जाने वाला होता है और हे (वृषभ) अत्यन्त श्रेष्ठ गुणकर्मस्वभाव वाले ब्राह्मण तू ही (चर्षणीनाम्) पुरुषों का (नेता) नायक होता है। यहां भी अग्नि के विषय में जो वर्णन है वह केवल ज्ञानी ब्राह्मण पर ही घटसकता है भौतिक अग्नि और परमात्मा पर नहीं। (४) ऋ. ३। ११। १ में --

" अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः। स वेद यज्ञमानुषक्॥ '

यह मन्त्र आया है जिस में अग्नि के विषय में कहा है कि वह (१) होता अथवा हवनादि करने वाला है। (२) वह पुरोहित अथवा हिताहित का उपदेश करने वाला है (३) वह अध्वर अर्थात अहिंसामय सम्पूर्ण उत्तम व्यवहार का प्रकाशक है (४) वह यज्ञ के स्वरूप को अच्छी तरह जानने वाला है। यहां भी साफ है कि अग्नि का ज्ञानी ब्राह्मण अर्थ लेना ही सर्वथा योग्य है। इतने उदाहरणसे यह साफ पता लगता है कि वेद में अग्नि देवता के द्वारा प्रायः ब्राह्मण धर्मों का वर्णन किया गया है। (५) ऋ. १। १४९। ५ में अग्नि के विषय में कहा है कि—

"अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वादधे वार्याणि श्रवस्या। मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश"

इस मन्त्र में अग्नि के लिये द्विजन्मा शब्द का प्रयोग आया है जो भौतिक और परमेश्वर पर नहीं घट सकता किन्तु निःसन्देह ब्राह्मण नेता पर ही चारितार्थ हो सकता है। सारे मन्त्र का अर्थ यह होगा कि (अयं यः द्विजन्मा) यह जो ब्राह्मण है (सः) वही (होता) हवनादि करने वाला अथवा दान देने और लेने वाला है (हु-दानादानयोरादाने च) यह ब्राह्मण (विश्वा) सब (श्रवस्या) कीर्तियुक्त (वार्याणि दधे) श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है (यः मर्तः) जो मनुष्य (अस्मै ददाश) इसे देता है उस को विद्यादि उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विवेचना से पता लगता है, कि मनुमहाराजने —

'अध्यापनमध्ययनं, यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

इत्यादि श्लोकों द्वारा ब्राह्मण के जो छः मुख्य कर्तव्य बताये हैं उसका आधार वेद मन्त्रों पर ही है। ऊपर उल्लिखित मन्त्रोंमें ये सब के सब धर्म आगये हैं। इस प्रकार के सच्चे ब्राह्मणोंकी पूजा करना सारे समाज का कर्तव्य है। ब्राह्मण स्वभावसे ही मृदु अथवा कोमल प्रकृति के होते हैं पर उनको ऐसा जानकर जो उसका अपमान करता है उस समाज और राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है इस बात को अथर्व पञ्चम काण्डके १८ और १९ सूक्तों में बडे जोर दार शब्दों में बताया गया है। कां १० मं. ३ में कहा है,

निर्वै क्षत्रं नयति हन्तिवर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् । यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥

अर्थात् ब्राह्मण को जो तुच्छ मानता है वह मानो एक घोर विषका प्याला पीता है। अपमानित सच्चा ब्रह्मज्ञानी पुरुष दुष्ट क्षत्रियों को अग्नि समान अपने तेज से दाह कर देता है। मं. ५ में और भी स्पष्ट रीतिसे मृदु स्वभाव परन्तु तेजस्वी ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के अपमान करनेका भयङ्कर परिणाम बताया है यथा --

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् । सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभ एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥

अर्थात् जो पुरुष ब्राह्मणको कोमल स्वभाव समझकर स्वयं हिंसक नीच होता हुआ धनके मदमें अज्ञान से मारता वा अपमानित करता है (इन्द्रः) परमेश्वर उस पुरुष के हृदय में मानो शोकसन्तापरूपी अग्नि को जला देता है और उस पुरुष को सब पृथिवी के लोग घृणाकी दृष्टि से देखते हैं। इस मन्त्र में ब्राह्मणोंका प्रकृतिसे कोमल होना स्पष्ट सिद्ध होता है। जिस राष्ट्र में सच्चे तपस्वी, स्वार्थहीन ब्राह्मणों का अपमान होता है उस राष्ट्रकी भी निश्चय से दुर्गति होती है इस विषयमें अथ . ५ । १९ । ८ में स्पष्ट कहा है।

तद् वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् । ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥

अर्थात (तद् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (भिन्नां नावम्) टूटी हुई नौका में (उदकम् इव) जल के समान (आस्रवति) बह जाता है चकनाचूर होजाता है (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्माणम्) ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को (हिंसन्ति) मारते हैं (दुच्छुना) दुर्गति (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र का (हन्ति) नाश कर डालती है। वह राष्ट्र जहां सच्चे ब्राह्मणों का अपमान होता है कभी देर तक उन्नत अवस्था में रह नहीं सकता दुर्गति अथवा हीन अवस्था होते होते अन्त में उसका सत्या नाश होजाता है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि **'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः''** इसी अर्थ को ले कर यहां ब्रह्मज्ञानी के अर्थ ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है न कि जाती मात्रोपजीवी लोगों की पूजा करने से इस का तात्पर्य है। अ० ५। १५। ५ में शस्त्र धारी ब्राह्मण लोग जो विचित्र प्रकार का वाण छोडते हैं वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। तप और मन्युके (Indignation) साथ छोडा जाने के कारण वह बडी दूर तक वह अपना असर करता है ऐसा बताया है, यहां भौतिक शस्त्र के अभिप्राय नहीं किन्तु आत्मिक बल अवलम्बन करते हुए जो स्वतन्त्रतादि के संरक्षण के लिये यथा सम्भव अहिंसात्मक, परन्तु प्रभाव जनक साधन काम में लाये जाते हैं, । उन का तात्पर्य मालूम होता है । इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

क्षत्रियों के कर्तव्य-इंद्र देवता के मन्त्रोंमें प्रायः क्षत्रियोंके कर्तव्यों का निर्देश किया गया है इस में वाद विवाद का बहुत ही कम अवसर है । उदाहरणार्थ ऋ. प्रथम मण्डल का ८० सूक्त देखिये जिस का देवता इंद्र है इस सारे सूक्त में नीच कपटी लोगों के साथ युद्ध करके प्रजा की रक्षा करने आर उन की स्वतन्त्रता के संरक्षण करने के कारण ही इन्द्र की इतनी महिमा है इस इस बात को बार बार स्पष्ट किया गया है । मं. ७ विशेष द्रष्टव्य है-'**इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तंवज्रिन् वीर्यम्। यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्यं मायया वधीरर्चन् ननु स्वराज्यम्॥**' हे इन्द्र बलशाली (वज्रिन्) वज्र धारण करने वाले (अद्रिवः) आदरणीय वीर (तुभ्यं वीर्यम् अनुत्तम्) तेरे अन्दर बडा भारी वीर्य रखा हुआ है। (यद् ह त्यं मायिनं मृगम्) कि तू ने उस कपटी और सज्जनों का पीछा करने वाले पुत्र अर्थात् पापी पुरुषका (मायया) बडी चतुरतासे (स्वराज्यम् अन्वर्चन) स्वराज्य अथवा स्वतन्त्रताके भाव की पूजा करते हुए (अवधीः) मार दिया। माया के छल, बुद्धि ये दोनों अर्थ निघण्टु आदि में दिये हैं। कपटी पुरुषोंको मार कर स्वतन्त्रता संरक्षण करना क्षत्रियों का मुख्य धर्म है यह भाव यहां सूचित किया गया है।

यजु. अ. २० में इंद्र देवता के अनेक मन्त्र हैं प्रायः सब क्षत्रिय धर्म की सूचना देने वाले हैं। उदाहरणार्थ मं. ४८ में कहा है।

आ न इन्द्रो दूरादा च आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः। ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः संगे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्॥

यहां इन्द्र के विषय में निम्न बातें कही हैं (१) इन्द्र उग्र अर्थात् क्रुद्ध कठोर स्वभाव का है। (२) वह अभीष्ट पूरा करने और रक्षण करने वाला है। (३) उस की भुजाएं वज्र के समान हैं अर्थात वह बडा बलवान है (४) युद्ध में वह शत्रुओं का मुकावला करने वाला है। ये सब सच्चे क्षत्रियों के लक्षण हैं। मं. ५० इस विषय में विशेष विचारणीय है जो इस प्रकार है —

'**त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्। ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥**'

इस मन्त्र में इन्द्रके निम्न लिखित विशेषण आये हैं (१) त्राता = रक्षा करने वाला। (२) अविता = ज्ञान प्राप्त करने वाला। अव - गतौ गति = ज्ञान, गमन, प्राप्ति, (३) सुहंवः = अच्छा दान देने वाला। हु - दानादानयो : (४) शूर : = बहादुर (५) शक्रः = शक्ति युक्त (६) पुरुहूतः = बहुत से श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा स्वीकृत (७) मघवा=धन युक्त।

ये सब लक्षण मुख्यतः एक वीर राजा और क्षत्रिय परही घट सकते हैं।

* वाग्विलास। *

" अलंकार "

" इस वर्षके गुरुकुलोत्सवपर गुरुकुलके स्नातकोंने 'अलंकार तथा गुरुकुल समाचार' नामक मासिक पत्र निकालने का निश्चय कर लिया है। पत्रमें उच्च कोटिके लेख तथा कविताएं रहा करेंगी। गुरुकुल शिक्षा प्रणालीका प्रचार तथा धार्मिक और सामाजिक प्रश्नोंपर मार्मिक दृष्टिसे विचार करना पत्रका उद्देश्य होगा। बडे बडे विद्वानों ने लेख भेजनेका बचन दिया है। आषाढमासके प्रथम सप्ताहमें पत्र प्रकाशित हो जायगा। वार्षिक मूल्य ३) रक्खा गया है।

गुरुकुलकांगडी } सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
मुख्य संपादक।

(१) **श्रीकृष्ण जीवन चरित्र**।– लेखक— ला० लाजपतरायजी। प्रकाशक— पं. शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद यू. पी। मू. १)

यह पुस्तक ला० लाजपतरायजीके कलमसे लिखी गई है, इतना कहने मात्रसे इसकी अपूर्व योग्यता सिद्ध है।

(२) **अष्टोपनिषदः**।-- अनुवादक- पं. बदरीदत्त जोशी। प्रका० - पं. शंकरदत्तशर्मा मुरादाबाद। मू. २)

आठ उपनिषदोंके मंत्र, पदार्थ और भावार्थ इस पुस्तकमें दिये हैं। भाषा सरल और सुबोध है। उपनिषद्विद्याके जिज्ञासुके लिये यहपुस्तक लाभकारी है।

(३) **गीता विमर्श**।- लेखक- श्री. नरदेवशास्त्री। वेदतीर्थ। प्राप्तिस्थान- वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद। मू. १॥)

श्री. पं. नरदेवशास्त्री जीकी विद्वत्ता और राष्ट्रभक्ति सुप्रसिद्ध है। उन्होंने यह पुस्तक साधारण मनुष्यकी प्रवृत्ति गीताशास्त्र में सुगमतया होनेके हेतु निर्माण की है। भूमिकामें लेखकने " महाभारतसे शिक्षा " शीर्षकके नीचे स्पष्ट रूपसे बताया है कि " फुट्टैल लोग धर्म नहीं कर सकते, उनको इस लोगमें सुख नहीं मिल सकता " इत्यादि फूट का परिणाम बताकर कहा है कि " जिधर धर्म होगा उधर ही जीत होगी। " लेखकने पुस्तकके दो विभाग किये हैं। पूर्व प्रसंग में श्रीकृष्ण के उपदेशका मर्म बतानेके लिये कर्म, भक्ति, प्रवृत्तिनिवृत्ति आदि विषयोंका विस्तृत ऊहापोह किया है तथा उत्तर प्रसंगमें मोक्ष, धर्म, कर्मयोग, स्वर्गनरक, आदि गीताधर्मका स्वरूप बताया है। संपूर्ण पुस्तक बडी योग्यतासे लिखी गई है और हरएक गीतापाठक को अवश्य संग्रह करने योग्य है।

(४) **वृक्षमें जीव है**। - लेखक- श्रीस्वामी. मंगलानंद पुरी। प्रकाशक- वर्मा एंड कं० १३८ अतर सूया, प्रयाग। मू. १॥)

वेदादि प्रमाणोंसे लेकर आधुनिक शास्त्रों तथा वैज्ञानिक प्रमाणोंसे वृक्षमें जीवका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। पुस्तक करीब ४८६ पृष्ठोंकी है और प्रारंभसे अंत तक प्रमाणोंसे परिपूर्ण है। वृक्षमें जीव होनेके विषयमें जो जो

शंकायें हो सकती हैं उनका उत्तर इस पुस्तक में है।

(५) **मुलांची जोपासना** ।- लेखक- श्री. पं. गणेश पांडुरंग परांजपे वैद्य, सांगली । मू. ॥=)

बालकोंके आरोग्य संवर्धन के विषयपर मराठी भाषामें यह पुस्तक लिखी है। इस विषय पर लेखक ने इसी ग्रंथका प्रथम भाग पाहिले प्रसिद्ध किया था। उसी विषयका यह दूसरा भाग है। पुस्तक का विषय ऐसा है कि इस का संबंध हरएक घरके साथ है। इसलिये हरएक मातापिताको इसका संग्रह अवश्य करना चाहिये।

अन्य पुस्तक।

गुरुकुल कांगडी से प्रकाशित -

(१) वेदोंका अनादित्व । मू. ≡)

(२) मांस मीमांसा । मू. ।)

(३) मनु और मांस । मू. ‑)॥

(४) पुराण विमर्श । मू. ≡)

(५) भारत शिक्षादर्श । मू. ≡)॥

योगमंडल काशीसे प्रकाशित-

(१) सच्ची विभूति । मू. ॥=)

(२) संयमविधि । मू. ॥=)

(३) सुखशांतिका सच्चा मार्ग (विनामूल्य)

वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद से प्राप्त-

(१) कंठी जनेऊका विवाह =)

(२) विषलता ।=) (३) कुरान की छानबीन । -) (४) स्वर्गमें महासभा मू. ।)

(६) **तेजस्वी शिक्षण** । लेखक और प्रकाशक- श्री० हरि कृष्ण मोहनी, नागपुर। मू. १।) (मराठी)

इस समय शिक्षा विषयकी चर्चा इस देश में बहुत चली है, ऐसे समयमें म० मोहिनी जीनें " **तेजस्वी शिक्षण** " पर अपने अनुभव के विचार पुस्तक रूपसे प्रकट किये हैं, यह अत्यंत उत्तम है। इस पुस्तक के लेखक राष्ट्रीय शिक्षाविद्यालयमें शिक्षक रहे हैं और आपने राष्ट्रीय शिक्षा, धर्मशिक्षा आदि अत्यावश्यक विषयोंका अभ्यास अत्यंत निष्ठासे किया है। इसीलिये इस प्रकार का उत्तम पुस्तक आप निर्माण कर सके हैं। शिक्षा विषयका विचार करनेवाले लोग इस पुस्तक द्वारा प्रसिद्ध किये विचारोंका अवश्य मनन करें।

(७) **पंचामृत** । (लेखिका- श्री० कुमारी शांताबाई आपटे । प्रकाशक- आनंद कार्यालय पूना । मू. ।‑) (मराठी)

श्री० विदुषी कुमारी शांताबाई जी मराठी, बंगला आदि भाषा जाननेवाली बहुश्रुत विदुषी लेखिका हैं। बंगला साहित्य से पांच मनोरंजक और बोधप्रद कथाओंको मराठी रूप देकर मराठी वाचकोंको यह अत्यंत रुचिकर पंचामृत अर्पण किया है। पुस्तककी भाषा तथा मुद्रणादि अत्यंत उत्तम और चित्ताकर्षक हैं।

(८) **कां व कसें ?** पदार्थ विज्ञान व रसायनशास्त्र=प्रथम पुस्तक। लेखक- श्री० वासुदेव गोविंद आपटे, आनंद कार्यालय, पूना मू. ।) (मराठी)

लेखक मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक हैं और आप कई वर्षोंसे " आनंद " नामक

एक मासिक पत्र केवल बालकोंके लिये ही संपादन कर रहे हैं। शास्त्रीय गहन विषय बालकों को समझने योग्य लेख बद्ध करनेमें आप अत्यंत प्रवीण हैं। और इसी कारण यह पुस्तक पदार्थ विज्ञान शास्त्र के कई विषयोंको बालकों के अंतःकरणोंमें सुबोध रीतिसे प्रविष्ट करानेके कार्य में अत्यंत उपयोगी होनेमें कोई शंकाही नहीं है।

(९) **मुलांचें शंका समाधान**। (लेखक– श्री. नरसो गणेश वाडदेकर प्रकाशक आनंद कार्यालय पूना) मू. ।) (मराठी)

श्रीयुत नरसोपंत रसायन शास्त्र के ज्ञानी हैं और आपने रसायन शास्त्र के कई प्रयोग इतने उत्तम रीतिसे सिद्ध किये हैं, कि यदि ये युरोपमें होते तो निः संदेह इनकी पूजा हो जाती। रसायन शास्त्र के विषयमें कई लेख आपने केवल बालकोंको बोध करनेके लिये लिखे हैं, उनमेंसे एक लेख इस पुस्तकमें प्रसिद्ध हुआ है। यदि इनके अन्य लेख भी इसी प्रकार प्रकाशित होंगे तो वे निःसंदेह बालकों के लिये आदर्श शास्त्रीयग्रंथ होंगे। लेखक की भाषा अत्यंत सुगम है और विषय समझाने का चातुर्य अत्यंत अद्भुत है।

(१०) **वेश्या और वेश्या व्यवसाय**। (लेखक--पुरुषोत्तम गोविंद नाइके, समाजसेवा संघ, मुंबई। मू. ॥) (मराठी)

“ समाज सेवक ” नामक मराठी मासिक पुस्तक में इस विषयकी लेखमाला प्रसिद्ध हुई थी। वही पुस्तकरूपमें प्रकाशित की गई है। बहुधा प्रत्येक नगरमें वेश्याओंका उपद्रव है और तरुण लोग इनके फंदेमें फंसते हैं। इस घोर अनर्थका प्रतिबंध करनेका विचार लेखक ने इस पुस्तकमें किया है। कोई विचारी पाठक इस लेखका विरोध नहीं कर सकता।

(११) **दंपती रहस्य**। (लेखक-- श्री. पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, डी. एस. लाल एंड कं. ७ मिशनरो कलकत्ता । मू. १॥) (हिंदी)

इस पुस्तकमें तरुण और तरुणि के संबंध का विचार शास्त्रीय दृष्टिसे होनेके कारण तरुणों के लिये यह पुस्तक विशेष कर पढने योग्य है। इस पुस्तक की भाषा अतिरोचक है और विचार निःसंदेह नये और उपयोगी हैं। तिर्यक संसारमें स्वयंवर, मानवी संसारमें स्वयंवर, विवाह संबंध, प्रजनन ये विषय तो इस पुस्तकके हरएक को पढने योग्य हैं।

(१२) **शुद्ध नामावली**-(लेखक--श्री० पं. गणेशदत्त शर्मा गौड, इंद्र, आगर मालवा। प्रकाशक-पं. शंकर दत्त शर्मा, वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद। मू. ॥)

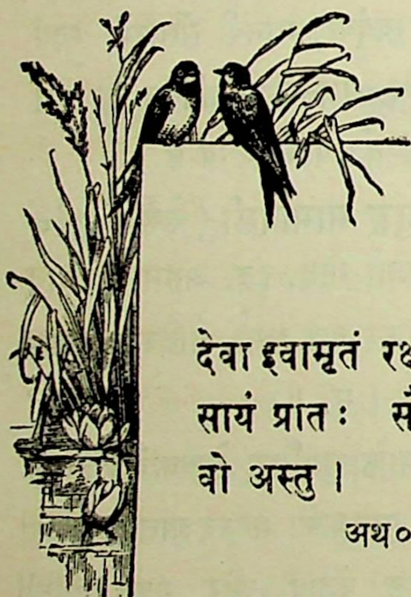
लेखक भाषाके सुप्रसिद्ध लेखक हैं। इनके नामसे ही इस पुस्तकका महत्त्व ज्ञात हो सकता है। आज कल पंजाब और युक्त प्रांतमें “ घंसीटाराम, कूडेमल ” आदि नाम रखनेका रिवाज सर्व साधारण है। ये असंस्कृत नाम रखना योग्य नहीं है। लेखकने इस पुस्तकमें करीब तीन सहस्र उत्तम संस्कृत नामोंका संग्रह किया है। यह पुस्तक बालबच्चोंके नाम करण संस्कार करनेके समय अतीव उपयोगी हो सकती है।

(दयानन्द शताब्दिके उपलक्षमें श्री. पं. अभय विद्यालंकार द्वारा संगृहीत ।)

वैदिक उपदेश माला ।

२

एकान्त विचार



देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायं प्रातः सौमनसो
वो अस्तु ।

अथ० ३-३०-७

यदि हमने यह निश्चय कर लिया है कि हमें जो कोई ज्ञान प्राप्त होगा उसे हम अवश्य ग्रहण करेंगे तो हमें अब स्वभावतः यह जानने की इच्छा होगी कि उस ज्ञान को, उस उपदेश को-धारण करने, अपने में स्थिर करनेका उपाय क्या है?

इसका एकही उपाय है और इस बात में किसी का भी मतभेद नहीं है । इस उपायको यदि मैं ठीक ठीक शब्दों में प्रकट करना चाहूं, तो इन दो शब्दों में रख सकता हूं । 'एकान्त विचार'। हमें जो कुछ उपदेश मिले एकान्त में होकर उस पर बार बार विचार करना चाहिये । इस प्रकार उसे हम अपने में स्थिर कर सकते हैं । जैसे कि मुझे ज्ञान हुआ कि सत्य बोलना चाहिये तो किसी समय बैठ कर मुझे सोचना चाहिये कि यह बात कहां तक ठीक है?; यदि ठीक है तो मैं सत्य क्यों नहीं बोलता हूं: किन किन प्रलोभनों अथवा भयों के कारण असत्य बोलता हूं : उनके जीतने का उपाय क्या है? असत्यसे मेरी क्या हानि हुई है? सत्यका जीवन में किन किन वस्तुओंसे सम्बन्ध है? इत्यादि इत्यादि सत्य पर खूब विचार करना चाहिए । इस प्रकार यह वस्तु मेरी अपनी

हो जावेगी। नहीं तो यदि मैं सत्यपर एक बडीभारी पुस्तक भी पढ डालूं, परन्तु इस पर कभी स्वयं विचार न करुं तो मेरा सत्यसे कभी भी कोईभी सम्बन्ध नहीं स्थापित होगा-सत्य मेरे जीवनमें नहीं आवेगा। जैसे कि बाहर रखे हुए भोजनका मेरे शरीर से कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसे ही पुस्तक पढ लेने पर भी मेरा सत्य से कुछ सम्बन्ध नहीं होगा। इसके लिये तो विचार करना चाहिए-मनन करना चाहिये। और जो मनुष्य मनन करने वाला है उसे तो इतनाही ज्ञान मिलना पर्याप्त है कि "सत्य बोलना चाहिये"। वह मनन द्वारा इसका स्वयमेव विस्तार कर लेगा और इसे अपने में धारण भी करलेगा।

हम में से कई यों को बडी बडी पुस्तकें पढने या लम्बे लम्बे व्याख्यान सुननेका व्यसन होगा परन्तु यदि उसी एक बात को लंबा लम्बा ही करता है तो मैं उन्हें यह सलाह दूंगा कि वे उसे अपने मन द्वारा उसपर मनन कर उसे लम्बा कर लिया करें; उसकी अपेक्षा कि वे एक लम्बी पुस्तक पढें या एक लम्बा व्याख्यान सुनें। अपने को अपने आप व्याख्यान देना चाहिये। स्वयं विचार करते समय वस्तुत: यही क्रिया होती है। जिनको ऐसा व्यसन नहीं है उन्हें भी जब कभी कोई विस्तृत उपदेश पढनेका अवसर आवे तो उन्हें चाहिए कि वे उस विस्तृत कथन को संक्षेप से मनमें रखें और फिर एकान्त में अपने मन द्वारा उसका पुनः विस्तार करें। इस दूसरे अपने मन में किए विस्तारसे वह उपदेश उसमें गृहीत हो जायगा-उसका अपना बन जाएगा। ज्ञान को धारण करने का, मानसिक भोजनको हजम करनेका यही उपाय है-'एकान्त विचार'

यहां 'एकान्त' कहनेसे क्या मतलब है?। हम प्राय: सदैव ही बाहिर के प्रभावों से प्रभावित होते रहते हैं-अपनेसे अतिरिक्त बाहिर की वस्तुएं हमारा ध्यान आकृष्ट करती रहती हैं, और हमारा मन उन ही का चिन्तन करता रहता है। इन प्रभावों और बाह्य विचारों को कुछ समय के लिये हटाकर अपने आपमें अकेले होकर बैठिए। एकान्त होनेसे यही मतलब है। इस अवस्थामें बैठने से ही अपने पर ठीक प्रकार विचार किया जा सकता है।

मनुष्य असलमें है ही अकेला, अपने कर्मफल पाने में उसका कोई और हिस्सेदार नहीं है। जब हमें कोई कष्ट क्लेश होता है तो हमारे परम से परम हितकारी भी हमारा कुछ नहीं कर सकते; जबतक कि हमारे अपने कर्मानुसार वैसा होना सम्भव न हो। इस लिए मनुष्यने अपना असली मार्ग अकेले ही तैयार करना है। दूसरा मनुष्य थोडासा सहायक हो सकता है; पर चलना उसने अपने आप है। इसलिये एकान्त होना अपने को अपनी स्वाभाविक अवस्था में लाना है। इसीको 'स्वस्थ' होना कहते हैं-अपने आप में स्थित होनाभी कैवल्य का अर्थ यही है-केवल होना, अकेला होना। इस लिए प्रति दिन अकेले होकर-अपनी आत्मा के पास बैठकर-अपनेपर विचार करना चाहिए।

इसीका नाम आत्म परीक्षण है। जैसे कि

एक बनिया अपने हानि लाभ का हिसाब करता है वैसे प्रत्येक मनुष्य को अपने परम हानि लाभ का प्रति दिन हिसाब किताब करना चाहिए। मैं कमारहा हूं या खो रहा हूं, इसका हिसाब न करने वाले पुरुष का यदि प्रति दिन घाटा हो रहा हो, तो भी उसे इसका पता नहीं लगेगा। तो वह घाटेका पूरा कैसे करेगा! बिना आत्म परीक्षण के अपना उद्धार कैसे करेगा?

आत्म- परीक्षण प्रारंभ करने पर कईयों को बडी घबराहट होती है। अपनी अनगिनत त्रुटियां दिखाई पडती हैं, बडा भारी घाटा हुआ अनुभव होता है। इस घबराहट के मारे कई भाई आत्म परीक्षण करना छोड देते हैं। पर उन्हें यदि यह पता लग जाय तो बडा भला होगा कि इस घबराहट को सहना चाहिये क्यों कि **इस घबराहट के सह लेने पर अपने अन्दरसे उन्हें बडी शान्ति दायिनी सान्त्वना मीलेगी और फिर दिन प्रति दिन आत्मपरीक्षण में इतना आनन्द आने लगेगा कि वे फिर उमर भर इस एकान्त विचार को नहीं छोड सकेंगे।**

इस विचार के लिये स्वाभाविक समय है प्रातःकाल और सायंकाल। हमारी दो अवस्थाओंके ये अन्तके समय हैं। 'जागरितान्त' और 'स्वप्नान्त' से आत्माको जाना जा सकता है ऐसा उपनिषद्में कहा है। प्राकृतिक दृष्टिसे भी यह समय हमारे मनन के लिये बहुत अनुकूल है। स्वभावतः इन समयों में आत्मा के पास बैठा जाता है। इन ही समयों मे प्रति दिन बैठ कर हमें अपने लाभ और हानि पर अपनी अवस्थापर विचार करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य अपने में से कोई दुर्गुण हटाना चाहता है तो वह कभी नहीं हटा सकता, यदि वह कभी अपने पर विचार नहीं करता। वह चाहे कितने उपदेश सुनता रहे। यदि मैं क्रोध छोडना चाहता हूं तो मुझे प्रति दिन सायं प्रातः विचारना चाहिए कि मैंने आज कितनी वार क्रोध किया! क्यों क्रोध किया! और फिर दृढ निश्चय करना चाहिए कि कल ऐसा नहीं करूंगा। इसी प्रकार हम दुर्गुणों को हटाने और सद्गुणों के धारण करने में कृत कार्य हो सकते हैं। उपदेश को धारण करने का यही एकमात्र उपाय है। श्रवण के बाद मनन करना चाहिये।

इस उपदेश को मैंने निम्न वेदमन्त्रसे ग्रहण किया हैः --

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः
सौमनसो वो अस्तु। अथ० ३।३०।७।

"हे मनुष्यो! जैसे देवता अपने अमरपन की रक्षा करते हैं वैसे तुम सायं और प्रातः 'सौमनस' को प्राप्त हो।"

देवता न मरने वाले हैं। यही देवों का देवत्व है। हम उनके मुकाबिल में 'मर्ताः'- मरने वाले-हैं। जैसे कि देव अपने देवत्व-अमृत-की रक्षा करते हैं, वैसे ही हमें सायं प्रातः "सौमनस" को रखना चाहिए। "सौमनस" का अर्थ है मनका अच्छा होना; अच्छा मनन। यह मनन ही मनुष्यका मनुष्यत्व है जैसे देवोंका देवत्व अमरपन है। **"मननात् मनुष्यः"**। मनुष्य

इसी लिये कहाता है कि वह मनन करता है। यही उसकी पशुओं से भिन्नता है। यदि वह अपना मनन करना विचार-करना-त्याग दे तो वह मनुष्य नहीं रहता। उसे सायं प्रातः विचार करते हुए अपने मनुष्यत्वको कायम रखना चाहिये। जो इस प्रकार सायं प्रातः अपना विचार नहीं करता वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है। इस प्रकार हमारे लिए एकान्त विचार का महत्व है।

जब मनुष्य अपने पर इस प्रकार विचार करता है, तब वह उस समय के लिए अपने अन्दर चला जाता है। यह अपने अन्दर जाना मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि एक किलेके अन्दर बैठ जाना। जिस प्रकार एक किले वाला लडाका योद्धा सदा लाभ में रहता है, उस ही तरह जो मनुष्य एकान्त में जाना जानता है, वह इस दुनियां की लडाई में कभी हारता नहीं। आप प्रातः किले में से निकलिये और दिनभर लडकर फिर शाम को अपने किले में जाकर अपनी अवस्था देखिये-फिर दूसरे दिन तैयार होकर लडिए। दिन में भी जब कभी अपनेपर बहुत घाव लगे देखें, तो उस समय भी कुछ देर के लिये इस किले में चले आइये। यहां पर विचार रूपी वैद्य आपके सब घावों की मर्हम पट्टी क्षण भरमें कर देगा। मुझे इस एकान्त विचारसे बहुत सुख मिला है, इस लिये मैं आग्रह करता हूं, कि अन्य भी इसका परीक्षण करें। मुझे तो यह निश्चय है कि मुझे घोर से घोर दुःख मिले, तो भी यदि मुझे, कुछ देरके लिए एकान्त में होना मिल जाय, तो मेरा तीन चौथाई दुःख तो निश्चय से उस ही समय रह जावेगा।

इस लिये दूसरा वेदोपदेश हमें यह ग्रहण करना चाहिये कि हम आज से दोनों समय-प्रातःकाल और सायंकाल -- कुछ देर के लिये संसार को अपनेसे जुदा करके अपने पर विचार किया करें और उस समयमें जो कुछ उपदेश व ज्ञान हमें दिन भरमें मिला हो, उसको अपने जीवन से संबन्ध जोड लिया करें। इसी प्रकार हम उपदेश को ग्रहण कर सकेंगे, क्यों कि मन ही एक स्थान है जहां कि हम ज्ञान रत्न को लाकर रख सकते हैं। यदि हम ज्ञान धनी बनना चाहते हैं, तो हमारे पास धन रखनेके लिए स्थान होना चाहिये। इस धन के रखनेका कोष बनानेके लिए भगवानने हम सबको "हृदय" दिया है। अबतक हमें मूर्खतासे इसका उपयोग नहीं किया। अबसे जो कुछ हमें ज्ञान मिले,हमें चाहिये कि हम एकान्तमें जाकर मनन की क्रिया द्वारा उसे अपने इस दिव्यकोष (हृदय) में संभाल कर रखलिया करें। इसी प्रकार हमारी कमाई सुरक्षित हो सकती है। नहीं तो हम लोगोंमें कहावत प्रसिद्ध ही है 'एक कानसे सुना दूसरे कानसे निकाल दिया'। यदि ऐसी ही अवस्था है, तो हम ज्ञान रत्नको एक हाथ से उठाकर भी उसी समय दूसरे हाथ से उसे खो देंगे। इसलिये दूसरा आवश्यक कदम यह है कि हम धनको संभालकर रखना भी जान जांय।

पिछली बार हमने ज्ञान रत्नका उठाना सीखाथा, यदि आज हमने यह दूसरा उपदेश

भी ग्रहण कर लिया है तो हम अब इन रत्नोंको सुरक्षित रखना भी सीख जायंगें। अब और क्या चाहिये? अब तो हम देखेंगे कि जहांतक हमने इन दोनों प्रारंभिक उपदेशों को सीख लिये है वहांतक हम दिनों दिन ज्ञानधनी होते जा रहे हैं। यह हम जरूर अनुभव करेंगे।

३

प्रातः उठना

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे। अथर्व० ७।१३।२

यदि मैंने और आपने पहला उपदेश " सं श्रुतेन गमेमहि " को ग्रहण कर लिया है और वेदकी दूसरी बात अर्थात् " एकान्त विचार " पर भी हम अमल करने लगे हैं, तब तो हम इस बातके लिये तैयार हैं, कि वेदाध्ययन से प्राप्त होने वाले अन्य उपदेशों को भी सुनें। नहीं तो हमारा इस लेखमाला को आगे बढाना वृथा है। अच्छा हो कि हम इसे न पढें, जबतक कि हम आधार के इन दोनों उपदेशों को हृदयंगत न करलें परन्तु यदि हमनें इन्हें हृदयंगत कर लिया है तो ठीक है, तो हम अन्य उपदेशों को जरूर पढें। मुझे निश्चय है कि तब आप इन उपदेशोंसे लाभ भी जरूर उठायेंगे। ऐसे ऐसे उपदेश आप जैसे लाभ उठाने वालों के लाभ प्राप्त कराने के लिये ही वेदमें रक्खे हुवे हैं। यह आप निश्चय से मानिये।

यह तीसरा उपदेश मैंने जिस वेद वाक्य से ग्रहण किया है, वह इस प्रकारसे है।-

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे। अथर्व० ७।१३।२

एक तेजस्वी पुरुष कहता है; जिस प्रकार उदय होता हुवा सूर्य सोने वालों के तेज को ले लेता है वैसेही मैं अपने प्रतिद्वन्द्वियों के तेज को ले लेता हूं। "हमें आज उस बातपर विचार करना है जो कि इस वाक्यमें उपमा द्वारा वेदने उपदिष्ट की है। यहां उपमामें यह बात मानी है, कि उदय होता हुआ सूर्य सोनेवाले के तेजको ले लेता है। यही इस वाक्यमें प्रगट किया हुआ सत्य है, जिसका कि ज्ञान हमें प्राप्त करना है। कई सज्जन कहा करते हैं कि लोग प्रायः अपनी मनकी बातें वेदमें से निकाल लेते हैं। परन्तु यहां जो बात कही गई है कम से कम मुझे वह पहले से ज्ञात नहीं थी मैं अबभी नहीं जानता कि उदय होते हुवे सूर्य द्वारा कैसे सोनेवालों का तेज हरा जाता है। मैं केवल यह बात वेदमें लिखी देखता हूं और इसे मानता हूं। यदि वेद स्वतः प्रमाण हैं तो मुझे इस सत्य की सिद्धि के लिये या इस सत्यपर विश्वास लाने के लिये अन्य प्रमाणों की जरूरत नहीं होनी चाहिये। मुझे इतना ही वेद से ज्ञान कर लेना काफी है कि जो सूर्योदय होते हुवे भी सोया हुआ है उसका जरूर तेज नष्ट हो जाता है, तो फिर मैं प्रातःकाल सोता हुआ नहीं रह सकता, मुझे उस समय सोते हुवे डर लगेगा। जो भी कोई सूर्योदय प्रारम्भ होनेसे पहले नहीं जागजाता, उसे यह डरलगना चाहिये उसे भयभीत

होना चाहिये कि मेरा तेज नष्ट होता जा रहा है । हरएक ऐसे मनुष्यको जिसे अपने तेजसे कुछ प्रेम है, या तेज के महत्वको समझता है, अवश्य ऐसा भय उत्पन्न होगा । उसे अपने इस भयको दबाना नहीं चाहिये, किन्तु भय-प्रेरित होकर सन्मार्गपर चलना चाहिये ।

तेज क्या है? क्या आप यह जानते हैं ? वेदमें वर्चस् शब्द है जिसका अर्थ मैं यहां तेज ऐसा कर रहा हूं । मेरी समझमें (वर्चः) तेज हममें वह शक्ति या गुण है, जिसके कारण कि हम सब प्रकारकी उन्नति वा अग्रगति करते हैं । तेज तत्व का स्वभाव ही आगे बढना है । इस अपने आगे बढने की शक्ति को-सब प्रकार की उन्नतिकी शक्ति को-हम खो रहे हैं, केवल प्रातःकाल न उठनेके थोडेसे आलस्यसे यह कितना आश्चर्य है ।

प्रातःकाल का समय ऐसा है, जैसे कि मनुष्य की अवस्थामें बाल्यकाल । बाल्य कालमें जो भी संस्कार हम डालदें, वही हमारे सारे जीवनमें चला जायगा । जैसा प्रातःकाल होगा वैसा ही संपूर्ण दिन बीतेगा । जो प्रातःकाल को गंवाते हैं, वे अपने को उन्नत कराने वाली शक्ति को गंवाते हैं-वे अपने सुधार के लिये प्रति दिन आने वाले एक नये अवसर को गंवाते हैं, वे अपनी उन्नतिके बीज को ही नष्ट कर देते हैं । जरा सोचिये प्रातःकाल न उठना कितनी अनमोल वस्तु को खोना है ।

एक स्थानपर सच लिखा है कि " ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्य-क्षय-कारिणी"। ब्राह्म मुहूर्त में सोना पुण्योंका क्षय करनेवाला होता है । रात्रिके अन्तिम मुहूर्त का-सूर्योदयसे पहले मुहूर्तका नाम ही 'ब्राह्म' है । यह ब्रह्मका परमेश्वर का मुहूर्त है । यह ऐसा मुहूर्त है जब कि हम ब्रह्म के नजदीक होते हैं । इस समय सब लोगों के सो कर उठने के कारण बहुत देरतक का समय मनुष्यों की वासनाओंसे अनाकुलित रहता है, मनकी विरुद्धावस्था रह चुकी होनेके कारण आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होता है। सारी प्रकृति शान्त होती है, इस लिये यह समय ब्राह्म मुहूर्त कहलाता है । रोज आने वाले २४ घंटोंमें से यही एक समय ब्रह्मसे मिलाने का स्मरण करानेवाला आता है । यदि हम इसे ही रोज गंवाते जांयें तो हमारा पुण्य क्यों नाश न हो । हम पुण्य को खर्च करते जाते हैं, नया-पुण्य नहीं कमाते, इस लिये पुण्य का नाश होता जाता है।

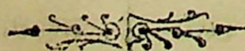
पुण्य ही नहीं, हमारा सब कुछ नाश होता है । अंग्रेजी की भाषा में एक कहावत है जिसका मतलब है कि " जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ धनवान और बुद्धिमान् बनाता है। "ऐसी कहावतें अन्य भाषाओं में भी होगी। ऐसी ऐसी कहावतें भी हमें बडी बडे सत्य की तरफ संकेत करती हैं । सुबह उठनेसे स्वस्थ होना समझमें आता है, क्यों कि उस समय उठना प्राकृत नियमोंके अनुसार है। नव जात बालक स्वयमेव प्रातः उठता है पशुपक्षी आदि सब स्वभावतः प्रातः उठते हैं । इसके अतिरिक्त उस समय की वायुका शरीरपर विशेष प्राणप्रद असर होता है इसलिये

प्रातः जागरण स्वास्थ्यप्रद है। बुद्धिमान् होना भी प्रातः काल उठनेसे समझमें आसक्ता है क्यों कि उस समय की शान्तिका प्रभाव हमारे मनपर पडता है। परन्तु प्रातः उठनेका धनवान् होनेसे संबन्ध कुछ कठिन प्रतीत होता है। आप कह सक्ते हैं कि बुद्धि अच्छी होनेसे धन भी मिलेगा। परन्तु असलमें बात यह है कि ऐसे ऐसे सभी लाभ प्रातः उठनेके साथ जोडे जा सक्ते हैं और यह सब ठीक भी हैं। यदि प्रातः न उठनेसे तेज नष्ट होता है तो जरूर हमारी सभी उन्नति नष्ट होती है और यदि प्रातः उठनेसे तेज मिलता है तो सभी प्रकारकी उन्नति मिलती है। अर्थात् प्रातः उठनेके जो जो लाभ कहे जाते हैं उन सब बातोंकी संगति तभी लग सक्ती है जब कि वेदोक्त "तेजोनाश" की बात मान ली जावे।

प्रातः जागरणसे तेज की रक्षा होती है इस लिये शारीरिक आर्थिक मानसिक बौद्धिक आदि सभी प्रकारकी उन्नति इससे होती है।

इसीलिये दुनियाके जितने बडे पुरुष हुवे हैं जिन्होंने कि किसीभी दिशामें बडा काम किया है वे सब प्रातः उठनेवाले थे। ऋषि दयानन्द प्रातः उठते थे। महापुरुष नैपोलियन प्रातः उठता था। कुछ मास हुवे अंग्रेजी की प्रसिद्ध पत्रिका "Modern Review" में बहुतसे पाश्चात्य महा पुरुषोंके नाम छपे थे जो कि प्रातः उठनेके अभ्यासी थे। इस देशके सब पूज्य ऋषि मुनि प्रातः उठनेवाले थे यह तो यहां कहनेकी ही जरूरत नहीं है। यद्यपि यह बहुत छोटीसी बात है परन्तु इसका कितना बडा भारी फल है। यदि हम इस छोटेसे गुणको भी धारण न करें इतने भारी लाभसे वञ्चित रहें तो हम कितने अभागे हैं।

जब आपने उपदेश ग्रहण करना सीखलिया है तो इस बातकी शब्दोंमे अधिक व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं। केवल यही ज्ञान काफी है कि मुझे अपने तेजकी रक्षा के लिये प्रातः उठना चाहिये और केवल यह उदाहरण काफी है कि स्वामी दयानन्द भी प्रातः उठते थे। बस अब से जब प्रातः उठनेमें आलस्य आवे, जी उठनेको न करे मन लेटे रहनेके लिये बहाने बनावे तो बार बार इस मंत्रको सोचिये।यह मंत्र आपको पुकार पुकार के कहे,कि **तेरा सब तेज नष्ट हो रहा है**। इस विचार से आप एकदम विनिद्र होकर उठ खडे होंगे आप लेटे रह ही नहीं सकेंगें। आप इस तरह जाग होंगे जैसे कि यह खबर पाकर कि आपके घरमें चोर चोरी कर रहे हैं,या आग लगकर आपकी सब सम्पत्तिका नाश हो रही है आप सोते नहीं रह सकते। यह तेज धनदौलत की अपेक्षा बहुत ही कीमती चीज है। समझदार मनुष्य आगलग जानेसे या सर्व संपत्ति नष्ट हो जानेसे इतना दुःखी नहीं होगा जितना कि एक ही दिनके अपने तेजोनाशसे। क्या आज आप इस प्रातः जागरण रूपी ज्ञान रत्न को उठाले जांयेगे और अपने हृदय रूपी पेटकमें इसे सुरक्षित करलेंगे।



शीर्षासनसे कर्णरोग का दूर होना।

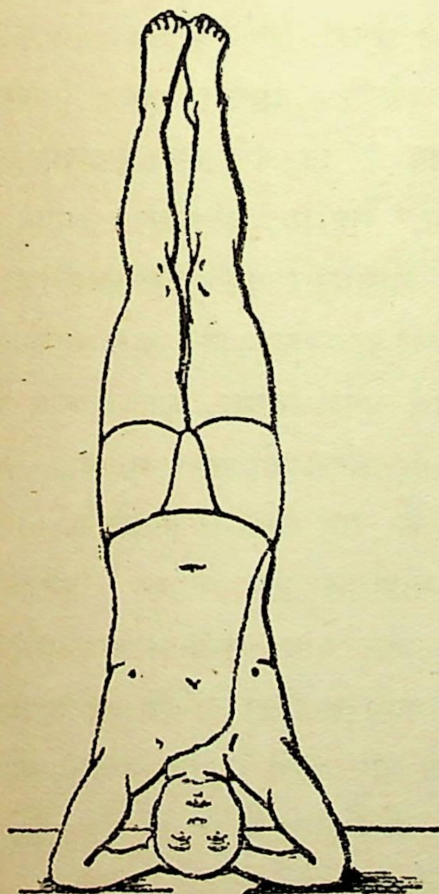
(लेखक—श्री. म. गो० पूरनदासजी)

मेरा कान इतना बहता था कि कोई भी प्रख्यात दवासे फायदा न हुआ और शरीर भी जीर्ण होता चला था, मगर शीर्षासन करनेसे छः महिनों में कर्णरोग समूल नष्ट होगया। आराम तो प्रथम सप्ताहमें ही मालूम पडने लगा था।

शीर्षासनसे दृष्टिको भी लाभ हुआ। पहिले मैं विना आयनकके पढ नहीं सकता था। परंतु शीर्षासन करनेसे अब मुझे आयनक की आवश्यकता रही नहीं है।

मैं १५ महिने शीर्षासन कर रहा हूं और प्रति दिन४० मिनिट कर सकता हूं। इससे उक्त लाभ हुआ है।

सर्व शरीर चिकनासा मालूम देता है, धातु पतनादि दोष दूर होगये हैं। इस लिये मैं शीर्षासन को "योगामृत" नाम देता हूं।



शीर्षासन के लाभ।

(लेखक—श्री. पं. रामचन्द्र विद्यारत्न मुख्याधिष्ठाता. गुरुकुल होशङ्गाबाद)

वैदिक धर्मके पाठको ! मैं आज आपकी सेवामें अपने अनुभव किये केवल शर्षासन के लाभ निवेदन करूंगा ! मैं ने स्वयं शीर्षासन १ वर्षसे करना प्रारम्भ किया है, और अभीतक विशेष कार्यवश उसको अधिक न बढाकर केवल १५ मिनट तक का अभ्यास किया है; परन्तु इतने से ही १ वर्ष में मेरे शरीर का परिवर्तन अपूर्व हो गया है, मैं जब उन स्थानों पर गया हूं, जहां १ या १॥

वर्ष पूर्व गया था; तो लोगों ने चकित होकर आश्चर्य से कहा कि क्या सचमुच आप वही हैं जो पहिले थे, और मुझे स्वयं भी ज्ञात होता है, कि मैं पहिले आधा घण्टाभी व्याख्यान देनेमें थक जाताथा, थोडा परिश्रम करनेसे थकावट मालूम होती थी वह अब सब दूर होगये, मैं अब दो घण्टे तक आनन्द पूर्वक व्याख्यान दे सकता हूं, और प्रत्येक कार्य में उत्साह, स्फूर्ति, और प्रेमका संचार होता है, मुझे -- पहिले कब्ज,नेत्ररोग, कर्णरोग अधिक होते थे, वे सब दूर हो गये। मेरे १ मित्र जिन्होंने मेरे साथ ही शीर्षासन प्रारम्भ किया था और उन पं० पूर्णानन्द जी की अवस्था ४२ वर्षकी है, बाल सब सफेद हो गये थे, किन्तु अब धीरे धीरे आगे के बाल सफेदसे काले होने लगे हैं। मैंने हरदा, खण्डवा, भुसावल, इन्दौर, रवर गोल, बडवानी, नागपुर वर्धा आदि अनेक स्थानोंपर आसन पद्धति पर सैकडों व्याख्यान दिये हैं और लोगों को करके दिखाये हैं, मेरे उद्योग से जिन लोगों ने भी आसन करने प्रारम्भ किये थे, उन्होंने मुझे अपने विचार १,२ मास पश्चात् ही बडे, उत्साह व आशाजनक शब्दों द्वारा सुनाये हैं, खण्डवाके एक मास्टर साहबने मुझे बताया कि, २ मास के ही शीर्षासनसे उन्हे यह लाभ हुवा, कि पहिले वे रात्रि को बारीक अक्षर नहीं पढ सकते थे, किन्तु अब आनन्द पूर्वक पढ सकते हैं, उन्हें कुछभी कष्ट अब ऐनक न लगानेसे नहीं होता है, मेरे साथमें एक भजनीक हैं, जिन्हें पहिले स्वप्न दोष होता था, किन्तु अब १, १॥ मासके अभ्याससे उनका यह दोष सर्वथा दूर हो गया, और उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। मैं ने अपने गुरुकुलके सभी ब्रह्मचारियों को लगभग १ वर्षसे ही आसनों का अभ्यास प्रारम्भ कराया है, उनके शरीर पर उनका अपूर्व अनुभव प्राप्त हुवा है। प्रायः किसी ब्रह्मचारी को भी जिसने नियमसे आसन किये हैं, इस वर्ष में कभी जुकामतक भी नहीं हुवा, उनके चेहरे पर पूर्ण चमक, और शरीर अवयव, हाथ, पैर, कन्धे आदि सब सुडोल, और सुशोभित मालुम होने लगे हैं। गुरुकुलके ब्रह्मचारियों को स्मरण शक्ति के विषयमें भी विशेष सफलता प्राप्त हुई है, अतः कोई अत्युक्ति न करते केवल अपने व अपने भाईयों के, अनुभव केवल शीर्षासन पर लिखते हुए दिखलाया है, कि यदि आप स्वप्नदोष, प्रमेह कर्णरोग, नेत्ररोग, शीर्षरोग, अपचन, दूर करके समस्तशरीर को सुडौल बनाना हो, बुढापेको भी दूरकरके काले बाल करना हो, और पूर्ण युवा अवस्था का आनन्द भोगना चाहते हैं, जीवन को सफलता पूर्वक, आनन्द उत्साह के साथ विताना चाहते हैं, तो कमसे कम शीर्षासन का अवश्य प्रारम्भ कर दीजिये, और यदि सभी आसन थोडे थोडे प्रारम्भ करदें,तो फिर देखिये कि आपको क्या सफलता प्राप्त होती है,और जीवन का सुख कितना प्राप्त होता है।

आसन।

सचित्र।

ऋषि मुनियोंकी आरोग्य साधक व्यायाम पद्धति इस पुस्तक में लिखी है। इस व्यायाम के करनेसे स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण और वृद्ध आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस समय सहस्रों मनुष्य इस पद्धतिसे लाभ उठा रहे हैं।

यह विना औषधि सेवन करनेके आरोग्य प्राप्त करने की योग की पद्धति है।

"आसन" पुस्तक का मूल्य २) है।

सूर्यभेदन व्यायाम

सचित्र

यह योग की बलवर्धक व्यायामपद्धति है। मूल्य ।=)

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध

(जि. सातारा)

"ज्योति।"

( ) सारे हिन्दी संसार में ज्योति ही एक मात्र मासिकपत्रिका है जिस के पन्ने भारत के वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाले राजनैतिक और धर्म सम्बन्धी लेखों के लिये सदा खुले रहते हैं। यह ज्योति की ही विशेषता है कि यह अपने पाठकों के लिये प्रत्येक विषय पर सरस, भावपूर्ण और खोज द्वारा लिखे हुये लेख उपस्थित करती है।

(२) ज्योति की एक और विशेषता है। यह केवल पुरुषों की ही आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती, परन्तु स्त्रियों की आवश्यकताओं की ओर भी पूरा पूरा ध्यान देती है। वनिता-विनोद शीर्षक से देवियों और कन्याओं के लिये अलग ही एक लेख माला रहती है, जिस में उनके हित के अनेक विषयों पर सरल लेख रहते हैं। इस के कला कौशल सम्बन्धी लेख जिस में क्रोशि-या, सलाई इत्यादि द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएं जैसे लेस, फीते, मौजे, टोपियां, कुर्ते, बनियान, स्वैटर इत्यादि बनाने की सुगम रीति रहती है, वार्षिक मूल्य ४।।) है।

अतः प्रत्येक हिन्दी प्रेमी भाई और बहिन को ऐसी सस्ती और सर्वांग सुन्दर पत्रिका का अवश्य ग्राहक बनना चाहिये।

मैनेजर ज्योति-ग्वाल मण्डी लाहौर

स्वाध्याय के ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय ।
(१) य. अ. ३० की व्याख्या । नरमेध ।
मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)
(२) य. अ. ३२ का व्याख्या । सर्वमेध ।
" एक ईश्वरकी उपासना । " मू. ॥)
(३) य. अ. ३६ की व्याख्या । शांतिकरण ।
" सच्ची शांतिका सच्चा उपाय । " मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला ।
(१) रुद्र देवताका परिचय । मू. ॥)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता । मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार । मू. =)
(४) देवताविचार । मू. ≡)
(५) वैदिक अग्नि विद्या । मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला ।
(१) संध्योपासना। मू. १॥)
(२) संध्याका अनुष्ठान । मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या । मू. १)
(४) ब्रह्मचर्य । मू. १।)
(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)
(६) योग के आसन । मू. २)
(७) सूर्यभेदन व्यायाम । मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ ।
(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)
(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला ।
(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग। १॥)

[६] आगम-निबंध-माला ।
(१) वैदिक राज्य पद्धति । मू. ।-)
(२) मानवी आयुष्य । मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता । मू. ॥।)
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र । मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा । मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प-विद्या । मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय । मू॥)
(८) वेदमें चर्खा । मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय । मू ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू. ॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ । मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र । मू. =)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने । मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या । मू. ≡)
(१६) वैदिक जलविद्या । मू. =)
(१७) आत्मशक्ति का विकास । मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला ।
(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या ।
. ॥।=)
(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला ।
(१) शतपथ बोधामृत । मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक ८
क्रमांक ५६



श्रावण सं. १९८१
अगस्त स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

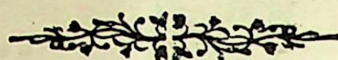
——:o:——

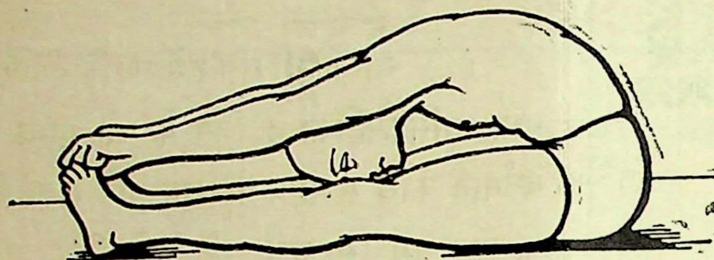
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

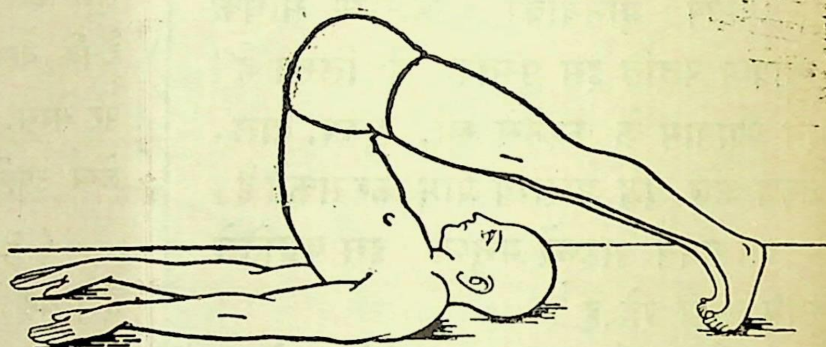
विषयसूची।

उदरके रोगके लिये आसनोंका व्यायाम।

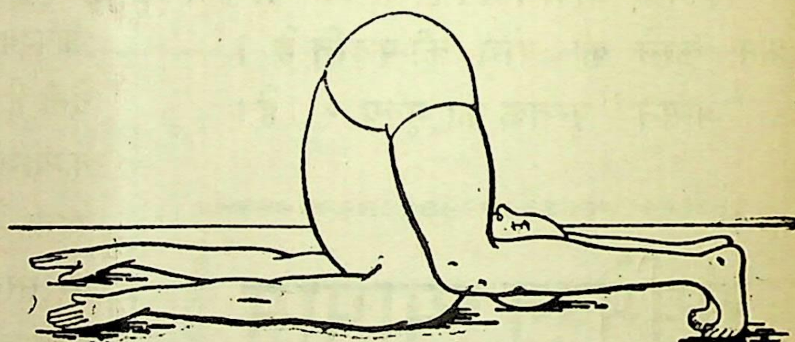




उत्तानपादासन।

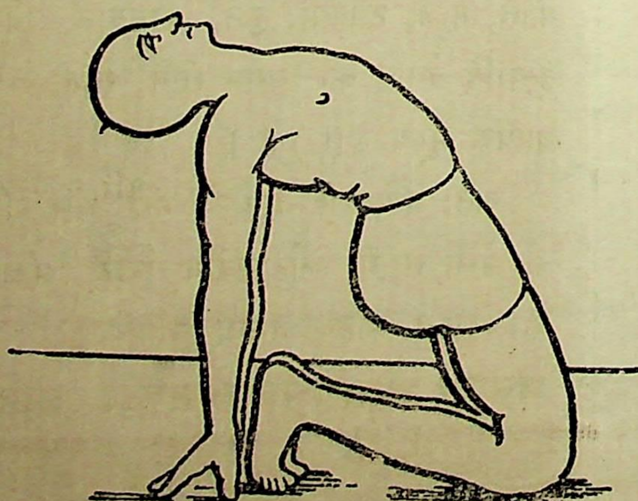


सर्वांगासन।



कर्णपीडनासन।

उष्ट्रासन।



इनका अभ्यास नियम पूर्वक करनेसे पेट के दोष दूर होते हैं।

पेटकी शिकायतोंके लिये "आसन" पुस्तक में विशेष वर्णन देखिये।

मूल्य २) दो रु०।

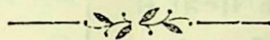


वर्ष ५
अंक ८
क्रमांक
५६



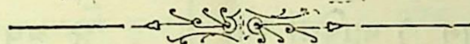
श्रावण
स. १९८१
अगस्त
स. १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।



संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

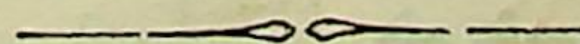
अपने राष्ट्रमें तेज और बल की वृद्धि करो।



यार्ऽणवेऽधि सलिलमध्य आसीद्यां मायाभिरन्व चरन्मनीषिणः। यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येना वृतममृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥

अ. १२।१।८

जो हमारी मातृभूमि पहिल जलके बीचमें थी, जिसकी सेवा (मायाभिः) कुशलता पूर्वक किये पुरुषार्थों से (मनीषिणः) ज्ञानी लोगोंने की है, जिसका हृदय व्यापक परम आत्माके अंदर लगा है, और जिसकी अमरता सत्यसे आवृत है, वह हमारी मातृभूमि (उत्तमे राष्ट्रे) हमारे उत्तम राष्ट्रमें (त्विषिं) तेज और (बलं) बल (दधातु) धारण करे।



वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य।

(लेखक- श्री. पं. धर्मदेव जी सिद्धांतालंकार)

अथर्व वेद में भी इन्द्र देवता के मन्त्रों में क्षत्रिय कर्तव्यों का बहुत उत्तम वर्णन है । उदाहरणार्थ अ २० । ११ । ६ में कहा है

"महो महानि पनयंत्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि । वृजनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥ "

अर्थात् इन्द्रके श्रेष्ठ उत्तम कर्मों की सब प्रशंसा करते हैं क्यों कि इन्द्र (वृजनेन) अपनी शक्ति से (वृजिनान्) पापियों को (संपिपेष) चूर चूर कर डालता है और (माय भिः) चतुरता से (दस्यून् अभि भूति) नीच स्वार्थ परायण लोगों को हरा डालता है । तात्पर्य यह है कि नीच लोगों का नाश करके प्रजा का रक्षण करना ही प्रत्येक सच्चे क्षत्रिय का मुख्य धर्म है । इसी भाव को अ . २० । ५५ । १ में प्रकाशित किया गया है यथा—

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि । मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥

इस मन्त्र में इन्द्र के लिये जो गुणद्योतक शब्द आये हैं उन का थोडासा निर्देश कर देना आवश्यक है ।

१मघवा = धन युक्त

२ उग्रः = कुछ कठोर प्रकृति युक्त अथवा थोडा तीक्ष्ण स्वभाव वाला ।

३ सत्रादधानः = सत्य अथवा यज्ञको धारण करने वाला।

४ श्रवांसि दधानः = कीर्तिको धारण करने वाला ।

५ गीर्भिः मंहिष्ठः = उत्तम वाणीवाला ।

६ यज्ञियः = यज्ञादि शुभ कर्म करने वाला अथवा पूजनीय ।

७ वज्री = वज्रादि शस्त्रास्त्र धारण करने वाला इस मन्त्र में क्षत्रियों के लिये उत्तम वाक् शक्ति कीर्ति इत्यादि को धारण करने भी आवश्यक बताया गया है । इस प्रकार निः-सन्देह इन्द्र देवता विषयक अनेक मन्त्र आधि भौतिक अर्थ में क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश करने वाले हैं ।

वैश्यों के कर्तव्य-वैश्यों के कर्तव्यों का

वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वर्णन है। उदाहरणार्थ अथर्व ३ । १५ । २ में एक वैश्य के मुख से निम्न लिखित प्रार्थना उच्चारण कराई गई है।

'ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति । ते जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥,

अर्थात् द्युलोक पृथिवी लोक के अन्दर जो देवयान अनेक मार्ग हैं उन सब से मुझे घृत या दीप्ति और पय वा रस की प्राप्ति हो ता कि मैं दूर दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण करके धन एकात्रित करूं। इस मन्त्र से पृथिवी पर चलनेवाले यानों के आतिरिक्त अन्तरिक्ष में चलने वाले विमानादि की कल्पना बहुत ही साफ तौर पर मालूम होती है। देवयानों द्वारा धन सम्पादन करनेसे तात्पर्य उत्तम धर्म युक्त साधनों द्वारा धन इकठ्ठे करनेका भी मालूम होता है। इसी सूक्त के म० ३ में—

"शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु"

ऐसी प्रार्थना है जिसका अर्थ यह है कि बेचने वगैरह में मुझे घाटा न हो बाल्कि मुनाफा वा लाभ हो। मं० ४ और ५ में जिस धन को लेकर मैं व्यापार प्रारम्भ करता हूं उस में मुझे लाभ ही होता जाए और राजादिके द्वारा मुझे व्यापार के लिये और प्रोत्साहना मिलती रहे यह भाव प्रकट किया गया है।

"येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥

इत्यादि मन्त्र इसी भाव के सूचक हैं। धनका सम्पादन करना अपने स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि ब्राह्मणादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये होना चाहिये इस भाव को इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट किया गया है, जहां अग्नि के सम्बोधन करते हुए कहा है, कि-

"विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम"

अर्थात् (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मण नेतः! जिस प्रकार अश्वको खाने के लिये घास वगैरह दिया जाता है उसी प्रकार हम (विश्वाहा) प्रतिदिन (सदमित्) नित्य ही (ते भरेम) तेरा पालन करते रहें। स्वयं धन की समृद्धि और अन्न से आनन्द करते हुए तेरे (प्रतिवेशा) प्रतिकूल हो कर (मा रिषाम) हम कभी दुःखी नहीं। तात्पर्य यह है कि धन के मदसे मस्त होकर पूज्य ब्राह्मणोंका तिरस्कार जो करते हैं उन्हें अन्त में अवश्य दुःख उठाना पडता है अतः ऐसे पूज्यों की पूजा करते हुए ही धनियों को सदा सुखी रहना चाहिये।

यजु. अ. १२ में मं. ६७ से ७१ तक हल चलाने वगैरह वैश्यकर्तव्यों का उत्तम वर्णन आया है। इन में---

शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं

कीनाशा अभियन्तु वाहैः ॥

इत्यादि मन्त्र विशेष दर्शनीय हैं जिन का अर्थ स्पष्ट है कि अच्छे हल द्वारा पृथिवी को सुख पूर्वक जोता जाए और भूमि जोत कर सुख पूर्वक रहें इत्यादि इस कृषि की महिमा में ऋ. १० । ३४ । १३ में द्यूत की निन्दा करते हुए स्पष्ट आदेश किया गया है कि —

"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ॥

अर्थात् जुआ न खेलो किन्तु कृषि करते हुए आनन्द से धन सम्पादन करो । इस मन्त्र से न केवल वैश्यों अपि तु अन्योंको भी थोडी बहुत खेती करनी चाहिये यह भाव निकलता है । उस पर विचार करना चाहिये ।

भगवद् गी ा में कृष्ण महाराजने वैश्यों के कर्मों का प्रतिपादन करते हुए —

' कृषिगोरक्षवाणिज्यं, वैश्यकर्म
स्वभावजम् '

ऐसा कहा है । वेदके अनुसार कृषि और वाणिज्य का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। गोरक्षा के विषय में देखिये वेद में कितना उत्तम भाव प्रकट किया गया है । अथर्व ४ । २१ में गौओं की म हि मा के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र आये हैं जिन में गौओं को बडी भारी सम्पत्ति बताया है यथा—

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छात् "

गौएं वास्तव में बडी भारी सम्पत्ति हैं राजादि भी इन गायों के दूधपर आश्रित होनेके कारण इन्हें चाहते हैं । म. ६ में कहा है कि-

"यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं
चित्कृणुथा सुप्रतीकम् । भद्रं गृहं
कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उ-
च्यते सभासु "

इस का अभिप्राय यह है कि हे गौओ! तुम कृश अर्थात् निर्बल पुरुष कोभी बलवान् बना देती हो तुम शोभा अथवा तेज से रहित पुरुष को तेजस्वी बना देती हो तुम सारे गृह को सुख मय बना देती हो इस लिये सभा ओं में सब पुरुष तुह्मारी बडी भारी महिमा गाते हैं । जिन गौओंकी इतनी महिमा वेद में अनेक स्थानों पर बताई गई है उन्हीं के मारने की वहां वर्णन होगा यह बात कल्पना में भी नहीं आसकता है । वेदमें सर्वत्र गौओं के लिये अघ्न्या शब्द का प्रयोग आया है । ' शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' ये शब्द हजारों मन्त्रों में आये हैं जो इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं कि न केवल गौओं की बल्कि सभी पशु ओं की रक्षा करना सामान्यतः सभी वर्णों वि शेषतः वैश्यों का कर्तव्य है । इस विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं ।

शूद्रों के कर्तव्य—शूद्रों के कर्तव्यों के विषय में यहां कुछ ज्यादह वक्तव्य नहीं है । 'तपसे शूद्रम्' कह कर यजुर्वेद अ. ३० में श्रम के कार्य के लिये शूद्र को नियुक्त करो यह आदेश किया गया है । इसी अध्याय में कर्मार नाम से कारीगर, मणिकार नामसे जोहरी, हिरण्यकार नाम से सुनार, रजयिता

के नाम से रंगरेज, तक्षा के नाम से शिल्पी, वप नाम से नाई, अयस्ताप नामसे लोहार, अजिनसन्ध नाम से चमार, परिवेष्टा नामसे परोसने वाले रसोइये इत्यादि का वर्णन है। ज्ञान शम दम सत्यादि उच्च गुणों की इनके अन्दर कमी होती है अतः ये शिल्प या नौकरी द्वारा पहले तीन वर्णोंकी सेवा कर अपना पेट भरते हैं। इन चारों वर्णों के लोगों को एक दूसरे के साथ अत्यन्त प्रेम से व्यवहार करना चाहिये। हरेक पुरुष को अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिये जिस से सब वर्णोंके पुरुष उस को प्रेम से देखें

"प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्व १९।६२।१

इत्यादि वेद मन्त्रों में इसी ऊपर कहे हुए भावको साफ़ तौर पर प्रकट किया गया है।

अब राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में थोडा सा कथन करना है। वेदमें राष्ट्रीय भावकी कल्पना है इस से कोई भी निष्पक्षपात विचारक इन्कार नहीं कर सकता। सैंकडों स्थानों पर वेदोंमें भूमिके लिये माता शब्दका प्रयोग किया गया है। राष्ट्रके हित की ओर सभी वेदोंमें अनेक बार ध्यान आकर्षित किया गया है। ऋग्वेद मं. ५ में मरुतों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के विषय में जो अनेक सूक्त आए हैं उन में बार बार" पृश्निमातरः' यह मरुतों का विशेषण दिया है उदाहरणार्थ ५।५७।२ में कहा है —

स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥

इसका अर्थ यह है कि मरुत् उत्तम अश्वरथ शस्त्रादि से युक्त और भूमिको अपनी माता मानने वाले अथवा मातृभक्त देशभक्त हैं। वे सदा शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं। ५।५९।६ में इन्हीं मरुतों के बारे में कहा है "

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥

इस मन्त्र में सबके सब मरुत अर्थात् मनुष्य समानता के सत्य सिद्धान्त को समझते हुए (उद्भिदः) सदा ऊपर उठते हुए (महसा) अपने तेज से (विवावृधुः) वैयक्तिक उन्नति करते हैं। वे सब (पृश्निमातरः) भूमि वा देशको माताके समान मानने वाले और (दिवो मर्याः) प्रकाशमय परमेश्वरके पुत्र अर्थात् परमेश्वरको अपना सच्चा पिता मानने वाले हैं इस प्रकार उनका अत्युत्तम जन्म है वे हमें प्राप्त होवें। यह भाव सूचित किया गया है।

ऋ. म. १०।१८ में कई मन्त्र मातृभूमि की स्तुति के विषय में आये हैं। उदाहरणार्थ म. १० में उपदेश है 'उपसर्प मातरं भूमिमेताम्' (एतां) इस (भूमिं मातरम्) मातृ भूमि की (उपसर्प) सेवा करो। म. ११ में मातृ भूमिसे एक सच्चे भक्तकी प्रार्थना है —

"उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना । माता पुत्रं यथा सिचाम्येनं भूम ऊर्णुहि ॥"

अर्थात् हे (पृथिवि) मातृ भूमे (उच्छ्वञ्चस्व) तू हमें सदा उन्नत करके सुख दे (मा निबाधथाः) कभी हमें कष्ट न दे (अस्मै) इस भक्तके लिये तू (सूपायना सूपवञ्चना भव) उत्तम वस्तुओंको प्राप्त कराने वाली हो (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम करती है वैसे तू (सिच) हमें प्रेमकर (एनम् अभि ऊर्णुहि) इस भक्त को सब तरफसे सुरक्षित कर दे। मातृ भूमि के प्रति यह हार्दिक प्रार्थना है। ऐसे मन्त्रों में भूमि की एक जीवित जागृत देवी के रूप में कल्पना की गई है। जब तक हम पृथिवी आदि को केवल अचेतन वस्तु समझते हैं तब तक उसके साथ अपना आन्तरिक प्रेम सूचित नहीं कर सकते अतः काव्य दृष्टि से वेदमें उपर्युक्त प्रकार के वर्णन को प्रधानता दी गई है। देवों का वर्णन करते हुए वेदमें—

'अप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि'

ऋ. १०।६२।३ ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ है कि देव लोग अपने शुभ कर्मों से मातृभूमिके यशका विस्तार करते हैं इस बातका पहले उल्लेख किया जा चुका है। अब यजुर्वेद में इस विषयको देखिये।

(१) यजु० २।१० में ये शब्द आये हैं **"उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम्"** इन का भाव यह है कि मैं ने पृथिवी वा देश को (माता उपहूता) माता के रूप में अपने हृदय में स्वीकार किया है (पृथिवी माता माम् उपह्वयताम्) मातृ भूमि भी मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करे। प्रत्येक पुरुष यदि अपने देश को माता के समान समझे तो निःसन्देह मातृ भूमि का हित होता है और पुत्रों का कल्याण होता है यह भाव ऊपर के मन्त्र में है।

(२) यजु० अ.९ में निम्नलिखित मन्त्र आया है

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै॥

यहां देव अर्थात् ज्ञानी लोगों से प्रार्थना है (अस्मे) हमारे अन्दर (वःइन्द्रियम् अस्तु) तुम्हारे जैसी बलयुक्त इन्द्रियां हों (नृम्णम्) तुम्हारे जैसा धन हो (उत क्रतुः) और पुरुषार्थ करने का उत्साह हो (अस्मे वःवर्चांसि सन्तु) हमारे अन्दर तुम्हारे जैसा तेज हो (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माता= मातृ भूमि को हमारा नमस्कार हो। जिस मातृ भूमि के तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र हैं उस माता को हम नमस्कार करते हैं और साथ ही इन्द्रिय धन उत्साह तेज आदि को धारण करते हुए हम भी उस मातृ भूमि की सेवा में तत्पर रहेंगे यह भाव यहां सूचित किया गया है।

(३) यजु० अ१० म. २३में **'पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्'** ये शब्द आये हैं जिन में पृथिवी को माता मानते हुए

कहा है कि तू हम कभी कष्ट न दे मैं तुझे कभी कष्ट न दूं। अभिप्राय यह है कि मैं कभी कोई ऐसा काम भूल कर भी न करूं जिस से मातृ भूमि का अहित हो इस प्रकार करने से मातृ भूमि द्वारा मेरा सदा कल्याण होगा इस में सन्देह नहीं।

(४) यजु० अ. १७ मं. ३ म प्रार्थना है—

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्व - स्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु ॥

यहां अपने देश के वीरों के विजय की कामना करते हुए मातृ भूमि के प्रति प्रेमका भाव सूचित किया गया है।

(५) यजु० अ २२ का २२ वां मन्त्र वैदिक राष्ट्रीय भाव की कल्पना के विषय म अत्यन्त सुप्रसिद्ध है उस का केवल उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।

इत्यादि इस मन्त्र में ब्राह्मण लोग हमारे राष्ट्र में सच्चे ब्रह्मतेज का धारण करने वाले हों, क्षत्रिय शूरवीर बाण चलाने में निपुण महारथी हों, वैश्य उत्तम गौ बैल आदि से युक्त हों, स्त्रियां भी (पुरन्धिः) बहुत बुद्धि वाली और बहुत कर्म करने वाली हों यह प्रार्थना है। धी शब्द के निघण्टु में बुद्धि कर्म दोनों अर्थ दिये हैं। इस प्रकार जो प्रार्थना की गई है वह विशाल वैदिक राष्ट्रीयता के भाव की सूचना देती है।

अब अथर्व वेद के अन्दर पाये जाने वाले राष्ट्रीयता के भावों और कर्तव्यों पर दृष्टि दौडानी है।

(१) अथर्व तृतीय काण्ड के चतुर्थ सूक्त में राज्याभिषेक का वर्णन है।

"सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु" "त्वा विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः"

इत्यादि से राजा के प्रजा द्वारा चूने जाने का भाव अत्यन्त स्पष्ट है। ग्रिफिथ महोदयने टिप्पणी में लिखा है Such passages show that the kingshiq was sometimes elective.

अ० ३। ४। २ का भाषान्तर उन्होंने इस प्रकार किया है The tribesmen shall elect thee for the kingship. These five celestial regions shall elect thee इत्यादि। इस प्रकार सब राजा का चुनाव भी प्रजा द्वारा होता होगा तो प्रजा का राष्ट्रीय भाव कितना ऊंचा होता होगा इस की कल्पना की जा सकती है। अ. ३। ५। २ में प्रार्थना है " अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥" अर्थात् मैं अपने इस राष्ट्र के अन्दर अत्यन्त श्रेष्ठ होऊं। प्रत्येक पुरुष को इस प्रकार सर्वोत्तम बनने की भावना धारण करनी चाहिये ता कि

राष्ट्र उन्नत हो सके। अथर्व ३।८।१ में कहा है

"अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्य दधातु"।

अर्थात् वरुण – सर्व श्रेष्ठ परमात्मा वा विद्वान् , वायु – बलवान् पुरुष,अग्नि – ज्ञानी नेता ये सब हमारे राष्ट्र को (बृहद्) बडा और (संवेश्यम्) शान्ति युक्त बनाएं । ग्रिफिथ महोदय का भाषान्तर इस प्रकार है। Let Agni, Varuna and Vayu make our dominion tranquil and exalted.

इस मन्त्र के अन्दर राष्ट्र को उन्नत और शान्ति युक्त रखने का भाव साफ तौर पर पाया जाता है। (३) अथर्व ३ । १९ । ५ के अन्दर ब्राह्मण पुरोहित प्रधानामात्य की हैसीयत से निम्न लिखित शब्दों को उच्चारण करता है ।

एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णवेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥

अर्थात (अहम्) मैं (एषाम्) इन सब के (आयुधा) शस्त्रों को (संस्यामि) तेज करता हूं (एषां राष्ट्रं) इन के राष्ट्र को (सुवीरं वर्धयामि) अच्छे वीर पुरुषों से युक्त करके उन्नत करता हूं । (एषां क्षत्रम्) इस देश के लोगों का क्षत्रिय समुदाय (जिष्णु) विजय शील और (अजरम् अस्तु) अविनाशी हो (विश्वे देवाः) सब ज्ञानी ब्राह्मण (एषां) इन देशवासियों के (चित्तम् अवन्तु) ज्ञान की रक्षा करें। यह मन्त्र अत्यन्त महत्व पूर्ण निर्देशों से युक्त है । इस के अन्दर निम्न लिखित मुख्य तत्त्व हैं।—

(१)शस्त्रास्त्रादि की ठीक व्यवथा करना और राष्ट्रको वीर बना कर उन्नत करना ब्राह्मणों का विशेषतः प्रधानामात्य का भी धर्म है।

(२) क्षत्रियों की शक्ति को बढाने की ओर प्रत्येक देशनिवासी का ध्याय होना चाहिये ।

(३)प्रजा को सुशिक्षित करने का काम ब्राह्मणों के हाथ में होना चाहिये ।

(४) अथर्व ६। ३९ । २ में निम्न लिखित प्रार्थना है ।

अच्छा न इन्द्र यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम । स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥

अर्थात हे परमेश्वर तू हम सब को यशस्वी बना। यशस्वी हो कर हमें नम्रता स तेरी ही पूजा करें । (नः)हमें (इन्द्र जूतं)ऐश्वर्य युक्त धन धान्य सम्पन्न (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र को दे, ता कि (ते रातौ) तेरे दान म हम (यशसः स्याम) अत्यन्त यशस्वी होवें।

इस मन्त्र में भी ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र की जा प्रार्थना की गई है वह विशेष ध्यान देने योग्य है उस से वेद के अन्दर राष्ट्रीय हित की भावना को कितना महत्त्व दिया गया है इस बातका अनुमान किया जा सकता है ।

(५) अथर्व ७ । ६ । २ के अन्दर मातृ भूमि को किस प्रकार उन्नत करने का यत्न करना चाहिये इस बात को निम्न शब्दों द्वारा बताया गया है ।–

महीमूषु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे । तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं, सुशर्माणमदितिं सु-प्रणीतिम् ॥

इस मन्त्र में मातृ-भूमिके लिये निम्न विशेषण कहे हैं —

(१) सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम्=उत्तम व्रत धारण करने वालों के ज्ञान की रक्षा करने वाली,

(२) तुविक्षत्राम् = बहुत क्षात्र बलसे युक्त

(३) अजरन्तीम् = जीर्णावस्था वा अवनति को न प्राप्त होती हुई,

(४) उरूचीम् =अत्यन्त विस्तृत,

(५) सुशर्माणम्= उत्तम सुख देनेवाली

(६) अदितिम्= बन्धन रहित अर्थात स्वतन्त्र,

(७) सुप्रणीतिम्=उत्तम नीति से युक्त।

इन सब विशेषणों का मनन करने से मातृभूमिके विषय में वैदिक कल्पना समझ में आसकती है। प्रत्येक पुरुष का चाहे वह किसी भी वर्ण का हो यह कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त गुणों से मातृ भूमि को सम्पन्न करने के लिये अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करे। ग्रिफिथ महोदय ने इस मन्त्र का भाषान्तर इस प्रकार किया है।

We call for help the Queen of Law and order.Great Mother of all those whose ways are righteous, far spread, unwasting, strong, in her dominions, Aditi wisely leading, well protecting.

भावार्थ लग भग वही है जो ऊपर दिया गया है। अदिति का अर्थ यहां स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया गया उस का अर्थ बन्धन रहित सुप्रसिद्ध है। यही मन्त्र यजुर्वेद में भी आया है।

(६) अथर्वका १२ वां काण्ड सारा ही राष्ट्रीय गीत है। इस में मातृ भूमि के प्रति जो प्रेम का भाव प्रकट किया गया है वह सब दृष्टियों से अद्भुत है।

माता भूमिःपुत्रो अहं पृथिव्याः।सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। तस्मै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥

इत्यादि मन्त्र बहुत ही शुद्ध मातृ भूमि के प्रति भक्ति भावका प्रकाश करने वाले हैं।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

"इस ५६वें मन्त्र में ग्राम, जंगल, सभा, समिति, रण स्थल, सर्वत्र प्रत्येक पुरुष को मातृ भूमिके हित का चिन्तन करना चाहिये यह बात साफ शब्दों में बताई है। इसी सूक्त के ६२ वें मन्त्र में मातृ भूमि का सम्बोधन करते हुए —

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥

यह जो प्रार्थना है वह अत्यन्त शुद्ध देश भक्ति पूर्ण हृदय का उद्गार है जिस का तात्पर्य यह है कि (वयं) हम सब (प्रतिबुध्यमानाः) ज्ञानी बनते हुए (तुभ्यं) तेरे

लिये (बलिहृतः स्याम) आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की भी बलि वा आहुति देने को उद्यत रहें और तेरी सेवा करने के लिये (नः दीर्घमायुः) हमारी दीर्घआयु हो। इन मत्रों की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा पहले भी की जा चुकी है, अतः यहां फिर से मन्त्रों का विशेष विवरण करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती।

इस प्रकार सामाजिक आर राष्ट्रीय कर्तव्यों के बारे में वैदिक दृष्टि से बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। यहां प्रश्न एक यह उपस्थित होता है कि देवियों का भी इन सामाजिक वा राष्ट्रीय कर्तव्यों के अन्दर वेद के अनुसार हाथ होना चाहिये वा नहीं। इस विषय पर थोडा प्रकाश दूसरे परिच्छेद में डाला जा चुका है तो भी निम्न लिखित दो तीन और मन्त्रों पर इस के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये।

(१) ऋग्वेद म. २ अ. ४१ में सरस्वती को सम्बोधन करते हुए कहा है।

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति । अप्रशस्ता इव स्मसि, प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥

अर्थात् हे (अम्बितम) माताओं में श्रेष्ठ (नदीतमे) उपदेशिकाओं में श्रेष्ठ (देवितमे) देवियों में श्रेष्ठ (सरस्वति) विद्यावती देवि (अप्रशस्ता इव स्मसि) हम सब कुछ दुर्गुणों से युक्त हैं (अम्ब) हे मातः (नः प्रशस्तिम् कृधि) हमें इन दुर्गुणों वा बुराइयों से दूर करके उत्तम गुणी बनाओ। नद धातु का अर्थ शब्द करना धातु पाठ में दिया ही है। इस लिये मन्त्र का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि विदुषी स्त्रियों को दूसरों के दोषों को अपने उपदेशों द्वारा दूर करके सब को गुणी बनाने का अवश्य यत्न करना चाहिये।

(२) यजु० अ. २९। ३३ में निम्न मन्त्र आया है—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती । तिस्रो देवी-र्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥

इस मन्त्र में भारती इडा सरस्वता इन तीन प्रकार की देवियों के नाम आये हैं। इन से कई विद्वानों ने मातृ भूमि, मातृ भाषा तथा मातृ सभ्यता इत्यादि अर्थों का ग्रहण किया है। सम्भव है कि वह भी उन का अर्थ हो किन्तु यहां उन अर्थों का ग्रहण करने पर मन्त्र का भाव विशेष स्पष्ट नहीं होता। मेरे विचार में यहां भारती इडा सरस्वती पदों से २४, २०, १६ वर्ष की ब्रह्मचारिणियों का ग्रहण हो सकता है। इस के लिये इसी अध्याय के ८ वें मन्त्र में

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं,सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत् । इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त ॥

इस प्रकार जो आदित्य, रुद्र, वसु, ब्रह्मचारियों से इन का सम्बन्ध जोडा गया

हैं वही आधार है पर इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। खैर इन तीनों पदों से ज्ञानादि गुण युक्त देवियों का ग्रहण है इतनी बात निर्विवाद है। तब अर्थ होगा कि (भारती) भरण पोषण का उपदेश करने वाली देवी (नः यज्ञं) हमारे सम्मिलन में (तूयम् एतु) शीघ्र आए (मनुष्वत्)मनन शील ज्ञानियों की तरह (चेतयन्ती) उत्तम बातों का बोध कराने वाली (इळा) उत्तम वाणी युक्त देवी यहां जल्दी आए। इसी प्रकार सरस्वती -- परम्परा प्राप्त ज्ञान से सम्पन्न देवी यहां हमारे यज्ञ में सम्मिलित होवे। ये (स्वपसः) शुभ कर्म करने वाली (तिस्रः देवीः) तीनों तरह की देवियां (एमं) इस (स्योनं बर्हिः) सुख दायक आसन को (सदन्तु) अलंकृत करें इस मन्त्र से साफ है कि पुरुषों के समान सत्यासत्य का उपदेश कर के कर्तव्यों का बोध कराना देवियों का भी कर्तव्य है और सब सज्जनों का कर्तव्य है कि ऐसी योग्य देवियों को सभासम्मेलनों में विशेष रूपसे निमन्त्रण देवें।

(३) अथर्व ७। ४८। २ का निम्न मन्त्र भी यहां विचार करने योग्य है

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभग रराणा॥

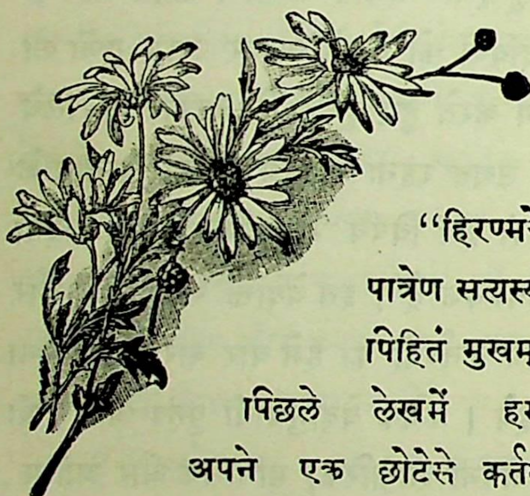
इस का अर्थ यह है कि हे (राके)पूर्णमासीके समान सब को आह्लादित करने वाली देवि ! (याः ते सुमतयः) जो तेरी उत्तम बुद्धि है और जो (सुपेशसः) उत्तम तेरा रूप है (याभिः) जिन से तू (दाशुषे वसूनि ददासि) श्रद्धालु भक्त को उत्तम ऐश्वर्य का दान करती है (सुमनाः) उत्तम प्रसन्न मन वाली तू (ताभिः) उन बुद्धि और रूपके साथ (नः उपागहि) हमारे पास आजा। हे सौभाग्यवति देवि ! (सहस्रपोषं रराणा) अत्यन्त उत्तम पुष्टि को देती हुई तू हमारे समीप आजा। तात्पर्य यह है कि देवियों को अपने अन्दर उत्तम गुणों को धारण करते हुए दूसरों के उपकार के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। लेख विस्तार के भय से इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक है। इन वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का हमें बार बार मनन करना चाहिये। प्रत्येक वेदानुयायी पुरुष और स्त्री को अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकाश करते हुए परोपकार में उन्हें लगा देना चाहिये। मातृ भूमि की सेवा करना प्रत्येक पुरुष का प्रधान धर्म है कभी कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये जिस से मातृ भूमि का अहित होता हो। इस प्रकार वैदिक आर्य जीवन बनाते हुए ही हम अपने जीवन को पूर्ण सुखमय बना सकते हैं अन्यथा नहीं॥

६

दयानन्द जन्म शताब्दिके उपलक्ष में संगृहीत ।

वैदिक--उपदेश--माला ।

(४)
प्रलोभन को जीतना ।



"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्"।

पिछले लेखमें हमने अपने एक छोटेसे कर्तव्य (प्रातः जागरण) पर विचार किया था। उसी प्रकार व्यायाम, युक्ताहार, संध्या, यज्ञ, स्वाध्याय आदि हमारे बहुत से कर्तव्य हैं जिन्हें कि बिना पालन किये हमारा कल्याण नहीं हो सकता है । हमें अपनी अवस्था और समय के अनुसार अपने कर्तव्योंका निश्चय करना चाहिये और फिर उसपर दृढ होना चाहिये। इन अपने कर्तव्यों, अपने धर्मोंका सेवन करनेसे ही एक आर्य " आर्य " है; एक मनुष्यशरीरधारी 'मनुष्य' हो सक्ता है, क्यों कि एक मात्र इन्हीं धर्मोंके अनुसार चलते हुवे ही हम अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सक्ते हैं और सर्व प्रकारकी वास्तविक समृद्धि प्राप्त कर सफल जीवन हो सकते हैं।

इस लिये हम इस बार इस अति महत्व की बातपर विचार करेंगे कि हम अपने धर्मपर दृढ कैसे रहें -- अपने धैर्यसे हमें विचलित कराने वाली कौनसी चीज है जिसे जान लेनेपर हम सहजतया धर्मसेवी बन सकते हैं-- किस एक शत्रुपर विजय पालने से हमें कर्तव्य से विचालित होनेका डर नहीं रहेगा। आशा है कि हम इस चौथे उपदेश को ग्रहण करनेके लिये सर्वथा उद्यत होंगे।

यजुर्वेदके चालीसवें अध्याय का यह प्रसिद्ध वाक्य है --

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्"
"चमकते हुवे सोनेके ढकने से सत्य का मूंह ढका हुआ है" जो मनुष्य इसकी सचाई को हृदयमें

कर लेते हैं वे सदा सन्मार्ग को ही चुनते हैं। यह एक ऐसा सत्य है जो सर्व जगत् में फैला हुआ है। सब जगह सचाई चमकीले ढकनेसे ढकी हुई है इसीलिये मनुष्य उस चमक में फस जाता है, किन्तु उसे अलगकर सत्यपर नहीं पहुंच सकता। संसारमें सब कहीं यही आकर्षण व चमक है जो कि हम फसाती है -- हमें प्रलोभित करती है। यह इन्द्रियों के सुख हैं, भोग हैं। आराम है, धन दौलत है, यश है। परन्तु मनुष्यका असली मार्ग इससे बच करके जाता है। कठोपानिषद् म यह वर्णन है कि नचिकेता नामक जिज्ञासु मृत्युके पास गया। मृत्युके कहे तीन वरोंमें से उसने दो वर मांगे जो उसे आसानीसे मिल गये। फिर तीसरा वर उसने यह मांगा कि मुझे बताओ कि मरकर जीव का क्या होता हैं। अथवा आत्मा है या नहीं। परन्तु मृत्युने उससे कहा कि इस विषयमें वडे वडे देवभी संशयित होते हैं, यह गंभीर बात है, इसे मत पूछो उसने आग्रह किया। मृत्युने तब कहा कि तू हाथी, घोडे, रथ, दिव्य स्त्रियां, दीर्घजीवन, राज्य जो चाहे लेले, मैं तुरन्त दे दूंगा, पर इस प्रश्न को मत पूछ, परन्तु धीर नचिकेता ने देखा कि भोगोंसे तो केवल इन्द्रियोंका तेज जीर्ण होता है, दीर्घायु भी मैं ऐसी संशयित अवस्था में लेकर अधिक दुःखी ही होऊंगा - मुझे तो वह अवस्था चाहिये जो मरण रहित हैं। अन्तमें मृत्युको उसे उसका वर देना पडा, तब उसने कहा है कि दुनिया में दो मार्ग हैं, एक श्रेय मार्ग और एक प्रेय मार्ग। एक वह मार्ग है जो हमारे कल्याण का मार्ग है और एक वह मार्ग है जो हमें सुन्दर और प्रिय मार्ग प्रतीत होता है। ये दोनों मार्ग सभी मनुष्योंके सामने आते हैं। अविवेकी पुरुष इनमें से खिंचाकर दुःख के मार्ग में चला जाता है परन्तु धीर पुरुष विवेक पूर्वक इस कल्याण के परन्तु कठिन मार्ग को चुनता है। जो मनुष्य प्रलोभन के आनेपर उसमें नहीं फसता वही धीर है। यह अवस्था हरएक मनुष्यके सन्मुख प्रतिदिन आया करती है। एक तरफ आनन्द होता है, एक तरफ कठिनता, एक तरफ प्रलोभन होता है, एक तरफ अपना कर्तव्य। उस समय वे ही मनुष्य सन्मार्ग को ग्रहण कर सकते हैं जिनके मनने बार बार मनन करके इस वेदके उपदेश को ग्रहण किया है --

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

संसार में सब जगह यह धोखा भरा हुआ है। सत्य आडमें छिपा बैठा है। जो इस धोखेमें नहीं आते वे ही धन्य हैं। परन्तु क्या हममें से अधिकांश ऐसे नहीं हैं जो इन्द्रियों की खिंचावट में फंस जाते हैं; और समय के श्रेष्ठ मार्ग को छोड देते हैं। भोग में फंस जाते हैं; ब्रह्मचर्य को छोड देते हैं। धनमें फंस जाते हैं, धर्म को छोड देते हैं। जो इन छोटे प्रलोभनों को जीत भी लेते हैं वे फिर मान में फंस जाते हैं और सत्यको छोड देते हैं। यह इसी लिये कि हमने इस

वेदोपदेश को ग्रहण करके विवेक की आदत नहीं बनाई है। हरएक आर्य समाज के सभ्यको अपने आर्य कर्तव्यको पालन करने के लिये **यह ज्ञान** ग्रहण करना चाहिये। यदि हमने अपने जीवनपर विचार करनेका समय बना लिया है तो दिन भर की ऐसी अवस्थाओंको गिनना चाहिये, जब जब प्रलोभन और कर्तव्य का मुकाबिला हुआ हो और सायंकाल के समय यह देखना चाहिये कि मैं कब कब प्रलोभन में फंसा और क्यों फसा इत्यादि। और फिर प्रातःकाल परमात्मा से बल मांगकर अगले दिन में प्रविष्ट होना चाहिये और दृढ निश्चय करना चाहिये कि आज सब प्रलोभन को जरूर परास्त करूंगा। इस विधस धीरे धीरे आप का वह अभ्यास हो जायगा। श्रेय और प्रेय दोनों वस्तुओंके आते ही आप शीघ्र ही श्रेयको ग्रहण कर लिया करेंगे। प्रत्येक आर्यको धर्मारूढ बनने के लिये यह अभ्यास प्राप्त करना चाहिये।

हमारे आचार्य दयानन्द को पूर्वजन्म से ही वह विवेक बुद्धि प्राप्त थी। उन्हानें मृत्यु के सवाल को हल करनेके लिये घर छोडा, जायदाद छोडी, गृहस्थ छोडा और सत्यकी तलाशमें जगह जगह धक्के खाना, जंगलोंमें कांटोंसे लोहूलुहान होकर फिरना, नाना कष्ट सहना इस सबको स्वीकार किया। विद्या प्राप्त करनेके बाद भी यदि वे चाहते तो कहीं सुखसे बैठ सकने थे, परन्तु वे हिरण्मय पात्र की फंसावट से दूर हो चुके थे इस लिये लोगोंके ईंट पत्थर उन्होंनें सहे, गालियां सहीं, जहर खाना भी सहा, परन्तु सत्य प्रचार को नहीं छोडा। एक राजाने उनसे कहा कि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड दीजिये और यह सब राज्य आपका ही है। शायद् हमें यह बडा आसान-सुगम-प्रतीत होता होगा कि वे कह देते " मूर्तिपूजा अच्छी है "। परन्तु उन्होंने सत्यको देखा हुआथा, वे स्वप्नमें भी इस फंसावट में नहीं फंस सके थे। हम में से कितने होंगे जिन्हें यदि कहा जाय कि तुम्हें हजार रुपये देंगे तुम इतना झूठ बोल दो, तो वे झूठ नहीं बोल सकेंगे। केवल दस रुपये दिये जाने पर भी अपनी मातृभूमि के विरुद्ध लडनेके लिये हम में से हजारों तैयार हो जाते हैं। ऐसे कितने पुरुष हैं जो सस्ता होनेके कारण आज भी विदेशी कपडा ले सकते हैं दो एक रुपयों का ही प्रलोभन उन्हें फंसा लेनेके लिये काफी है। ऐसे भी लोग हैं जो क्यों कि खद्दर मोटा होता है और अच्छा नहीं लगता केवल इसीलिये स्वदेशी धर्मको त्याग सकते हैं। इसी प्रकार हम अपनी थोडीसी सहूलियत के लिये भी अपने कर्तव्य और धर्म का बलिदान कर डालते हैं। यह हमारी कितनी गिरी हुई अवस्था है। हमें वेद की शरण जाकर हिरण्य की चमकसे बचना चाहिये, तभी कल्याण होगा। क्या यह वेदोपदेश हमें उठाकर सच्चा आर्य नहीं बना सकेगा।

ऋषि दयानंद का इस संसार म आकर जो महान् कार्य हुआ है उसे एक शब्दमें हम

यों कह सकते हैं कि उन्होंने प्रेय मार्ग में बहे जाते हुवे लोगों को खडे होकर श्रेय मार्गका अवलम्बन करना बतलाया। जब वे उत्पन्न हुवे उस समय इस देशमें पश्चिमी सभ्यता जोरोंपर बह रही थी--सभी लोग इसकी चमक दमक में फंसकर बह जा रहे थे— इस देशकी पुरानी तपोमय वैदिक सभ्यता नष्टप्राय थी। तब ऋषिने आकर अपने ब्रह्मचर्यके तपसे इस लहर को रोका। यह कितना कठिन काम था। यह ब्रह्मचारि ही कर सकता था। जब संसार की आंखें खुलेगी तब दुनिया यह समझैगी कि हम दयानन्द के कितने ऋणी हैं। पश्चिमी सभ्यता का सारांश है भोग विलास। और हमारी सभ्यता है संयम और सरलता। इस लिये आर्य समाजका उद्देश संसार को प्रय मार्गसे हटाकर श्रेय मार्गपर लानाही है। परन्तु यदि आर्य लोगभी सत्यको छोड चमक दमकमें फसनेवाले हों, तो कितने दुःखकी बात है। जो आज हम दयानन्दका स्मरण करके अपने म यह व्रत लेना चाहिये कि हम श्रेय मार्गपर ही चलेंगे उसमें चाहे कितने दुःख क्यों न हों। तभी हम अपना कल्याणकर सकेंगे और आर्य समाज द्वारा जगत् का कल्याण भी तभी कर सकेंगे।

निस्सन्देह संसार म धोखा है परन्तु इससे बचनेकी कुञ्जी यही है—

" हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। " संसार में जितनी कल्याण की चीजें हैं वे बुरी मालूम होती हैं और हमारे नाशकारी वस्तु सुन्दर और प्रिय दिखाई देती है। परन्तु कडवी औषधिही हितकारी होती है और जिह्वा को आनन्द देनेवाले भोजन स्वास्थ्यका नाश करते हैं। सांप जैसे सुन्दर चमकते प्राणीके अन्दर जहर की थैली रखी होती है और फूलोंमें कांटे होते हैं; यह बात हमें याद रखनी चाहिये। भोग अन्तमें विषकी तरह घातक होते हैं यह आजसे हरएक आर्य को ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिये। आराम जरूर प्रिय मालुम होता है परन्तु फल हमेशा परिश्रम करनेसे ही प्राप्त होता हैं। समय के कठोर छिलके के अन्दर ही हमारे लिये अमृतमय फल रक्खा हुआ है। जो हमारे हितकारी मनुष्य हैं वे अकर्मक नहीं हैं! उनकी नसीहतें हमें कडवी मालुम होती होगी। परन्तु हित वहीं है। इसके विपरीत ठग लोग बडे रोचक होते हैं, मधुर वाणी बोलते हैं पर वे हमारा सब धन हरलेते हैं। इस प्रकार कई प्रकारसे यह जगत् प्रलोभक है। हमें सन्मार्ग से हटानेके लिये इसमें बहुतसे फांस हैं; हमें इसी वद वाक्य का अवलम्बन कर इस संसारसे तरना है। प्रलोभन को छोडते हुवे कर्तव्य पर ही लगन लगाये रखनी है। हमारी बुद्धि ही ऐसी हो जानी चाहिये कि हमें अकर्तव्य कभी प्रलोभित न कर सके बल्कि जितनी प्रीति अविवेकी पुरुष की खिंचावट के अन्दर होती है उससे भी अधिक आसक्ति हमारी कर्तव्य में— धर्ममें हो जाय। तब हम इस सौंदर्यको देख सकेंगे कि किस प्रकार हमारा परम

कल्याणकारी करुणासागर भगवान् हमें बिल्कुल प्रलोभित न करता हुआ छिपा हुआ बैठा ह । मानो वह है ही नहीं; किन्तु यह प्रकृति चमक दमक कर हमारी आंखोंमें इतनी तीव्रता स प्रविष्ट हो रही है कि मानो यही सब कुछ है और कुछ है ही नहीं । इस वेद वाक्य का अन्तिम अर्थ इस प्रकृतिके ढकने को हटाकर अन्दर छिपे हुवे सत्य स्वरूप परमात्माको प्राप्त करने से है । यह भगवान् ही हमें ऐसा बल दे कि हम इस ढकनका हटाकर उसक सत्य स्वरूपको देख सकें ।

सारस्वत परिचय ।

(१) **शांतिनिकेतनमाला** (अनुवादक श्री० सरस्वती नंदन । प्रकाशक -श्री० ना० ब० चव्हाण, शांतिनिकेतन कार्यालय, नारायणाश्रम, पूना शहर)

बंगालके कविसम्राट् रवीद्रनाथ टागोर का नाम न केवल अपने भारत में प्रत्युत संपूर्ण जगत् में सुप्रसिद्ध है । इनका गद्यपद्यात्मक वाङ्मय काव्यमयी विशेषता युक्त अद्भुत रसास्वाद रखता है। इनके उज्वल लेखसे जिसका चित्त आकर्षित नहीं होगा, ऐसा कोई भी मनुष्य न होगा। इनके अद्भुत लेख वंग भाषामें हैं, इन लेखोंका मराठीमें रूपांतर करने का प्रशंसनीय काय श्रीयुत सरस्वती नंदन कर रहे हैं, यह उनके महाराष्ट्रपर अनंत उपकार हैं । जगत के संपूर्ण देशोंकी विविध भाषाओं में कविसम्राट् रवींद्रनाथ टागोर जी का ग्रंथसंग्रह रूपांतर होचुका है, इस प्रकार के जगमान्य श्रेष्ठ सारस्वतका मराठीभाषामें भाषांतर करके मराठीभाषाभाषियों को काव्यमय सुधारस पिलानेका श्रेय अनुवादक और प्रकाशक ले रहे हैं, इसलिये हम उनका धन्यवाद किये विना नहीं रह सकते । हमें आशा है कि मराठी वाचक इनका योग्य स्वागत करेंगे।

(२) **अलंकार** -(संपादक -श्री० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार। गुरुकुल कांगडी-जि. बिजनौर। वार्षिक मूल्य ३)

गुरुकुल कांगडीके स्नातकोंने इस मासिक का प्रारंभ किया है। इतना कहने से ही इसकी उच्चताका पता लग सकता है। मासिक का प्रथम अंक हमारे सामने है जो देखनेसे हम कह सकते हैं कि यह सच मुच आर्यों केलिये "अलंकार" ही है।

(३) **हिंदी राजस्थान** -संपादक-श्री. निरंजन शर्मा अजित । वार्षिक मूल्य ८) कार्यालय, देहली ।

यह हिंदी भाषाका साप्ताहिक पत्र देसी रियासतों के राजाओं और प्रजाका सच्चा हित करने के उद्देश्य से प्रकाशित हो रहा है । भारत वर्षीय सर्व साधारण राजकीय अवस्थाकी समालोचना भी इसमें प्रकाशित होती है । पत्र सर्वांग सुंदर और पठनीय है।

[४] **योग मीमांसा** । (अंग्रेजी)

यह त्रैमासिक प श्रीमान योगिराज कुवलयानंदजी महाराज प्रसिद्ध करना चाहते हैं जिसका प्रथमांक आगामी अक्टूबरके प्रथम सप्ताह में प्रसिद्ध होगा । वार्षिक मूल्य ६)

रु० और एक अंकका मूल्य२) है। यह८० पृष्ठोंका सचित्र त्रैमासिक होगा और उपयोगी योग प्रक्रियाओंका सुगम वर्णन इसमें प्रसिद्ध होगा।

श्री० कुवलयानंदजी का कैवल्यधाम नामक आश्रम लोणावला स्टेशनपर (पूना और मुंबईके मध्यमें) सुंदर पहाडीपर है। कई वर्षोंके निरंतर योगसाधन के अभ्यास से श्री०कुवलयानंदजीने योगविषयक कई सिद्धियां प्राप्त की हैं। जिनका उपयोग करने से यह निश्चय हो गया है कि आरोग्य रक्षा करने के जितने साधन इस समय प्रचलित हैं उन सबमें योग साधन ही सबसे मुख्य है। अन्य साधनो के दोष इसमें नहीं हैं और इसमें स्वयं कोई दोष नहीं है।

आसन प्राणायाम की विचारसे योजना और खानपानका पथ्य करनेसे प्रायः संपूर्ण रोग मनुष्यसे दूर हो सकते हैं और आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

बद्धकोष्ठ, अपचन, सिरदर्द, बवासीर, हृदयरोग, मज्जारोग, मद, मधुमेह, उन्माद, क्षय, तथा इतर विविध रोग केवल योग चिकित्सासे दूर होते हैं और इस के लिये किसी प्रकार औषधि प्रयोग की कोई जरुरी नहीं है। स्त्रियों के संपूर्ण गुप्त रोग दूर करनेके लिये और पुरुषोंकी इंद्रियनिर्बलता हटानेके लिये योगचिकित्साके समान कोई दूसरा साधन ही नहीं है। मानसिक उदासीनता तथा मन का क्षोभ इसीसे त्वरित दूर होते हैं।

उक्त रोगोंकी प्रत्यक्ष चिकित्सा करनेका कार्य श्री० कुवलयानंदजी अपने कैवल्य धाममें नित्यशः करते हैं और जिनको कोई-शंका हो वह वहां जाकर अपनी शंका निवृत्त कर सकते हैं।

योग साधन जो तरुण स्वंय सीखना चाहते हैं उनको विशेष शर्तोंसे बाधित होने पर वहां मुफ्त सिखाया भी जाता है। परंतु सीखने वाले के लिये संस्कृत और अंग्रेजीका ज्ञान अत्यावश्यक है, इसके विना उसका प्रवेश अंदर नहीं हो सकेगा। जो सीखनेकी इच्छा कर रहे हैं वे श्री० कुवलयानंद जीसे पत्रव्यवहार करें। पता यह है — श्री० कुवलयानंद, कुंजवन, लोणावला॥

(५) आर्य जगत् — (हिंदी साप्ताहिकपत्र -- संपादक — श्री.खुशालचंदजी वार्षिक मूल्य४) मैनेजर "आर्यजगत्" लाहोर

यह साप्ताहिक श्री. आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि पंजाब का मुख पत्र है। प्रथमांक हमारे सन्मुख है, जो देखनेसे हम इस के उदार विचारों का अभिनंदन किये विना नहीं रह सकेत।

(६) महाराष्ट्र धर्म – (मराठी साप्ताहिक पत्र। संपादक –श्री. गोपाळ नरहर काळे, सत्याग्रहाश्रम, वर्धा; वार्षिक मूल्य ३।।।-

एक वर्ष पूर्व इसी नामसे एक मासिक पत्र श्री. विनोबाजी के संपादकत्व में प्रकाशित होता था। परंतु सार्वभौम सरकार के अतिथि बननेका सौभाग्य संपादक महाशय

जीको प्राप्त होनेके कारण वह मासिक बंद हो गया, अब फिर संपादक जी अपने सत्याग्रह श्रममें आकर कार्य करने लगे हैं, और अपने ओजस्वी विचार प्रतिसप्ताह मराठी वाचकों को दे रहे हैं। इनका यहा एक साप्ताहिक मराठीभाषामें प्रकाशित होता है कि जो धर्मभाव को प्रधान रख कर जनताको राष्ट्रधर्म की शिक्षा दे रहा है।

(७) शिल्प शिक्षणाचें महत्व-(लेखक- श्री . कृष्णाजी विनायक वझे, मूल्य ॥) नासिक शहर।

आर्य शिल्पशास्त्र का बीसियों वर्षोंसे अभ्यास करनेके बाद लेखक महोदय ये ग्रंथ मराठीभाषामें प्रसिद्ध कर रहे हैं। इनके अंग्रेजी लेख आर्य शिल्प शास्त्रके संबंधमें "वैदिक मेगजिन"में प्रसिद्ध हो रहे हैं और इस "वैदिक धर्म" में भी कई लेख प्रसिद्ध हो चुके हैं। इनके लेख पढनेसे हमारा निश्चय हुआ है कि आर्य शिल्पशास्त्र के विषयमें ये लेख नीश्चयसे मार्गदर्शक बनेंगे। " हिंदी शिल्पशास्त्र " पर कई पुस्तक प्रसिद्ध करनेका लेखक का विचार है, यदि कोई हिंदी पुस्तक प्रकाशक इनके पुस्तकों के हिंदी अनुवाद छापेगा तो हिंदीजनतापर बडा उपकार होगा, क्यों कि इनके ये ग्रंथ अत्यंत उपयोगी हैं।

वैदिक सिद्धान्त की उच्चता।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चताका कारण।

इस समय तक वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का वेद के अनुसार दिग्दर्शन कराया जा चुका है। चतुर्थ परिछेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की अन्य मत के कर्तव्य शास्त्रों स तुलना करके दिखाई गई है। इस वैदिक कर्तव्य शास्त्र की विशेषता क्या है, क्यों इसे ही हम सर्वोच्च मानते हैं इस विषय पर थोडा सा प्रकाश डालना जरूरी मालूम देता है। वैदिक धर्म की बडी भारी विशेषता जिस की ओर अनेक वार ध्यान आकर्षित किया जा चुका है वह यह है कि मनुष्य मात्र के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नतिके मुख्य तत्त्व इसके अन्दर स्पष्टरूप से पाये जाते हैं। अन्य कीसी भी मतके ग्रन्थों में इतनी स्पष्टता और उत्तमता से इस समविकाश का प्रतिपादन नहीं किया गया। प्रथम परिच्छेद में इस समविकाश के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा चुके हैं इस लिये फिर उन्हें न दुहराते हुए सम विकाश के साथ मिलते जुलते एक दूसरे तत्व की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसे मध्य मार्ग के नाम से कहा जा सकता है। संसार में प्रायः देखने में आता है कि मनुष्य मध्य मार्गका अवलम्बन न कर के किसी न किसी पारकाष्ठा पर तुल जाते हैं। उदाहरणार्थ कई पुरुष ऐसे हैं जो केवल अपनी ही वैयक्तिक

उन्नति से सन्तुष्ट रहते हैं और सामाजिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। समाज सेवा करना भी प्रत्यक व्यक्ति का आवश्यक कर्तव्य है इस तत्त्व को वे नहीं स्विकार करते। दूसरे कई ऐसे पुरुष हैं जो पर्याप्त तौर पर अपना शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियों के विकास करने का प्रयत्न न कर के केवल दूसरों की उन्नति के विचार में ही तत्पर रहते हैं वास्तव में देखा जाए तो ये दोनों ही आवश्यक हैं। दोनो में से कोई एक पर्याप्त नहीं। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में सम्भूति असम्भूति पदों से सामाजिक और वैयक्तिक भाव का वर्णन करते हुए यह कहा है कि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूति-
मुपासते। ततो भूय इव ते तमो
य उ संभूत्यां रताः॥ यजु. ४० । ८

अर्थात जो केवल वैयक्तिक भाव के अन्दर मग्न रहते हैं वे अन्धकार को जाते हैं इस में कोई सन्देह नहीं किन्तु जो अपनी उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान देकर दूसरों की ही उन्नति की चिंता करते हैं अर्थात् समाज के लिये जितनी योग्यता की आवश्यकता है उस को प्राप्त करने तक का यत्न नहीं करते वे उस से भी घने अन्धकार में जाते हैं। ज्ञान कर्म के विषय में भी वैसा ही विवाद प्रचलित है। कई सांख्य मार्गी केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म सब छोड देने चाहिये ऐसा बोलते हैं। मीमांसक लोग केवल यज्ञ यागादि करने मात्र से ही स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं। वेद के अन्दर दोनों को मिलाने से ही वस्तुतः सद् गति होती है और सच्चा मनुष्य का कल्याण होता है ऐसा विद्या अविद्याके नाम से क्रमशः ज्ञान और कर्मका ग्रहण करते हुए बताया गया है। वेद में जहां ज्ञान की महिमा में—

"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'
(ऋ. १० । ९० । १५)

ऐसा कहा है कि ब्रह्मज्ञान से ही पुरुष मृत्यु के पार जाता है अन्य मोक्ष प्राप्त करने वा दुःख सागर से पार होने वाला कोई उपाय नहीं है वहां कर्म की महिमा में—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं
समाः (यजु. ४० । १)

इत्यादि अनेक मन्त्र आये हैं जिन में प्रत्येक पुरुष शुभकर्मोंको करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है। इसी कर्म के विषय में ऋ. ९ । ३६ । ३ में यह प्रार्थना आई है।

स नो ज्योतींषि पूर्व्य पवमान विरोचय।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु॥

अर्थात् हे (पूर्व्य पवमान) पूर्वज, पवित्र करने वाले विद्वान्! (स नः ज्योतींषि विरोचय) तू हमारे लिये ज्योति को हृदयमें जगा दे और (नः) हमें (क्रत्वे दक्षाय) कर्म और बलके लिये (हिनु)

प्रेरणा कर । ऋ ९ । ४ । ३ में इसी प्रकार
'सना दक्षमुत ऋतुमुप सोममृधो जहि ।
यह प्रार्थना है जिस में पूर्वोक्त कर्मण्यता और बलवृद्धि और अहिंसा भाव के दूर करने का भाव सूचित किया गया है । ज्ञान कर्म दोनोंको मिलाने से ही सच्ची उन्नति हो सकती है यह—

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह'

इत्यादि वेद मन्त्र का अभिप्राय है यद्यपि कई मान्य विचारकों ने यहां विद्या अविद्या पद से आध्यात्मिक और प्राकृतिक ज्ञान का ग्रहण किया है । इसी तरह भोग त्याग का वेद के अन्दर जितना सुन्दर मेल किया गया है उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ में न होगा।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य । स्विद्धनं ॥ (यजु . ४० । १)

इन शब्दों के अन्दर बडा भारी तत्त्व है । जगत् का त्याग पूर्वक भोग करो, लोभ मत करो यह धन प्रजापति परमेश्वर का ही है ऐसा सदा विचार करो यह सीधा अर्थ है । ऐसा संसारके अन्दर प्रचलित मुख्य मुख्य मतोंमें से नवी वेदान्त बौद्ध ईसाई मत आदिने जगत् को दोष और बन्धन रूप मान कर केवल त्यागको ही दुःख से छूटने का एक मात्र साधन बताया है। दूसरी ओर चार्वाकादि ने ' यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ॥' कह कर खाओ पीओ मौज उडावो इस भोगमय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

वास्तव में गम्भीर विचार करने पर मध्यमार्ग का अवलम्बन ही सब से श्रेष्ठ है जिस मध्यमार्ग का वेद में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' इन शब्दों द्वारा निर्देश किया गया है यह बात स्पष्ट हो जाती है। वेद में केवल अपने पेट भरने के लिये धन का उपभोग करने वाले को पाप का उपभोग करने वाला बताया है इस बातका सप्रमाण पहले उल्लेख किया जा चुका है । श्रद्धा तर्क दोनों विरुद्धाभास वस्तुओं को भी वेद में मिला कर उपयोग करनेका-

'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।'
अ. १०।२।२६

इत्यादि द्वारा स्पष्ट उपदेश किया गया है । स्थितप्रज्ञ योगी पुरुष अपने मस्तिष्क और हृदय को सी कर कार्य करता है ऐसा मन्त्र का शब्दार्थ है। काव्य की भाषा में श्रद्धा तर्क को मिला कर कार्य करने का इस से बढ कर उत्तम शब्दों में उपदेश मिलना अत्यन्त कठिन है। इस तरह वैदिक कर्तव्य शास्त्र की बडी भारी विशेषता सम विकास के साथ साथ मध्य मार्ग का उपदेश है जिस का अन्य मतों के कर्तव्यशास्त्रों में प्रायः अभाव सा पाया जाता है।

वैदिक कर्तव्यशास्त्र की सर्वोच्चताका दूसरा कारण इस के उपदेशों की ओजस्विता है। ईसाई मत के समान अन्य कई संप्रदायों का भी यह विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से पापी और पतित है ! पौराणिक भाई सन्ध्या के समय "पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः"

इत्यादि कहने में अपना गौरव समझते हैं पर वेद का आशय उस प्रकार का नहीं है। वेद के अन्दर सब मनुष्यों को सर्व शक्तिमान् अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र मानते हुए जविात्मा में सब पापों और काम क्रोधादि आत्मिक शक्ति को कम करने वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है इस भाव को बार बार सूचित किया गया है। इस विषयक प्रमाणों का प्रथम परिच्छेद में उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक जीवन में भी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति ही सदा ध्येय होना चाहिये, यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त है पापों से सर्वथा मुक्त कोई साधारण पुरुष नहीं, कोई भी ऐसा नहीं जिस के अन्दर किसी तरह की निर्बलता न हो यह बात ठीक है, ता भी अपने को बार बार पापी और निर्बल कहने से सिवाय अपनी शक्ति का दिन प्रति दिन अधिक क्षीण करने के और क्या लाभ होसकता है, इस लिये वेद पाप की तरफ जाने की प्रवृत्ति और निर्बलता को रोकने के लिये उस से विरुद्ध प्रबल भावना को धारण करने का उपदेश करता है।

'अदीना स्याम शरदः शतम् '

सौ वर्षों तक हम दनिता के भाव से रहित हो कर प्रभाव शाली जीवन बनाते हुए कार्य करें यह भाव वेदोंमें हजारों जगह पाया जाता है। वेद के मन्तव्यानुसार मनुष्यका शरीर ऋषियों का एक पवित्र आश्रम है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) यह शरीर देवता ओं का एक पवित्र मन्दिर है (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) क्यों कि सूर्य चन्द्र वायु जल इत्यादि हमारे शरीर में आंख मन प्राण वीर्यादि के रूप में विद्यमान हैं। सर्व शक्ति मान परमेश्वर हम सब मनुष्यों का पिता है, उस सर्व शक्तिमान प्रभुके पास रहने का हमारे आत्मा को जन्मसिद्ध अधिकार मिला हुआ है वेद स्पष्ट शब्दों में "सखा नो असि परमा च बन्धुः" "युज्यो मे सप्त पदः सखासि" (अथर्व ५ । ११) 'इंद्रस्य युज्य सखा:" (ऋ. १।२२। १९)द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (ऋ१ । १६४ ।) इत्यादि मन्त्रों द्वारा जीव और परमेश्वर को मित्र बताता है।

भिन्नता लगभग समान बल वालों में ही हो सकती है इस लिये यह स्प. है कि जीवात्माके के अन्दर भी गुप्तरूप से बडी दिव्य अद्भुत शक्ति विद्यमान है, ऐसी अवस्था में अपने को हीन दीन दुर्बल पतित मानना कितना अनुचित और हानिकारक है। आत्मविश्वास तथा ईश्वर भक्ति आदि के द्वारा हम आत्माके अन्दर गुप्त रूप से विद्यमान शक्तियोंका विकाश करके सब पापों से छूट सकते हैं फिर हम अपने को बार बार पापी पापी कहा कर क्यों अपनी शक्ति का नाश करें यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का तात्पर्य है। मनुष्य को अपने को दासता के सब बन्धनों से मुक्त करना चाहिये, चाहे वे बन्धन आरम्भ में कितने हि उत्तम सुखदायी मालूम देवें, इस बात को " उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ॥ अ. ७ । ८३ । ३ ॥ तथा— ". प्रास्मत्पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तम,

अधमा वारुणा ये। दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।
अथर्व ७।८३।४

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है जिनमें उत्तम मध्यम नीच सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है, साथ ही यहां यह कहा है कि दुष्ट स्वप्न तथा सबके दुर्व्यवहारको तुम हम से दूरकर दो, जिससे हम उत्तम लोक में जाएं अर्थात् सद्गति प्राप्त करें। इन मन्त्रोंके साथ ही 'अश्मन्वती-रीयते संरभध्वम्' इत्यादि ऋग्वेद और यजुर्वेद में पाये जाने वाले मन्त्रका फिर से यहां स्मरण करना चाहिये। जिसमें संसार को एक पथरीली नदी से उपमा देते हुए यह उपदेश किया है कि परस्पर सहायता करते हुए और बुरी बातों के त्याग पूर्वक अच्छे गुणों का ग्रहण करते हुए तुम सब इस संसार नदीके पार चले जाओ। ये उपदेश कितने ओजस्वी हैं और किस प्रकार एक मुर्दे दिल के अन्दर भी नया जीवन फूंकनेकी शक्ति इनमें पाई जाती है इस बातको विद्वान अपने अनुभव से जान सकते हैं। यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि वेदमें महत्वाकांक्षा को कोई बुरा नहीं माना गया। स्थान स्थान पर सर्वोत्कृष्ट होने और यश वर्चस इत्यादि से सम्पन्न होने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। इस विषयमें निम्न लिखित दो तीन मन्त्र विशेष विचारने योग्य हैं —

(१) यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती । यशो भगस्य विन्दतु यशो मे प्रति मुच्यताम्। यशस्व्यस्याः संसदेऽहं प्रवदिता स्याम॥ साम पू. ६।१२।१०

अर्थात् द्युलोक और पृथिवी मुझे यश देवें। इन्द्र (शूरवीर राजादि) और ज्ञानी गुरु मुझे यश दें। ऐश्वर्यका यश मुझे प्राप्त हो। यशकी मेरे ऊपर वृष्टि हो जाए, मैं यशस्वी हो कर इस परिषद् के अन्दर (प्रवदिता स्याम्) सब से उत्तम भाषण करने वाला हो जाऊं। इस तरह की भावना और महत्वाकांक्षा प्रत्येक राष्ट्रीय सेवक को धारण करनी चाहिये।

(२) यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे। यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥
अ० ६।५८।१

इस मन्त्र में भी ऐश्वर्यशाली पुरुष, द्युलोक पृथिवी लोक, सर्वोत्पादक परमेश्वर ये सब मुझे यशस्वी बनाएं और मैं दानियोंका प्रेम पात्र बनूं यह प्रार्थना की गई है।

(३) यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत। यशा विश्वस्य भूतस्याऽहमस्मि यशस्तमः॥
अ० ६।३९।३.

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अग्नि चन्द्र इत्यादि देव अथवा राजा ज्ञानी नेता सौम्यगुणयुक्त पुरुष यशस्वी हैं उसी प्रकार मैं भी सब प्राणियों के बीचमें सब से बढ कर यशस्वी होऊं वर्च वा तेजके लिये —

'येन हस्ती वर्चसा सं बभूव येन

राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः । येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ”

अथर्व ३।२२।३

इत्यादि मन्त्र देखने योग्य हैं। इन मन्त्रोंके देखने से यह बात साफ जाहिर होती है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र में महत्वाकांक्षा को बडा ऊंचा स्थान दिया गया है। निष्काम भाव का उपदेश वेद में–

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

(यजु. ४०। २) तथा 'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' इत्यादि मन्त्रों द्वारा अवश्य किया गया है किन्तु उस पर मालूम होता है बहुत अधिक बल नहीं दिया गया। इस समय तक मुझे निष्काम भाव के सूचक ये दोतीन निर्देश ही मिले हैं कारण यह होगा कि सर्वथा निष्काम भाव को क्रियात्मक जीवन के अन्दर लाना अत्यन्त कठिन है। साधारण पुरुषोंके आगे जब तक कोई सीधा प्रेरक भाव न रहे वे शुभकर्मों के अनुष्ठान में भी तत्पर नहीं होते,इस लिये वेद में आदर्श के तौर पर निष्काम भावका निर्देश करते हुए भी उस पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया गया। मनु महाराज ने अपने धर्मशास्त्र में –

“अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ ”

ये जो श्लोक कहे हैं इन पर भी यहां मनन करनेकी आवश्यकता है। इन श्लोकोंमें बताया गया है कि सर्वथा निष्काम होना संभव ही नहीं है वेदाध्ययन तथा वेदोक्त कर्मयोग करनेकी कामना अवश्य होनी ही चाहिये। इस विषय में अधिक कहना कठिन है।

ऊपर यश वर्च इत्यादि विषयक प्रार्थनाएं दी जा चुकी हैं, धन के विषय में 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'। इत्यादि असंख्य प्रार्थनाएं वेदमें पाई जाती हैं पर इस बातको कभी नहीं भुलाना चाहिये कि वेदमें सत्य यश श्री इन तीनों को उत्कृष्ट मानते हुए सत्य को ही सर्वत्र मुख्य स्थान दिया गया है।

'सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्'

यह जो वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है यह वेद मन्त्र नहीं तो भी उसका आधार यजुर्वेद के निम्न लिखित मन्त्र पर है–

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥

यजु० ३९।४

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि मैं (मनसः) मनकी (कामम्) कामना और (आकूतिं) शुभ संकल्प को (अशीय) प्राप्त करूं अर्थात् मेरे मनोरथ पूर्ण हों (वाचः सत्यम् अशीय) वाणीकी सत्यता का भोग करूं– सदा वाणीसे सत्य बोलूं (पशूनां रूपम् अन्नस्य रसः) पशु-

ओंका उत्तम रूप और अन्नका अच्छा रस (यशः) यश (श्रीः) ऐश्वर्य (मयि श्रयताम्) मेरे आश्रयसे रहे इन तीनों सत्य, यश, श्री की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) मैं स्वार्थत्याग करता हूं। पशुओंके रूप अन्नके रसको श्रीके अन्दर ही संमिलित किया जा सकता है । इस प्रकार जहां सत्यको प्रधानता दी जाती है और पुरुष राजा हरिश्चन्द्र, महाराज रामचन्द्र, ऋषि दयानन्द आदि महानुभावोंकी तरह सत्यकी रक्षाके लिये यश और ऐश्वर्य का त्याग करने को सदा उद्यत रहता है, यहां यश हानिकी और ऐश्वर्यके कारण किसी तरह की संभावना नहीं हो सकती ।

इस तरह निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करने पर हमें साफ मालूम होता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र ही सम विकास रूपी उन्नति के सच्चे मार्ग की ओर ले जाने वाला, मध्यमार्ग का सर्वत्र प्रतिपादन करने वाला और अत्यन्त ओजस्वी स्फूर्ति दायक (Inspiring) उपदेशों के कारण मनुष्यके लिये सब से अधिक उपयोगी है । भोग त्याग, ज्ञान कर्म, श्रद्धा तर्क इत्यादि का जितना सुन्दर मेल इसके अन्दर पाया जाता है उतना कहीं भी नहीं पाया जाता । दूसरे मतके कर्तव्य शास्त्रों में जिन उच्च शिक्षाओं का प्रतिपादन किया गया है प्रायः उन सब का मूल वेद के अन्दर पाया जाता है और प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ उनका सम्बन्ध है। इतनी स्वन्तत्र विवेचना करने के पीछे अब इस विषयक यूरोपीयन विद्वानों के मत की थोडी सी आलोचना करना आवश्यक मालूम होता है। सब विद्वानों का इस विषय में एक ही मत नहीं है तोभी बहुत से विकास वाद वा Evolution theory को मानने वाले पाश्चात्य विद्वान् कल्पना करते हैं कि वेद सब से प्राचीन ग्रन्थ हैं जो प्रारम्भिक जंगली सभ्यता का अधिकतर निर्देश करने वाले हैं । ऋग्वेद ज्यादहतर अग्नि वायु सूर्य इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति से भरा पडा है यजुर्वेद के अन्दर फजूल यज्ञ यागादि की चर्चा है, साम वेद प्रायः सोम नामक मद्य की महिमा का वर्णन करने वाला है और अथर्व वेद जादू टोने की बातों से भरा पडा है । इन वेदों के अन्दर कर्तव्यशास्त्र के विषय में कोई उल्लेख योग्य उत्तम उपदेश नहीं पाये जाते इत्यादि। इस समय तक हम ने वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए जो अत्यन्त ओजस्वी जीवनोपयोगी तत्त्व बतलाये हैं वे स्वयं इस यूरोपियन विचार की असत्यता को साबित करने वाले हैं । इस लिये हमें इस विचार की आलोचना में कुछ ज्यादह लिखने की जरूरत नहीं मालूम देती । यदि जगत् के अन्दर कार्य करने वाले अटल नियमों का ज्ञान , अपने समान सब प्राणियों को देखने का उच्च भाव , सब प्रकार के पापों को दूर करने का निश्चय, शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सम विकास , व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध, बाह्य और आन्तरिक स्वराज्य प्राप्ति का भाव, सत्य की रक्षा के लिये सर्वस्व तक

त्याग करने का उच्च भाव, निर्भयता की पूर्ण रूप से प्राप्ति, देश सेवा में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगाने का भाव-ये सब उच्च भाव यदि जंगली लोगोंके अन्दर पाये जा सकते हैं, यदि बिल्कुल क्रियात्मक श्रेष्ठ मध्यमार्ग का उपदेश जंगली अर्धसभ्य लोगों के बनाए हुए ग्रन्थोंमें पाया जा सकता है तो निःसन्देह वेद उन जंगलियों के बनाये ग्रन्थ हैं और उन के अन्दर जिन उच्च भावोंका प्रकाश किया गया है वे कोई महत्त्व पूर्ण भाव नहीं हैं। पर कोई भी पक्षपात रहित पुरुष इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ये सब तत्त्व अत्यन्त उच्च हैं और अन्य मत के किसी भी कर्तव्य शास्त्र में इन तत्त्वों का इतनी उत्तमतासे प्रतिपादन नहीं किया गया इस लिये वेद फजूल बातों से भरा हुआ है, जीवनोपयोगी आचार विषयक उपदेश उस के अन्दर नहीं हैं यह मानना केवल अपने पक्षपात और दुराग्रह को प्रकट करने के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सब यूरोपियन विद्वानों का वैदिक कर्तव्य शास्त्र के विषयमें एक ही अभिप्राय नहीं है। उनमें से भी कई ऐसे हैं जिन्हों ने निष्पक्षपात हो कर वैदिक कर्तव्य शास्त्र को समझने का यत्न किया है और इस विषयमें वे ठीक पहले विचारोंके उल्टे परिणामपर पहुंचे हैं। उदाहरणार्थ डार्विन के साथ ही प्राकृतिक जगत्में विकासवादके आविष्कारक डा० रसेल वैलेसअपने ग्रन्थ "Social Environment and Moral Progress "में इस प्रकार लिखते हैं-

"In the earliest records which have come down to us from the past, we find ample indications that general ethical conceptions, the accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail today though in some respects they differed from ours. the wonderful collection of hymns kown as the Vedas is a vast system of religious teachings, pure and lofty as those of the finest portion of the Hebrew Scriptures." (page 11)

अर्थात् पुराने समयके जो लेख हमें इस समय मिलते हैं उनमें भी हमें इस बात के काफी निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समयके सदाचारादि विषयक विचार और व्यवहार हमारे से किसी रूपमें भी कम दर्जेके नहीं थे यद्यपि कई अंशोंमें वे भिन्न जरूर थे। वेदके नामसे प्रसिद्ध संहिता के अन्दर बाइबल के अच्छे से अच्छे भागके तुल्य पवित्र और ऊंची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है। इस बातके समर्थन में डा० वैलेस ने अपने ग्रन्थमें कुछ सूक्तों का भाषान्तर भी उद्धृत किया है।

म० फिलिफ नामक एक दूसरे यूरोपियन विद्वान् के मतका उल्लेख करना भी यहां अनुचित न होगा। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The teachings of the Vedas' के उपसंहारमें वे लिखते हैं

The conclusion therefore is inevitable that the develop-

ment of religious thought in India has been uniformly down ward and not onward. we are justified therefore in concluding that the higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation "

इन वाक्यों का भाव यह है कि हम यह परिणाम निकालने को बाधित हैं कि भारत में धार्मिक विचारमाला में क्रमशः अवनति हुई है उन्नति नहीं । इस लिये इस परिणाम पर पहुंचना सर्वथा हमें उचित मालूम देता है कि वैदिक आर्योंके उच्च और अधिक पवित्र विचार एक प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के परिणाम थे । अन्य भी अनेक निष्पक्षपात विद्वानों के इस अभिप्राय के समर्थक मत दिये जा सकते हैं पर विस्तार के भय से ऐसा करने की जरूरत नहीं । वास्तविक बात यह है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र को निष्पक्षदृष्टि से विचार करनेका बहुत थोडे यूरोपियन विद्वानों ने कष्ट उठाया है । तृतीय परिच्छेद में सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए मुख्यतः यज्ञ शब्दके अन्दर अनेक सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका भाव आ जाता है यह दिखाया जा चुका है । जहां कहीं यह 'यज्ञ' शब्द आता है यूरोपियन विद्वान् झट उस का sacrifice ऐसा अर्थ कर देते हैं और अन्य जातियों के अन्दर पशु बलि दानादि की प्रथा को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन आर्यों के अन्दर भी बकरी घोडे बैल इत्यादि को देवता ओं की तृप्ति के लिये बलि चढाने की प्रथा थी ऐसा पहले से मान कर चलते हैं, इन में से कई महानुभावों ने तो प्राचीन समय में मनुष्यबलि भी दी जाती थी यह दिखाने का यत्न किया है । उदाहरणार्थ म. रागोजिन का Stories of the Nation Series में प्रकाशित Vedic India नमक पुस्तक में निम्न लिखित लेख प्रकाशित हुआ है जो बडा मनोरञ्जक है--

" There can be no doubt whatever that human sacrifices were parts of Ancient Aryan worship.

" An intencified form of Purush Medh is that in which a large number of victims—166 or even 184 men of all sorts and conditions -are immolated . (p.408.)

अर्थात् इसमें जरा भी सन्देह नहीं हो सकता कि नर - बलि प्राचीन आर्यों की पूजा पद्धति का भाग थी । पुरुष मेध का सब से अधिक प्रभाव शाली रूप यह है जिस में सब प्रकार और स्थिति के १६६ वा १८४ पुरुषों तक का वध किया जाए । इन सब यज्ञादि विषयक यूरोपीय कल्पनाओं पर विचार करना इस निबन्ध का विषय नहीं । यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि यज्ञ के लिये अध्वर शब्द का प्रयोग न कवल वेद में बल्कि प्रायः सब के सब प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में पाया जाता है । यज्ञ शब्द के धात्वर्थ के अन्दर पशुबलि चढाने के भाव की गन्ध तक नहीं जब तक यह पहले से कल्पना न कर ली जाए, जैसे कि

यूरोपियन विद्वानों ने कर ली है कि देव पूजा के लिये (प्राचीन सारे संसार की जातियों के अन्दर प्रचलित विश्वास के अनुसार) पशुओं की बलि चढना अत्यावश्यक और अनिवार्य है । अध्वर शब्द का हिंसारहित कर्म यह अर्थ निरुक्तादि में स्पष्ट दिया है । साथ ही महाभारत की निम्न लिखित उक्ति को जब ध्यान में रखते हैं कि –

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु विद्यते॥
अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैः नरः। संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥

(म०भा० शान्तिपर्व)

अर्थात् मद्य पान मत्स्य मांस श्राद्ध निमित्त से खिचडी बनाना इत्यादि ये सब धूर्तों ने चलाया है वेद के अन्दर यह सब नहीं बताया गया । जो लोग मूर्ख, मर्यादा न जानने वाले नास्तिक संशयात्मा पुरुष हैं ", अर्थात् एक शब्द में जो वेदके तात्पर्य को न समझने वाले धूर्त या मूर्ख लोग हैं उन्हीं ने हिंसा का वर्णन किया है वेद में हिंसा का विधान नहीं पाया जाता । इन उक्तियों को ध्यान में रखते हुए कइ वेद मन्त्रों के सत्य अर्थ के विषय में संशय रहते हुए भी हम निश्चय पूर्वक यह कहने का साहस करते हैं कि अश्वमेध, गोमेध आदि के विषय में यूरोपियन विद्वानों की कल्पना चाहे बिल्कुल निराधार न हो पर असंगत जरूर है । प्राचीन आर्यों को कम से कम इतना बेवकूफ नहीं माना जा सकता कि वे एक कार्य को हिंसा रहित कार्य के नाम से बार बार पुकारते हुए उस के अन्दर मनुष्यों तक की हिंसा करने में न संकोच करें । आश्चर्य की बात यह है कि वे ही यूरोपीय विद्वान् जो जिन्द अवस्था आदि में आए हुए गोमेज इत्यादि शब्दों का भूमि में हल चलाना वगैरह अर्थ स्वीकार करते हैं वेद में उस के गौओं के मारने के अतिरिक्त और किसी उत्तम अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते । यह यज्ञ का विषय बहुत लम्बा चौड़ा होने के कारण स्वतन्त्र विस्तृत निबन्धकी अपेक्षा रखता है इस लिये यहां इस के विस्तार में हम नहीं जा सकते ।

इस परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण क्या है इस विषय पर विचार प्रारम्भ किया था । सम विकाश मध्यमार्ग उपदेशों की ओजस्विता इत्यादि कुछ कारणों का यहां तक निर्देश किया गया है । इस वैदिक कर्तव्यशास्त्र की एक बडी विशेषता यह भी है कि इस में मनुष्य समाज को श्रम विभाग वा Division of Labour के वैज्ञानिक उपयोगी सिद्धान्त के आधार पर ४ वर्णों में बांट दिया गया है । इन चारों वर्णों का परस्पर प्रेम पूर्वक व्यवहार होना चाहिये इस वर्ण व्यवस्था का आधार गुण कर्म स्वभाव पर ही होना चाहिये यह वैदिक सिद्धान्त है जिस के विस्तार में जाना यहां अनावश्यक है । यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि किसी भी देश में इन चार प्रकार के

लोगों की सत्ता कुछ न कुछ अंशतक जरूर रहती है। कोई भी देश वा जाति न होगी जिस में अध्यापक वा उपदेशक, सिपाही, व्यापारी और सेवक इन में से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो क्यों कि उस दशा में समाज का गुजारा चलना ही असम्भव है। वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अन्दर इन चारों वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों को व्यवस्थित करने का यत्न किया गया है ता. कि मनुष्य समाज का धारण उत्तमता से शान्ति पूर्वक हो सके। जब तक ये चारों वर्णों के लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे और जन्म से उच्च नीच का भाव न मानते हुए एक दूसरे के साथ समानता और प्रेम का व्यवहार करते थे तभी तक शान्ति का सारे संसार में राज्य था, जब से उस वैदिक वर्ण व्यवस्था का स्थान प्रचलित आनुवंशिक जाति भेद ने ले लिया निश्चय उसी दिन से भारत का अधः पतन शुरू हुआ और हमारे देश की दशा सुधरने की तब तक कोई आशा नहीं जब तक फिर से वैदिक कर्तव्य शास्त्र में प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था का वर्तमान अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए पुनरुद्धार न किया जाए। निःस्वार्थी तपस्वी ब्राह्मणों की जब तक समाज में प्रधानता नहीं होती तब तक सच्ची उन्नति की आशा रखना सर्वथा व्यर्थ है।

कई महानुभाव इस उपर्युक्त स्थापना की सत्यता में सन्देह करते हैं। वे कहते हैं बौद्ध कर्तव्यशास्त्र के ग्रन्थों में और बाइबल इत्यादि में जिस समदृष्टि का वर्णन किया गया है भगवद् गीता में भी—

विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

गीता अ. ५ ।१८

इत्यादि श्लोकों द्वारा जिस समदृष्टि का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अन्दर उस का अभाव पाया जाता है। ऐसे महानुभावों के भ्रम को दूर करने के लिये इस विषय पर थोडा प्रकाश डालना आवश्यक है क्यों कि यह कर्तव्य शास्त्र के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाला विषय है। निम्न लिखित कुछ वेद मन्त्रों पर इस के बारे में विचार करना चाहिये।

(१) ऋ १० । ५३ । ४ में यह मन्त्र आया है—

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम । ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥

इस मन्त्र का अर्थ ऐसा मालूम होता है कि वाणी के उस मूल कारण का हम मनन करते हैं जिस की सहायता से देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त किया। जो पुरुष ऊर्जाद् अर्थात् पराक्रमी हैं जो (यज्ञियासः)पूजनीय हैं वे सब, इतना ही नहीं (पञ्च जनाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद वा जंगली भील आदि ये सब के सब (मम होत्रं

जुषध्वम्) मुझ ईश्वर की पूजा करो। वाणी के मूल कारण से तात्पर्य सम्भवतः ओ३म् अथवा वेद का होगा पर निश्चय से नहीं कहा जा सकता। 'पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्' इन शब्दों से सब पुरुषों का ईश्वर के ध्यान तथा अग्निहोत्रादि करने का समान अधिकार है यह भाव स्पष्ट सूचित होता है। अगले मन्त्र में भी फिर '**पञ्च-जना मम होत्रं जुषन्ताम्**' ये शब्द आये हैं।

(२) यजु० अ० २६ के सुप्रसिद्ध

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च स्वाय॥

वा०य०२६। २॥

इस मन्त्र में वेद को पढने का अधिकार चारों वर्णों और निषादों तक को समान रूप से है यह भाव पाया जाता है।

(३) अथर्व ३। ४। ३ में प्रार्थना है

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः। वृष्टेः शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्॥

अर्थात् ये पांच दिशाएं (उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम और मध्य भाग) और पांच, प्रकार के मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) ये सब के सब (वृष्टेः शापं नदीरिव) जिस प्रकार वर्षा के पीछे नदी का जल बढ जाता है वैसे ही ये (इह) इस संसार में (स्फातिं समावहान्) वृद्धि को प्राप्त होवे। इस मन्त्र में सब के सब मनुष्यों की वृद्धिका अत्युच्च भाव स्पष्ट शब्दों में पाया जाता हैं।

(४) अथर्व १३। ४। (५) ४२ में परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा है —

पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा सुराय वा। यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया। यद्वा जन्यमवीवृधः॥ तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम्॥

अर्थात् हे (मघवन्) परमैश्वर्य युक्त परमेश्वर तू पापी, सज्जन पुरुष, असुर सब के लिये (औषधीः कृणोषि) ओषधियों वा वनस्पतियों को बनाता है सब के लिये समान रूप से वृष्टि करता और जन्य उत्पन्न होने वाले धान्य आदि को बढाता है। (तावांस्ते महिमा) भगवन् यही तेरी बडी भारी महिमा है तेरे अनेक अद्भुत रूप हैं अर्थात् तेरे गुण अनन्त हैं।

इस मन्त्र के भाव को भगवद् गीता में —

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म,तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ भ. गी.५। १९

इत्यादि श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया गया है जिनका अभिप्राय यह है कि जिन लोगों का मन समभाव में स्थित है— जो सब प्राणियोंको समान रूपसे देखते हैं, वास्तव में वही ब्रह्ममें स्थित हैं क्यों कि निर्दोष ब्रह्मकी दृष्टि में सब समान हैं। जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए मै०। ५। ४५ के अनुसार

"That ye may be the children of your father, which is in heaven for

he maketh his sun to rise on the evil and the good and sendeth rian on the just and the unjust . "

यह जो बात कही है उसकी उपर्युक्त वेद मन्त्र और गीता वाक्यके साथ तुलना विचार करने योग्य है । समान रूपसे वृष्टि का ऊपर के मन्त्र में उल्लेख किया गया है निम्न लिखित मन्त्रमें समान रूपसे सूर्यप्रकाश वाली बातका भी स्पष्ट उल्लेख है ।

(५) त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः । तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ अथर्व १२ । १ । १५

इस मन्त्रमें मातृभूमि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे (पृथिवि) मातृभूमे! सब मनुष्य तेरे से उत्पन्न होते और तुझमें विचरण करते हैं तू ही मनुष्यों और चौपाए पशुओंको धारण करती है । ये (पञ्चमानवाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद सब (तव) तेरे ही समान पुत्र हैं (येभ्यः) जिन सब (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य समान रूपसे (रश्मिभिः) अपनी किरणोंसे (अमृतं ज्योतिः आतनोति) अमृत स्वरूप ज्योति का विस्तार करता है । जिस प्रकार परमेश्वरके राज्यमें सूर्य समान रूप से सब पर प्रकाशादि करता है उसी प्रकार सब मनुष्योंको परस्पर समान दृष्टि से देखना और प्रेमसे वर्तना चाहिये यह वेद मन्त्र के अन्दर गुप्त भाव है । इन इस प्रमाणोंसे यह बात साफ है कि वेदमें समदृष्टि का स्पष्ट उपदेश है । इन्हीं मन्त्रोंमें वेदके अध्ययन का अधिकार सब पुरुषोंको समान है यह बात भी बताई गई है । इस लिये वैदिक कर्तव्य शास्त्र के इन प्रचलित संकुचित अर्थों में भी सार्व भौम होने में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता । वास्तव में देखा जाए तो किसी धर्म ग्रन्थ को पढने का समान अधिकार सब पुरुषों वा स्त्रियों को होने से ही कोई धर्म सार्व भौम नहीं बन जाता । सार्व भौम धर्म वही हो सकता है जिस में एक व्यक्ति की शारीरिक मानसिक आत्मिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है इस बात के निर्देश के अतिरिक्त व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है, राष्ट्रीय उन्नति कैसी हो सकती है, प्रत्येक मनुष्य के पारिवारिक राष्ट्रीय और सामाजिक कर्तव्य क्या हैं इस विषयक उपयोगी निर्देश पाए जाएं । यह बात बिना किसी तरह के संकोच और सन्देह के कही जा सकती है कि सार्व भौम धर्मका यह लक्षण केवल वैदिक धर्म में ही घटता है अन्य किसी भी मत वा संप्रदाय में वह पूरे तौर पर नहीं घट सकता । धर्म शब्द का धात्वर्थ ही धारण करना है । धर्म वही है जिस से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का धारण हो । राजा प्रजा का क्या सम्बन्ध होना चाहिये, राजा के अन्दर कौन कौन से गुण होने चाहियें, प्रजा कैसी होनी चाहिये इत्यादि आवश्यक उपयोगी विषयों को केवल वैदिक कर्तव्य शास्त्र में ही विचार किया गया है । अन्य बौद्ध ईसाई इत्यादि मतों के कर्तव्य शास्त्रों में उन सब बातों का निर्देश

तक नहीं पाया जाता है। ऐसी अवस्था में उन के पढने का अधिकार सब को समान होने से ही उन को सार्व भौम कर्तव्य शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। इतना ही नहीं, उन के अन्दर कई ऐसी शिक्षाएं पाई जाती हैं जिन के अनुसार यदि सब मनुष्य चलने लगें तो समाज वा राष्ट्र का काम तक चलना बिल्कुल असंभव हो जाए। उदाहरणार्थ बाईबल क अन्दर धन की जो इतनी निन्दा की गई है और धनी आदमियों के लिये परमेश्वर के राज्य में प्रवेश करना ऊंठ क सुई की नोक में से निकलने की अपेक्षा भी ज्यादह असम्भव है (It is easier for a camel to enter into the eye of a needle than for a nich man to enter into the kingdom of God)

इस को सत्य मानते हुए यदि सब व्यवहार करने लगें तो समाज की कितनी हीन दशा हो जाए। इसी प्रकार" यदि कोई तुम्हारी एक गाल पर चपेट लगाए तो दूसरी गाल भी उसके सामने कर दो" यदि सब इस शिक्षा का अनुसरण करने लगें तो निःसन्देह दुष्ट पुरुषों का समाज पर दबदबा हो जाए और उन्हीं की सब जगह दाल गलने लगे पर ईसाई मत के कर्तव्य शास्त्र में इस दृष्टि से समाज हित का बिल्कुल विचार तक नहीं किया गया।

यही बात बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के विषय में भी सत्य है। यदि गौतम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार सब के सब मनुष्य संसार को क्षणभङ्गुर और केवल दुःखरूप समझ घर बार छोड कर भिक्षु बनने लगें तो समाज और राष्ट्र का कार्य कैसे चले। इस प्रकार की अव्यवस्था को दूर करने के लिये ही वैदिक कर्तव्य शास्त्र में वर्णाश्रम व्यवथा को स्वीकार किया गया है जो सामाजिक जीवन की हजारों समस्याओं को आसानी से हल कर सकती है। इस तरह विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का एक प्रधान कारण उस की सार्वभौमता अर्थात सब मनुष्यों के लिये सब अवस्था ओं म समान रूप से उपयोगिता है।

अन्त में उपसंहार के तौर पर दोचार शब्द लिख कर इस निबन्ध को समाप्त किया जाता है।

इस निबन्ध का पांच परिच्छेदों में विभाग किया गया है। प्रथम परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल भूत ईश्वर की अध्यक्षता में कार्य करने वाले अटल सार्व भौम नियम, कर्म नियम, जीवन का उद्दश्य, सत्य, निर्भयता, स्वाधीनता, सम विकाशादि सिद्धान्तों की वेद मन्त्रों के आधार पर व्याख्या की गई है।

दूसरे परिच्छेद में वेद मन्त्रों के आधार पर ईश्वरभक्ति, त्रिविध पवित्रतादि, वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का संक्षेप से विचार किया गया है जिन में स्त्रियों की स्थिति तथा आदर्श विषयक उच्च वैदिक भावों की विशेष तौर पर व्याख्या की गई है।

तीसरे परिच्छेद में यज्ञ को मुख्य तौर पर

वेदोक्त सामाजिक कर्तव्यों का स्तम्भ रूप मानते हुए उस की वेद मन्त्रों के आधार पर थोडी सा व्याख्या है और फिर अग्नि इन्द्रादि देवता ओं के नाम स वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का कैसा उत्तम वर्णन है इस बात को दिखाते हुए वैदिक राष्ट्रीय भावों का थोडा सा विवरण किया गया है।

चौथे परिच्छेद में ईसाई मत के कर्तव्य शास्त्र की बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के साथ तुलना की गई है और फिर बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ अनेक आश्चर्य जनक समानताओं को निर्देश करते हुए उन दोनों के परस्पर सम्बन्ध पर थोडा प्रकाश डाला गया है।

पांचवें परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की समविकाश, मध्यमार्ग, सार्वभौमता इत्यादि अनेक विशेषताओं का संक्षेप से निर्देश करते हुए इस विषयक यूरोपियन विद्वानों के मतकी थोडी सी आलोचना की गई है।

निबन्ध के अन्दर स्थान स्थान पर इस बात का निर्देश किया गया है कि मनुस्मृति योगदर्शना-दि में वर्णित आचार तथा सामाजिक कर्तव्यों का मूल वेद में ही पाया जाता है। मनुस्मृति में चारों वर्णों के जो धर्म बताये हैं उन का आधार वेद में पाये जाने वाले उपदेशों पर है इस बात को निम्न लिखित श्लोक में उन्होंने वा भृगुने स्वयं स्पष्ट बताया है —

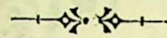
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।

अर्थात् मनु महाराजने जिस जिस वर्ण का जो जो धर्म बताया है वह सब वेद के आधार पर कहा है क्यों कि निश्चय से वेद के अन्दर सारा ज्ञान पाया जाता है। इसी प्रकार योगदर्शन के अन्दर अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये जो १० यम नियम बताये गये हैं उन का भी मूल वेद में ही पाया जाता है इस बात को निबन्ध में दिखाने का यत्न किया गया है। भगवद् गीता के अन्दर दैवी आसुरी प्रकृति का वर्णन तथा अनेक कर्म योगादि विषयक उत्तम तत्त्व वेद के ही आधार पर वर्णन किये गये हैं यह बात इस निबन्ध के अन्दर स्पष्ट रूप से दिखाई गई है। इस प्रकार जिस वेद में अन्य कर्तव्य शास्त्रों के सब के सब उत्तम तत्त्व पाये जाते हैं, जिस में मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति के लिये आवश्यक सब ही बातों का निर्देश पाया जाता है उसके पढने पढाने का क्रम जब तक फिर से जारी न किया जाएगा तब तक हमें अपने धर्म का सच्चा ज्ञान कभी नहीं हो सकेगा। 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है उस को पढना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है' आचार्य ऋषि दयानन्द के इस आदेश की ओर ध्यान देना प्रत्येक आर्य का मुख्य कर्तव्य है॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



आनंद समाचार।





स्वाध्यायके ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वमेध। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)

(६) योग के आसन। मू. २)

(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)

(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)

(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू.॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)

(१०) वैदिक धर्मकी विषेशता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥।=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :-- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक ९
क्रमांक ५७



भाद्रपद सं. १९८१
सितंबर स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक–तत्त्वज्ञान–प्रचारक–सचित्र–मासिक–पत्र ।

——:०:——

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

आसन।

सचित्र।

ऋषि मुनियोंकी आरोग्य साधक व्यायाम पद्धति इस पुस्तक में लिखी है। इस व्यायाम के करनेसे स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण और वृद्ध आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस समय सहस्रों मनुष्य इस पद्धतिसे लाभ उठा रहे हैं।

यह विना औषधि सेवन करनेके आरोग्य प्राप्त करने की योग की पद्धति है।

"आसन" पुस्तक का मूल्य २) है।

सूर्यभेदन व्यायाम

सचित्र

यह योग की बलवर्धक व्यायामपद्धति है। मूल्य ।=)

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध

(जि. सातारा)

"ज्योति।"

( ) सारे हिन्दी संसार में ज्योति ही एक मात्र मासिकपत्रिका है जिस के पन्ने भारत के वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाले राजनैतिक और धर्म सम्बन्धी लेखों के लिये सदा खुले रहते हैं। यह ज्योति की ही विशेषता है कि यह अपने पाठकों के लिये प्रत्येक विषय पर सरस, भावपूर्ण और खोज द्वारा लिखे हुये लेख उपस्थित करती है।

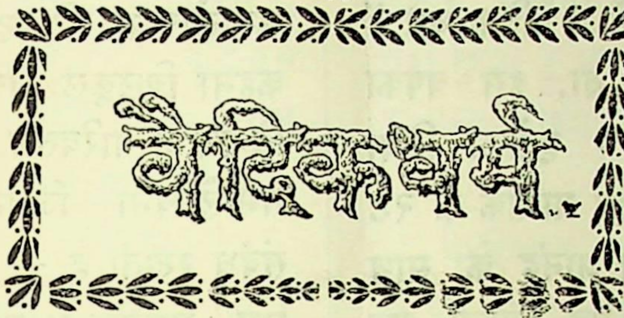
(२) ज्योति की एक और विशेषता है। यह केवल पुरुषों की ही आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती, परन्तु स्त्रियों की आवश्यकताओं की ओर भी पूरा पूरा ध्यान देती है। वनिता-विनोद शीर्षक से देवियों और कन्याओं के लिये अलग ही एक लेख माला रहती है, जिस में उनके हित के अनेक विषयों पर सरल लेख रहते हैं। इस के कला कौशल सम्बन्धी लेख जिस में क्रोशि-या, सलाई इत्यादि द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएं जैसे लेस, फीते, मौजे, टोपियां, कुर्ते, बनियान, स्वैटर इत्यादि बनाने की सुगम रीति रहती है, वार्षिक मूल्य ४॥) है।

अतः प्रत्येक हिन्दी प्रेमी भाई और बहिन को ऐसी सस्ती और सर्वांग सुन्दर पत्रिका का अवश्य ग्राहक बनना चाहिये।

मैनेजर ज्योति-ग्वाल मण्डी लाहौर



वर्ष ५
अंक ९
क्रमांक
५७



भाद्रपद
सं. १९८१
सितंबर
स. १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

राष्ट्रीय स्वयं सेवक ।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥

अथर्व. १२ । १ । ९

(यस्यां) जिस मातृभूमिपर (समानीः आपः) जल प्रवाहोंके समान (परि-चराः) स्वयं सेवक (अहो रात्रे) दिनरात (अप्रमादं) प्रमाद न करते हुए (क्षरन्ति) घूमते हैं, (सा नः) वह हमारी (भूरिधारा भूमिः) बहुत धाराप्रवाह धन देनेवाली मातृभूमि हमारे लिये (पयः दुहां) दूध देवे, (अथो) और (वर्चसा) तेजसे हमें (उक्षतु) युक्त करे ।

जिस प्रकार जल प्रवाह उच्च स्थानसे चलकर नीच स्थानमें पहुंचते और वहां शांति करते हैं, उस प्रकार मातृभूमिकी सेवा करने वाले स्वयं सेवक अपनी उच्चताकी घमंड छोड कर नीच मनुष्यके पास पहुंच कर उसके अंतःकरणमें शांति उत्पन्न करें । इस प्रकार जिस देशमें कार्य होगा वहां ही सुख होगा ।

ग्राहकों का कर्तव्य ।

इस वर्ष के प्रारंभ में " वैदिक धर्म " का अंक २४ पृष्ठोंका था, इस वर्षका द्वितीय विशेष अंक १०० पृष्ठोंका दिया गया । चतुर्थ अंक से इस मासिक के २८ पृष्ठ किये गये थे । अब आनंद के साथ सूचना दीजाती है कि गत अंकसे यह मासिक ३२ पृष्ठोंका किया गया है । इस प्रकार हम इस मासिक की उन्नति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, अब पाठकों का कर्तव्य है कि वे इस मास में दो नये ग्राहक बना कर कार्यकर्ताओं का उत्साह द्विगुणित करें ।

× × ×

महाभारत ।

स्वाध्याय मंडल द्वारा महाभारत का मुद्रण प्रारंभ होकर आज सात महिने होचुके । अब थोडे ही दिनों में आदिपर्व समाप्त हो जायगा और द्वितीय पर्व प्रारंभ होगा । और इसी प्रकार संपूर्ण महाभारत ग्राहकों के पास पहुंचेगा । इस महाभारत में मूल श्लोक और उनका सरल भाषानुवाद --प्रायः नीलकंठी टीकाके अनुकूल-मुद्रित होता है । प्रारंभ में यह विचार था कि,ग्रंथ के मुद्रण समाप्त होनेके पश्चात् जो टीका और टिप्पणी करनी है, की जायगी । परंतु पाठक चाहते हैं, इसी समय समालोचना मुद्रित हो;ता कि वे मूल ग्रंथपढनेके समयही समालोचना भी पढ सकें । यह पाठकोंका कहना बिलकुल ठीक है, इस लिये पूर्व निश्चय म परिवर्तन करके महाभारत की समालोचना- जितनी वेदमंत्रों के साथ संबंध रखती है — उतनी इस " वैदिक धर्म" मासिक में यथावकाश मुद्रित करने का निश्चय किया गया है । आशा है कि इसके साथ पाठक भी सहमत होंगे ।

× × ×

आत्मपरीक्षा ।

धार्मिक उन्नतिमें " आत्मपरीक्षण " का महत्व अत्यंत है। कोई व्यक्ति अथवा समाज जो अपनी धार्मिक उन्नति करना चाहता है, आत्मपरीक्षा करनेके विना धार्मिक उन्नतिका साधन कर ही नहीं सकता । किसी धर्माचार्य पर विश्वास रखने, किसी धर्मग्रंथ पर विश्वास रखने अथवा इसी प्रकार किसी बातपर विश्वास रखने मात्र ही से केवल अपनी " धार्मिक उन्नति " होगी, ऐसा मानना धार्मिक क्षेत्र में बडी भारी भूल है । क्यों कि धार्मिक क्षत्रमें जो उन्नति होनी है, वह धर्मका आचरण स्वयं करने से ही होनी है । दूसरा कोई मार्ग नहीं है । परंतु बहुत लोग ऐसे हैं कि, जो किसी व्यक्तिपर, तथा किसी ग्रंथ पर अथवा किसी मतपर विश्वास तो रखते हैं ; परंतु उस आदर्श

व्यक्तिके जीवन के समान अपना जीवन बनाने का यत्न भी नहीं करते, जिस धर्म ग्रंथपर विश्वास रखते हैं, उसको पढनेका भी प्रयत्न नहीं करते, तथा जिस मतको मानते हैं, उसीके विरुद्ध आचरण करते हैं !!! यदि ऐसे लोग आत्मपरीक्षा करेंगे तोही उनका सुधार हो सकता है, अन्यथा सुधार अशक्य है।

× ÷ ×

विष और अमृत।

मनु महाराज मनुस्मृति (२ । १६२) में लिखते हैं कि, "संमान को विष और अपमान को अमृत समझो।" महाराष्ट्र के साधुश्रेष्ट तुकाराम भी कहते हैं कि -- "निंदक का घर अपने समीप ही होना चाहिये।" यह कहनेका कोई साहस नहीं करेगा कि मनुका वचन माननीय नहीं है, अथवा साधु तुकाराम का उपदेश भी व्यर्थ है। इनके आदर्श वचनोंपर विश्वास रखने वाले भी अपमान से क्रुद्ध होंगे और संमानसे अत्यंत संतुष्ट होंगे! मनुस्मृति-को आर्ष वचन मान कर उसपर विश्वास रखनेवालोंको अपनी इसप्रकारकी स्थितिका वारंवार विचार करना चाहिये। और मानवी मनके इस कमजोरीसे दूर रहनेका यत्न करना चाहिये। संमान को विषवत् और अपमानको अमृतवत् समझने सेही "आत्मपरीक्षा" करना सुगम होता है। जो आत्मपरीक्षा द्वारा अपना सुधार करना नहीं चाहते, वेही संमान से खुश और अपमानसे रुष्ट होते हैं और गिरते जाते हैं!!! इस लिये धार्मिक मनुष्यों को उचित है कि, वे इस कमजोरीमें न रहते हुए अपने अपमान कोही अपनी उन्नतिका साधन बनावें। ब्राह्मतेज की उन्नतिकी यही दिशा है और ब्रह्मतेजके विना धार्मिक उन्नति अशक्य है।

× × +

वैदिक धर्मियोंका संमान।

जो दीप प्रकाश नहीं देता उसका संमान नहीं हो सकता। लकडीका हाथी, चमडे का मृग और अध्ययन न करनेवाला द्विज केवल नाम के ही हाथी, मृग और द्विज हैं। जो नाम उनको दिया जाता है वह केवल नाम ही है, इसी लिये उनसे वह काम नहीं हो सकता जो कि उनके नामों से सूचित होता है। इसी प्रकार हरएक वैदिकधर्मी को उचित है कि वह नामका वैदिक धर्मी न बने और गुण कर्म स्वभाव से ही वैदिक धर्मी बने। जब तक वह गुण कर्म स्वभावसे वैदिक धर्मी नहीं बनेगा तब तक उसका संमान नहीं होगा। गुण कर्म स्वभावसे वैदिक धर्मी बनने के लिये वेदका अध्ययन करना और तदनुसार आचरण करना अत्यंत आवश्यक है। जब तक यह नहीं होता है तब तक इस जगत् में केवल नामधारियों का संमान होना अशक्य है। यहां हरएक को आत्मपरीक्षा करके ही निश्चय करना चाहिये कि अपना आचरण कैसा है और आत्मोन्नतिके लिये क्या करना चाहिये।

२

महाभारत ग्रंथ सर्व शास्त्रोंका सारसंग्रह है।



"वेद की दृष्टि से गाथाओं का अर्थ निश्चित करना।"

यह स्वाध्याय मंडलका आठवां उद्देश्य पाठक जानते ही हैं। इतिहास, पुराण और ब्राह्मण ग्रंथोंमें अनेकविध गाथाएं विद्यमान हैं। उनका ठीक ठीक अर्थ लगानेका प्रयत्न इस समयतक किसीने किया नहीं है, इस विषयमें प्रयत्न होना अत्यावश्यक है।

गाथाओं का विचार हमने कई वर्षोंसे चलाया है और उनकी तुलना वेदमंत्रों के साथ भी करके देखी है, जिससे हमारा पूर्ण विश्वास हुआ है, कि वेद मंत्रोंके आधार से जो गाथाओंका अर्थ होगा, वही उनका ठीक अर्थ होगा। इसलिये इनके सत्य अर्थ के प्रकाशके लिये वेद मंत्रोंके साथ गाथाओंकी तुलना करना अत्यंत आवश्यक है।

पुराण और उप पुराण ये ग्रंथ बहुत बडे हैं, ये इतने बडे हैं कि, कोई एक आदमी इनका पठन भी कर नहीं सकता। इसलिये संपूर्ण पौराणिक कथाओंकी तुलना वेदके साथ करना और उनके "वैदिक होने अथवा न होनेका विचार" निश्चित करना प्रायः अशक्य ही है। कई विद्वान कलम की एक लकीर से सब पौराणिक कथाओंको "गप्पों" में रख देते हैं, तो कई दूसरे सज्जन उन कथाओंको सत्य मानते हैं!! प्रमाणके विना किसी कथाको सत्य मानना या असत्य मानना अथवा गप्प समझना सर्वथा अयोग्य है। उदाहरण के लिये चंद्रकी कथा लीजिये। "चंद्र तारा अथवा रोहिणी नामक एक स्त्री के साथ संगत होकर उनके मेलसे बुध की उत्पत्ति हुई।" यहां विस्तृत कथा देनेकी आवश्यकथा नहीं है, क्यों कि इस कथा की पूर्ण संगति लगानेका कार्य यहां करना नहीं है, परंतु उदाहरणार्थ इस कथाका संबंध बताना है। कई लोग कहेंगे कि चंद्र, रोहिणी और बुध ये ग्रह और तारे हैं, इनकी शादी नहीं हो सकती, इसलिये यह "गप्प" है। इस दृष्टिसे सचमुच यह गप्प ही है। वास्तविक उनका विवाह संबंध वैसा नहीं हुआ था, जैसा कि इस

समय हमारे मनुष्य समाजमें स्त्री पुरुषोंका विवाह होता है । संभवतः लेखक को भी पता होगा कि, ये ग्रह हैं और तारागण हैं, अतः उनका विवाह हो नहीं सकता । यह बात साधारण मनुष्य भी जान सकते हैं । फिर ऐसा क्यों लिखा गया है ?

इसी प्रश्नका विचार उपपत्तिके साथ करना चाहिये और इसी लिये विशेष अभ्यास की आवश्यकता है । उक्त कथामें तारा अथवा रोहिणी तथा चंद्र और बुध की " युति " का वर्णन है, गणितसे यह युति अर्थात् इसका एक राशीमें निवासका काल निश्चित किया जा सकता है । अर्थात् कथामें वर्णन की हुई बात केवल गप्प नहीं है, परंतु यह ज्योतिष विषयकी एक सचाई है । इस प्रकार कथाका मूल रूप देखनेसे अनेक आशंकाएं दूर होतीं हैं, इसलिये कथाओं और गाथाओं का मूल स्वरूप देखने और जानने की अत्यंत आवश्यकता है ।

" पुराण " ग्रंथोंमें संपूर्ण प्राचीन तम कथाओंका संग्रह हुआ है और उनसे अर्वाचीन इतिहासिक कथाओंका संग्रह रामायण महाभारत नामक " इतिहास " ग्रंथोंमें किया गया है । संग्रह की दृष्टिसे पुराणोंमें " अग्नि पुराण " और इतिहासों में " महाभारत " श्रेष्ठ ग्रंथ है ।

आजकल जिस प्रकार " विश्वकोश " अर्थात् सारग्रंथ बनाते हैं, उसी प्रकार प्राचीन ऋषिमुनियोंके बनाये " विश्वग्रंथ " ये हैं । सबसे प्राचीन आर्योंका विश्वकोश " अग्निपुराण " था, और उसके पश्चात् बना हुआ विश्वकोश " महाभारत " है । " विश्व कोश " वह होता है कि जिसमें उस समयतक जो ग्रंथ बने होते हैं, उन सब का सार होता है । इसी प्रकार यह महाभारत भी विश्वकोश है, क्योंकि इसमें उस समयतकके संपूर्ण ग्रंथोंका सार विद्यमान है, देखिये —

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत् । वेदा योगः सविज्ञानो धर्मार्थः काम एव च ॥ ४८॥
धर्मार्थकामयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च । लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च । इह सर्वमनुक्रांतमुक्तं ग्रंथस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥

महाभारत. आदि. अ. १

" संपूर्ण भूतों के स्थान, सब त्रिविध रहस्य, वेद, योगशास्त्र, विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, लोकयात्रा संबंधी विविध शास्त्र, इतिहास, कथा, आदि सब ज्ञान इस महाभारत में संगृहित है । "

यह सब ज्ञान यहां होना ही इस महाभारतका लक्षण है । संपूर्ण ज्ञान अर्थात् लेखक के समयका संपूर्ण ज्ञान इसमें इकट्ठा किया गया है, यह बात इसप्रकार महाभारतके लेखक ने ही स्वयं कही है । तथा और भी देखिये —

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ ६१ ॥ ब्रह्मन्वेदरहस्यं च यच्चान्यत्स्थापितं मया । सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥ ६२ ॥ इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् । भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥ ६३ ॥ जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः । त्रिविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥ ६४ ॥ चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च सर्वशः । तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चंद्रसूर्ययोः ॥६५॥ ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह । ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥ ६६ ॥ न्यायः शिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा । हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥ ६७ ॥ तीर्थानां चैव पुण्यानां दिशानां चैव कीर्तनम् । नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥ ६८ ॥ पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् । वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥ ६९ ॥ यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ॥

महाभा० आदि० अ० १

"(१) मैंने यह भारतरूपी एक अपूर्व काव्य निर्माण किया है । इसमें ये विषय हैं -- (२) वेदोंका रहस्य, (३) उपनिषदोंका तत्त्व, (४) अंग उपांगोंकी व्याख्या (५) इतिहास और पुराण का विकास; (६) भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालों का निरूपण, (७) बुढापा, मृत्यु, भय, व्याधि, भाव अभाव आदि का विचार (८) त्रिविध धर्म और आश्रम के लक्षण (९) चार वर्णोंके धर्म, (१०) पुराणों में कथित आचार, (११) तपस्या और ब्रह्मचर्य का वर्णन, (१२) पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा तथा चारों युगोंका प्रमाण, (१३) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अध्यात्म आदिका विचार, (१४) न्याय, शिक्षा, (१५) चिकित्सा, (१६) दान, (१७) पाशुपत आदिमतोंका विचार, (१८) दिव्यजन्म और मानुषजन्म का विचार, (१९) पुण्य तीर्थ, दिशा, नदी, पर्वत, वन, सागर, दिव्य नगर, आदिका वर्णन, (२०) युद्ध कौशलका वर्णन, (२१) भिन्नभिन्न जातियोंके आचार विशेष, (२२) विविध लोक व्यवहार आदि का पूर्ण वर्णन तथा (२३) सर्वव्यापक आत्मा का वर्णन किया है ।

यह भगवान् व्यास जीका कथन विचार करने योग्य है । इस महाभारतके स्वरूपका वर्णन करते हुए "मैं कौरव पांडवों की कथा लिखी है ।" ऐसा कहा नहीं है, प्रत्युत ऐसा कहा है कि, "इस अपूर्व काव्यमें इतने विविध शास्त्रोंका वर्णन किया है । " इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि इस ग्रंथमें "विविध शास्त्रों के संग्रह

की बात प्रधान है" और विशिष्ट राजा के वृतांत कहनेकी बात गौण है। अथवा यौं भी कह सकते हैं, कि कौरव पांडवों के काव्यमय इतिहास के कथन के मिषसे इस महाभारतमें विविध शास्त्र ही कहे गये हैं। यदि पाठक महाभारत का अभ्यास करनेके समय इस मुख्य बात को ठीक प्रकार स्मरण रखेंगे, तो ही वे महाभारत के अभ्यास से अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। अर्थात्—

(१) महाभारत एक अपूर्व काव्य ग्रंथ है,

(२) कौरव-पांडवोंके इतिहास के मिषसे उसमें विविध शास्त्रोंका वर्णन है,

(३) पूर्वोक्त वेदादि शास्त्रोंका संग्रह करना यह इस ग्रंथका मुख्य उद्देश्य है और—

(४) इस उद्देश्यके अनुसार इसमें वेदादि शास्त्रोंसे लेकर अन्य संपूर्ण शास्त्र—जो इस महाभारतके कालमें विद्यमान थे, उनका संग्रह किया गया है।

अर्थात् यह ग्रंथ वास्तवमें एक काव्यरूप सारग्रंथ, विश्वकोश (Encyclopedia) सारसंग्रह, सर्वशास्त्रसारसंग्रह ग्रंथ है। इसमें अन्यशास्त्रोंके साथ साथ इतिहास भी है। यह महाभारत ग्रंथ की विशेषता पाठक ध्यान में धरें। व्यास भगवान् की अन्य प्रतिज्ञा भी यहां देखने योग्य है —

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

श्री० भागवत। १।४।२८

"भारत के मिषसे वेदकाही अर्थ प्रदर्शित किया है।" तथा और देखिये--

स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥ इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

श्री० भागवत. १।४।२५

"स्त्री, शूद्र और द्विजबंधु अर्थात् मूढ द्विज ये लोग श्रुतिका अर्थ समझ नहीं सकते, इसलिये इन मुढोंको श्रेयःप्राप्तिका उपाय ज्ञात हो जाय, इस हेतुसे व्यास मुनिने भारत नामक आख्यान रचा है।" अर्थात् जो मूढ लोग प्रत्यक्ष वेद मंत्र पढकर अर्थ नहीं समझ सकते, उनको वेदोक्त सनातन धर्मका ज्ञान देनेके लिये भारत की रचना की गई है, और इसी कारण इस में भारत कथा के मिषसे "वेदका अर्थ" ही प्रकाशित किया गया है। तथा और देखिये—

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते ॥

श्री०भागवत १।४।३५

"अकर्ता अजन्मा आत्मा के कर्म और जन्म जो वेदमें गुप्त हैं, वेही कविलोग कथाओंके मिषसे वर्णन करते हैं।"

इत्यादि प्रकार (१) अजन्मा और अकर्ता आत्माके जन्म और कर्मोंका वृत्तांत

जो विविध कथाओंमें दिखाई देता है, वह गुप्त रीतिसे वेदमंत्रा में है। इस (२) वेदक तत्त्व का अलंकारों म परिवर्तन करके मूढ जनों के सुखबोध के लिये कथाओं की रचना विविध प्रकार से की गई है, (३) तात्पर्य वेदका ही अर्थ भारत में कथाओं के मिषसे बताया गया है।

पूर्वोक्त महाभारत के वर्णन में भी "वेदादि शास्त्रोंके तत्त्वका विस्तार इ ग्रंथमें किया गया है," यह बात आ चुका है; उसका अनुसंधान यहां करना चाहिये। अस्तु इस प्रकार वेदका आशय, तथा अन्यान्य शास्त्रों और मतम-तांतरों का सार इस महाभारत में है, यह बात यहां स्पष्ट हो गई है।

पाठक यदि महाभारत मनन के साथ पढेंगे, तो उनको यहां सैंकडों विद्याओं और शास्त्रोंका सार स्थानस्थानमें दिखाई देगा। किसी न किसी कथा का मिष दिखलाकर उसमें किसी शास्त्रका सार बताया गया है। इस प्रकार काव्यमय इतिहास और इतने विविध शास्त्रोंका संग्रह जिसमें इकट्ठा किया गया है, ऐसा यही एक अपूर्व ग्रंथ है। इसकी तुलना किसी अन्य मनुष्यनिर्मित ग्रंथ के साथ हो ही नहीं सकती। जिस समय यह अपूर्व ग्रंथ निर्माण हुआ उस समय इसकी अपूर्वता का अनुभव विद्वानों ने भी यथायोग्य रीतिसे ही किया था, देखिये —

अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः। ज्ञानाञ्जनशलाका-भिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ ८४ ॥ धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यास-कीर्तनैः। तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहितं तमः ॥ ८५ ॥ पुराण-पूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशि-ताः। नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेत-त्प्रकाशनम् ॥ ८६ ॥ इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना। लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्संप्रका-शितम् ॥ ८७ ॥

महाभारत अ. १

"अज्ञानी लोगोंके अज्ञान को दूर करके इस भारतरूपी अंजन से जनताके ज्ञाननेत्र खोल दिये गये हैं ! इसमें धर्म अर्थ काम और मोक्ष का वर्णन विस्तार से और संक्षेपसे होनेके कारण इस भारत सूर्यने मानवों का अंधेरा दूर किया है। पुराण पूर्ण चंद्र के उदय होनेसे अर्थात् भारत ग्रंथरूपी चंद्रोदय होनेसे ही श्रुति रूपी चांदना प्रकट होकर मनुष्योंके बुद्धिरूप कमलोंकी प्रसन्नता हो गई है ! मोहरूपी आवरणका नाश करनेवाले इस महाभारत रूपी इतिह स-प्रदीपसे मनुष्योंके आंतरिक हृदयमंदिरम अत्यंत उत्तम प्रकाश हो चुका है।"

यह महाभारतका वर्णन कोई अत्युक्ति का नहीं है। महाभारतमें संपूर्ण शास्त्रों का सार होने से ही अनेक शास्त्रोंके अध्ययन का कार्य इस एक के अध्ययनसे

होनेके कारण उक्त वर्णन बिलकुल यथार्थ है, इस में किसी को संदेह नहीं हो सकता तथा और देखिये —

एकतश्चतुरो वदा भारतं चैतदेकतः । पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ॥ २७१ ॥ चतुर्भ्यःसरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा । तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्महाभारतमुच्यते ॥ २७२ ॥ महत्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् । महत्वाद्भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥२७३॥

महाभारत. आ० अ. १

" पूव कालमें सब देवताओंने मिलकर तराजूकी एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर इस महाभारत को चढाकर तोल किया था, इससे रहस्य संहित चारों वेदों से यही भारी निकला ! उस दिनसे लोग इसको महाभारत कहने लगे, क्यों कि बडाई और गुरुआई में यह बढ कर है । "

चार वेदोंकी मंत्रसंख्या करीब बीस हजार है और इसकी श्लोक संख्या एक लाख है। अर्थात् श्लोक संख्या से वेदोंके पांच गुणा बडा यह महाभारत है । अतः बोझमें भी पांचगुणा होना संभव है । इससे यह बात कोई न समझे कि तत्त्वज्ञान की दृष्टिसे वेदोंकी अपेक्षा महाभारत श्रेष्ठ है । उक्त वर्णन का यह तात्पर्य नहीं है । उक्त वर्णनमें तो केवल " आकार और बोझ " की ही तुलना की गई है । तत्त्व ज्ञान की दृष्टिसे वेदोंका महत्व इसी महा भारतमें अन्यत्र वर्णन किया ही गया है । इसलिये बोझकी दृष्टिसे उक्त वर्णन देखने योग्य है । इसमें दूसरी भी बात विचारणीय है वह यह है कि, वेद और उपनिषद् तत्वज्ञानकी दृष्टिसे अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ हैं, परंतु उनको यथार्थ रीतिसे समझनेवाले सहस्रोंमें एक दो विद्वान होंगे, परंतु महाभारतकी कथाओंसे बोध लेकर सूज्ञ होने वाले मनुष्य अनेक मिल सकते हैं; क्यों कि इसमें जो धर्मशास्त्रका विषय प्रतिपादन किया गया है, वह अज्ञजनोंके समझमें आने योग्य सुगम रीतिसे किया गया है, तथा इतिहासके साथ धर्म तत्वोंका बोध संमिलित होनेके कारण महाभारतके पढनेसे निःसंदेह पाठकोंके अंदर " व्यवहार–चातुर्य " आसकता है । इस विषयमें देखिये –

यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः । न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ३८१ ॥ अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् । कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ ३८३ ॥ श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते । पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥ ३८४ ॥ अनाश्रित्यैदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते । आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३८८ ॥

म० भा० आ० अ० २

"जो विद्वान् अंगों सहित चार वेद और संपूर्ण उपनिषद् जानता है, परंतु महाभारत का जिसने अध्ययन नहीं किया वह विचक्षण अर्थात् चतुर नहीं कहा जा सकता। अपार बुद्धिमान् व्यास देव जी ने वह महाभारत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और धर्म-शास्त्र करके बनाया है । जिस प्रकार कोकिल का मधुर शब्द सुननेके पश्चात् कौवेका शब्द सुनना कोई नहीं चाहता, उसी प्रकार महाभारत कथा का श्रवण करने के पश्चात् अन्य कथा श्रवण करनेकी इच्छाही नहीं होती। जिस प्रकार अन्न भक्षण करने के विना शरीर धारण का कोई उपाय नहीं है, उसी प्रकार इस महाभारतके आश्रयके विना कोईभी उपाख्यान नहीं है।"

यह वर्णन देखनेसे भी महाभारतका महत्त्व ध्यानमें आसकता है । वेद और उपनिषद निःसंदेह तत्त्वज्ञानके ग्रंथ हैं, उन के पढनेसे मनुष्य ज्ञान संपन्न हो सकता है; परंतु चतुरता प्राप्त करनेके लिये ऐसे पुरुषोंके इतिहास पढने चाहिये कि, जिन्हों ने वेदों और उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान अपने जीवनमें ढाला है और उस तत्त्वज्ञान का जीवन व्यतीत करनेके लिये विरोधियों के साथ विविध प्रकारके युद्ध किये हैं। " सत्यधर्मका पालन करना चाहिये " यह वेदा और उपनिषदोंकी आज्ञा है । इसका पालन धर्मराज और हरिश्चंद्रने किया और विरोधियोंके साथ सत्याग्रह करके अपना और सत्यका विजय जगत्में उद्घोषित किया । (१) वेदकी आज्ञा और (२) उसका पालन करनेवाले सत्पुरुषों का जीवनचरित्र इन दोनोंका ठीक ठीक बोध होनेसे मनुष्य चातुर्य संपन्न हो सकता है । यही बात निम्न श्लोकमें कही है —

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृं-
हयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं
प्रतरिष्यति ॥ २६७ ॥
म. भा. आ. अ. १

" इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थ-का प्रकाश करें, क्यों कि थोडी विद्या पढे हुए जनसे वेदको भय उत्पन्न होता है, कि वह मुझे बिगाडेगा । "

इसका भी तात्पर्य यह है कि, इतिहास और पुराणग्रंथों में ऐसी कथाएं हैं कि, जो वेदके अर्थका प्रकाश करनेवाली हैं । इस-लिये वेदका सत्य अर्थ जाननेके लिये उक्त कथाओंको जानना अत्यावश्यक है। अथवा यों कहा जा सकता है कि वेदका सत्य अर्थ जाननेके जो अनेक साधन होंगे, उनमें यह भी एक साधन है कि, " वेदके मूल मंत्रोंके साथ पौराणिक और ऐतिहा-सिक कथाओं की तुलना करना । "

इस लेख मालामें हम आगे बतायेंगे कि किस प्रकार यह तुलना हो सकती है और इससे सत्य अर्थ निकालनेकी सहायता किस प्रकार तथा किस रूपमें होना संभव है ।

मनुष्यके लिये चार पुरुषार्थ करना आवश्यक हैं, और उन चारों पुरुषार्थोंके साधक उपदेश इस महाभारतमें व्यास देवजीने दिये हैं, तथा उक्त श्लोकोंमें और भी स्पष्ट रूपसे यह कहा है कि महाभारत में जो कथा है, वही अन्यत्र है; और दूसरे किसी मनुष्यकृत ग्रंथ में ऐसी कोई कथा नहीं है कि, जो महाभारतकी कथाके आश्रय से रची नहीं हैं। इस का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि यह महाभारत ग्रंथ उस समयके संपूर्ण शास्त्रों और विविध ग्रंथोंका एक प्रकारका " सार संग्रह ग्रंथ" है। और इसकी रचनामें संपादक अथवा लेखक ने ऐसी योजना की है कि, अपने समयके संपूर्ण ग्रंथोंका सारभूत तत्त्वज्ञान इसमें संगृहित हो जाय और ऐसा कोई भी ग्रंथ न रहे कि जिसका सारभूत तत्त्वज्ञान इसमें न आया हो। इस प्रकारकी योजना महाभारतमें होने और इसमें उस समयके संपूर्ण ग्रंथोंका सार होनेके कारण ही कहते हैं कि —

" व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्। "

" संपूर्ण जगत् व्यासका उच्छिष्ट ही है। " अर्थात् सब ग्रंथ व्यासका उच्छिष्ट ही है। ऐसा एकभी ग्रंथ नहीं था कि जो व्यासने नहीं चखा और उसका रस अपने ग्रंथमें नहीं लिया। अस्तु, इस रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको पता लग जायगा कि, कौरव पांडवोंके इतिहासके अतिरिक्त भी महाभारतकी विशेष योग्यता है और वह योग्यता इस ग्रंथके (Encyclopedia) सारसंग्रहरूप होनेसे ही है। आजकलके सार संग्रह ग्रंथोंम और महाभारतमें भेद यह है,कि आजकलके सार संग्रह आद्योपांत पढे नहीं जा सकते और यह ग्रंथ रसपूर्ण होनेसे पढा जाता है।

कौरव पांडवोंका इतिहास देते हुए विविध शास्त्रों और ग्रंथोंके सार ऐसी युक्तिसे इसमें दिये हैं, कि ग्रंथ पढते पढते, अन्य विविध शास्त्रोंका विचार भी मनमें न लाते हुए, पाठक उन शास्त्रोंके तत्त्वोंके साथ परिचित हो जाते हैं! पाठक इस बातका विचार मनमें लावें और महाभारत की योग्यता जाननेका यत्न करें।

इस महाभारतमें कौनसी कथाएं सत्य हैं, कौन सी कथाएं अलंकार रूप अर्थात् कल्पित हैं, कौनसे अन्य तत्त्व सत्य हैं और कौनसे आज कलकी वैज्ञानिक दृष्टिसे मिथ्या हैं, इसका विचार आगे क्रमशःआ जायगा। इस लेखमें अब यही बताना है कि, यह ग्रंथ " सार संग्रह ग्रंथ " होनेके अतिरिक्त इतिहास की दृष्टिसेभी इसका महत्व अत्यंत है। पांडव कालीन आर्योंकी सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक अवस्था किस प्रकार थी, इसका निश्चित ज्ञान इस ग्रंथके पढने से हो जाता है। जिस समय मनुष्योंमें कुटुंबके बंधन नहीं थे, उस समय से पांडवोंके समयतक का सामाजिक उन्नतिका इतिहास महाभारतमें है। अर्थात् कमसेकम बीस हजार वर्षोंका सामाजिक

उत्क्रांतिका इतिहास अर्थात् मनुष्योंकी उत्क्रांतिका इतिहास इसमें है । इतने विस्तृत समयका इतिहास किसी अन्य ग्रंथमें निश्चयसे नहीं है ।

इसके अतिरिक्त धर्मराजकी धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठा, भीमसेनकी शक्ति और सरल वृत्ति, अर्जुन का अद्भुत पराक्रम, नकुल सहदेवोंकी बंधुप्रीति, द्रौपदी गांधारी आदि आर्य स्त्रियोंका अद्भुत चारित्र्य, श्रीकृष्ण भगवान् का राजनीतिपटुत्व, भीष्माचार्यका अखंड ब्रह्मचर्य और धर्म ज्ञान, धृतराष्ट्रका पुत्रप्रेम, दुर्योधनकी साम्राज्यवर्धन की प्रबल इच्छा, कर्णका औदार्य और स्वाभिमान, इत्यादि महाभारतीय पुरुषोंके स्वभाव गुणोंका परिणाम जो पाठकोंके मनके ऊपर हो सकता है, और उससे जो मनुष्योंके स्वभावमें अद्भुत उच्चता आसकती है वह विलक्षण ही महत्त्व रखती है ।

तात्पर्य अनेक दृष्टिसे देखनेपर भी महाभारतके पढने से अत्यंत लाभ होना स्वाभाविक है, इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि, वे इस ग्रंथका पठन और मनन करें और स्वयं बोध लें, तथा अपने बालबच्चोंके मनोंपर भी उसका संस्कार डाल दें ।

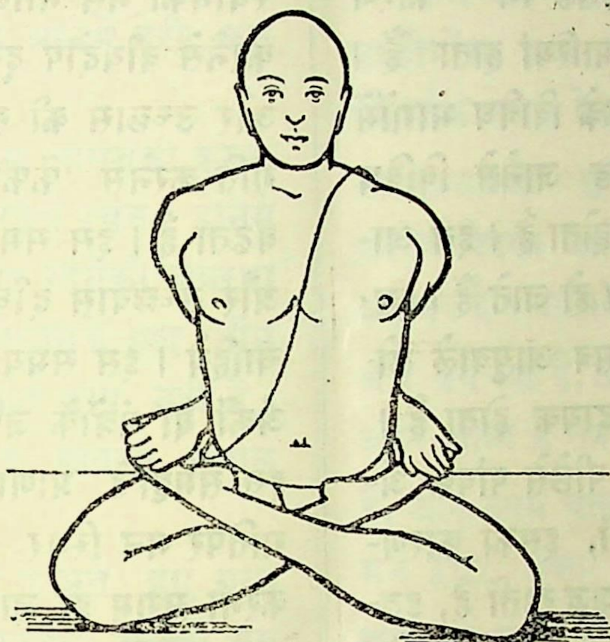
अब इस लेख मालामें महाभारतीय कथाके विशेष प्रसंगों का क्रमशः विचार होगा और उस विचारमें वेदमंत्रोंके साथ महाभारतीय कथाकी तुलना विशेष रीतिसे की जायगी । —

(क्रमशः)

य श ।

सतत पुरुषार्थ करने से ही यश मिलता है, परंतु एकाद दुष्कर्म करनेसे सब यश दूर होता है, इसलिये सर्वदा दक्षता से उत्तम पुरुषार्थ कीजिये ।

बद्ध पद्मासन ।



दाहिना पांव बाई जांघपर और बांयां पाव दाहिनी जांघपर ऐसी रीतिसे रखना कि उनकी एंडियें पेटके नीचेके भागको सटके बैठें। पश्चात् दोनों हाथ पीछे फेरके दाहिने हाथसे दाहिने पांवका और बांये हाथसे बांये पांवका अंगूठा पकडना, फिर ठोढी हृदयमें लगाके दबाना, और नासाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे बद्धपद्मासन होता है। इससे अनेक व्याधियोंका नाश होता है, विशेषतः पेटके संबंधकी बहुतसी व्याधियां इसके करनेसे दूर होती हैं। पेटका फूलना, बद हजमी, अपचनके अनेक दोष, पेटका दर्द, परिणामशूल, आमवात, कब्जी बद्धकोष्टता, खट्टे ढकार आदि सब इसके करनेसे दूर होते हैं। परंतु केवल मिनिट दो मिनिट के करनेसे उक्त लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा करना व्यर्थ है। कमसे कम आधा घंटा इस आसनपर स्थिर बैठनेका अभ्यास करना चाहिये। तब गुणका अनुभव होने लगता है। घंटा डेढ घंटा तक बैठनेसे और भी अधिक लाभ होते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन तीनवार चार छे मास तक अभ्यास करनेसे स्थिररूपसे आरोग्य प्राप्त होता है।

इस आसनसे कमरके स्नायु तथा पांव की नसनाडियां निर्मल हो जाती हैं, इस लिये वहां भी दृढ आरोग्य होता है। वारंवार पीठको दबाकर बैठनेके कारण जो पृष्ठवंशके मेरु दंडमें तेढापन आजाता है वह इससे दूर होता है और उसमें सरलता

अथवा समता आती है। इस लिये पृष्ठवंश का मज्जा प्रवाह इस आसनसे ठीक होता है, अर्थात् मज्जातंतु के रोग क्रमशः हटते जाते हैं। पृष्ठवंशके तेढे पन कारण मनुष्यमें असंख्य बीमारियां होता हैं। गुदासे लेकर मस्तक तकके विविध भागोंमें इन मज्जातंतुओंके बिगड जानेसे विविध बीमारियां होना संभव होता है। इस आसनसे उक्त सब दोष दूर हो जाते हैं। इसलिय सब अवस्थाओंमें सब आयुवाले लोगोंको यह आसन लाभदायक होता है।

कई मनुष्योंके हाथ पीछेसे पांवके अंगुठोंतक पहुंचतेही नहीं, इसका कारण-उनकी नस नाडियां अशुद्ध रहतीं हैं, इतना ही है। वार वार प्रयत्न करनेपर एक मासमें पांवके अंगूठे पीछेसे हाथ में आने लग जाते हैं। तब तक उनको एक हाथ से ही पीठकी ओरसे एक पांवका अंगूठा पकडनेका यत्न करना चाहिये। एक हाथ से अंगूठा पकडना है वह दांये हाथसे दाहिने पांवका और बांये हाथसे बांये पांव का ही पीठकी ओरसे पकडना चाहिये। केवल एक हाथसे एक पांवका अंगूठा पकडनेसे " अर्ध-बद्ध-पद्मासन " होता है। यद्यपि इससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता है, तथापि तैय्यारीकी दृष्टिसे इतना करना भी लाभदायी ही है। अर्धबद्धपद्मासन करना हो तो क्रमशः दोनों ओरका अवश्य करना चाहिये। तथा बद्धपद्मासन भी हाथ पांवोंके हेरफेरसे करना उचित है। क्यों कि हाथ पांवोंके हेरफेरसे करनेसेही योग्य लाभ पहुंचता है।

इस आसनमें बैठकर गुदा और शिश्न स्थानकी नस नाडियोंका ऊर्ध्व आकर्षण करनेसे वीर्यदोष दूर हो जाते हैं। श्वास और उच्छ्वास की सम प्रमाणमें परंतु मंद गति करनेसे फेंफडोंमें बल आता और बढता है। इस समवृत्ति प्राणायामसे श्वास और उच्छ्वास दीर्घ, मंद और सम होने चाहिये। इस समय श्वासोच्छ्वास की गति अंकों या मंत्रोंके जपसे नाप सकते हैं। इस समवृत्ति प्राणायाम के समय श्वास गतिपर मन स्थिर करनेसे चित्त एकाग्र करना सुगम हो जाता है!

समवृत्ति प्राणायामके साथ बद्धपद्मासन करनेसे प्राथमिक अवस्थाका क्षय रोग, पांडुरोग, पेटकी अशक्तता, तथा दवाइयोंसे ठीक न होनेवाला नित्याजीर्ण रोग भी छः मासमें ठीक हुआ है। परंतु जिन रोगियोंपर यह प्रयोग किया वे प्रतिदिन तीन चार वार और प्रतिसमय एक एक घंटा करते थे। क्षयरोगी के फेंफडोंमें क्षयके क्रिमी भी डाक्टरी परीक्षासे निश्चित हुए थे, परंतु योग्य पथ्यके साथ उक्त आसन करनेसे प्रथम उनका पेट सुधर गया, और पश्चात् अन्य दोष भी दूर होते गये। शुद्ध वायु सेवन, सात्विक लघु भोजन, तथा अन्य आहार व्यवहारभी योगशास्त्रके अनुकूल ही रखा गया था।

बहुत दिनके ज्वरके पश्चात् तिल्लीका

बढना तथा यकृतका बिगडना होता है। इनके लिये यह बद्धपद्मासन उत्तमोत्तम है। यदि खानपानके पथ्यके साथ ये रोगी इस आसनको करेंगे तो निःसंदेह गुण आवेगा। रोगकी तीव्रतासे गुण आनेमें देरी लग जानी स्वाभाविक है ।

भोजन करते ही इस आसनको करना नहीं चाहिये, ऐसा करनेसे पचन होनेमें कष्ट होते हैं। खाली पेट रहनेकी अवस्था में करना अच्छा है। भोजनके बाद तीन घंटोंके पश्चात् करनेमें कोई दोष नहीं है। विशेषतः रोगीको इस बातका ख्याल रखना आवश्यक है ।

ठोढी कंठ मूलमें न लगाते हुए गला दाईं और बाईं ओर घुमानेसे गलेकी नस नाडियोंकी शुद्धता की जा सकती है। इस समय सब प्रकारके कंठबंध करनेसे कंठ-स्थानका आरोग्य सिद्ध हो सकता है।

श्वास अंदर जानेके समय मूल स्थानके नाडीयोंका ऊर्ध्व आकर्षण, तथा बाहिर छोडनेके समय पेटको अंदर लेजाना तथा नाभिस्थानके सूर्यचक्रपर मनका संयम करनेसे पेटका आरोग्य शीघ्र प्राप्त होनेका अनुभव है। नाभिके किंचित् ऊपर पीठकी ओर सूर्यचक्र है, उच्छ्वासके समय पेट जब अंदर जाता है तब उसपर दबाव आजाता है, और उसमें चेतना अधिक आजाती है। मन द्वारा उक्त क्रिया करनेसे अधिक लाभ हो जाता है ।

---

* *

इन्द्र की प्रसन्नता ।

(लेखक—श्री०पं० गणेशदत्त शर्माजा)

ॐ इन्द्रं वर्द्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ ऋ० ९।६३।५

जो (अप्तुरः) प्रयत्नशील पुरुषार्थी- लोग (विश्वं आर्य विश्वको आर्य (कृण्वन्तः) बनानेवाले हैं और जो (अराव्णः) दान न देनेवालोंको अर्थात् अनुदार स्वार्थी मनुष्योंको दूर करते हैं वे अपने पुरुषार्थ से (इन्द्रं वर्धान्ति) इन्द्रका संवर्द्धन करते हैं।

(चौपाई)

यत्नशील बनकर जो भाई, सकल विश्वको आर्य बनाई ॥
दान न कुछ जो करें करावें, उनको जगसे शीघ्र हटावें ॥
इस प्रकार जो नित करते हैं, इन्द्र उन्हीं पर खुश रहते हैं ॥

* *

प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म का बोझ उठाता है।

* * * * * *

दयानन्द जन्म शताब्दिके उपलक्षमें श्री. पं. अभय देवशर्माजी द्वारा संगृहीत ।

वैदिक उपदेश माला ।

* * * * * *

(५)

वीर्यरक्षा ।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।

हम अब प्रलोभन को जीतना सीख चुके हैं । इसके कारण हममें बहुत बल प्राप्त हुआ होगा । आइये, इस नये बलको प्राप्त करके अब की वार ब्रह्मचर्य के महान् गुण को अपने में धारण करनेका यत्न करें । ऋषि दयानन्द के जिवनसे हमें ब्रह्मचर्यकी ही सबसे बडी शिक्षा मिलती है । ऋषि दयानन्दमें ब्रह्मचर्यकी महिमा ऐसी प्रगट हुई है कि उनकी ब्रह्मचर्य शक्ति ही उन्हें और अन्य सब सुधारकों से जुदा करती है । ब्रह्मचर्यका अर्थ है वीर्यरक्षा । ब्रह्मचर्यका असली अर्थ इससे अधिक विस्तृत है, परंतु हम अभी इसका वीर्यरक्षा ऐसा ही मुख्य अर्थ लेकर आगे चलेंगे । वीर्य रक्षण करना ही काफी कठिन काम है, परंतु इसका महत्व और लाभ भी उतनाही अधिक है । वीर्य वह वस्तु है जो कि सम्पूर्ण शरीर का सारांश है, तेजस्सार है । वीर्यके एक कणमें बहुत से जीवनों को उत्पन्न करनेकी शक्ति है । तब आप कल्पना कर सकते हैं कि वीर्य कितना जीवन का भंडार है । यदि यह शरीरमें रक्षित किया जावे जो हममें कितनी जीवन शक्ति संचित हो सकती है । स्वामी दयानन्दने जगतमें आकर जो इतना महान् कार्य किया- भारी अज्ञानको हटाया, बहुतसे जीवनोंको पलटा, सत्यका डंका बजाया और अपने

जमानेको ही बदलदिया-इनका यदि कोई भौतिक कारण ढूंढा जाय तो वह उनके शरीर में **रक्षित किया हुआ वीर्य** था। क्या हम आर्यसमाजियों को यह इच्छा नहीं पैदा होती कि हम भी वीर्य रक्षा करें- नष्ट होती हुई इतनी ईश्वर प्रदत्त शक्तिको रक्षित करें। जिसको वह इच्छा पैदा होती होगी वह तो अपनी इस वीर्य की अनमोल संपात्ति की रक्षा करनेके लिये बिकटसे बिकट यत्न और सब प्रकारका परिश्रम करनेके लिये अवश्य एकदम उद्यत होगा। आप पूछेंगे हम वीर्य की रक्षा कैसे करें, यह बडा कठिन काम है। बेशक यह कठिन काम है, परन्तु इसके उपाय भी जरूर हैं। और जिस सौभाग्यशाली पुरुषको वीर्य रक्षण की उत्कट इच्छा हुई है वह उन उपायोंको जरूर कहीं न कहीं से प्राप्त भी कर लेगा। वीर्य रक्षण की इच्छा रखने वालों को चिन्ता की कोई जरूरत नहीं है। विशेष कर जब कि उसने प्रलोभनों को जीतनेका अभ्यास कर लिया है। वीर्य रक्षाके लिये आहार, विहार, व्यायाम आदि कैसा होना चाहिये और मनो अवस्था कैसी रखनी चाहिये इत्यादि विषयको हम इस लेखमें नहीं देख सकेंगे। इन बातों के संबन्धमें पाठकगण ब्रह्मचर्य विषयपर विस्तृत लिखी हुई पुस्तकोंका स्वाध्याय करके अवश्य लाभ उठावे। परन्तु यहां ब्रह्मचर्य के उस एक साधन का हम विचार करेंगे जो कि मेरी समझमें भौतिक साधन है। यह साधन स्वाभाविक है और अतएव प्रबल है। अर्थात हमें साधन के प्राप्त हो जाने पर स्वभावतः वीर्यरक्षा होती है और अवश्य होती है। और मैं यह भी कह देना चाहता हूं, कि इस साधनसे सम्पन्न होने के कारण ही स्वामी दयानन्द अखण्ड ब्रह्मचारि रहे थे। यह साधन एक वाक्यमें यह है – **वीर्य को किसी शक्तिके रूपमें परिणत करना**। विना ऐसा किये वीर्य का संभालना कठिन है। जबतक हम वीर्य को शक्ति के रूपमें नहीं ले आते तबतक वीर्य के नाश होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। इसलिये वीर्य को वीर्य के रूपमें न पडा रखकर उसको शक्ति बना देना ही वीर्य रक्षाका मौलिक उपाय है। वीर्य को शक्तिके रूपमें किन उपायों से परिणत करें यही विचार हम इस महिने के वेद मन्त्र द्वारा यहांपर करेंगे। अथर्व वेदमें प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य सूक्त है। उसमें ब्रह्मचर्य के विषयमें बडे बडे उत्तम उपदेश हैं परन्तु उस सूक्तमें से मैं एक मन्त्र के उत्तरार्ध को ही उपस्थित करता हूं। उससे ही उपदेश ग्रहण करना हमारे लिये बहुत पर्याप्त होगा। वह मन्त्र यह है -

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।

इस मंत्र में कहा है " ब्रह्मचारी लोकान् पिपर्ति "। ब्रह्मचारी लोगोंको पूर्ण करता है और पालित करता है। कैसे ? " समिधा, मेखलया, श्रमेण, तपसा" समिधासे, मेखलासे, श्रमसे, तपसे इन चार साधनोंसे।

यह चारों वीर्य रक्षा के भी साधन हैं, क्यों कि यह चारों ही वीर्य को शक्ति के

रूपमें परिणत करनेके उपाय हैं। इनमें से पहिला उपाय है समिध्। समिध् का अर्थ है अच्छी प्रकारसे दीप्त होना। सं+इन्ध। हवन की लकडियों को भी समिध् इसीलिये कहते हैं क्यों कि वह दीप्त होती हैं। आर्यों में पुरानी प्रथा के अनुसार शिष्य गुरुके पास समिधा लेकर जाता था। उनका मतलब यह था कि मानो गुरु अग्निरूप हैं और शिष्य अपने आपको समिधा बनाता है और इच्छा करता है कि मुझे आप इसीतरह दीप्त कर दो जैसे कि अग्निमें समिधा डालनेसे वह समिधा भी अग्निवत् दीप्त हो जाती है। इस प्रकारसे यदी आप विचारेंगे तो आप समझ जांयगे कि यहांपर समिध् का अर्थ '**अपने आपको ज्ञानाग्निसे दीप्त करना है**'। अपने को ज्ञानसे दीप्त करनेसे हमारा वीर्य ज्ञानके बनाने में खर्च होगा और इस प्रकार वीर्य रक्षा होगी। इस "समिध्" की बात को यदि आप पूरीतरह समझना चाहें तो आप अपने सामने दीपक का दृश्य लाइये। स्वामी रामतीर्थ जीने अपने प्रसिद्ध "ब्रह्मचर्य" की व्याख्यान में यह बडी उत्तम उपमा दी है। यह उपमा मुझे तबसे याद रहती है। दीपक आपमेंसे हरेकके घरमें जलता है। उस में तेल होता है, बत्ती होती है और ऊपर से वह जलता है। तेल बत्ती द्वारा ऊपर चढता है और ऊपर जलता है— प्रकाशित होता है। अर्थात् तेल ऊपर चढकर प्रकाश के रूपमें परिणत हो जाता है-प्रकाश बन जाता है। आप समझ गये होंगे कि तेलके स्थान में हमारे शरीरमें वीर्य है। यदि हम अपने आप को ऊपरसे जलादें अपने आपको दीप्त करलें, तो हमारा वीर्य भी ऊपर चढकर ज्ञान बनने में खर्च हुआ करेगा। हमारे सिर में पांचों ज्ञानेन्द्रियां हैं। वहीं ज्ञान का केन्द्र दिमाग है। लोकों के हिसाब से सिर हमारा द्युलोक है। इसी सिरको हम ने दीप्त करना है, जलाना है। इस की दीप्ति ज्ञान से होती है। जब हमारा सिर ज्ञान से जलने लगेगा तब हमारा वीर्य स्वयमेव ही वहां चढेगा और ज्ञानरूप प्रकाश में परिणत हुआ करेगा। इस प्रसङ्ग में पाठक ऊर्ध्व रेता होने का भाव भी समझ गए होंगे। जो योगी महात्मा होते हैं उन का शिर इसी कारण द्युलोक की तरह देदीप्यमान होता है। वे शिर में प्राण भरकर समाधि करते हैं आर "ऋतम्भरा" जैसी अत्युच्च ज्ञानप्रकाश की अवस्था को प्राप्त करते हैं, अत एव उनका सर्व वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर ज्ञानप्रकाश का इन्धन बनता रहता है। हम साधारण पुरुष यदि समाधि नहीं प्राप्त कर सकते तो हमें अन्य प्रकार से मस्तिष्क को कार्य देना चाहिये; खूब मनन करना चाहिये, गम्भीर, गम्भीर विचार करना चाहिये, मस्तिष्क से खूब काम लेना चाहिये, इस प्रकार से हमारा वीर्य भी बहुत कुछ ज्ञानाग्निका इन्धन बन सकता है और वीर्यरक्षा हो सकती है। हमें यह याद रखना चाहिये कि हरएक वस्तु की तरह वीर्य की भी दो गति हो सकती हैं, एक उर्ध्वगति और दूसरी अधोगति। जब लोग वीर्य जैसी परम पवित्र और जीवन भण्डार वस्तु की अपने अन्दर अधोगति करते हैं,

उन की अधोगति ही होनी है । और जो मनुष्य इस की ऊर्ध्वगति करते हैं वे स्वभावतः उर्ध्वगति, उन्नति को प्राप्त होते जाते हैं; जितनी मात्रा में ऊर्ध्वगति करते हैं उतनी ही मात्रा में उन्नति को प्राप्त होते हैं । अतः अपने को ज्ञान से दीप्त कर पूरे यत्न से जहां तक हो सके वहां तक हमें वीर्य की उर्ध्व गति ही प्राप्त करनी चाहिये । इस प्रकार 'समिधा' द्वारा हम मूलतया वीर्यरक्षा करते हैं । यह पहला उपाय हमें वेदने दर्शाया हैं ।

दूसरा उपाय है मेखला । मेखला को हिन्दी में तडागी या तगडी कहते हैं । स्मृति ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्मचारी के लिये कटिप्रदेश में मेखला बान्धने का विधान है । इसका वास्तविक प्रयोजन क्या है - यह मैं ठीक नहीं जानता । ऐसा सुना जाता है, कि यह वीर्यरक्षा में सहायक होती है और कई अण्ड-कोषों के रोगों के लिये रक्षक का काम देती है । परन्तु इस से एक और भाव समझ में आता है-- यह है **कटिबद्धता** का भाव । ब्रह्मचारी को कटिबद्ध रहना चाहिये, हमेशा तैय्यार, हमेशा चुस्त रहना चाहिये । न जाने कर्तव्य किसी समय क्या आज्ञा देवे । जैसे कि युद्धका सिपाही हमेशा चुस्त और चौकन्ना रहता है कि न जान अभी क्या करना पडे उसी तरह ब्रह्मचारी को सदा कर्तव्य के लिये तैय्यार, कमर कसे हुए रहना चाहिये । उसे हमेशा जागृत रहना चाहिये, सोते हुए भी जागृत रहना चाहिये; कभी भी प्रमादी--आलस्ययुक्त नहीं रहना चाहिये । कटि बद्धता से उल्टा है आलस्य ढीलापन । जब मनुष्य आलसी होता है, ढीला पडा रहता है तब उस के वीर्यनाश होने की सदा सम्भावना रहती है । सोते हुए का ही वीर्यनाश होता है । इससे विपरीत जन मनुष्य सदा कर्तव्योन्मुख होकर चुस्त रहता है, तब इस कार्य में जो शक्ति खर्च होती हैं उसे शरीरस्थ वीर्य पूरा करना रहता है अर्थात् वीर्य इस शक्तिमें परिणत होता रहता है । यह वीर्यरक्षा का दूसरा साधन है । वीर्य की शक्ति में परिणति का प्रारम्भ में विवेचन अच्छी तरह हो चुका है । इस लिये अब इन उपायों की विस्तृत व्याख्या की जरूरत नहीं ।

तीसरा साधन है श्रम, परिश्रम, मेहनत । यह साफ बात है । श्रम करने से वीर्यरक्षा होती है और काम से विपरीत **आराम-तलबी** से- आराम की इच्छासे वीर्य नाश होता है । अतः ब्रह्मचर्य की इच्छा करने वालों को सदा श्रम करना चाहिये । शारीरिक श्रम-व्यायाम से वीर्य रुधिरमें संमिश्रित होता है । एवं अन्य मेहनत के कार्य करने से भी वीर्य शक्ति के रूप में खर्च होता है । अतः हमें श्रम के जीवन को बडी खुशीसे अपनाना चाहिये ।

इस के बाद चौथा तप का साधन आता है । यह एक प्रकारसे सबसे मुख्य है । ब्रह्मचर्यसूक्तमें तप का बार बार वर्णन आता है । द्वन्द्वोंके सहने को तप कहते हैं । अपने कर्तव्यमार्ग में जो कष्ट आवें उन्हें सहना तप है । यह ब्रह्मचारी को निरन्तर करना चाहिये। गर्मी सर्दी सहनेका, भूख प्यास सहते का उसे

अभ्यास होना चाहिये। इसी प्रकार और नाना तरह के द्वन्द्व हैं जिन्हें कि मनुष्य जितना सहने वाला होगा उतना ही वह वीर्यरक्षक होगा। उदाहरणार्थ हम शीतोष्ण को सहें--शीत को कपडे द्वारा सहना छोडकर धीरे धीरे यह अभ्यास करें कि अपने वीर्य से बनने वाली शरीरस्थ सहन शक्ति के द्वारा ही शीत को सह सकें, और गर्मी को भी बाह्य उपकरणोंसे न सह कर इसी सहन शक्ति से सहने का अभ्यास करें तो हमारी वीर्यरक्षा होगी। वीर्य का इस प्रकार बहुत उत्तम सद्व्यय होगा। आशा है पाठकगण यहां तक के विवेचन से इन चारों उपायों का वीर्यरक्षामें साधनत्व भली प्रकारसे समझ गए होंगे।

शायद कोई पूछता है, कि हम तप श्रम आदि कठिन साधनों से **वीर्यरक्षा** ही क्यों करें? मैं इस प्रश्नका अर्थ समझता हूं। यह प्रश्न ठीक है। विना किसी लक्ष्य के वीर्यरक्षा भी नहीं की जा सकती है। जिसके सामने कोई लक्ष्य ही नहीं है वह किस लिये करे? इस लिये सब से बडी बात तो यह है कि हमारा कुछ लक्ष्य होना चाहिये। इस मन्त्रमें वह लक्ष्य "लोकों का पालन पूरण" कहा है। असल में प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य अपने लोकों को पूर्ण करना और लोकसंग्रह करना ही है, तिसके कि लिये उसे ब्रह्मचर्य करना चाहिये। परन्तु सामान्यतया कुछ न कुछ लक्ष्य होना भी पर्याप्त है। जिस ने अपने जीवन का कुछ थोडा सा भी लक्ष्य बना रखा है वह उसी लक्ष्य के लिये ज्ञान दीप्ति प्राप्त करेगा, उस के लिये सदा कटिबद्ध रहेगा, सदा काम करेगा और तप करेगा अतः वीर्यरक्षा को भी प्राप्त करेगा। किस का जितना भारी लक्ष्य होगा उस के लिये वीर्यरक्षा करना उतना ही आसान होगा। ऋषि दयानन्द तो एक महान् लक्ष्य लेकर दुनिया में प्रविष्ट हुए थे। वे वस्तुतः लोगों का पालन और पूरण करने के ही लिये जन्मे थे। उन्हे विषयों की तरफ देखने के लिये भी फुरसत कहां थी। इस लिये उन्हों ने अपने को ज्ञानसे संदीप्त किया और सारी आयुभर कर्तव्य के लिये कटिबद्ध रहे वे सारा जीवन भर श्रम करते रहे और उन्हों ने बालकपन से जितना तप, कष्ट सहन, किया उतना दुनिया में विरले लोग ही करते हैं। इसी लिये वे अखण्ड ब्रह्मचारी रहे।

आप पूछेंगे कि हम क्या करें? हम तो दयानन्द जैसे महापुरुष नहीं हैं, हम तो दुनिया में कोई सन्देश लेकर नहीं आये। मैं कहूंगा कि आप दयानन्द के शिष्य हैं। यही पर्याप्त है। हरएक आर्यसमाजी यह गर्व कर सकता है कि मैं आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द जीका शिष्य हूं। दयानन्द हमारे लिये अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। आर्यसमाज ही उनका पुत्र कहा जा सकता है। यदि हम अपने को दयानन्द का पुत्र न मानकर केवल अपने को दयानन्द का अनुयायी मानें तो भी हम भारी ऋषि-ऋण का बोझ अपने कन्धों पर अनुभव करेंगे। क्या इस ऋणसे मुक्त होना हमारा कार्य नहीं है? क्या यह छोटा लक्ष्य है! क्या इसके लिये ब्रह्मचर्य की

जरूरत नहीं है। आप में से बहुतसे सज्जन प्रायः गृहस्थाश्रम में होंगे इस लिये वैदिक रीतिके अनुसार सन्तान उत्पन्न करना बेशक आपका कर्तव्य है। परन्तु इस पितृऋण को उतारने के अतिरिक्त और किसी कार्य में अपने वीर्य का व्यय करना अपने गुरु को कलंकित करना है। आप को ऋषिऋण उतारने के लिये गृहस्थधर्म करते हुए भी ब्रह्मचारी रहना चाहिये। क्या आप प्रण करेंगे कि हम दयानन्द के अनुयायी ऋतुगामी होने के सिवाय सदा वैदिकधर्म के लिये ब्रह्मचारी रहेंगे। आइये आज हम ऋषि दयानन्द की ब्रह्मचर्यमयी दमकती हुई गुरुमूर्ति को अपने मन में अच्छी तरह से बिठला कर उस के सामने प्रतिज्ञा करें कि 'मैं आपका शिष्य ब्रह्मचारी रहूंगा'। उन की ब्रह्मचर्य मयी मानस मूर्तिका बार बार ध्यान करके इसे अपने में यहां तक समादे कि जब कभी हमारे सामने इस प्रतिज्ञा के तोड़ने का प्रलोभन आवे-पाशविक भोग में फसने का जोरदार प्रलोभन आवे-तो उसे भी सहस्र गुना तीव्रता से हमारे सामने हमारे गुरुकी यह मूर्ति आ खडी हो और वह आकर हम को मना करे, उन की मन्युभरी हुई आखें हमारी घूरती हुई हमें दिखाई दें और हमें यह गम्भीर आवाज सुनाई दे कि इस वीर्य पर तुम्हारा अधिकार नहीं है इसपर वैदिक धर्म का अधिकार है। इस लिये मैं कहता हूं कि यदि आप दयानन्द नहीं हैं तो ब्रह्मचारी दयानन्द के शिष्य तो हैं वैदिक धर्म के पुनः संस्थापक गुरु के अनुयायी तो हैं। यह अनुभव आपको ऐसी स्फूर्ति देगा जिससे कि आपको वीर्यरक्षा करना बहुत आसान हो जायगा और वीर्यनाश करना असम्भव हो जाएगा।

इस में तो कुछ संदेह नहीं है कि आर्य समाज के सभासद पितृऋण के उतारने के कर्तव्य को छोड कर सदा ब्रह्मचारी रहें तो आर्य समाज में जो आज शक्ति है उस से हजार गुना शक्ति इस में आजायगी। इस बात में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है।



(६) त्याग।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृंक्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ १० । ११।७।७

इस मास मैं आप के सामने त्याग या दान के विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूं। दान के विषय में वेदमें बहुत जगह बहुत कुछ लिखा है। पुराने समय से अबतक सब लोक दान और त्याग की महिमा करते आए हैं। पर प्रश्न यह है कि हम दान क्यों करें दान करने से तो हमारी हानि होती है-घटती होती है। मैं ने इस महिने वेद से यही उपदेश

ग्रहण किया है कि हमें अपनी ही भलाई के लिये त्याग करना अत्यावश्यक है । इसी बात का इस लेख में विस्तार पूर्वक वर्णन करना है । दान के विषय में वेद में वैसे तो और भी बहुत से उत्तम उत्तम वचन हैं, परन्तु मैं ऋग्वेद के प्रसिद्ध दान सूक्त में से केवल एक मन्त्रार्थ को ही आप के सामने रखता हूं—

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति
यन्नध्वानमपवृंक्ते चरित्रैः ।

ऋ. १० । ११७ । ७

" खेती करता हुआ ही फाल (हल का अग्रभाग) अपने आप को सुतीक्ष्ण बनाता है और मार्गपर चलता हुआ मनुष्य अपने चलने द्वारा त्याग करता जाता है ।" इस वेदवचन में हमें दान क्यों करना चाहिये यह बात दो उपमाओं द्वारा समझाई गई है । यदि हम इन उपमाओं को समझ लें तो हम सब दान का माहात्म्य समझ लेंगे । पहले कहा है कि हल से यादि कर्षण किया जाता रहे तो वह तीक्ष्ण हो जाता है अर्थात वह और अधिक कृषिके योग्य हो जाता है । इस के विपरीत यदि वह पड़ा रहे तो जङ्ग लग कर वह भूमि के विलेखन के योग्य नहीं रहता । इसी प्रकार दान करने से मनुष्य का मनुष्यत्व बढता है मनुष्य अपने कार्य करने के लिये अधिक योग्य हो जाता है । हल चलने से घिसता है-अपना कुछ अंश त्याग करता है, इस लिये तीक्ष्ण होता है अर्थात् जिस कार्य के लिये वह बनाया उस में समर्थ रहता है । इस के विपरीत जङ्ग लग जाने से भार में तो वह फार जरूर बढ जाता है परंतु अपने कार्य में योग्य नहीं रहता । इसी प्रकार मनुष्य दान न देनेसे बेशक अधिक वस्तुओं वाला होता है, परन्तु उस अधिक सामान का बोझ ही उसे उस कार्य के योग्य नहीं रहने देता, जिस कार्य के लिये कि उसे दुनिया में पैदा किया है । उस पर रुपये का जङ्ग लग जाता है इस लिये वह अपने कर्तव्य में तीक्ष्ण नहीं रहता । वह तीक्ष्णता कायम रखने के लिये त्याग करना परम आवश्यक है।

दूसरा उदाहरण त्याग के विषय को और भी अधिक साफ कर देता है । उस में यह बताया गया है, कि मनुष्य को चलने के लिये त्याग करना पडता है । इस त्याग के कारण ही वह आगे पहुंचता है । जैसे कि यदि मैं ने यहां से अपने घर जाना है तो मैं एक कदम आगे रखूंगा । इस से मुझे एक कदम आगे का स्थान प्राप्त हो जाएगा । परन्तु यदि मैं अब यह कहूं कि यह तो मेरा स्थान हो गया है उसे मैं नहीं छोडूंगा, तो मैं दूसरा कदम नहीं बढा सकता और कभी भी अपने घर पर-लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता । अगला कदम बढाने के लिये पिछले कदम से प्राप्त हुए स्थान का छोडना जरूरी है । इस लिये वेदने कहा है, कि मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य त्याग करता जाता है । जब हम अपनी उन्नति की एक अवस्था को पहुंच जाते हैं, तब उससे अगली ऊंची अवस्था में पहुंचने के लिये पहली अवस्था की सब कमाई को स्वाहा कर देना पडता है—हवन कर

देना पडता है। हवन उस त्याग का नाम है जो कि हमें उस से श्रेष्ठ वस्तु बदले में देता है। हवन शब्द "हु दानादानयोः" धातु से बना है। इसका दान (देना) और आदान (लेना) दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु ये बडे सार्थक हैं। इस का अर्थ होता है "दान करना आदान के लिये।" जब हम किसी वस्तु को त्याग करते हैं इस लिये कि उस से अधिक उत्तम वस्तु हमें मिले तब हवन करते हैं। अब शास्त्र की भाषामें इसे कहें तो **"विना दाम कोई वस्तु नहीं मिलती।"** दान देने में त्याग करना होता है। इस लिये इस का शुद्धरूप यह है कि विना त्याग के कोई वस्तु नहीं मिल सकती है। असल में मनुष्य में पिछली कमाई को स्वाहा करते हुए और इस प्रकार हवन के कदमों से चलते हुवे ही अपने लक्ष्यपर पहुंचना है।

आप इन उपमाओं को खूब सोचें। आप इन्हें जितना सोचेंगे उतनी ही दान की आवश्यकता आपमें जागृत होगी। आप धीरेधीरे त्याग करने के लिये आतुर होने लगेंगे। जब मनुष्य दान देता है, त्याग करता है तभी नई नई वस्तु के आगमन को प्राप्त करता है। जैसे कि यदि एक जल प्रवाह को रोका जावे तो वहां जलका आगमन भी बन्द पड जावेगा। अथवा ऐसे समझिये कि एक बालक के पास पानीसे भरा कटोरा है और अब वह मातासे दूध लेना चाहता है यदि वह यह चाहे कि मैं पानी का भी त्याग न करूं, तो वह दूध किस जगह लेगा। उसे उत्तम चीज को पाने के लिये पहिली चीज का त्याग करके जगह बनानी चाहिये। मनुष्य शरीर में से कुछ त्याग करता है तब वह नया भोजन ग्रहण करने के योग्य होता है। हम श्वास बाहर छोडते हैं तब अन्दर श्वास ले सकते हैं क्या हम जीवित रह सकते हैं यदि हम अन्दर ही श्वास लेते जावें और बाहर न छोडे। बल्कि हम देखेंगे कि जितनी अच्छी तरह से हम बाहर श्वास छोडें उतना ही अधिक श्वास हमारे अन्दर प्रविष्ट होगा। और उपवास शास्त्रज्ञ कहते हैं, कि उपवास के दिनों में हमारा शरीर प्रतिदिन जितना घटता है उस के बाद भोजन शुरू करने पर उससे चार गुणा अधिक वेगसे हमारा शरीर प्रतिदिन बनता है। क्यों कि उस त्याग की क्रिया से शरीर शुद्ध होता है और शुद्ध शरीर में ग्रहण करने की शक्ति बढ जाती है। इस लिये त्याग करना घाटे का सौदा तो कभी नहीं है। अपि तु जीवित रहने तक के लिये त्याग जरूरी है। उस संपत्ति प्राप्त करने का उपाय ही दान है। जो मनुष्य दान न दे कर अपनी सम्पत्ति बढता है वह यह भारी भूल कर रहा होता है कि जो धन का उसके लिये नहीं है उसे फजूल अपने पास रखता है वह अपनी अस्वस्थ वृद्धि करता है। इसका परिणाम यह होता है, कि चोरी, आगलग जाना बैंक टूट जाना आदि सैंकडों तरीकों से उस से धन छीन लिया जाता है। क्या कि ईश्वरीय नियमों के अनुसार वही हमारे पास रह सकता है जो कि हमारे भलेके लिये हैं।

यदि हम इसे स्वयं खुशी से त्याग नहीं देते तो वह हम से छीन लिया जाता है।

हमारी और पाश्चात्यों की सभ्यता में यही एक भारी भेद है। पश्चिम में जब तक गरीब लोक तंग आकर अमीरों को लूट नहीं लेते तब तक गरिबोंका अधिकार स्वीकृत नहीं किया जाता। परन्तु भारतीय सभ्यता में स्वयमेव दान देना हर एक का आवश्यक कर्तव्य रखा गया है। ये पांच यज्ञ क्या हैं? ये सब विना मांगे देना है। उदाहरणार्थ अतिथियों को विनाखिलाए न खाना अतिथियज्ञ है। भारत के इतिहास में ऐसी बहुतसी बातें प्रसिद्ध हैं जब कि गृहस्थी कई दिनों तक स्वयं भूखे रहे परन्तु आए हुए अतिथियों को अपना सब कुछ दे दिया। इसी कारण उस समय में समाज में शान्ति थी। हर आदमी अपने में पूर्ण नहीं होता। विना दूसरेसे लेन देना किये समाज नहीं चल सकता, इस लिये उस समय हर मनुष्य के लिये दान करना कर्तव्य रखा जाता था, और इस लिये दूसरों के छीनने का अधिकार कभीभी स्वीकार करने की उस समय जरूरत नहीं थी Socialism और Bolshavism आदि कुछ नहीं कर सकते जब तक कि समाज में दान भाव न भरा जाए। इस दान भावके बढाने का तरीका है "रुपये की कदर को घटाना" रुपये से सहस्रों गुणा श्रेष्ठ धन है "ज्ञान"। उस समय ज्ञानधनी की कदर बढाई जाती थी। ब्राह्मण जिसके पास दूसरे समय का भी भोजन नहीं होता था वह राजा से भी बडा समझा जाता था। आज कल के बडे आदमी की पहचान या कदर रुपयेसे है। यदि वह रुपये की जरूरत नहीं अनुभव करता तो भी उसे यह धन रखना पडता है। क्योंकी आदमी की योग्यता इसी में है कि कौन कितना कमाता है। कौन कितना त्याग करता है इसकी जगह यह देखा जाता है कि कौन कितना अधिक वेतन पाता है। बस वही बडा है। जब इस प्रकार ज्ञानियोंको भी धन का बटोरना जरुरी हो तब बेचारे वैश्यों और शूद्रों के लिये क्या बचे। बस इसी लिये झगडा है। यदि ब्राह्मण "अपारिग्रह को धारण करें और उनकी पूजा ज्ञान के कारण हो, तो क्षत्रिय की पूजा उस की शूर वीरता और बल और साहस के कारण हो, तो वह धन स्वयमेव ही जो उस के अधिकार में हैं उन्हीं वैश्यों और शूद्रों के पास पहुंच जाए। पर यह तभी हो सकता है जब समाज में त्याग को महत्व दिया जाए, हर एक गृहस्थी पंचमहायज्ञ अर्थात् नाना प्रकार से दान देना अपना कर्तव्य समझ कर प्रतिदिन करें। ऐसी सभ्यता का आश्रय करने से ही समाज में शान्ति रह सकती है।

कुछ मास हुए Modern Review पत्रिका में एक टिप्पणी लिखी गई थी जिस का शीर्षक था The Savage अर्थात "जंगली" इसमें एक दर्शक ने अफ्रिकाकी एक जंगली जाती (जो कि इतनी असभ्य है कि कपडे पहना भी नहीं जानती) के एक परिवार का आखों देखा वर्णन किया था। उस जंगली

को दो दिन तक भोजन नहीं मिल सका था इस लिये उसके बच्चे और बच्चे की मां बडे कृश हीन और आतुर थे। तीसरे दिन कहीं वह जंगली शिकार प्राप्त कर सका। उसे पकाना शुरू किया गया। भूके बच्चे अध पके को ही खाने को व्याकुल हो रहे थे, परन्तु माता पिता ने बडे यत्न से उसे बचाए रखा, जब भोजन पक गया तब उसे हाथ में लेकर वह जंगली अपनी झोंपडी से बाहर निकला और बाहर खडे होकर बडी जोर से चिल्लाया कि "क्या कोई भूका है-वह भोजन कर लेवे" फिर दूसरी दिशामें खडे होकर चिल्लाया कि या "यदि किसी को भोजन की जरुरत हो तो वह हमारे साथ शरीक हो। इसी प्रकार चार बार चारों दिशा ओं में उसने भोजन खाने वाले को इतनी जोर दार आवाज में बुलाया कि मानो उस की आवाज सारे अफ्रीका में गूंज जाएगी। फिर कुछ देरे प्रतीक्षा की जब कहीं से कोई आवाज नहीं आई तब कहीं परिवार वालों ने मिल कर तीन दिन के बाद वह भोजन किया। क्या वे असभ्य हैं या हम, जो कि दूसरों के मुख का ग्रास हमेशा छीनने का यत्न करते रहते हैं। चाहे आप सभ्यता किसी चीज का नाम रखें परन्तु जिस समाज में हरएक मनुष्य औरों को भूखा न रख कर फिर स्वयं खाता है उसी समाज में सब लोग सुखी रह सकते हैं और सब को सुख ही चाहिये फिर चाहे आप उस समाज को सभ्य कहे या असभ्य। इसी लिये सूक्त में वेदने कहा है —

केवलाघो भवति केवलादी।

'अकेला भोजन करनेवाला केवल पापको ही खाता है।" इसी की प्रतिध्वनि भगवान् कृष्णने भगवद्गीता में दी है —

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकार-णात्।

जिस समाज में विना दूसरेको खिलाए खाना पाप समझा जाए वहीं स्वाभाविक सुखशान्ति विराजमान हो सकती है। मनुष्य तो भूखे मरने पर लड मर करभी भोजन छीन सकते हैं इस लिये उन का भय भी हो सकता है परन्तु बेचारे पशुपक्षी आदि तो बिल्कुल निस्सहाय ही होते हैं। परन्तु इस वैदिक सभ्यता में प्रतिदिन बलि वैश्वदेव यज्ञ करके उनके भी हिस्से स्वयमेव दे लिये जाते हैं। यह वैदिक सभ्यता में विशेषता है, इस लिये कमसे कम आर्य समाज में तो हरएक व्यक्ति को अपने वैयक्तिक लाभ समझते हुए त्याग करना चाहिये और दान को अपना "प्राण" समझ-ना चाहिये। अपने समाज में धनकी कदर ह-टानी चाहिये और त्यागकी कदर बढानी चाहिये। इस प्रकार यदि हम पहिले अपनी समाज को सुधारेंगे-अपनी समाजको वैदिक धर्मी बना-यगें, तो कभी हम सब संसारकी समस्याओं को भी अपने वैदिक आचरण द्वारा दूर कर स-केंगे।

शायद आप कहेंगे कि त्याग का विजय सुन कर भी हमें श्रद्धा नहीं जमती। विश्वास नहीं होता कि त्याग करने से अवश्य लाभ होगा। मेरी समझमें तो भी आप को वेदवचन

पर विश्वास रखकर त्याग ही प्रारंभ करना चाहिये । यह ठीक है कि बिना श्रद्धाके प्रवृत्ति नहीं होती परन्तु श्रद्धा भी कुछ न कुछ प्रवृत्ति से ही होती है । और यह समझ कर कि क्यों कि वेद त्याग का उपदेश करता है और क्यों कि आचार्य दयानन्दका जीवन भी हमें यही दिखलता है आप एक बार त्याग कीजिये, त्याग करने पर आपको जो आनन्द का स्वानुभव होगा उससे त्याग में भी श्रद्धा हो जायगी । उस श्रद्धावश फिर आप ज्यों ज्यों अधिक त्याग करेंगे त्यों त्यों आप की श्रद्धा भी बढती जायगी । और एकदिन आयगा जब कि आप अपना सर्वस्व त्याग करना भी खेल समझेंगे । इसलिये आप खाली बैठकर श्रद्धाकी प्रतीक्षा न करें, किन्तु श्रद्धा न जमती हो तो भी त्याग की तरह कदम बढाइये । कदम बढानेसे श्रद्धा भी स्वयमेव जम जायगी । मुझे यहां पर कविसम्राट् रवीन्द्र ठाकुर का एक हृदयग्राही गीत स्मरण आता है । उसका हिन्दी अनुवाद मैं पाठकों को जरूर सुनाना चाहता हूं । आप इसे जरा ध्यान से पढें ।

"मैं गांव की गली में द्वार द्वार पर भीक मांगता हुआ फिरता था, जब की एक भव्य स्वप्न की तरह तेरा स्वर्णमय रथ दूर से दिखाई पडा और मैं विस्मित होगया कि यह राजा ओंका राजा कौन है ।

'मेरी आशाएं ऊंची चढ गईं और मैं ने सोचा कि मेरे बुरे दिनोंका अन्त होगया और मैं इस प्रतीक्षा में खडा होगया कि आज मुझे विना मांगे भिक्षा मिलेगी और इस पर ही सब तरफ से अशर्फियों की वर्षा हो जाएगी ।

'वह रथ मेरे पास आकर खडा होगया । तेरी दृष्टि मुझ पर पडी और तू मुस्कराहट के साथ नीचे उतरा । मैं ने अनुभव किया कि अन्त में मेरा भाग्योदय हो ही गया ।

'तब तूने एक दम अपना दायां हाथ पसारा और कहा "तेरे पास तुझे देने के लिये क्या है । "

'आह! यह कैसा राजकीय उपहास था कि भिखारी के आगे अपना हाथ पसारना! मुझे कुछ सूझ न पडा और मैं खडा रह गया और फिर अपनी झोली में से धीरे से एक बहुत ही छोटा अन्न का कण निकाला और इसे तुझे दे दिया ।

'परन्तु मैं आश्चर्य में डूब गया जब कि मैं ने शाम को झोली खाली करने पर यह देखा कि उस भीक की तुच्छ ढेरी में एक सोने का छोटासा कण है । मैं फूट फूट कर रोया और पछताया कि हाय! मुझे अपना सर्वस्व तक तुमारे दे डालने की हिम्मत क्यों न हुई॥"

सब मनुष्य ऐश्वर्य चाहते हैं । और सर्वैश्वर्यवान् परमात्मासे सचमुच हमें सब कुछ मिल सकता है । परन्तु परमात्मा हम से सदा यही पूछते रहते हैं कि तुम दान कितना करते हो, त्याग कितना कर सकते हो । और हम जितना थोडासा त्याग करते हैं, हमें पछिसे पता लगता है कि हमारा उतना थोडासा त्याग सुवर्ण मय हो जाता है । तथा मनुष्योंको त्याग में श्रद्धा होती है । तब वह पछताता है कि कितना अच्छा होता कि मैं

सब कुछ दे देता। शायद हमें भी कभी ऐसे ही पछताना पडे। इस लिये आइये ईश्वर से हिम्मत की याचना कीजिये। वह हमें त्याग करनेकी हिम्मत देवे। इस से मत घबराइये कि त्याग से आप का नाश होगा। यह कभी नहीं हो सकता। जितना हम त्याग सकेंगे उतना ही उच्च ऐश्वर्य प्राप्त कर सकेंगें। महात्मा लोग जो अपना सब कुछ त्याग देते हैं उन्हें सब संसार का ऐश्वर्य मिल जाता है। हमारे आचार्य स्वामी दयानन्द उन्ही महात्माओं में से थे। वे जिस कुल में उत्पन्न हुए थे वह कुलीन घर था- वह बडा प्रतिष्ठित कुल था- उस कुल के पास वडी जायदाथ थी। उन्होंने इस सब सम्पत्ति और भोग को त्यागा। इसे त्याग कर उन्होंने जो उच्च ऐश्वर्य प्राप्त किया उसे भी लोकोपकार में ही स्वाहा कर दिया, उस से अपना कुछ भोग सिद्ध न किया। इस लिये वे भगवान् के उन सच्चे पुत्रों में से हुए जो कि अपना सब कुछ त्याग कर, ईश्वर के सब ऐश्वर्य पर अपना स्वत्व प्राप्त करते हैं। हम आर्यसमाजियों को भी चाहिये कि हम इन त्याग की सीढियों पर चढते हुए हवन के कदमों द्वारा उसी स्थान पर पहुंचें जिसे कि हमारे आचार्य ने प्राप्त किया था।

भगवान् दयानन्द हमारे पथ दर्शक हों।

हम प्राणायाम क्यों करें ?

(लेखक– श्री. मोहनलाल जौहरी)



यह प्रश्न होना साहजिक है कि "प्राणायाम तो स्वयमेव जन्मसे ही हुवा करते हैं फिर उसका सिखना सीखाना क्या था ?" परंतु यह गलती है। प्राणायाम जीवनका आधार है। जीवनाधार की विद्या से अनभिज्ञ रहना उस के महात्म्य को न जानना सचमुच मूर्खताका बडा अंग है। जिस प्रकार खानपान की विद्या सीखना आवश्यक है, वैसे ही प्राणायाम भी सीखना आवश्यक है।

प्राणायाम साधारणतया हरएक वैदिक

धर्माभिमानी सायं प्रातः करताही है। और प्राणायाम का विधिभी वैदिक धर्म में वारंवार छपा करता है। आज मेरी इच्छा है कि प्राणायाम का माहात्म्य गाऊं। क्यों, क्या, कहां से, कब, वगैरह अनेकानेक प्रश्न जराजरासी बातपर हुवा करते हैं। अब वह फौजी फरमान मानने जैसी श्रद्धा की बात नहीं रही।

हमें यह तो पूरा विश्वास है कि हमारा धर्म संपूर्ण तया विज्ञानमूलक है। हमारी संस्कृति पूर्ण उन्नत अवस्था को देख चुकी है। उन्नति के उस शिखर को आजकी संस्कृति भी नहीं पहुंच पाई! मगर हां, जा रही है शिखर हीके तरफ, पुष्टि देती जाती है वैदिक धर्म ही को। इसमें जराभी संदेह नहीं है, खोजते रहीये आप रोज बरोज सायंसको वैदिक सिद्धांतोंपर ही आते देखते चले जायंगे। अगर "वैदिक धर्माधिपति" जी की कृपा रही तो हर महीना सेवक ऐसी खबरें आपको देता रहेगा। युवकों को चाहिये कि अपने चंचल मन को और जिज्ञासा को थामे रहें और देखते चले जांय की विज्ञान और धर्म कहीं भिन्न नहीं हैं और सर्व प्रकार से विज्ञानमूलक धर्म एक मात्र वैदिक धर्म ही है।

मोक्षका साधन मनुष्य जन्म यह शरीर है और उसका आधार है फेफडा। शरीरके मुख्य अवयवों में यह भी एक है और इसीके व्यापार को प्राणायाम कहते हैं। यह है क्या चीज? तीन अब्ज३००००००००घटकों का एक फेफडा बनता है। ऐसा एक दहनी ओर दूसरा बाई ओर पसलियों के नीचे पानी भरी हुई थैली के बीचमें सुरक्षित रखा हुवा है, कुछ ही हो यह अपना काम बंद नहीं कर सकता। इसी वास्ते इसे अच्छा महल रहने को मीला है, फेफडोंके पडोसी हैं हृदय, जठर, यकृत, कलेजा, और अंतडीयां। यहभी, चारों, कार्य कारिणी सभा के बडे सभ्य हैं। इन्हीके स्वास्थ्यसे एवं नियामित चलने से देह का स्वास्थ्य स्थिर रहता है, **हृदय** माताके गर्भ में ही कार्य करना शुरू करता है। गर्भ पांच मासका होते ही हृदय का धडका सुनाई देने लगता है। और मरनेके बाद, कुछ देर में यह काम बंद करता है। शरीर भर को रक्त पहुंचाना और वापस लाना इसी का काम है। यह Pumping station है। यह बाई और बीचमें है। **जठर** अन्नको हजम करता है! और हृदय से कुछ नीचे है। हृदय और इसके बीचमें पडदा है। इस वास्ते की स्वादेंद्रिय विकारी होकर के जठर को भरती ही चली जाय, तो पर्दा होने से कहीं हृदय पर दबाव न पडे। और फेंफडाभी बचा रहे। तिसपर भी कईवार जठर हृदयसे ज्यादह भरजाता है (पानी ज्यादह पीने से या वायु भर जाने से)

तब हृदयपर उसका दबाव हो ही जाया करता है और Palpitation याने धडके की बीमारी के कारणोंमें यहभी एक कारण होता है। जठर अन्नका रस बनाता है। उस से आगे चलके रक्तादि बनते हैं।

"**यकृत**–" शरीरमें सबसे बडा अवयव यही है। दाहिनी ओर फेंफडेके ठीक नीचे

पसलीयोंके पींजरेमें यह छीपा बैठा है । बडा काम कर रहा है । शिरा और धमनीओंमें जो रक्त बहता है और उस बहनेसे जो रगड लगती है उस रगडसे नीकलने वाले घटक एवं शरीरकी अन्य भी अशुद्धियां रक्त लाकर यहां डालता है और पानी और थोडी अशुद्धियां गुर्दे (मूत्रपिंड) में डालता है । यकृत में आये कुवे कूडेका वह पित्त बना डालता है !! यह पित्त. शक्कर, निशास्ता starch आलू, कचालू, घी तेल हजम करता है । यही पित्त शरीर में सब स्थानोंमें जाकर शुद्धि रखता है । यह मलमें स्थित होने से मलमें दुर्गंध नहीं आती । जिसके मलमें दुर्गंध आती हो उसका यकृत् अशक्त समझना चाहिये । यह एक अद्भुत रसायनाचार्य है ।

अंतडीयां– दोनों ओर पसलियों के पींजडेके बीचमें अंतडीयां हैं ।

याने बडे नलका ऊपर वाला हिस्सा । यहीं नजदीकमें Pancreas नामक एक पिंड और भी है जो रक्त बनाने में आवश्यक है और यहीं छोटीअंतडीयों का भी थोडा हिस्सा है जिस में पित्त जाठर रसमें जा मिलता है।

इस प्रकार दो बीते के पेटमें मालूम नहीं परमेश्वरने कितनी चीजें किस किस मतलबसे भर रखीं हैं । कईयों का पता डॉक्टरों और वैज्ञानिकों को चला है । कईओंका अभीतक पताभी नहीं चला ।

इतना वर्णन आवश्यक था यह आपको आगे ज्ञात होगा ।

इन सब अवयवों का ठीक चलना ही स्वास्थ्य है । प्राणायाम इन्हें बराबर चलाने ही के वास्ते करना चाहिये । और प्राणायाम से इन्हें बराबर चलाकर स्वस्थ रहकर यह जीवन क्रम पूरा करना चाहिये । अस्वस्थ शरीरसे कुछभी सिद्ध नहीं होता । न स्वार्थ न परमार्थ । न इहलौकिक सुख न पारलौकिक सुख । इसी वास्ते कहा है कि " **धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्** । " चतुर्विध पुरुषार्थ के साधन सिद्धिके लिये आरोग्य ही मूल है ।

अब सुनिये डॉक्टर वाल्टर ए. लूपस एम. डी. " अमरीकन वुमन हुड " नामके सन १९१९ मई मासके पर्चेमें लिखे हुवे एक लेख में क्या कहते हैं ।

वे कहते हैं कि मामूली श्वासोच्छ्वास नहीं, प्राणायाम Deep breathiug की आवश्यकता स्वास्थ्य रक्षा के लिये है । मामूली श्वासोच्छ्वास तो चलाही करता है इसे अंग्रेजीमें Thoracic breathing कहते हैं, फेंफडेका बडा हिस्सा इससे फूलता और बैठ जाता है परंतु यह निहायत जरूरी हुवा है कि Abdominal breathing किया जावे । याने सारा फेफडा भरके श्वास लिया जाय और निःशेषतया उच्छ्वास नीकाल दिया जावे । साधारण श्वासोच्छवास में फेफडे का उपरी हिस्सा– कंधेके नजदीकका नहीं फूलता । प्राणायाम करनेसे फेफडेका कोना भरके फूला जाता है । उसे स्वच्छ हवा प्राणवायु– मिलनेसे रोग वहां अड्डा जमाने नहीं पाता । और न, फेफडा कमजोर रहनेसे, सहज हीमें खांसी, न्युमोनिया, क्षय, राजयक्ष्मा आदि

का शिकार हो सकता है ।

फेफडोंके पूरी तौरपर फूलनेसे वह अपने पडोसी अवयवों को दबाता है । वह उनको गूंदता है । इसे अंग्रेजी में churning कहते हैं । यह क्रिया जठर, हृदय, यकृत, अंतडीयां आदिको कार्य में प्रेरित करती है । प्राणायामसे फेफडेमेंसे भी सफाई होकर रक्त स्वच्छ करनेमें मदद मिलती है । डॉक्टर साहब कहते हैं कि प्राणायामसे हाजमा ठीक होता है । हृदय बराबर काम करता है । सिवाय फेफडेको फुलानेके (याने प्राणायाम करनेके) और कोई तरीका ऐसा नहीं है जिससे हृदय को नुकसान न पहुंचते हुवे सावधानतासे उसे कार्यमें प्रेरित करें । प्राणायाम हीसे कब्जियत बद्धकोष्ठता का इलाज होता है । याने शौच शुद्धि होती है और शौच शुद्धि होनेसे अनेकानेक रोगोंके भय दूर होते हैं । कब्जियत ही अनेक रोग और जरा का भी कारण है । डॉ. मेकनीकोफ जो रशियन ऋषि माने जाते हैं वे अपनी Prolongation of life नामकी पुस्तक में कहते हैं कि, जरा का मूल अंतडीही में है । और व्याधिकाभी एक मूल यही है । अंतडीयां साफ रहनेसे जराव्याधिका भय दूर होता है । और प्राणायामसे अंतडीयां साफ रह सकती हैं ।

यकृतपरभी फेंफडेका दबाब पडने से वह sluggish ऐदी नहीं हो सकता । फेफडा प्राणायाम से फूलने से यकृतपर दबाव पडता है ।

इस प्रकार फेफडा साफ रहे जठर, अंतडीयां, हृदय एवं यकृत बराबर काम करें, तो कभी संभव नहीं की कोई रोग आकर दबा देवे ।

अन्न हजम हो, रक्त शुद्ध रहे, मल शुद्धि ठीक रहे, और फेफडा बराबर फूलता रहे, हृदय बराबर काम करे, तो रोग के लिये अवकाश ही कहां रहा ! शुद्ध रक्त में रोगजंतु पोषण नहीं पाते, इस प्रकार प्राणायाम से अनेकानेक रोगोंका मूल ही नष्ट होता है ।

रोग होने पर उसका ईलाज करनेसेभी रोग होने ही न देना अच्छा है । और प्राणायाम इसी वास्ते है । डॉक्टर साहब और कहते हैं कि प्राणायाम न करने से animia रक्तहीनता आदि अनेक रोग होते हैं।

प्राणायाम शुद्ध हवा लेने के लिये है। नकी बंबई जैसी गटरकी हवा लेने के लिये। इसीवास्ते तो कहा है कि "**अपां समीपे०**" "**शुचौ देशे**" इत्यादि। डॉ०सी. डब्ल्यु. सेलीबी जो उत्तम संतति पैदा करने के विषयके और रसायन शास्त्र के और अन्यान्य विषयों के बडे नामी विद्वान् हैं और जिन्हें लेखक अत्यंतही मानकी दृष्टिसे देखता है, वे कहते हैं कि आंखों के तेज को बढाने वाला–

Ultra videt rays सूर्य प्रकाश में का जामुनी रंगका किरण यहीं याने जलाशय के कीनारे परही मिलता है। डॉ० वाल्टर लूपसभी दोनों वक्त सुबह शाम प्राणायाम करनेको कह रहे हैं । वे प्राणायामका विधि इस प्रकार बताते हैं।

स्थिर बैठकर (चौकी लगाकर) छाती बहार निकालिये, याने कंधे पीछे डालीये ।

जितना बने प्राणवायु अंदर खींचके भरिये। अब इस वायुको थामे रहिये। थोडी देर थामे रहने के बाद धीरे धीरे छोड दीजिये। इसी प्रकार किया कीजिये श्वासोच्छ्वास दोनों नाक हीसे करें। मुंहसे कभी नहीं।

और कहते हैं कि प्राणायाम करते रहनेसे कभी जुकाम (सरदी) नहीं होने पाती। जाडे में या बर्फ पडता हो तो बजाय ठंडीसे सिकुडते बैठने के व्यायाम करना चाहिये। या प्राणायाम करना चाहिये। अगर व्यायाम न हो तो न सही, परंतु प्राणायाम जरूर करो। इससे न्युमोनीया होने का भय नहीं रहता

Alone in the wilderness

नामक पुस्तकमें भी ऐसाही लिखा है। यहां विस्तार भय से उध्दृत नहीं करता।

प्रस्तुत डॉक्टर साहब यह भी फर्माते हैं कि रोज सुबह उठकर जलाशयमें गोता लगाना जरूरी है। ऐसा करने से प्राणायाम स्वयमेव शुरू हो जात है। हमारे यहां जलाशय में स्नान करने के बाद और भी जागृति लानेको मार्जनमंत्रसे पानी छीडका जाता है।

मैं समझता हूं कि, इतना पढनेपर तो किसी जिज्ञासु युवक को प्राणायाम के विषय में शंका न रहेगी। वैदिक प्राणायाम इसी विधिसे होते हैं। और साथही वनश्री को देख कर परमात्माकी याद करने के लिये एकान्त-चेता होनेके लिये वेद कहते हैं जो योग्य ही है।

"एक तंदुरस्ती हजार न्यामत।" आप कीसी कौ प्राणायाम करने को प्रेरित करें, तो आपने उसे अनेक रोगोंसे बचाया ऐसा उसने समझना चाहिये। इस्पताल खोलनेसे जितना पुण्य लाभ होता है उससे अधिक प्राणायाम सीखानेसे होता है। आशा है जो आर्य बंधु प्राणायाम न करते होंगे वह भी आरंभ करने लग जायं गे।



" आसनों का प्रचार। "

(लेखक– श्री. ला. लालचंदजी)

योग के आसनोंका आप के कारण बहुत उत्साह पूर्वक प्रचार हो रहा है, और देखा जाता है, कि जो लोग विधि पूर्वक योगके आसनों को करते हैं, वो काम के वेगको रोकने में समर्थ हो जाते हैं, और बुद्धि भी निर्मल हो जाती है। मैं ने अपने पर और अन्य मित्रोंपर अनुभव लिया है, योग्य रीतिसे साधन करनेसे बहुत लाभ हुए हैं, जिन लडकों को स्वप्नदोष

हो जाया करते थे, उन्हें आप के लिखे व्यायामोंसे अद्भुत लाभ पहुंचा. है । मैं ने और पिताजी ने हारिद्वार में श्री. भाई झब्बालालजी देहरादून वालों से शीर्षासन सीखनेका यत्न किया है, और साथ ही वहां से हठयोग प्रदीपिका भी मोल ले ली है । यही पुस्तक आप भी कहीं कहीं अपने लेखोंमें उध्दृत करते थे। पुस्तक बहुत उपयोगी है और " **आसन** " और " **योग साधन की तैयारी** " के साथ पढने में लाभ दायक है कुछ काल हुआ श्री स्वामी लक्ष्मणानंद जी कृत ध्यान योग प्रकाश भी लिया था, वह पुस्तक भी अच्छी है, पर इन सब में प्राणायाम विषयक शिक्षा हठयोग प्रदीपिकामें अच्छी दी हुई मालूम होती है। आपने प्राणायाम पूर्वार्ध ही प्राणविद्या नामसे लिखा है, क्या प्राणायाम उत्तरार्ध भी लिखियेगा ?

हठयोग प्रदीपिकामें लिखा है,कि शीर्षासन सायंकाल और अर्धरात्री में नहीं करना, इस से यह प्रतीत होता है, की सूर्य अस्त होने पर शीर्षासन वर्जित हैं । सूर्यास्त समय करनेमें क्या दोष उत्पन्न होंगे यह समज में नहीं आया। गरमी में तो सायंकाल साधारण आसन और प्राणायाम भी नहीं हो सक्ते, पर सरदियों में क्यों न किया जाय? कृपया यह संशय दूर कीजिये।

मुझे सूर्य भेदी व्यायाम से गत वर्ष शिमले में उदर रोग से निवृत्ति हुई थी और हरिद्वार में भी मैं खूब स्वस्थ रहा । मैं वहां हरिद्वार से दूर अढाई मील जाकर व्यायाम, आसन, प्राणायाम, संध्या किया करता था । मुझे सूर्य भेदी व्यायाम से बहुतही लाभ हुआ है और मैं इस विषय मैं अधिक जानना चाहता हूं ।

मुझे पूर्ण आशा है कि जो मनुष्य सूर्यभेदी व्यायाम करेंगे उनको अवश्य लाभ होगा।

(संपादकीय उत्तर)

(१) योगके आसनों और सूर्य भेदन व्यायामों को नियमपूर्वक करनेसे , उत्साह बढता और बल प्राप्त होता है , यह बात सत्य है ।

(२) शीर्षासन के करने से काम के वेग को रोकना सुगम होता है । तथा इसके लिये कई अन्य भी आसन हैं।

(३) आसनों का अभ्यास करने और साथ साथ खान पान का पथ्य संभालनेसे स्वप्न दोषकी मात्रा बहुतही कम होजाती है।

(४) सूर्यास्तके पश्चात शीर्षासन करनेसे हानि होनेका अनुभव नहीं है। सोनेके पूर्व शीर्षासन करनेसे निद्रा अच्छी गाढ आती है और स्वप्न दोष कम होता है , यह अनुभव है । तथापि यदि कोई दोष उत्पन्न होता होगा तो उसका विचार अनुभवी योगाभ्यासियों को करना चाहिये ।

(५) प्राणायाम उत्तरार्ध समयानुसार प्रसिद्ध किया जायगा ।

(६) सूर्य भेदन व्यायामसे समस्त उदर रोग दूर होते हैं। जो इस व्यायाम को बचपनसे करते हैं उनको उदर रोग होता ही नहीं।

स्वाध्याय के ग्रंथ।



[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वमेध। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)

(६) योग के आसन। मू. २)

(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)

(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)

(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)

(१०) वैदिक धर्मकी विषेशता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥।=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)



831

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक १०

क्रमांक ५८



आश्विन सं. १९८१

अक्तबर स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

—:o:—

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३।।) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

योग मीमांसा।

योग विषय पर शास्त्रीय, रोचक नवीन विचार। आध्यात्मिक और शारीरिक उन्नतिके नियम बतानेवाला अंग्रेजी भाषाका

त्रैमासिक पत्र।

संपादक—श्रीमान् कुवलयानंद जी महाराज।

प्रथम अंक ७ अक्तूबर को प्रसिद्ध होगा।

कैवल्यधाम आश्रममें योग शास्त्र की खोज हो रही है और जिस खोजका परिणाम आश्चर्य जनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होगा। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र दिये जांयगे।

वार्षिक चंदा ७) रु.; विदेशके लिये १२ शि०; प्रत्येक अक २) रु

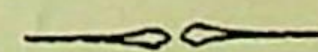
श्री. प्रबंध कर्ता— योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट-लोणावला, (जि. पुणे)

वैदिक धर्माचें मराठी रूपांतर.



वैदिक धर्माचें मराठी रूपांतर "पुरुषार्थ" या नांवानें प्रसिद्ध होऊं लागलें आहे. वार्षिक वर्गणी म.आ. २ व वी.पी. नें.२॥रु. आहे.

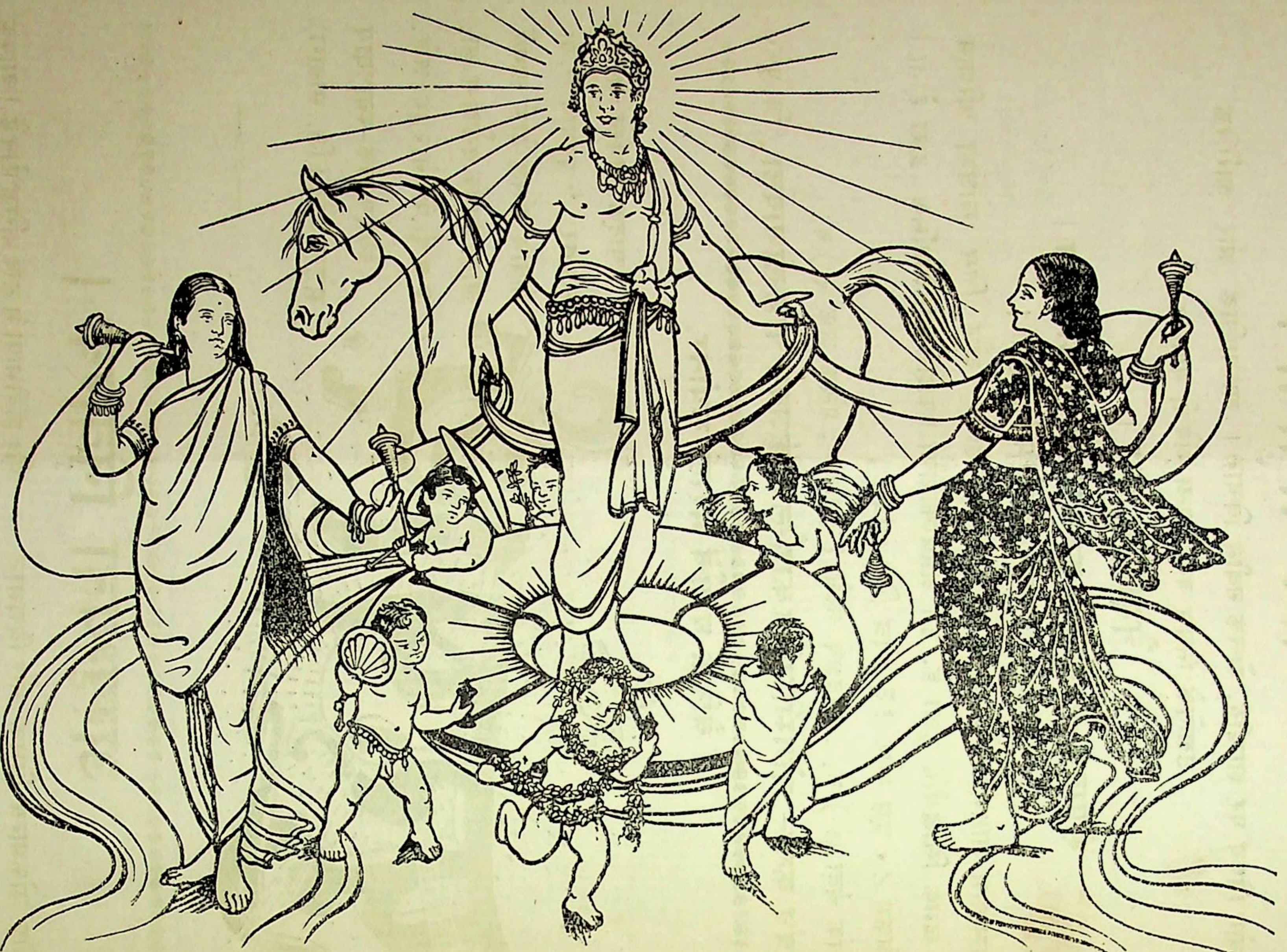
व्यवस्थापक—स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा)



अस्पृश्यता निवारक।

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक और विद्यमान नेता महात्मा गांधीजीके उपदेशानुसार अस्पृश्यता निवारण का कार्य करनेवाला एकमात्र यह पत्र है। इस पत्रमें मराठी, गुजराती और हिंदीभाषा में लेख प्रसिद्ध होते हैं। वार्षिक मूल्य ३) और साधारण कागज २॥) रु.

मैनेजर—अस्पृश्यता निवारक जव्हेरी बिल्डींग, चर्नीरोड कार्नर, गिरगांव, मुंबई नं. ४



छः खूंटियों वाली खुड्डी जिसपर दो स्त्रियां कपडा बुनती हैं । म. भारत आदि. अ. ३ । १४२



वर्ष ५
अंक १०

क्रमांक
५८

वैदिकधर्म

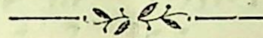
आश्विन
सं. १९८१

अक्तूबर
स. १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)



प्रजापतिका शासन।



दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः॥

अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

यजु. १९।७७

" ठीक देखकर प्रजापतिने सत्य और अनृतके रूप पृथक् किये हैं, उसने अनृतमें अश्रद्धा और सत्यमें श्रद्धा रखा है।"

महाभारत।

[महात्मा गांधीजी]

मैंने इससे पूर्व " महाभारत " का थोडासा भाग देखा था, परंतु संपूर्ण ग्रन्थ पढा नहीं था। पढनेसे पूर्व मेरा ऐसा ख्याल था, कि इसमें केवल मारपीट, लडाई और झगडों की ही कहानियां होंगीं और इतने लंबे वर्णन होंगे कि, जो मेरेसे पढे भी नहीं जांयगे, अथवा मैं पढने लगूं तो मुझे संभवतः निद्रा ही आ जायगी! इतने बडे ग्रंथका पढना प्रारंभ करनेके लिये मुझे पहिले पहिले बडा डर लगता था। परंतु जब मैंने इसको एकवार पढना प्रारंभ किया, तब मुझे उसमें इतना प्रेम आगया कि उसको शीघ्र समाप्त करने के लिये ही मैं अत्यन्त उत्सुक बन गया और संपूर्ण पढ जानेसे मेरी पहिलेकी उस विषयकी सब संमतियां गलत सिद्ध हुईं!!

मैंने इसको चार महिनों में पूर्ण किया, तब मुझे पता लगा कि यह महाभारत, रत्नोंकी छोटीसी संदूकडी के समान ही नहीं है, कि जिसमें थोडेसे रत्नही मिल जांय; प्रत्युत यह महाभारत अमूल्य रत्नों की अपरिमित खान है, कि जिसको जितना अधिक खोदा जाय, उतने अधिक मूल्यवान रत्न मिल सकते हैं।

मेरे लिये यह महाभारत इतिहासिक ग्रंथ नहीं है। इसको इतिहास सिद्ध करना अशक्य है। इसमें सनातन सचाइयोंका आलंकारिक रूपमें काव्यमय वर्णन है। इसमें कवि अपनी अद्भुत शैलीके अनुसार इतिहासिक पुरुषों और कथाओंको देवदूत, राक्षस अथवा और कुछ बनाकर वर्णन करता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है, कि उसको सत्य और असत्य, आत्मा

और जड, ईश्वर और सैतान इनके सनातन युद्धोंका वर्णन करना है।

यह महाभारत एक बडी नदीके समान है, कि जो अपने अंदर छोटे मोटे नदीनालोंको तथा गंदले जलप्रवाहोंको भी अपने अंदर मिला लेता है और अपनी सत्ताको कायम रखता हुआ आगे बढता जाता है। यह मूलमें एक ही बुद्धिकी रचना है, परंतु बडे समय व्यतीत होने के कारण बीचमें मिलावटें भी होगई हैं और अब मूल कौनसा और मिलावट कौनसी इसका निश्चय करना कठिन होगया है।

महाभारतकी समाप्ति बडाही महत्वपूर्ण है। वह स्पष्ट रीतिसे बताती है, कि प्राकृतिक शक्ति अत्यंत तुच्छ है। अंत में एक ब्राह्मणके हार्दिक सर्वस्व-अर्पणसे जो बिलकुल थोडासा ही था, परंतु जो उसने गरीब प्रार्थी को योग्य समयमें दान दिया था, युधिष्ठिरका महामेध भी न्यूनही सिद्ध हुआ है।

विजयी पांडवोंको अंतमें शोकही शोक रहा है, महाप्रतापी श्रीकृष्ण जी की मृत्यु असहाय स्थितिमें होती है, वीर यादवोंका नाश आपसके युद्धसे होता है, विजयी अर्जुनका उसके साथ गांडीव धनुष्य रहते हुएभी चोरोंके द्वारा पराभव होता है, एक युवक के ऊपर राज्यका भार सौंप कर पांडव वनमें जाते है, स्वर्गके मार्गमें एकको छोडकर अन्य सब मरते हैं, मूर्तिमान धर्मराज युधिष्ठिर को भी थोडीसी असत्य बात विशेष बिकट प्रसंग में कहने पर भी नरक का दृश्य देखना पडता है।

कार्यकारण अर्थात् कर्मके सनातन तथा अटलनियमको सर्वोपरि बताते हुए, वह किसीको भी छोडता नहीं, सब पर एकसा ही कार्य करता है, यह बात इस ग्रंथमें अत्यंत उत्तम रीतिसे बताई है।

यह बिलकुल सत्य है कि जो सत्यसिद्धांत अन्य पुस्तकोंमें हैं, वह संपूर्ण रूपसे इस महाभारतमें विद्यमान हैं। इसीलिये यह महाभारत श्रेष्ठग्रंथ है।

(यंग इंडिया)



केवल धर्म प्रचारकों के लिये।

" एक आश्चर्य ! "

जगत् में केई आश्चर्य हैं। उन अनेक आश्चर्योंमें यह भी एक आश्चर्य है कि, " प्रचारक न होते हुए दुर्व्यसनोंका प्रचार जगत् में खूब हो रहा है, और प्रचारकोंका कार्य चलने पर भी धार्मिक सदाचार का प्रचार उस वेगसे नहीं होता है ! " यह बात मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रकाश कर रही है। जो धर्मका प्रचार करना चाहते हैं, और कर रहे हैं; उनको इस बातका अवश्य विचार करना चाहिये। ऊपर जाना कठिन है और नीचे उतरना आसान है; गिरना सुगम और उठना कठिन है; शरीर स्वास्थ्य ठीक रखना बडी दक्षता से होगा; परंतु शरीर स्वास्थ्यका बिगाड करना सहज होगा; इसी प्रकार सर्वत्र प्रवृत्ती है। इस प्रवृत्तिको ध्यानमें धरकर ही धर्मके प्रचारकों को अपना कार्य करना चाहिये।

" मनुष्य अनुकरणशील है। "

मनुष्य अनुकरण करता है, इस लिये जो बात उसके सन्मुख आ जाती है, उसीका अनुकरण वह करने लग जाता है। सिखों के राज्य रहनेके समय जो लोग दाढी रखना अपना भूषण मानते थे वेही लोग अब मूछियां मुंडवाने में अंग्रेजों का अनुकरण कर रहें हैं ! हिंदू राज्यमें जो लोग शिखा रखना अपना कर्तव्य समझते थे, वेही लोग शिखानष्टोंका राज्य होनेसे स्वयं अपनी सिरके पीछेकी शिखा काटने में भूषण मानते और सिरके आगे बाल बढाने में महत्व समझते हैं। यह केवल अनुकरण-प्रियता ही है। जो जिस समय बडा समझा जाता है, उसीका अनुकरण साधारण जनता " अंध-श्रद्धा " से करती है। धर्म प्रचारकों पर भी साधारण जनताकी श्रद्धा रहती ही है। विद्वान, पंडित, शास्त्री संन्यासी आदि लोग जब प्रचार करनेके लिये ग्रामों में जाते हैं, तब साधारण लोग उनपर अपनी अपनी अंतःकरण की श्रद्धा रखते हैं, और उनके चाल चलन, वार्तालाप आदिकी ओर प्रेम की दृष्टिसे देखते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है की यदि कोई दोष धर्मप्रचारकों में हुआ, तो उसका परिणाम साधारण जनतापर अधिक होगा, क्यों कि उपदेशकके सद्गुण आचरणमें लाना कठिण है और दुर्गुण का आचरण सुगमतासे होना संभव है, इस लिये अपना आचरण, वार्तालाप, और चालचलन अति शुद्ध रखने की उपदेशकों के लिये कितनी विशेष आवश्यकता है, यह बात यहां स्पष्ट

हो जाती है। उपदेशकों के होते हुए सचा धर्म प्रचार क्यों नहीं होता, इसका मुख्य कारण प्रचारकों के व्यवहारमें ही मुख्यतः ढूंढना चाहिये।

❧ ❧ ❧

"विपरीत मार्ग"

कई धर्मके प्रचारकों ने अन्य धर्मों की निंदा करके स्वधर्म का प्रचार करनेका यत्न किया। अन्य धर्मोंके आचार्य, अन्यधर्म के ग्रंथ, अन्य धर्मोंके आचार विचार, इतनाही नहीं, प्रत्युत अन्य धर्म द्वारा प्रस्थापित "ईश्वर" की भी खूब निंदा होने लगी, उनका उपहास और मखौल होने लगा !! किताबों, वृत्तपत्रों और व्याख्यानों तथा प्रवचनोंमें यही बात आने लगी !! "दूसरे की निंदा सुनना और समझना सुगम है, परंतु स्वधर्मके उच्च सिद्धांत सुनना समझना बडा कठिन है" इसलिये स्वभावतः ऐसे उपदेशक, कि जो अन्य धर्मोंके आचार्य, धर्मग्रंथ, आचार विचार आदिका अधिकाधिक जोशयुक्त उपहास कर सकते थे, वेही लोकप्रिय बनने लगे !! इस प्रकारके स्वयं भूले हुए अंध प्रचारकों के जोशीले उपदेश सुननेसे श्रोताओं मनरंजन तो होता है, परंतु उनके पल्ले क्या पडता है? इसका विचार करना उपदेशकोंका ही काम है। कितने धर्म प्रचारक इस बातका विचार कर रहे हैं?

❧ ❧ ❧

"परिणाम भी विपरीत।"

विपरीत उलटे मार्गका परिणाम भी उलटा ही होना है। पूर्वोक्त प्रकार के स्वयं भूले हुए धर्म प्रचारक जो परनिंदा से परिपूर्ण व्याख्यान देते थे, उसका परिणाम धर्मश्रद्धामें होनाही नहीं था। इसी कारण ऐसे धर्म प्रचारकोंसे अधिक अश्रद्धा उत्पन्न होने लगी और धर्मके स्थानपर अधर्म ही बढने लगा। कितने भी उपदेशक हों, जबतक वे शुद्ध मनद्वारा प्रेरित होकर शुद्ध विचारोंसे युक्त शुद्ध धर्मके उच्च सिद्धांत और श्रेष्ठ तत्व लोगोंको नहीं बतायेंगे, तबतक यही बात होगी। धर्मप्रचारक इसका विचार करें, कि अपने वक्तृत्वमें दूसरोंका उपहास कितना है और स्वधर्मका उपदेश कितना है?

❧ ❧ ❧

"अन्य लोग क्या कर रहे हैं?"

अन्य धर्मोंके प्रचारक क्या कर रहे हैं? यह प्रश्न यहां पूछा जायगा। अन्य धर्मवाले अपनी मर्जी चाहे वैसा व्यवहार करें, वैदिक धर्मियों को अपनी श्रेष्ठता और अपनी गंभीरता कदापि छोडनी उचित नहीं है। हम जानते हैं कि अन्य मतवाले ऐसे अनुचित प्रलाप कर रहे हैं, उनके पुस्तकोंमें परधर्म निंदा बहुत होती है, तथा अन्यान्य अयोग्य मार्गोंका आचरण भी वे कर रहे हैं। परंतु वैदिक धर्मियोंको उनका मुकाबला करने के लिये उसी नीच मार्गसे जानेकी आवश्यकता

नहीं है । यदि अपना धर्म श्रेष्ठ है, तो श्रेष्ठ उपायोंसे ही उसका प्रचार हो सकता है । पर धर्मियोंके हीन उपायोंका मुकाबला करनेके लिये वैदिक धर्मियोंको अपनी गंभीरता छोडनेकी जरूरत नहीं है । जिस समय वैदिक धर्मी अपनी गंभीरता छोडेंगे और उन्ही हीन उपायोंका अवलंबन करेंगे, तो सबसे पहिले ये ही वैदिक धर्मसे पतित हो जांयगे, फिर उनसे प्रचार तो किस धर्मका होना है ?

"वैदिक धर्मका महत्त्व ।"

वैदिक धर्म प्रचार के लिये अपने सिद्धांतों को जानना चाहिये । और अपने धर्म पुस्तकोंका अध्ययन होना चाहिये । उनकी संगति करनेका ज्ञान चाहिये । इतना होनेके पश्चात् उस धर्म पर पूर्ण विश्वास और सदाचार का बल, इतना जिसके पास होगा, वही वैदिक धर्मका प्रचारक हो सकता है । प्रत्येक प्रचारक विचार करे, कि इनमेंसे कौनसे गुण अपने अंदर हैं और कौनसे नहीं हैं । अपने धर्मग्रंथ का अध्ययन नहीं, सिद्धांतों का ज्ञान नहीं, वचनों की संगति लगाने का सामर्थ्य नहीं और सदाचारका बल भी नहीं, ऐसे उपदेशकों ने वैदिक धर्मके सिद्धान्तों का उपदेश करनेके स्थान पर परधर्मनिंदा से ही श्रोताओं के कर्ण अपवित्र करने का व्यवसाय किया, तो उसमें कौन सा आश्चर्य है? परंतु मुख्य संस्थाको ही इसका विचार करना चाहिये, कि हमारे प्रचारक कर क्या रहे हैं, और हो क्या रहा है? अशिक्षित प्रचारकों के अश्लाघ्य प्रचारके कारण ही वैदिक धर्मका प्रचार रुक गया है, और प्रतिदिन अनेकानेक विवाद ही खडे हो रहे हैं ! धार्मिक वृत्तिवाले सज्जन इसका विचार शांतिसे ही करें । हमें पूर्ण विश्वास है, कि वैदिक धर्मके सिद्धांत अत्यंत उच्च हैं; इस लिये हीन उपायों का प्रयोग न करते हुए ही उनका प्रचार करना शक्य है; परंतु उस कार्य के लिये विद्वान उपदेशकों की आवश्यकता है ।

"सीधा मार्ग ।"

सच्ची उन्नतिके लिये विचार उच्चार और आचार की श्रेष्ठता चाहिये । तभी सच्ची उन्नति हो सकती है । श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ वक्तृत्व और श्रेष्ठ आचार यही वैदिक धर्मके प्रचारके लिये बर्तनेके योग्य साधन हैं । यही वैदिक धर्म प्रचारका सीधामार्ग है । इसमें दूसरे आचार्यों और धर्मसंस्थापकोंकी निंदा नहीं चाहिये, दूसरे धर्मग्रंथोंकी त्रुटियां बतानेकी आवश्यकता नहीं है, परधर्मके आचार विचारोंकी क्षति विशद करनेकी जरूरत नहीं है । उपदेशक यह बात ध्यानमें रखें, कि श्रोताओं के पास किसीकी त्रुटियोंकी संख्या अधिक पहुंचानेकी अपेक्षा, पूर्णतत्वों की संख्या अधिक पहुंचानी चाहिये ।

"गुणग्राही बनो।"

दूसरोंके दुर्गण देखनेका अभ्यास करने की अपेक्षा दूसरोंके सद्गुण देखना, उनका वर्णन करना और उनको अपनाना, यह एक अधिक योग्य साधन अपनी उन्नतिके लिये है। इस बातका विचार होना चाहिये कि अन्यान्य धर्मोंमें श्रेष्ठ तत्त्व कौनसे हैं और उनका वैदिक धर्मके तत्वोंके साथ मेल किस रूपमें है। लेखों, व्याख्यानों, उपदेशों और संभाषणों में उक्त दृष्टिसे ही विचार होना चाहिये। ग्रंथ ऐसे निर्माण होने चाहिये, कि जिनमें वैदिक धर्मके श्रेष्ठ तत्व अन्य मतमतांतरोंमें किस रूपमें हैं, उच्च वैदिक मंत्रोंके श्रेष्ठ विचारोंके समान अन्यान्य धर्मग्रंथोंमें कौनसे वाक्य हैं इसको दर्शाया हो। इसी प्रकार व्याख्यानादि में भी यही गुणग्रहण की दृष्टि रखनी चाहिये। अन्य मतोंकी निंदा करने से निंदक की जिव्हा पहिले अपवित्र बनती है और पश्चात् श्रोताओंके कान अपवित्र विचारोंसे पूरित होते हैं। इस का परिणाम दोनों के मनोंपर बहुत ही हानिकारक होता है। इसालिये यह रीति सर्वथा त्याज्य है। अतः गुणग्रहण करनेकी प्रचार पद्धति अमलमें लानेकी आवश्यकता है। पहिली निंदामय रीतिका अवलंबन इतने वर्ष करके देख लिया है। इससे उन्नतिके स्थानपर अवनति ही हुई है, इससे जिस प्रकार परकीयों के साथ वैर हुआ, उसी प्रकार स्वभावही कुटिल बन जानेके कारण, स्वकीयों में भी अनंत झगडे ही खडे होगये हैं !! इसलिये अतिशीघ्र उस घातक रीतिको दूर करके गुणग्राही रीतिका अवलंबन कर ही प्रचार करनेका निश्चय करना चाहिये।

"प्रेम का मार्ग,,

परमेश्वर के पास जानेका मार्ग प्रेमका है। प्रेम न बढा, तो समझ लीजिये, कि अपने मार्ग में कुछ दोष हैं। इस लिये दूसरोंको दोष देनेके पूर्व आप स्वयं अपने मार्ग से प्रेमका स्रोत बढ रहा है, या घट रहा है, इसका विचार कीजिये। स्वजनों में पूर्वकालकी अपेक्षा इस समय प्रेमकी मित्रता, अधिक बढ गई, या घट गई है, इसका सबसे प्रथम विचार कीजिये और पश्चात् इस बात का भी विचार कीजिये, कि अन्य मतके मनुष्यों के साथ आपका प्रेमसंबंध बढ रहा है, या घट रहा है। बस, यही आपके कार्य की परीक्षा है और यह परीक्षा आपको अपने अंतःकरणमें एकांतमें जाकर करनी चाहिये। यह परीक्षा सभाओं में वाद विवाद करने से नहीं हो सकती और न किसी बाह्य आडंबर से हो सकती है। इसी का नाम वैदिक धर्म में "आत्मपरीक्षा" है। एकांतमें जाकर स्वयं अपनी स्थितिका विचार करना चाहिये, यह अभी कीजिये।

" अंतःकरणका धर्म । "

अंतःकरणसे प्रेम का प्रवाह शुरू होना चाहिये। प्रेम शब्दों और वाक्यों में नहीं है । इस देशमें विदेशी लोग अन्य धर्मका प्रचार करने के लिये जितना प्रेम दिखा रहे हैं, उतना आप स्वयं अपने देशमें स्वधर्मका प्रचार करनें में नहीं बता रहे हैं । इसका दोष अंतः करण में है और इसी लिये अपना अंतः करण शुद्ध होना चाहिये । शुद्ध अंतः करणमें ही प्रेमका स्रोत उदित होता है । मलीन अंतः करण में द्वेषका अग्नि जलता है । यदि आपके प्रचारसे स्वकीयों और परकीयोंमें विद्वेष ही फैल गया है, तो स्पष्ट है, कि मूल दोष अंदर है । वह दोष दूसरेका नहीं है। अर्थात् आपके मनके अंदर पवित्रता और निर्मलता स्थापित करनेकी आवश्यकता इस समय अत्यंत है । क्या आप इसका विचार करेंगे ? और उच्च वैदिक धर्मके प्रचार करने के लिये सबसे प्रथम अपने आपको उच्च बनायेंगे ?

छः खूंटियोंवाला बडा चक्र ।



धौम्य मुनिके तीसरे ज्ञानी शिष्य वेद नामक थे । समावर्तन संस्कार होने के पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके अनंतर उस आचार्य वेदके पास भी कई शिष्य वेदाभ्यास के लिये आगये, उनमें एक अत्यंत सद्गुणी शिष्य उत्तंक नामसे प्रसिद्ध था । और इसीपर पूजनीय आचार्य जीका भी अत्यंत विश्वास था । एक समय सम्राट् जनमेजय के घरके याजन कर्मके लिये जानेके कालमें आचार्य वेद जी ने अपने शिष्य उत्तंकसे कहा कि " हे उत्तंक! मैं चाहता हूं, कि मेरी अनुपस्थिति में मेरे घरमें जो कुछ अभाव हो, तुम उनको पूरा किया करो । " इस प्रकार आज्ञा देकर आचार्य जी सम्राट् के याज्ञिक कर्म के लिये चले गये ।

यह समय ब्रह्मचारी उतंक की परीक्षा का था । उत्तंक के ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा निम्न प्रकार ली गई --

एक दिन उपाध्याय के घर की स्त्रियां एकत्र होकर उत्तंक को बुला कर बोली- " उत्तंक ! तुम्हारी उपाध्यायिनी ऋतुमती हुई है, तुम्हारे उपाध्याय भी घरमें नहीं हैं, सो जिससे उनकी ऋतु खाली न जाय, तुम तिसका विधान करो "

कितना कठोर प्रलोभन है ! इस समय ब्रह्मचारी उत्तंक के सामने एक ओर सहज प्राप्त विषय सुख, और दूसरी ओर ब्रह्मचर्यव्रत के भंगका तथा वैदिक " सप्त मर्यादा " के उल्लंघन का पातक उपस्थित था। दुर्बल मनुष्य कदाचित फंस भी जाता, परंतु उत्तंक बडा तपस्वी और नियम पालनमें दक्ष था, इस लिये उसने तत्क्षण हीमें कहा कि-" मैं स्त्रियों की बात सुन कर ऐसा कुकर्म नहीं करूंगा, उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी, कि तुम कुकर्म भी करना। "

इस प्रकार ब्रह्मचारी उत्तंक के ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण परीक्षा होगई और वह उत्तम प्रकार इस कठोर परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ। ऐसे सद्गुणी ब्रह्मचारी पर कौनसा आचार्य प्रेम नहीं करेगा ? आचार्य वेद का भी प्रेम इसी रीतिसे उत्तंकने आकर्षित किया था। स्वल्प काल के पश्चात् उत्तंक के समावर्तन का समय आया, उस समय " गुरुदक्षिणा" देनेका विचार ब्रह्मचारी उत्तंकने अपने आचार्य जीसे कहा। आचार्य जी अत्यंत सत्व संपन्न होने के कारण गुरु दक्षिणा लेना भी नहीं चाहते थे, परंतु आचार्य स्त्री प्रलोभन को जीत नहीं सकी थीं।

प्रायः स्त्रियां सुंदर आभूषणों और सुंदर वस्त्रोंपर इतना प्रेम करतीं हैं, कि उनके सामने अन्य श्रेष्ठ विचार कोई मूल्य नहीं रखते। आजकल भी स्वदेशी खद्दर का प्रचार पुरुषोंमें है और स्त्रियां विदेशी सूतके कपडे पहनतीं हैं! स्वदेशी के प्रेमकी अपेक्षा नरम सुंदर वस्त्रका स्पर्श उनको अधिक प्यारा है। यही अवस्था पूर्वोक्त उपाध्यायिनी की थी। इस लिये उत्तंक से उपाध्यायिनी बोली " बेटा उत्तंक ! राजा पौष्य के स्त्रीके धारण किये हुए दोनों कुंडल मांग लाओ। "

राजाके स्त्री के धारण किये हुए कुंडल लाना बडा कठिन कार्य था, परंतु विद्वान पुरुषार्थी उत्तंक घबरा नहीं गया। वह पौष्य राजाके पास पहुंचा और उसने अपनी विद्वत्ताके बलसे उक्त कुंडल प्राप्त किये। और उनको लेकर अपनी उपाध्यायिनी के पास आने लगा। इतनेमें मार्ग में एक सर्प जातीके नंगे साधुने किसी युक्तिसे पूर्वोक्त कुंडल चुराये और वह वेषधारी साधु भागने लगा। उत्तंक ब्रह्मचारी उसके पीछे दौडने लगे। जब पकडे जानेका समय आया, तब वेषधारी साधुने शीघ्रता अपना वेष बदल कर भागना आरंभ किया। तथापि ब्रह्मचारी उसका पीछा करते ही रहे। अंतमें नाग लागोंके देशमें ये दोनों पहुंचे, परंतु इतनेमें वह चोर

किसी प्रकार गुम होगया और अपरिचित देश में अकेला ब्रह्मचारी उत्तंक असहाय अवस्थामें रह गया !! तथापि वह घबरा नहीं गया ! वहां उसने देखा कि एक विलक्षण खुड्डी पर काले और श्वेत धागे ताने गये हैं, दो स्त्रियां कपडा बुन रहीं हैं, उस खुड्डीका बडा चक्र छः बालक घुमा रहे हैं, एक पुरुष सूत्र ठीक करनेके कार्य में दक्ष है और उनके पास एक सुंदर घोडा भी है। इसका वर्णन ब्रह्मचारी उत्तंक निम्न प्रकार करता है—

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये
षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षड्
वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥१४६॥
तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ
वयतस्तंतून्सततं वर्तयन्त्यौ ।
कृष्णान् सितांश्चैव विवर्त-
यन्त्यौ भूतान्यजस्रं भुवनानि
चैव॥१४७॥ वज्रस्य भर्ता
भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता
नमुचेर्निहन्ता। कृष्णे वसानो
वसने महात्मा सत्यानृते यो
विविनक्ति लोके ॥ १४८ ॥यो
वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वा-
नरं वाहनमभ्युपैति । नमोऽस्तु
तस्मै जगदीश्वराय लोक-
त्रयेशाय पुरंदराय ॥ १४९ ॥

महाभा. आदि० अ. ३

" इन चौवीस पर्वयुक्त स्थिर चक्रमें तीन सौ साठ ताने लगे हैं। इसको छः कुमार घुमा रहे हैं । विश्वरूपिणी दोनों युवती इस तानेमें श्वेत और काले सूत देकर सदा वस्त्र बनाती हुई संपूर्ण भूत और भुवनोंको घुमा रही हैं । जो एक महात्मा कृष्णवस्त्र पहननेवाला, वज्रधर, नमुचि और वृत्रका नाशक, भुवनरक्षक, तेजस्वी वैश्वानर अश्वका वाहन करनेवाला, त्रिलोक नाथ जगदीश्वर प्रभु है, उसको मैं नमन करता हूं । "

इस प्रकार स्तुति करते ही उस पुरुषने कहा, कि "ए उत्तंक ! तुम्हें क्या चाहिये।" ब्रह्मचारीने कहा, कि " यह सर्पजाती मेरे वशमें होवे । " पुरुष ने फिर कहा, कि " इस घोडेके मलद्वार में फूंको। "

घोडेका मलद्वार फूंकनेसे अग्नि बढने लगी, उसकी उष्णतासे सर्पोंका देश तप गया, सर्प घबरा गये और इस प्रकार त्रस्त होनेके बाद उसको कुंडल सर्पोंसे प्राप्त हुए। ब्रह्मचारीने उनको प्राप्त कर उपाध्यायिनी को दे दिये और गुरुदाक्षिणा देनेके पश्चात उसका आशीर्वाद लेकर, कुंडल चुरा कर इतना कष्ट देनेवाले सर्प तथा उसको आश्रय देने वाली सर्प जाती का बदला लेनेके उद्देश्य से राजाजनमेजय के पास आगये । इन्हीं उत्तंक की प्रेरणासे उत्साहित होकर राजा जनमेजयने सर्प जातिके नाशके लिये सर्पयज्ञ किया, क्यों कि जनमेजयके पिता राजा परिक्षित का वधभी एक सर्पने ही किया था। इसलिये समदुःखी ब्राह्मण उत्तंक और

समदुःखी क्षत्रिय जनजेमय की मित्रता हुई और ब्राह्मण क्षत्रियों के संयुक्त प्रयत्न से आर्य जातीको विविध रीतिसे कष्ट देने वाली सर्प जातीका नाश किया गया। (महाभारत अ. ३)।इसी प्रकार जातीय संकट दूर रनेके लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको अपना सब शक्ति इकट्ठी करनी चाहिये और उस संघटित शक्तिको राष्ट्रहितके कार्यमें लगाना चाहिये। वेद भी यही कहता है कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ
चरतः सह। तं लोकं पुण्यं
प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

य. २०।२५

" जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुल कर कार्य करते हैं, वही पुण्य देश है " आर्योंमें जिस समय तक ज्ञानी और शूर इस प्रकार मिलजुल कर जातीय उन्नतिके कार्य करते थे, उस समय तक ही आर्य जाती की उन्नति थी। परंतु जब आपसमें फूट हुई और एक घरके भाई भाई ही आपसमें लड मरनेको तैयार हुए, तबसे आर्य जातीकी अधोगति शुरू होगई है। महाभारतके प्रारंभमें ही यह एकताके महत्व का दिव्य उपदेश मिलता है। जो जातीय और राष्ट्रीय उन्नति चाहनेवालों को स्मरण रखना आवश्यक है। इस कथा से निम्न लिखित बोध मिल सकते हैं—

(१) विद्यार्थिधर्म= कितना भी प्रलोभन आगया तो भी प्रलोभनों में फंसकर ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंकी उपेक्षा कदापि करनी नहीं चाहिये।

(२) आचार्य धर्म=आचार्य ऐसा हो कि जो गुरुदक्षिणाका विचार भी मनमें न लावे और शिष्यको पूर्णतासे अपनी विद्या अर्पण करे और सदा शिष्यका कल्याण ही चाहता रहे।

(३) स्त्रीधर्म= स्त्रियोंके आभूषणकी प्रीतिके कारण विद्वानोंको भी कितने कष्ट होते हैं, यह देखकर स्त्रियं भी आभूषणोंका अति प्रेम छोड दें और विद्या तथा राष्ट्रप्रेमसे सुभूषित होकर श्रेष्ठ माताएं बनने का प्रयत्न करें।

(४) स्नातक धर्म= जिस आचार्य के पास से विद्या ग्रहण की है, उसको गुरुदक्षिणा देकर ही गुरुऋणसे मुक्त होना और गुरुके विषयमें उत्तम भक्ति सदा मनमें धारण करनी।

(५) राष्ट्र धर्म= अपने राष्ट्रको सदा कष्ट देनेवाली जो कोई जाती हो, उस जातीको परास्तकरने के लिये राष्ट्रके सब लोक, विशेषतः ज्ञानी और शूरवीर मिलजुल कर ऐसा कार्य करें, कि विजातीके उपद्रव से होनेवाले सब कष्ट दूर हो जांय।

इतने बोध उक्त कथा में स्पष्ट हैं। महाभारत आदिपर्व के तीसरे अध्याय में यह कथा पाठक देखेंगे, तो उनको वहां उक्त बोध स्पष्ट रीतिसे मिल सकते हैं। अब कथामें जिस विशाल चक्रका वर्णन

है, उसका विचार करना है। वह चक्र, दो स्त्रियां, एक पुरुष, घोडा, छः कुमार, सूत और कपडा इन पदार्थों का जो वर्णन है वह किस वैदिक अलंकारका सूचक है, यह बात यहां देखनी है। इस विषयका स्पष्टीकरण होनेके लिये निम्न लिखित वेद मंत्र देखिये—

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमा-
न् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः
सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥

ऋ. १०।१३०।२

(पुमान्) पुरुष (एनं तनुते) इसको फैलाता है, (पुमान्) पुरुष पुनः (उत्कृणत्ति) ढेर लगाता है, वह (अस्मिन् नाके अधि) इस आकाशमें भी (वितत्ने) विशेष फैलाता है। (इमे मयूखाः) ये खूटियां (सदः उप सेदुः) कार्यके स्थानमें हैं और (सामानि) सामोंको (ओतवे) बुननेके लिये (तसराणि) धडाकियां बना लीं हैं।

इस मंत्रमें सूत्र फैलाना, उसका ढेर लगाना, उसको इकट्ठा करना, संपूर्ण आकाशमें सूतका ताना फैलाना, कार्यके स्थानमें खूंटियां लगाना, और धडाकियोंसे बुननेका काम लेनेका वर्णन है। यह ऋग्वेदका मंत्र है। प्रायः ऋग्वेदके मंत्रमें संक्षेपसे वर्णन होता है, और अथर्ववेदमें उसका विशेष स्पष्टीकरण दिखाई देता है। इस लिये इसी वर्णनके अथर्ववेदके मंत्र देखिये—

तन्त्रमेके युवती विरूपे
अभ्याक्रामं वयतःषण्मयूख-
म्। प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते
अन्या नापवृंजाते न गमाते
अन्तम् ॥ ४२ ॥ तयोरहं
परिनृत्यन्त्योरिव न विजाना-
मि यतरा परस्तात्। पुमाने-
नद्वयत्युद्गृणात्ति पुमानेनद्वि-
जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥

अ. १०।७

(एके) अकेली अकेली (वि- रूपे युवती) विरुद्ध रूपवाली दो स्त्रियां (षट्-मयूखं तंत्रं) छः खूंटियों वाले खड्डीके पास (अभ्याक्रामन्) आतीं हैं और (वयतः) कपडा बुनतीं हैं। (अन्या) उनमेंसे एक (तंतून्) सूत्रों को (प्रतिरते) फैलाती हैं और (अन्या) दूसरी (धत्ते) रखती है। वे (न अपवृंजाते) तोडतीं नहीं और (अंतं न गमाते) कार्य समाप्त भी नहीं करतीं हैं। (अहं) मैं (तयोः परिनृत्यंत्योः इव) उन नाचने वाली जैसी स्त्रियोंमें (यतरा परस्तात्) कौनसी पहिली है, यह (न वि जानामि) नहीं जानता। (पुमान्) एक पुरुष (एनत्) इसको (वयति) बुनता है, (पुमान्) पुरुष (उद्गृणात्ति) अलग करता है और (नाके अधि) विस्तृत आकाशमें (एनत्

विजभार) इसको फैलाता है ॥

पाठक इन मंत्रों में देखेंगे, तो उनको स्पष्ट रूपसे पता लग जायगा, कि ये अथर्व वेदके मंत्र न केवल ऋग्वेदके पूर्वोक्त मंत्रका स्पष्टीकरण कर रहे हैं, प्रत्युत महाभारतके वर्णनका भी वैदिक मूल बता रहे हैं !! इन मंत्रोंका विचार करनेसे महाभारत के कथन का स्वरूप निश्चित होता है और महाभारतके स्पष्टीकरणसे मंत्रोंके अर्थ निश्चित हो सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययनसे इसप्रकार हमें वेदार्थकी खोज करने के लिये लाभ हो सकते हैं। महाभारत और वेद मंत्रोंकी तुलना करने के पूर्व हमें और भी वेद मंत्र देखनेकी आवश्यकता है, वे पहिले यहां देखेंगे। पहिले पूर्वोक्त मंत्रों में जो दो स्त्रियां कहीं हैं उनका स्वरूप वेद मंत्रों द्वारा देखना चाहिये, इस लिये निम्न मंत्र देखिये—

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं
पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती
देवानां देवं यजतः सुरुक्मे॥
य० २०।४१

साध्वपांसि सनता न उक्षिते
उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची
यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती
ऋ० २।३।६

(बृहती) बडी, (पयस्वती) रसयुक्त (सुदुघे) उत्तम दोहन देनेवाली (सुरुक्मे) सुंदर (उषासा नक्ता) उषा और सायं संध्या ये दो स्त्रियें (ततं) फैले हुए (तंतुं) सूतको (पेशसा) सुंदरता के साथ (संवयन्ती) उत्तम प्रकारसे बुनती हुई (देवानां देवं) देवोंके देव शूर इंद्रकी (यजतः) पूजा करती है। तथा—

(नः) हमारे (साधु अपांसि) उत्तम कर्मोंसे (सनता उक्षिते) सदा सुपूजित (उषासा नक्ता) उषा और सायंसंध्या (वय्या इव) जुलाही के समान (रण्विते) प्रशंसित (सुदुघे पयस्वती) उत्तम दोहन होनेसे रस युक्त होकर (ततं तंतुं) फैले हुए सूत्रको (यज्ञस्य पेशं) यज्ञके सुंदर वस्त्र को (समीची संवयन्ती) उत्तम प्रकार बुनती है।

इन दोनों मंत्रोंमें "उषासा नक्ता" अर्थात् "उषःकाल" और "सायं काल" इन दो समयोंको दो स्त्रियोंका रूपक देकर काव्यमय वर्णन किया है। "उषा और नक्ता" ये दो ही स्त्रियां हैं जो ऊपरके मंत्रों में तथा महाभारतके वर्णन में वर्णित हैं। "उषा स्त्री" दिनभर श्वेत रंगका कपडा बुनती है और "नक्ता स्त्री" रातभर काले रंगका कपडा बुनती रहती है। एकके पीछे एक आकर अपना अपना कार्य करती है, परंतु किसीका भी कार्य समाप्त नहीं होता। क्यों कि दिनके पीछे रात्री और रात्री के पश्चात् दिन आता है और

यह क्रम कभी समाप्त होने वाला नहीं है ।

दिन और रात्री का समय ही श्वेत और काला वस्त्र है, यह अलंकार मानने पर सूर्यके कारण उत्पन्न होनेवाले कालके सूक्ष्म अवयव सूत है, यह बात स्पष्ट होती हैं । काल रूपी यह सूत्र सूर्यरूपी गोल चर्खेपर देवोंका देव इंद्रभगवान् कात रहा है और उस सूत्रको लेकर उषा और नक्त ये दो स्त्रियां कपडा बुन रहीं हैं ।

" छह खूंटीयोंवाली खुड्डी " पर यह बुननेका कार्य चल रहा है । छः खूंटियां छः ऋतुओंका समय है, इन खूंटियोंको घुमानेवाले छः ऋतु हैं । तथा जिस खुड्डी पर यह समयका कपडा बुना जाता है, वह संवत्सर है । जो पुरुष है वह देवाधिदेव ईश्वर है और जो उसका वाहन अश्वरूपसे वर्णन किया है वह आग्नेय तत्त्व है । इस प्रकार यह संवत्सर कालचक्रका वर्णन है । इसका विचार करनेके लिये निम्न लिखित वेदमंत्र देखने योग्य हैं । इनका विचार करने से संपूर्ण अलंकार स्पष्ट रीतिसे खुल जाता है ।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि
नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तास्मि-
न्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पि-
ताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
ऋ. १ । १६४ । ४८

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शं-
कवः षष्टिश्च खीला अविचा-
चला ये ॥ अ ० १० । ८ । ४

बारह (प्रधयः) परिधि हैं, जिनका एक ही चक्र है, तीन (नभ्यानि) नाभी हैं, (कः) कौन (तत्) उस चक्रको (चिकेत) जानता है ? (तस्मिन्) उस चक्रमें (साकं) साथ साथ (त्रिशताः षष्टिः) तीन सौ साठ (शंकवः) खील (अर्पिताः) रखे हैं, जो ढीले नहीं हैं।

(१) एक चक्र, कालचक्र, संवत्सर (२) उसके तीन नाभी तीन काल हैं, गर्मी का समय, वृष्टिका समय और शतिका समय (३) बारह परिधि बारह महिने हैं, (४) तीनसौ साठ शंकु वर्षके तीन सौ साठ दिन हैं । इसप्रकार यह कालचक्र चल रहा है। इसी का वर्णन और देखिये—

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्व-
र्ति चक्रं परि द्यामृतस्य । आ
पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र स-
प्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ११
पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं
दिव आहुः परे अर्धे पुरीषि-
णम् । अथेमे अन्य उपरे
विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहु-
रर्पितम् ॥ १२ ॥ पंचारे चक्रे
परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भु-
वनानि विश्वा । तस्य नाक्ष-
स्तप्यते भूरिभारः सनादेव
न शीर्यते सनाभिः ॥ १३ ॥
ऋ. १।१६४अ०९।१४

(द्वादशारं) बारह आरों वाला एक चक्र (ऋतस्य द्यां) ऋतके द्युलोकके

चारों ओर (परि वर्वर्ति) घूमता है, परंतु (तत्) वह चक्र (नहि जराय) क्षीण नहीं होता है। हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (सप्त शतानि विंशतिः) सातसौ वीस (मिथुनासः पुत्राः) जुडे हुए बालक उसमें (आ तस्थुः) रहे हैं।

(पंचपादं) पांच पांववाले (द्वादशाकृतिं) बारह आकृतियोंसे युक्त (दिवः पितरं) द्युलोक के पिताको (परे अर्धे पुरीषिणं) दूसरे अर्ध भागमें जल उत्पन्न करनेवाला (आहुः) कहते हैं। (इमे अन्ये) ये दूसरे विद्वान (आहुः) कहते है कि वह (सप्त चक्रे) सात चक्रोंसें युक्त (षडरे) छह आरोंवाले रथमें (अर्पितं) रहता है।

(विश्वा भुवनानि) संपूर्ण भुवन (तास्मिन् परिवर्तमाने) उस घूमनेवाले (पंचारे चक्रे) पांच आरोंवाले चक्रमें (आतस्थुः) रहते हैं। (तस्य) उस चक्रका (भूरिभारः अक्षः) बहुत बोझ वाला अक्ष (न तप्यते) नहीं तप जाता (स नाभिः) नाभिके साथ वह (सनादेव) सनातन कालसे कार्य चलानेपर भी (न शीर्यते) क्षीण नहीं होता।

इस वर्णन के साथ निम्न लिखित मंत्र देखिये—

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।अ. ४।३५।४

(यस्मात्) जिससे (त्रिंशत् अराः) तीस आरोंवाले (मासाः) महिने निर्माण किये हैं, तथा जिससे (द्वादशारः) बारह आरोंवाला (संवत्सर)वर्ष बनाया है।

ये मंत्र हैं कि जो पूर्वोक्त रूपक का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इन मंत्रोंके पदों के संकेत ये हैं —

(१)द्वादशार, द्वादशाकृति = बारह महिने
(२)पंचार, पंचपाद = पांच ऋतु।
(३)षडर, षळर = छः ऋतु।
(४)सप्तार = सात ऋतु।
(५)त्रिंशदर = तीस दिन का एक मास
(६)सप्तशतानि विंशतिः मिथुनासःपुत्राः॥ सातसौ वीस जुडे हुए पुत्र। वर्ष के दिन ३६०, प्रतिदिन दिवस और रात्री ये दो जुडे पुत्र होते हैं, इस हिसाबसे वर्ष के ७२० होते हैं। ३६०×२ = ७२०।
(७) परे अर्धे पुरीषिन् = द्वितीय अर्ध में जलकी वृष्टि करने वाला वर्ष। वर्ष में छः मास वृष्टिके बिना और दूसरे छः मास वृष्टिके साथ होते है।

ये सब सांकेतिक शब्द देखनेसे पता लगता है, कि यह वर्णन संवत्सर का ही है। इस वर्णन के साथ पूर्वोक्त महाभारतकी कथाका "छह खूंटियों वाले चक्र " का वर्णन देखिये तो उसी समय पता लग जायगा, कि महाभारत का वर्णन इन वैदिक मंत्रोंके आधार से ही लिखा है। अथवा यों कहिये कि इन मंत्रोंका आशय सुबोध रीतिसे समझाने के उद्देश्यसे ही वह वर्णन वहां दिया

है। वेद मंत्रोंके शब्द ले ले करके ही उक्त श्लोक महाभारत में रचे गये हैं, इसका अनुभव पाठक ही करें। जो महाभारतके श्लोकों में आये हुए शब्द ऊपर दिये मंत्रों में नहीं हैं,वे इंद्र सूक्तों में अन्यत्र हैं, यहां विस्तार भय के कारण सब मंत्र देना उचित नहीं समझा है।

एक बात जो महाभारत में वर्णित है, परंतु वेद मंत्रोंमें हमारे देखनेमें नहीं आई, वह यह है कि " छः कुमार उस कालचक्रको घुमा रहे हैं। "संभवतः किसी स्थानपर यह बात वेद में होगी अथवा न होगी, परंतु हमने पारिश्रम करने पर-भी अभीतक पाई नहीं है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

"कुमार" शब्दका अर्थ साधारणतया बालक है। अग्नि भी उसका अर्थ होता है। (कुं पृथ्वीं आरयति) पृथ्वीके चलानेका हेतु जो है, उसको भी कुमार (कुं×आर) कहते हैं, और यही अर्थ यहां अभिप्रेत है। छः ऋतु ये संवत्सर के छः कुमार हैं, जो संवत्सर चक्रमें परिवर्तन करते हैं, यह बात अनुभव सिद्ध है।

इस रीतिसे हमने महाभारतके वर्णन की तुलना वेद के साथ की है अब इस वर्णन का स्पष्टीकरण जो स्वयं महाभा-रत में दिया है वह भी यहां देखिये –

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता
च ये च कृष्णाः सिताश्च तंत-
वस्ते रात्र्यहनी यदपि तच्चक्रं
द्वादशारं षड् वै कुमाराः
परिवर्तयन्ति तेऽपि षड्तवः
संवत्सरचक्रम् ॥ १६६ ॥ यः
पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः
सोऽग्निः०॥१६७॥महाभा.आ.३

धाता और विधाता ये दो स्त्रियां हैं, श्वेत और काले धागे दिन और रात्री का समय है, बारह आरों वाला चक्र जो छःकुमारोंद्वारा घुमाया जाता है वह सं-वत्सर चक्र है और घुमानेवाले छःऋतु हैं, जो पुरुष है वह पर्जन्य हैं ओर जो अश्व है वह अग्नि है।

इस कथामें कई अन्य बातें हैं जो यहां स्थलाभावसे नहीं दीं हैं, परंतु उनका विचार इन मंत्रोंके विचार से हो सकता है। इस महाभारतीय स्पष्टीकरणमें ऐसा कहा है कि "धाता और विधाता" ये दो स्त्रियां हैं, और मंत्रोंमें "उषा और नक्ता" ये दो स्त्रियां होने का वर्णन है। इस विषयमें यहां इतनाही कहना पर्याप्त है,कि "उषः काल और सायंकाल" का ही दूसरा नाम क्रमशः "धाता और विधाता" हैं। इन शब्दोंके अन्य अर्थ हैं, परंतु इस कथा प्रसंगमें ये ही इनके अर्थ हैं।

"धाता, विधाता"नामों के प्रयोगसे, कई कथाएं पुराणोंमें वर्णित हैं, उन कथाओंका मूल वेदमें " उषा और नक्ता" शब्दों के देखनेसे मिल सकता

हैं, यह लाभ इस ढंगसे की हुई तुलना से होता है।

परंतु कई पाठक यहां पूछगे कि इस प्रकार लिखे संवत्सर चक्रके वर्णनसे हमें क्या लाभ है? यह वर्णन वेद में हो अथवा किसी अन्य ग्रंथमें हो। प्रश्न ठीक है और इसीलिये इसका उत्तर यहां देना चाहिये।

यदि उक्त वर्णन केवल कालचक्रका ही है, तो काव्यरसास्वादको छोडकर कीसीभी प्रकारका अन्य लाभ उससे होना संभव नहीं है। परंतु वेद मंत्रकी बातों में विशेष गूढता रहती है, इसका अनुभव कई वार पाठकों को हो चुका है। वह गूढता अध्यात्म विषय की है। जो वर्णन इस समयतक बाह्य काल के विषयमें हम देख रहे थे, वही अब अंदर के प्राणचक्र के विषयमें देखनेसे वैदिक गूढ आशयका पता लग जायगा। देखिये, एक एक पूर्वोक्त तत्वका अध्यात्ममें संबंध कैसा है—

(१) ३६० शंकु=३६० खील=शरीर की ३६० हड्डियां। "अस्थीनि च ह वै त्रीणि शतानि षाष्टिश्च।" गर्भउप० ५॥ "षष्टिश्च ह वै त्रीणि शतानि पुरुषस्यास्थीनि।" शत० ब्रा० १०।५।४।१२॥ (मनुष्यके देह में ३६० हड्डियां हैं।)

(२) ७२० मिथुन पुत्र=(३६० दिन और ३६० रात्री मिलकर ७२० पुत्र होते हैं) ३६० हड्डियां ऊपर दिनोंके स्थान में बता दीं हैं। रात्रीके स्थानमें ३६० मज्जाकेंद्र समझ जाते है। "षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्य मज्जानः।" शत. ब्रा० १०।५।४।१२॥ हड्डियां और मज्जाकेंद्र दोनों मिलकर ७२० होते हैं। ३६०+३६०=७२०

(३) एक चक्र =मुख्य प्राणचक्र।

(४) छः कुमार=छह ऋतु। (१) जन्म (२) अस्तित्व, (३) वृद्धि (४) मध्यावस्था, (५) परिणतावस्था, (६) नाश ये मानवी जन्ममें छः अवस्थाएं ऋतु हैं।

(५) दो स्त्रियां=मति और प्रमति (बोध और प्रतिबोध। ज्ञान और विज्ञान)

(६) कृष्ण और श्वेत तंतु=अपान और प्राण (मारक और तारक शक्ति, जो शरीरमें कार्य कर रही है।

(७) पुरुष=पुरुष, चैतन्य। वैद्युतशक्ति जीवनाविद्युत्।

(८) अश्व=अग्नि। शरीरकी उष्णता, जो प्राणके श्वासोच्छ्वासके

कारण रहती है। (पूर्वोक्त उत्तंक का कथामें घोडेका मलद्वार फूंकनेसे गर्मी बढनेका वर्णन है) प्राणायामसे शरीरमें उष्णता बढ जाती है, यह अनुभव है।

(९) बारह परिधि=दस इंद्रियां, मन और आत्मिक तेज मिलकर बारह परिधि हैं। " मन एकादशं तेजो द्वादशं। " गर्भ उ. ५ ॥ "द्वादशार, द्वादशाकृति" आदि शब्दका भाव यही है।

(१०) तीन नाभि=उर, सिर और कंठ स्थानके तीन मुख्य केंद्र।

(११) पंचपाद =(पंचार चक्र) - पंच प्राणोंके केंद्र।

(१२) षडर = षट् चक्रनामक मज्जाकेन्द्र जो पृष्ठवंशमें हैं।

(१३) सप्तार = दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख। " सप्तर्षि " आदि शब्द इसीके वाचक हैं।

बाह्य वर्णन में और आंतरिक अध्यात्मके वर्णन में किस रीतिसे एक रूपता देखनी चाहिये, इस विषयमें शतपथ ब्राह्मण में स्थान स्थान पर अनेक संकेत हैं। उनके अनुसंधानसे उक्त स्पष्टीकरण दिया है। पाठक भी इसका अधिक विचार करें।

अध्यात्मका वर्णन अपने अंदर देखना होता है। पूर्वोक्त वर्णन इस ढंगसे अपने अंदर देखकर अपने अंदर का सामर्थ्य पहिले जानना और योगादि साधनोंद्वारा उसका अनुभव करना चाहिये।

इसीलिये वेद और उपनिषदोंमें स्थान स्थानमें अध्यात्म उपदेश दिया है।

अपने अंदर प्राणशक्ति किस प्रकार कार्य कर रही है, विषैले सर्प कौन हैं और उनका नाश किस प्रकार हो रहा है, यह सब विषय यहां देखना चाहिये। परंतु यह स्पष्टीकरण किसी अन्य लेखमें विस्तार से किया जायगा।

इस लेखमें महाभारत की कथा और उनका वेद मंत्रोंसे संबंध बताया है। आगे विचार करनेके लिये जो साधन यहां उपस्थित किये हैं, उनको लेकर यदि पाठक भी अधिक खोज करेंगे, तो बडा ही कार्य होसकता है।

अस्तु इस लेख मालामें क्रमशः यही विचार होता रहेगा।



ग्रंथ निरीक्षण ।

(१) गीतानुशीलन ।

[प्रकाशक -- श्री. पं गणेशचंद्र प्रामाणिक । गढा फाटक, जबलपुर]

" श्रीमद्भगवद्गीता " का नाम सब विद्वान जानते ही हैं । यद्यपि गीताग्रंथ अनेक हैं तथापि श्रीमद्भगवद्गीताका महत्व सर्वोपरि होने से " गीता " शब्दका उच्चार होते ही श्रीमद्भगवद्गीता का ही बोध होता है । तत्त्व ज्ञान की दृष्टिसे इस ग्रंथका महत्त्व अत्यधिक होने से अनेकानेक भारतीय विद्वानों ने इसपर भाष्य, टीका, टिप्पणी, भाषांतर, रूपांतर, आदि किये हैं । इतनाही नहीं परंतु भगवद्गीताका भाषांतर इस समयतक चालीस भाषाओं में हो चुका है । यूरोपके प्रमुख भाषाओं में इसका भाषांतर हुआ है, इस से इसकी लोकप्रियता स्पष्ट होती है ।

ऐसे जगमान्य ग्रंथ पर " मायानंदी " नामक एक टीका है । इस टीकाका प्रकाशन श्री. पं. गणेश चंद्र प्रामाणिक नामक एक विद्वान कर रहे हैं । इस के तीन खंड हमारे सन्मुख हैं । इनको पढनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुस्तक विचारवंत गीताभक्तोंको अवश्यही पढने योग्य है ।

तीन खंडोंमें धर्मका मूल, समाज का तत्त्व, वर्णधर्म समाजसेवा, समाज नियामक शक्ति, समाजसेवा की विस्मृतिसे अधर्म, वर्तमान सभ्य समाजों की दशा, भारतीय जाति, पांच हजार वर्ष पूर्वके भारतीय आर्योंके धर्मविचार इतने लेख आचुके हैं । प्रत्येक शीर्षक से लेख का महत्व ज्ञात हो सकता है । ये सब लेख विशेष योग्यतासे लिखे गये हैं इस लिये जो पढेंगे उनको नवीन विचार मिल सकते हैं ।

इसलिये जो सज्जन गीतासे प्रेम रखते हैं वे इस पुस्तक के ग्राहक बनें और प्रकाशक का उत्साह बढावें ।

संपादक --- वैदिक धर्म ।

---

(२) योग प्रचारक--

संपादक-- श्री. स्वामी अभयानंद सरस्वती योग मंडल, काशी, वार्षिक मूल्य २)

योगविषयक प्राचीन और अर्वाचीन बडेबडे विज्ञानों और शास्त्रोंकी संमतियोंका दिग्दर्शन यह करायेगा । योग साधन में रुचि रखनेवाले महाशय इसके ग्राहक बनें ।

(३) "प्रणवीर " तिलक अंक--

"प्रणवीर " यह नागपुर से निकलने वाला-अर्ध साप्ताहिक है । इसके लेख राष्ट्रीय विचारोंसे परिपूर्ण और ओजस्वी होते हैं । कागज छपाई आदि सब उत्तम रहती ही है । इस सर्वांग सुंदर पत्रका यह "तिलकांक " इतना अच्छा है कि, उसको एकवार हाथमें लिया तो हाथमें से छोडना कठिन होता है । भगवान् तिलक के चरित्रका सार पाठक इसमें देख सकते हैं । यह आदर्श अंक घर घरमें पहुंचना चाहिये । (वार्षिक मूल्य ६ रु)इस पत्रका " प्रताप अंक " भी

सीप्रकार शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है ।

(३) शंकर -- संपादक -- श्री लक्ष्मीनारायण शुक्ल, मुरादाबाद। वार्षिक मूल्य २॥) हिंदुसंगठन, अच्छूतोद्धार, राजकीय और सामाजिक विविध विषयों का आंदोलन करनेके लिये यह पत्र प्रसिद्ध हो रहा है ।

(४) मांडूक्योपनिषद् का स्वरूप— लेखक और प्रकाशक श्री.पं. प्रिय रत्न विद्यार्थी जी आर्ष विद्यासदन काशी । पंडितजी का आर्षविद्याविषयक प्रेम सुप्रसिद्ध है । उनकी विद्वत्ता भी असाधारण है । उसका परिचय पाठकों को इस पुस्तक के पठनसे हो सकता है ।

(५) वेदमें वैद्यक—

लेखक-- स्वर्गीय ला. राधा वल्लभ जी वैद्यराज. विजयगढ (अलीगढ)मू≋) इस पुस्तकमें वेदमें औषधि, रोगवर्णन, जलवर्णन, वर्षावर्णन शारिरिक, अश्विनी कुमार के विचित्र कार्य इतने विषय वेदके मंत्रोंके प्रमाणसे दिये हैं । पुस्तक उपयोगी है ।

(६) वैदिक तत्त्व दार्शियोंके विचारने योग्य " वैदिक सिद्धान्त " —(लेखक— म. राधाकृष्ण कायस्थ, बनबटागंज, मुरादाबाद) यह पुस्तक लेखक महोदयजीके पास विनामूल्य मिलती है । इस में लेखक ने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि सूर्यही उपास्य देव है और वेदमें सूर्यकी उपासना कही है । कई मास पूर्व लेखकने संपादक " वैदिक धर्म " के पास पत्रद्वारा अपनी कल्पना रखी थी, पहिले पत्र के उत्तरमें संपादक ने अपना मतभेद स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया था, और बताया था कि वेद मंत्रोंका तात्पर्य एक ईश्वर उपासना और वही परमात्म उपासनामें ही है परंतु लेखक महोदय बारबार बडे बडे लंबे पत्रों में कई आदित्यसूक्त के मंत्र पेशकर लिखने लगे कि यह "मंत्र" सूर्य नारायण की ही उपासना बताते हैं । इत्यादि । इस प्रकारके वैयक्तिक शंकाओंका पूर्ण उत्तर देनेके लिये जितना समय चाहिये उतना संपादक के पास नहीं था । इस लिये लिखा गया था कि " आप अपना लेख पुस्तक रूपसे मुद्रित करके जनताके सामने रखिये, विद्वज्जन उचित निश्चय करेंगे।" पश्चात् लेखकने अपने लेख वैदिक धर्म में मुद्रित करनेकी प्रेरणा की, मूल विचार में मतभेद होनेके कारण वैसा करना संपादकने योग्य नहीं समझा। यह इसलिये लिखा है कि संपादकके कई पत्रोंका हवाला इस निबंधमें लेखक महोदय जीने किया है । उन पत्रोंका संबंध पाठकोंके ध्यानमें आजाय । अब म. राधा कृष्णजी की कल्पना पुस्तक रूपसे पाठकों के सन्मुख है, विद्वज्जन इसका निष्पक्षपातसे विचार करें और उचित निश्चयपर पहुंच जांय । हम म. राधाकृष्णजी का इस लिये धन्यवाद करते हैं कि अपना विचार किसी की पर्वाह न करते हुए स्पष्टशब्दोंमें उन्होंने जनताके सामने रखा है । समय मिलनेपर इनके हरएक विचार की विशेष समालोचना करनेका विचार है ।

दयानन्द जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में पं० अभय द्वारा संगृहीत.

वैदिक उपदेश माला ।

(७)

देश भक्ति ।



माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।

अथर्व. १२।१।१२

ऋषि दयानन्द के जीवनसे और वेदके उपदेश के अनुसार जिस देशभक्ति के गुणका मैं इस महिने के लिये उल्लेख करना चाहता हूं, वह ऐसा गुण है । जिसकी कि इस देश के (भारत वर्षके) लोगों में विशेष कमी है इस लिये जैसे कि प्रत्येक अन्य वैदिक धर्म के अंगमें आर्यसामाजिक पुरुषों को अग्रणी होना चाहिये। वैसे ही इस देशभक्ति के अत्यावश्यक गुण के विस्तार में भी आर्यसमाजी भारतवासियों को विशेषतया पथ प्रदर्शक का काम करना चाहिये। यदि हम इस बात को समझेंगे तो हममें प्रत्येक व्यक्ति अपने में देशभक्ति का गुण लानेका शीघ्र प्रबल यत्न करेगा ।

यह लिखने की जरूरत नहीं कि यूं कि अभीतक आर्यसमाज भारतदेश तक ही परिमित है और इस देश के सभी लोगोंने अभीतक देश-भक्ति को अच्छी तरह नहीं सीखा, है अतः स्वभावतः मैं इस लेख में भारत देश की भक्ति का वर्णन करूंगा । इस से पाठक यही समझें कि मैं यह लेख भारतवासी वैदिकधर्मियों को दृष्टि में रखकर लिख रहा हूं; यद्यपि सामान्य तया कहा जा सकता है कि अन्यदेशों में उत्पन्न होने वाले वैदिक धर्मियों को भी इन्हीं वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार अपनी देशमाता की सेवा करनी चाहिये और इस महान् धर्म का पालन करते हुए सामाजिक सुखसंपत्ति बढाकर वैयक्तिक सुखसंपत्ति भी पाकर कृतकृत्य होना चाहिये ।

हम में देशभक्ति की कमी क्यों है? इस का कारण यही समझ में आता है कि हमने अपने हृदय को फैलाया नहीं है, अपनी दृष्टि को विस्तृत नहीं किया है । मैं चाहा करता हूं कि हरएक भारतवासी अपने विशाल घर को देखे और वहां अपनी वेदोक्त माता का दर्शन करे। यदि मैं आपसे आपका घर पूछूं तो शायद आप अपने छोटेसे चार दिवारी से घिरे हुवे घर की तरफ इशारा करेंगे । और अपने

दोचार भाई बहनों की जननी को माता कह कर बतलायें गे परन्तु हमें इस से ऊपर उठना है और उठ कर जिस अपने विशाल घरकी वन्दनीया माता को देखना है वह कुछ और है। इस के लिये अपने हृदय को दूरतक विस्तृत कीजिये, दिल को खोल दीजिये। यदि आप इस असली माताको देखना चाहते हैं तो ऐसा ही करना होगा। तब आप देखें गे कि हमारा विस्तृत घर वह है जो कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कामरान तक फैला हुआ है, जिस में कि पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बंगाल मद्रासादि प्रान्त ऐसे हैं, जैसे कि एक घरके कई कमरे होते हैं। इस घरमें दोचार नहीं किन्तु ३० करोड भाई बहने सब रहें हैं। क्या आपने अब अपनी माता को देखा? इस ३० करोड हिन्दु मुसल्मान सिक्ख व ईसाई आदि भाई बहनों की जननी अपनी वृद्धा माता को पहचाना? वह यह माता है जिस की कि सेवा के लिये यदि जरूरत हो तो हमें अपनी दो चार भाई बहनों की माता को त्याग देना चाहिये और अपने क्षुद्र घरका बलिदान कर देना चाहिये। यह वह माता है जिसे अभीतक न पहचानने और अतएव उसकी सेवा तत्पर न होने के कारण हम अनगिनत दुःख और विपद उठा रहे हैं और दुनियामें महापतित दुःखागार बने हुए हैं और जिसकी एक मात्र सेवासे ही फिर हमारा उद्धार हो सकता है। यही सेवा किये जाने योग्य और वन्दना किये जाने के योग्य हमारी माता है। " वन्दे मातरम् " की पावित्र ध्वनि उठाकर देशभक्त लोग इसी माता को नमस्कार करते हैं। आइये वैदिक धर्मी बन्धुगण! हम इस माताके आगे सिर झुकायें और वेदके शब्दोंमें अनुभव करें ---

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।

अ. १२।१।१२

'यह मातृभूमि मेरी माता है और मैं इस विस्तृत पृथिवीका पुत्र हूं।' यह अथर्ववेद के प्रसिद्ध पृथिवीसूक्त का एक वाक्य है, जो कि इतना स्पष्ट है कि एक संस्कृत न जानने वाला भी इसका अर्थ समझ सकता है। इस सूक्तमें मातृभूमि विषयक बडा ज्ञान लिखा हुआ है परन्तु हम तो यदि केवल इस एक वेदवाक्य को ही अपनालें और इस से यह समझ जावें कि यह भूमि हमारी माता है और हम सब इसके पुत्र हैं तो हम कुछके कुछ बन जायें। हर एक भारतवासी को अपना भाई समझने लगें। जैसे कि अपने माता पिता गुरु परमात्मा आदिके प्रति हमारे कर्तव्य हैं वैसे ही इस देशमाता के प्रति भी अपने आवश्यक कर्तव्यों को समझने लगें, और इसकी सेवाके लिये अपना सब कुछ अर्पण करने को भी तैयार हो जायें। तब हमें समझमें आवे कि तिलक महाराज जैसे हमारे दिवंगत भाई किस की सेवा में अपना जीवन अर्पण कर गये। और गांधिजी जैसे हमारे वर्तमान भाई किस पवित्र काम के लिये हमें बुला रहे हैं।

माता की दुःखित दशा ही इन हमारे माननीय भाईयों को क्षणभर भी चैन नहीं लेने देती जरा इस अपनी जननी की दशा अपनी आंख से देखो जिस माता के पुत्र ही अपनी मां

को न जानते हों उस की कैसी दशा होगी ? भगवान् ही उसका मालिक है। अन्य सब देशवासी अपनी देशमाता को तो जानते हैं, इसी लिये अन्य त्रुटियों के होते हुवे भी वे सुखी हैं। हम क्या करें! हमारी माताके सुपुत्र तिलक, गोखले, दादाभाई आदि हमें मार्ग दिखाने का यत्न करते हुए गुजर गये। इस समय भी माता का ऐसा लाल विद्यमान है जिस का कि नाम जब तक यह जगत है अमर रहेगा। परन्तु तो भी हमें सफलता क्यों नहीं मिली। इसका कारण यही है कि हममें से अभी बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने अपनी माता को नहीं समझा है। हमने मुखसे 'वन्दे मातरम्' की काफी चिल्लाहट मचाई है पर दिलसे उस माता की वन्दना नहीं की हैं। नहीं तो हममें इतनी फूट कभी नहीं रह सकती थी। आइये! आज से हम अपनी माता को अपने दिल में बिठा लें इस के सामने अपने अन्य सब छोटे छोटे स्वार्थों को त्याग दें और मिल कर राष्ट्रीय आज्ञा के पालन करने में लग जाये तब देखेंगे कि तीस कोटी की जननी को क्या संकट रह सहता है।

परन्तु इस मातृसेवा के कार्य में सब से अधिक कर्तव्य आर्यसमाज का है। क्योंकि आज से बहुत पहले एक ऋषिने अपनी इस माता की दुःखावस्था देखी थी और फलतः आर्य समाजको जन्म दिया था। उसे उस गुलामी के पूरे राज्य के जमाने में भी अपने चक्रवर्ती राज्य की याद आया करती थी। उसने देखा क्या कि मां के न केवल हाथ बंधे हुवे हैं, न केवल उसके मुख में कपडा घुसा हुआ है परन्तु उसकी छाती पर शत्रु पांव रक्खे खडा है, "यह देश विदेशों से पादाक्रान्त हो रहा है" उसने माताके बन्धन छुडाने का मौलिक उपाय करनेके लिये इस संस्थाकी स्थापना की थी ऐसा हम आज कह सकते हैं। उन का पूरा उद्देश्य तो माता को बन्धन से छूडाकर उसे स्वतंत्र कर उसकी दुनियामें प्रतिष्ठा स्थापित करना और उसके पास उसके पुराने ऋषि मुनियों से संचित जो **वैदिक धर्म का खजाना** है उसे दुनिया को देकर शान्ति फैलाना था। पर हमने अब तक क्या किया है! अभीतक तो माता को बन्धन से भी मुक्त नहीं किया है। बन्धन से मुक्त ही नहीं, बहुतों ने तो अभी उसके दर्शन भी नहीं किये हैं। वैदिक धर्मियों के सामने कितना भारी काम है। हम अभीतक चाहे कहीं अपना मन भटका रहे हों पर समय आगया है, कि हमें मातृसेवा के लिये अपना पूरा ध्यान देना होगा। यह हमारा पहला कार्य है।

इस लिये इस महीने माताके दर्शन अवश्य कर लीजिये।

उसकी दुखित दशा को देखकर अपने कर्तव्य निश्चित कर लीजिये। जरा देखिये कि यदि माता स्वाधीन होती तो भी उस की सेवा शुश्रूषा की सतत आवश्यकता थी, परन्तु अब जब कि उस की यह हालत है तब तो हम अन्य सब काम छोड कर इसमें लगना चाहिये। माता के प्रति अपने कर्तव्यों को हम पूरा नहीं कर रहे हैं इसी कारण हम इतने विपद्ग्रस्त हैं।

यह आप विचारेंगे तो पता लगेगा कि हमारा इस माताके प्रति कितना भारी कर्तव्य है। इस का विना उद्धार किये सचमुच हमारे सब काम रुके पड़े हैं।

माता की मूर्ति यदि आपको दिखाई दे गई है तो इसे बार बार विचार कर हृदय में स्थिर कर लीजिये। फिर जब कभी विदेशी वस्त्र पहनने का या कोई अन्य राष्ट्रीय पाप करने का प्रलोभन उपस्थित हो तब जरा इस माता का स्मरण कर लिया कीजिये। यदि कभी माता के लिये धन देने, मन देने, या तन तक देने में हिच किचाहट हो तब आचार्य दयानन्द के यह शब्द कानों में गूंजने दिया कीजिये कि "माता की छातीपर शत्रु पैर रखे हुये हैं।" और बातों का क्या कहना है तब तो मरना ही आप को बडा आसान प्रतीत होगा। स्वदेशी वस्त्र पहनना या चर्खे के लिये समय निकालने की तो शिकायत रह ही नहीं सकती, तब तो आप आसानी से ऐसे ऐसे घोर तप भी करलेंगे कि सब दुनिया देखकर चकित होगी। बस केवल एक बार माता को देखने की देर है।

योग (ध्यान योग) का आसन।

(लेखक — श्री० पं० प्रिय रत्न विद्यार्थी)



इससे पूर्व मैनें आसन तीन प्रकार के अर्थात् व्यायाम सम्बन्धी आसन, चिकित्सा सम्बन्धी आसन और योग सम्बन्धी आसन हैं, ऐसा कहा था; तथा व्यायाम और चिकित्सा सम्बन्धी आसनों के उदाहरणादि का स्पष्टीकरण भी उसी लेख में कर दिया था। अब इस प्रस्तुत लेख में योग सम्बधी आसन के विषय में लिखना है, जो पूर्वोक्त दोनों आसनों से भिन्न है, जिसका परिज्ञान योग की परिभाषा से ही हो सक्ता है, एवं इस योगासन का किसी अन्य समय पर सन्मुख रखने का भी इसी लेख में संकल्प किया था, जिसको अब सु- अवसर समझकर समर्पित करता हूं, उक्त आसन का प्रकार पातंजल योगके निम्न दो सूत्रों में निरूपण है वह यह कि:--

स्थिरसुखमासनम् ॥साधन० सू० ४६ ॥

सूत्रार्थ यह है, कि स्थिर सुख जिस में हो वह आसन अनुष्ठेय है, अर्थात् संसार में अनेक प्रकार के सुख हैं, कोई रूपसुख है, कोई गन्धसुख इत्यादि, पर यह सूत्र कहता है, कि आसन में "स्थिर सुख" होता है, जिस "स्थिर सुख को" दूसरे शब्दों में

'शान्त सुख" भी कहा जा सक्ता है, सो ऐसे आसन को किस विधिसे लगावें उस का विधान इस अग्रिम सूत्र में है:—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥

साधन. सू. ४७

अर्थात् बाहिर भीतर के अगों में प्रयत्न से शिथिलता का सम्पादन करना, शिथिलता में इतना प्रयत्न करना कि प्रयत्न से भी उपरान्त दशा हो जावे, जिसमें प्रयत्न की उपरान्ति (अनुष्ठान पूर्वक निःशेषता)हो जावे, अर्थात सम्पूर्ण शक्ति को ढिला करने में लगाकर शक्ति से भी बाहिर हो जाना, तथा अनन्त जो आकाश है, उस में मानसिक वृत्तिसे शरीरांगों का समापन्न (संगम, मेल)करा देना अथार्त् शरीर व शरीरांगों का न होने जैसा या उनका भान न होना। बस इन दो क्रियाओं से योग (ध्यानयोग)का स्थिर सुखासन सिद्ध हो जावेगा, अन्यथा नहीं। इस ऐसी शान्त दशा में शारीरिक व्यापार का समाधान (निरोध) होजाता है। वास्तवमें" योग" कहते हैं समाधि को, जैसे अथ " योगानुशासनम्" सूत्र पर वेद व्यासने अपने भाष्य में कहा है, कि "योगः समाधिः" यहां पर कोई यह कहने लगे कि "समाधि" तो आठवां आन्तिम अंग है किन्तु योग आठों अंग समझे जाते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है कि, जो आन्तिम अङ्ग समाधि है, उस समाधि शब्द को इस व्यास के योग शब्द के अर्थ में नहीं रखा है, क्यों कि वह अन्तिम अंग "समाधि" एक दर्शनकार की तान्त्रिक संज्ञा हैं, जो सूत्र से निर्दिष्ट की है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

वि. । सूत्र ३ ॥

प्रत्युत वेद व्यास ने" योग" का अर्थ "समाधि" यौगिक व्युत्पत्ति से किया है, जो कि पाणिनि महर्षि के धातुपाठ से स्फुट होता है "युज समाधौ" अर्थात किसी प्रकार की व्युत्थानावस्था का समाधान (निरोध)करना ही समाधि हैं, सो इस व्युत्पत्ति से प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग का नाम योग है। इसलिये अहिंसा भी योग है, क्यों कि हिंसा रूप व्युत्थानावस्था का इस में समाधान होजाता है, एवं आसन से शरीरांगों के व्यापार का समाधान हो जाता है और प्राणायाम से प्राणव्यापार का, प्रत्याहार से इन्द्रियों के सम्प्रयोग का, धारणा से मनो व्यापार का, ध्यान से बुद्धिवृत्तिका, सम्प्रज्ञात (समाधि)से चित्त व्यापार का और असम्प्रज्ञात (समाधि) से अहंकार का समाधान होजाता है। इस लिये इस आन्तिम समाधान को निर्बीज समाधि किंवा केवल समाधि या पूर्ण समाधि भी कहते हैं। वास्तव में निर्विकल्प स्थिति का नाम ही समाधि है, जो एक साधारण अवस्था में शान्त बैठने को प्रारम्भ करके आसन आदि अंगोंके अनुष्ठान से उत्तरोत्तर शुद्ध लक्षणा में होती जाती है। अन्त में ध्यान के अनन्तर शुद्ध समाधि परिपूर्णता को प्राप्त हुई निर्बीज समाधि कहलाती है। एवं योगानुष्ठानी को जो ब्रह्माकार वृत्ति से समाधि करना चाहता है उसको पातञ्जल योगका आश्रय लेना अत्यावश्यक और अनिवार्य है। इतिशम् ॥

प्रेम ।

(लेखक—श्री० लालचंदजी)

प्रेम और आनंद का परस्पर संबंध है। प्रेमी को दुःख नहीं होता। प्रेम एक अद्भुत रसायन है। प्रेमी का हृदय विशाल और चित्त साहसी होता है। प्रेमी कभी निंदा नहीं करते। प्रेमी आत्मपरीक्षक होते हैं। प्रेम में सत्य है, पवित्रता है, लगन है, व्याकुलता है। प्रेम का अंत नहीं, प्रेम की सीमा नहीं। प्रेम मौज है। प्रेमी का बंधन मोक्ष के निमित्त है। प्रेमी प्रेम बंधन में जो आनंद अनुभव करता है, वह एक त्यागी त्याग में नहीं करता। प्रेम में त्याग भी है, प्रेम स्वार्थ--हीन है। प्रेम में स्वार्थ त्याग है। स्वार्थी प्रेमी नहीं हो सकता, प्रेमी के लिये स्वार्थ त्याग आवश्यक है, किन्तु केवल त्यागी प्रेमी नहीं हो सक्ता। प्रेम बंधन त्याग से कहीं उच्च है। प्रेम बंधन लगाव नहीं, फंसाव नहीं, वह एक आत्मा का दूसरी आत्मा से मेल है। प्रेम: एकता है, सरलता है, सरसता है। सहृदय ही प्रेमी हो सक्ता है। प्रेम में संकीर्णता नहीं, विकाश है। प्रेम में सदैव स्थिरता है, उच्चता है, नित्य नवजीवन है। प्रेम में मंगल है। प्रेम का मार्ग सुगम है, सीधा है, पर उसे कुटिलता और मोह ने दुर्गम बना रक्खा है।

संसार मोह को प्रेम मान बैठा है। ममता को प्रेम कहा जाता है। किन्तु सत्य तो है यह, कि मोह प्रिय है, परन्तु प्रेम हित करहै। प्रेम से जीवन की वृद्धि होती है, मोह से जीवन का ऱ्हास होता है। प्रेम से तेज बढता है, ज्ञान की वृद्धि होती है, मोह से बुद्धि चंचल होती है, और ज्ञान की कमी होती है। जिस समय मैं किसी से ममता करता हूं, तो मैं अपने पात्र से स्वार्थ वश प्रीति करता हूं; मैं उसे बनाता हूं अपने लिये। ममता में ममत्वभाव स्पष्ट है, प्रेम में त्याग भाव का विकाश है। ममता मनुष्य के हृदय को सकोडती है, प्रेम से हृदय की ग्रंथि खुल जाती है। जिन्हें प्रेम में आनंद आने लगता है, उनके लिये विश्व दुःख धाम नहीं रहकर स्वर्ग धाम हो जाता है। जब मनुष्य सबको अपने समान वा उस से भी अधिक सबको अपना ही रूप देखता है, तो फिर मोह और शोक नहीं रहता। जो मनुष्य को उच्च नहीं बनाता, वह प्रेम नहीं है। दो प्रेमियों के सच्चे प्रेम की परख यह है, कि परस्पर के प्रेम से वे दोनों उच्च हो रहे हैं, या नहीं? परस्पर के मिलने से दोनों का चारित्र निर्मल हो रहा या नहीं? उन की कर्तव्य परायणता बढ रही है या नहीं? प्रेम मनुष्य को देवता

बनाकर स्वर्गधाम के योग्य बनाता है। यदि मनुष्य प्रेमी कहाता हुआ भी कायर है, आलसी है, और विषयी है, तो तत्काल जान लो, कि वह मोह से पीडित, ममता का मारा हुआ है, उसपर तरस करो। प्रेमी तेजस्वी, वर्चस्वी और शक्ति संपन्न होता है।

प्रेमी का जीवन मधुमय होता है। उस के जीवन में सार्थकता, नित्यता और सरलता होती है। प्रमी के सहवास से हृदय शुद्ध होता है। प्रेमी के भाव में समता है। विषमता की वहां गंध भी नहीं।

प्रेमी का चिंतन, प्रेमी का मनन और प्रेमी का कर्म सभी प्रेम में सने रहते हैं। प्रेमी का दृष्टि कोण विलक्षण होता है। संसार उस के लिये आनंद धाम स्वर्ग धाम होता है। प्रेमी स्वयं प्रेम दान करता है प्रेमी ही परम योगी है। प्रेम अनन्य भक्त है। प्रेमी अपने प्रेम पात्र के शरीर का आस्तित्व भुलाकर आत्मा का आनंद अनुभव करता है।

प्रेभी को भय नहीं सताता, प्रेभी को मृत्यु त्रास नहीं देती। यह सामर्थ्य प्रेमी में ही है कि जिस मृत्यु को देख कर संसारीलोग रोते हैं, वह उसे आराध्य देवसे मिलन का एक मात्र उपाय समझता है। प्रेभी को जीवनमें तृप्ती है और मरण में आनंद है। प्रेभी ही यह कह सकता है——

जिस मरने से जग डरे
मेरे मन आनंद ।
मरनें ही से पाइये
पूरण परम आनंद ॥

क्या ही अच्छा हो यदि मनुष्य अपने जीवन को एक व्यापार का पुरजा न बनाकर संसार में जीवन के लिये जीवन दान करे। यदि मेरे जीवनसे लोगो में जीवन की प्राप्ति नहीं, तो वह समय का विताना है। थोडे ही मनुष्य जीवित हैं, अन्य कालचक्र में केवल समय विताते हैं और व्यापार की कल के पुरजे बने रहकर समय पाकर घिसकर छीन्न भिन्न होजाते हैं।

परमात्मा की इच्छा है कि मनुष्य के कर्म से परमात्मा का यश महान हो, क्यों कि वह **"अमृतपुत्र"** है। परामात्मा स्वयं उस कर्म से प्रसन्न होते हैं जो प्रेम और उत्साह पूर्वक किया जाता है। जीवन छोठे छोठे कर्मों का समुच्चय है प्रत्येक कर्म अपना विशेष महत्व रखता है। जो कर्म में प्रेम रत हो निरंतर लगे रहते हैं उनका कर्म ही उन्हें मौजका हेतु होता है। मैं वह कर्म करूंगा कि जो मैं परमपिता की साक्षी में अपना मुख उज्वल रखके कर सकता हूं, ऐसी धारणा मनुष्य को अपवित्रता से हटाकर पवित्रता की ओर, असत्य से हटाकर सत्य की ओर और मृत्यु से हटाकर अमृत की ओर ले जाती है। मैं प्रत्येक कार्य्य ऐसी दृढता और निश्चय से करूंगा, कि मानो उस एक कार्य के सिवा और मुझे कुछ करने का ही नही है। मैं इस कर्म को यथा शक्ति अधिक तम सुंदर और ठीक करूंगा, ऐसे शुभविचार जब प्रति दिन कर्म में परिणत होते हैं तो मनुष्य के कल्याण के परम सहायक होते हैं। प्रत्येक कर्तव्य को प्रेम से करने से नित नवीन उत्साह और चिरस्थायी बल प्राप्त होता

है । चंचलता, उद्वेग, निर्बलता और आतुरता के स्थान, योग्यता, सामर्थ और निश्चय अनुभव होते हैं । प्रेमी ही इस आनंद के भागी होते हैं, जो कर्तव्य के पश्चात् चित्त को अमृत मय रस से पूर्ण कर देता है । चाहे कुछ हो मैं निश्चय करता हूं, कि मैं कर्मयोग द्वारा पवित्रता प्राप्त करूंगा, ऐसा पावन विचार करने वाला सदैव परमात्मा की रक्षामें सुरक्षित रहता है, वह अपने प्रेमास्पद के दर्शन नित्य प्रत्येक स्थान में करता है । प्रेमी प्रम में उन्नत हुआ हुआ अपनें प्रेमास्पद से कुछ छिपाव नहीं रखता, उसके आनंद कंद हृद्दय विहरो हैं ,सदैव" हृदय में निवास करते हैं, जव उस की इच्छा होती है, हृदय उघाडा और अपने प्रेमास्पद के स्पष्ट दर्शन कर लिये ।

परमात्मा हमारा ज्ञान नहीं चाहते, मान नहीं चाहते,धन धान्य नहीं चाहते, केवल प्रेम चाहते हैं, भक्त की यह प्रार्थना होती है, कि हे मेरे परमात्मा! मेरे साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा कि मैं ने तेरी प्रजा के साथ किया है । यह शब्द वह ही उच्चारण कर सकता है, जिसके व्यवहार में कपट इर्षा, द्वेश, और मोह को स्थान नहीं, जिसके मन में सरलता का निवास है । विश्वप्रेम वह ही कर सकता है, कि जो अपने बन्धुओं से प्रेम करना जानता हो और बन्धुओंसे प्रेम वही करेगा, जिसे अपने हृदय का पता है,जिस के हृदय में स्वार्थता की गंध नहीं, जिस के चित्त में ममत्व का टेडे पन नहीं पाता, ऐसा साधु हो प्रेमी ही सकता है ।

हित करने से प्रेम की ज्योति का विकाश होता है । नित्य धारणा करो कि आज मैं अवश्य किसी का हित साधन करुंगा । यदि अन्य का हित करने का अवकाश न मिला तो मैं अवश्य अपना ही हित करुंगा । मैं अपना अथवा किसी और का अहित कदापि नहीं करुंगा, यदि विचार किया जाय, तो जितना यह सुगम दिखाई देता है उतना ही यदि हम जीवन पथ से च्युत हो गए हों, तो हित साधन एक अत्यंत कठिण समस्या हो जाती है और मोह वश चाहे हम प्रिय कार्य कर सकें, किंतु हित चिंतन और हित कार्य करने में समर्थ नहीं होते । यह भी प्रेम की कमी है । प्रेमी का विवेक सदैव उज्वल और स्पष्ट मार्ग पर प्रेमी को उत्साह सहित ले जाता है । परमात्मा के राज्य में हम फूल के समांन सुगंधियुक्त, अग्नि के समान तापयुक्त और प्रकाश के समान ज्योतियम बनें, जिस से कि जो कोई हमारे सहवास में आए , उसे हम से और हमें उससे अवश्य आनंद मिले । लाभ के लिये सभी लोग कार्य करते हैं, केवल प्रेमी ही आनंद के लिये कार्य्य करता है । प्रेमी होना और कर्मयोगी होना एक ही है ।

कर्म योगी वह ही हो सकता है जो सहृदय हो और प्रेमी हो और कर्म योग विना प्रेमी का जीवन ही प्रेम मय नहीं हो सकता । प्रेम जीवन है । प्रेम अमृत है, प्रेम आनंद है और क्या प्रेम सर्वस्व है, क्यों कि परमात्मा स्वयं प्रेममय है ॥

इसलिये हे ईश्वर! मुझे प्रेममय बनाओ।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर तुलनात्मक विचार ।

इस परिच्छेद में ईसाई और बौद्ध मत के ग्रन्थों की कर्तव्य शास्त्र विषयक कुछ उत्तम शिक्षाएं लेकर उन की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ संक्षेपसे तुलना करने का विचार है। बाइबल का पुराने और नये वसीयत नामे के नाम से दो मुख्य भाग हैं। इन में से पुराने वसीयत नामे में वस्तुतः कर्तव्यशास्त्र विषयक कोई उल्लेख योग्य महत्व पूर्ण शिक्षा नहीं पाई जाती। दस आज्ञाएं अन्यों की अपेक्षा कुछ उच्च कोटि की हैं उन का नीचे उल्लेख किया जाता है

(१) परमेश्वरके आगे और किसी को देवता न मानना,

(२) कोई मूर्ति वा प्रतिमा तू ने न बनाना न उनकी पूजा करना। '

(३) व्यर्थ परमेश्वर का नाम न लेना,

(४) साबाथ दिन को पवित्र रखना,

(५) तू ने किसी को न मारना,

(६) व्यभिचार न करना,

(७) चोरी न करना,

(८) अपने पडोसी के विरुद्ध साक्षि न देना,

(९) अपने माता पिता का सत्कार करना,

(१०)अपने पडोसी का घर, स्त्री, नौकर चाकर, बैल, गधा अथवा अन्य कोई भी चीज तू लेने की इच्छा न कर।

ये १० आज्ञाएं एक्झोडस नामक पुस्तक के २० वें अध्याय में पाई जाती हैं। इन आज्ञाओं में कोई अपूर्व अथवा विशेष महत्व पूर्ण बात नहीं है। इन में से ५, ६, ७, ८, और १० संख्या पर दी हुई आज्ञाएं क्रमशः अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, सत्य तथा अपरिग्रह का संकुचित रूप में उपदेश करने वाली हैं। यहां यद्यपि न मारने की सामान्य आज्ञा है तथापि लेविटिकस अ. ४. इत्यादि में साफ ही पापके प्रायश्चित्त के रुप में बकरी बकरे बैल इत्यादि की बलि चढाने का विधान है, इस लिये यहां वह व्यापक योगशास्त्र में वर्णित अहिंसा तत्व नहीं जिस की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास मुनि ने कहा "तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः"। वही बात ब्रह्मचर्यादि के विषय में भी सत्य है। अब गौतम बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को जो दस बुरी बातें छोडने का उपदेश किया था उसका यहां तुलनात्मक रीति से निर्देश किया जाता है

१ किसीको न मारो पर जीवनकेलिये आदररखो,

२ चोरी न करो न लूटो किन्तु प्रत्येक को अपने परिश्रम के फल का स्वामी बनने में सहायता दो,

३ अपवित्रता से दूर रह कर पवित्र जीवन व्यतीत करो,

४ असत्य न बोलो किन्तु सत्यवादी बनो। निर्भयता और प्रेम पूर्ण हृदय से विवेक पूर्वक सत्य बोलो,

५ दूसरों के दोष न देखते फिरो और न अपने साथियों के विषय में झूठी बातें घडते रहो,

६ शपथ न खाओ किन्तु प्रभाव जनक रूपसे उत्तम बात बोलो.

७ व्यर्थ बांत चीत में समय न गंवाओ किन्तु उपयोगी बात बोलो अन्यथा चुप रहो.

८ लोभ और ईर्ष्या न करो किन्तु दूसरों के उत्तम भाग्य पर खुशी मनाओ।

९ अपने हृदय को दुष्ट भावों से और घृणा से सर्वथा दूर रखो शत्रुओं से भी घृणा न करो किन्तु सब प्राणियों पर दया करो ।

१० अपने मन को अज्ञान से मुक्त करो और आवश्यक विषयों में सत्य जानने को उत्सुक रहो ताकि तुम सन्देह या अशुद्धि का शिकार न बनो।

(गोस्पेल ओफ् बुद्ध पृ. १०६)

पुराने वसीयत नामे में दिये हुए आदेशों की अपेक्षा ये आदेश बहुत महत्व पूर्ण हैं, इस में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। इन में अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का स्पष्ट उपदेश है। धम्मपद के,निम्न लिखित दो श्लोक भी इस विषय में उल्लेख योग्य हैं--

यो पाणमतिपातेति, मुसा वादं च भासति। लोके आदिन्नं आदियाति परदारं च गच्छति ॥ १२ ॥ सुरा मेरय पानं च, यो नरो अनु युञ्जति। इधेव मेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो ॥ १३

ध. प. मलवग्ग.

इन श्लोकों में कहा है कि जो पुरुष दूसरे प्राणी के प्राण लेता है, जो असत्य बोलता है, जो पराये धन को लेता है, जो परस्त्री गमन वा व्यभिचार करता है और जो मद्यपान करता है वह पुरुष इसी लोक में अपनी जड खोदता है अर्थात् अपना नाश कर डालता है।

नये वसीयत नामे में जीसस द्वारा प्रचारित कर्तव्य शास्त्र विषयक कई अत्युत्तम तत्वों का प्रतिपादन है। उन का आधार अधिक तः बौद्ध ग्रन्थों पर मालूम होता है। यहां हम ४, ५ मुख्य तत्त्वों को लेकर बौद्ध और ईसाई शिक्षाओं की तुलना करेंगे और फिर किसी परिणाम पर पहुंचेंगे।

(१) मैथ्यू अ. ७। २--५ जीसस की निम्न लिखित शिक्षा दी है "Why beholdest thou the mote that is in thy brother's eye but considerest not the beam that is in thine own eye?

"Thou hypocrite, first cast out the beam of thine own eye and then shalt thou see clearly to cast out the mote out of thy brother's eye."

इन दो वाक्यों में दूसरों के दोष देखने में अपने समय न नष्ट कर के पहले अपने दोष दूर करने चाहिये, फिर दूसरों की तरफ नजर डालनी चाहिये, यह भाव प्रगट किया गया है। इसी तत्व के प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में इन शब्दों में बताया गया है --

न परसं विलोमानि न परसं कता कतम्। अत्तनो व अवेक्खेय कतानि अकतानि च ॥ ७ ॥

पुष्फ वग्ग

इस का अर्थ यह है कि दूसरों के विपरीत आचरण और किये हुए अच्छे बुरे कर्मों की तरफ

नहीं देखना चाहिये किन्तु अपने कामों की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये। मल वग्ग के

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसम् ।

इत्यादि श्लोकों में भी दूसरों के दोष न देख कर बुद्धिमान् अपनेही दोषोंका पहले विचार करते हैं यह बात बताई गई है।

(२) मैं० ७। १२ में जीसस ने एक अत्युत्तम कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्त्व का प्रतिपादन किया है जिसे स्वर्ण नियम के नाम से कहा जाता हैं। वह नियम निम्न शब्दों में बताया गया हैं। —

"All things whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them ,"

अर्थात् तुम मनुष्यों से जैसा व्यवहार चाहते हो उन के साथ वैसा ही व्यवहार करो।

धम्म पद में इसी तत्त्व को इस प्रकार बताया गया है।

सब्बे तस्सान्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं। अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥

ध० प० दण्ड वग्ग

इस का अर्थ यह है कि सब पुरुष दण्ड से डरते हैं और सभी को जीवन प्रिय है इस लिये अपने समान सब को समझते हुए न प्राणियों को मारे और न मरवाए।

सुत्त निपात नालुक सुत्त में भी इसी भाव का यह श्लोक आया है —

यथा अहं तथा एते, यथा एते ताथ अहं। अत्तानं उपमां कत्वा, न हनेय्य न घातयं ॥

ना. सु ॥ २७॥

अर्थात् जैसे मैं हूं वैसे ही ये सब प्राणी हैं इस प्रकार सब को अपने जैसा समझ कर न किसी को मारे न मरवाए इत्यादि ॥

यहां इतना कह देना आवश्यक है कि ईसाई धर्म पुस्तक में इस अहिंसा तथा आत्मौपम्यदृष्टि को संकुचित रूप में ही स्वीकार किया गया है। पशुहिंसा का उस में स्पष्ट निषेध नहीं, जैसा कि बौद्ध ग्रंथमें दिये हुए श्लोकों में है।

महाभारत शान्ति पर्व २५८। १९, २१ में इसी तत्त्व को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया गया है यथा--

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः। न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् । यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

इन श्लोकों का भाव वही है जो ऊपर दिये हुए श्लोकों का है। दूसरों से तुम जैसा व्यवहार नहीं चाहते, दूसरों के साथ भी उस तरह का व्यवहार न करो इत्यादि। वेद में इस का मूल दिखाया जा चुका है।

(३) मै. ५। ४४ में जीसस ने निम्नलिखित शिक्षा अपने शिष्यों को दी है

" love your enemies, bless them that curse you, do good to them that hate you and pray for them which despitefully use you and persecute you . "

अर्थात् अपने शत्रुओं से प्रेम करो । जो तुम्हें शाप देवें उन को आशीर्वाद दो, जो तुम से घृणा करते हैं, उन के साथ भी भलाई करो, जो तुम्हारे पर अत्याचार करते हैं, उन के लिये भी प्रार्थना करो इस शिक्षा के अत्युत्तम होने में कोई सन्देह नहीं पर निम्न लिखित वाक्यों से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह शिक्षा कोई अपूर्व नहीं ।

धम्मपद कोधवग्ग में बुद्ध भगवान् ने कहा है –

(१) अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन आलिक वादिनम् ॥ ३ ॥

अर्थात् क्रोध को अक्रोध के द्वारा जीतना चाहिये, दुष्ट को साधु व्यवहार के द्वारा जीतना चाहिये, कृपण को दान के द्वारा और झूठ बोलने वाले को सत्य के द्वारा जीतना चाहिये ।

ब्राह्मण वग्गमें बुद्ध भगवान् ने इसी तत्वका प्रतिपादन करते हुए कहा है ।–

(२) अक्कोसं वधवन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति ।
खन्ति बलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

अर्थात् दूसरों के दिये हुए गाली गलौच आदि को जो अदुष्ट भाव से सहन करता है, क्षमा ही जिस का बल और सैन्य है उस को मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

(३) सुख वग्ग में निम्न लिखित आया है

सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥ १ ॥

जिस का अर्थ यह है कि शत्रुओं के साथ भी शत्रुता न करते हुए हम सब सदा सुख से जीवन व्यतीत करें' (ध.प. सुखवग्ग.)

(४) धम्म पदके प्रथम ही यमकवग्गमें इसी अवैर तत्व को बताते हुए कहा है–

नहि वेरेण वेराणि, सम्मन्तीध कुदाचन । अवेरेण तु सम्मन्ति, एस धम्मो सनातनो ॥

अर्थात वैर करनेसे कभी वैर शान्त नहीं होता किन्तु अवैर से ही शान्त होता है यही सनातन धर्म है ।

मनुस्मृति में ' **क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्** ॥ ' अ. ३ । ४८ ब्राह्मण सन्यासी के धर्म बताते हुए कहा है कि वह क्रोध करने वाले के भी प्रति क्रोध न करे गाली देने पर वह आशीर्वाद देवे ।

महाभारत उद्योग पर्व में –

अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् । जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम् ।

यह श्लोक आया है जिस का धम्म पद से उल्लेख किया जा चुका है । इस तरह उत्तम होने पर भी यह शिक्षा सर्वथा नवीन नहीं यह बात साफ है । शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इस विषय में वेद का जो मत है उस का आगे इसी अध्याय में उल्लेख किया जाएगा ।

(क्रमशः)

आनंद समाचार।



अथर्ववेद पूरा छप गया, शीघ्र मंगाईये।

अथर्ववेद का अर्थ अब तक यहां की किसी भाषा में नहीं था और संस्कृत में भी सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपासे इस वेदका हिन्दी संस्कृत में प्रामाणिक भाष्य पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ बीसों कांड, विषयसूची, मंत्र सूची, पदसूची, आदि सहित २३ भागों में पूरा छप गया है। मूल्य ४७॥) [डाक व्यय लगभग ४)] रेलवे से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें, बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेर है। अलग भाग यथासम्भव मिल सकेंगे। जिन पुराने ग्राहकों के पास पूरा भाष्य नहीं है,वे शेष भाष्य और नवीन ग्राहक पूरा भाष्य शीघ्र मंगालें। पुस्तक थोडे रह गये है, ऐसे बडे ग्रन्थ का फिर छपना कठिन ह।

हवन मंत्रा:-धर्मशिक्षा का उपकारी पुस्तक चारों वेदों के संगृहित मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्य गान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित संशोधित गुरुकुल आदिकों में प्रचालित। मूल्य ।-)

रुद्राध्यायः–प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६) [ब्रह्म निरूपक अर्थ]संस्कृत हिन्दी अंगरेजी में। मूल्य।=)

रुद्राध्यायः- मूल मात्र। मूल्य)॥ वा २) सैंकडा।

वेद विद्यायें –कांगडी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ आतिथि, सभा ब्रह्मचर्यादि का वर्णन। मू -)॥

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकर गंज, अलाहाबाद

दिया सलाई का धंदा।

हम दिया सलाई का धंदा सिखाते हैं। अनेक देसी लकडियों से दियासलाईयां बनाना, बक्स तैयार करना, ऊपर का मसाला लगाना आदि कार्य एक मास में पूर्णता से सिखाये जाते हैं। सिखलाने की फीस केवल ५०)पचास रु०है। हमारी रीतिसे दियासलाई का कारखाना ५००) से७००) रु० में भी शुरू किया जा सकता है और लाभ भी होता है।

मोहिनीराज मुले एम्० ए०
स्टेट लैबोरेटरी, औंध
(जि० सातारा)

* स्वाध्यायके ग्रंथ। *

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध।
मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)
(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वधर्म।
" एक ईश्वरकी उपासना। " मू. ॥)
(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण।
" सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)
(४) देवताविचार। मू. ≡)
(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)
(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)
(४) ब्रह्मचर्य। मू. १। ;
(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)
(६) योग के आसन। मू. २)
(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)
(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।)
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)
(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय। मू ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विषेशता। मू. ॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. -)
(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)
(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)
(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥=)
(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक ११ कार्तिक सं. १९८१
क्रमांक ५९ नवम्बर स. १९२४



वैदिकधर्म.

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

—:०:—

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ५
अंक ११

क्रमांक ५९

कार्तिक
सं. १९८१

नवंबर
स. १९२४



वैदिक धर्म

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

"मातृभूमिका मैं अधिष्ठाता ।"

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि
स्योनमस्तु । बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्॥अजीतोऽहतो
अक्षतोऽध्यष्ठां पथिवीमहम् ॥

अथर्व० १२।१।११

हे मातृभूमि! तेरी पहाडियां और हिमवान् पर्वत, तथा तेरा अरण्य हमारे लिये (स्योनं)सुखदायक होवे । (बभ्रुं) भरण पोषण करनेवाली, (कृष्णां) कृषीकरने योग्य, (रोहिणीं) उपजाऊ (विश्वरूपां) अनेक रंगरूपवाली (ध्रुवां पृथिवीं) स्थिर विस्तृत और (इंद्र--गुप्तां)वीरोंकेद्वारा रक्षित होने वाली (भूमिं) मातृ भूमिका (अहं) मैं (अ-जीतः) क्षीणता रहित, (अहतः) विना मारा गया (अक्षतः) विनाघायल होता हुआ (अध्यष्ठां) अधिष्ठाता होऊं ।

विवाहके समय राष्ट्रीयता का विचार ।

(१) सार्व भौमिक शिक्षा।

महाभारत की शिक्षा सार्व भौमिक है। इस ग्रंथसे सामाजिक, राजकीय, नैतिक, आदि सब बातोंकी शिक्षा मिल सकती है। मानवजातीका सामाजिक इतिहास ही इस ग्रंथमें मिलता है, यहां तक दूर दूर की बातें इस ग्रंथमें विद्यमान हैं, कि जो मध्य एशिया, युरोप अमरिका और उत्तर ध्रुव के विविध स्थानों के साथ संबंध रखतीं हैं। यह सब वर्णन अत्यंत मनोरंजक है और इस लेख माला में इसका क्रमशः उल्लेख होगा।

(२) लो० तिलकका मत ।

चिरस्मरणीय लोकमान्य महात्मा तिलक महोदयजी वारंवार कहा करते थे कि, "महाभारत ग्रंथ अत्यंत महत्व पूर्ण है। इस में धर्म राजा की सत्यनिष्ठा, कर्ण की उदारता, भीम का बाहुबल, अर्जुन का युद्ध कौशल इत्यादि अनेक अवर्णनीय गुणोंसे युक्त वीरोंका वर्णन है और इन वीरोंका चरित्र पठनीय तथा मननीय है। तथापि उन सबोंमें भीष्मपितामह का दृढ निश्चय और श्रीकृष्णचंद्र का राजनीति-पटुत्व विलक्षण महत्व रखता है। इन के सामने अन्यों के अन्यान्य गुण फीके हैं। इस लिये नव युवकों को मेरा यही कहना है कि वे महाभारतका अध्ययन अवश्य ही करें, और भीष्मपितामह का दृढ निश्चय और श्रीकृष्णचंद्रजीका राजनीति-पटुत्व अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करें।"

(तिलकस्मरण. पृ. १४७)

महात्मा तिलक महोदय जीने स्वयं कईवार महाभारत का अध्ययन किया था और प्रायः वे प्रतिदिन महाभारतका पाठ थोडा या अधिक किया करते थे। इस लिये उनके मित्र कहा करते हैं कि स्वयं लोकमान्य तिलक महोदय जीने महाभारत का पाठ वारंवार कर करके, अपने सामने भीष्मपितामह और श्रीकृष्णभगवान् ये ही दो आदर्श रखे थे, इसी कारण लोकमान्य जीका जीवनभी उनके समान ही बन गया !!

(३) मिश्रित विवाह ।

अस्तु इस प्रकार महाभारत की अपूर्वता सर्वमान्य है और विशेष कर यह ग्रंथ तरुणोंको अवश्यही पढना चाहिये। आज इस लेखमें तरुणोंके उपयोगी एक विचार को प्रस्तुत करना चाहते हैं। तरुण

विद्या प्राप्त करने और धन कमानेका प्रारंभ करनेके पश्चात स्त्रीप्राप्त करनेकी अर्थात् विवाह करनेकी इच्छा करते हैं। इस समय वे प्रायः बाह्य दिखावट की बातों पर ही ध्यान देते हैं, कई तरुण यूरोप और अमरिकामें जाकर वहां की तरुण युवतियोंके साथ भी अपना प्रेम संबंध जमाते हैं।

इस प्रकारके मिश्रविवाह आज कई हो गये हैं। कई विद्वान इन मिश्र विवाहों को बडा पसंद करते हैं, परंतु कई इनको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। हमारे प्राचीन ग्रंथ इस विषयमें क्या संमति देते हैं, यह इस लेखमें देखना है। रामायण महाभारत के जो ग्रंथकार थे, उनकी दृष्टि जितनी दूर पहुंचती थी, उतना दृष्टिका विस्तार हमारा नहीं है। इस लिये उक्त ग्रंथोंका इस विषयमें उपदेश क्या है, यह यहां देखेंगे।

(४) धर्मशास्त्र और काव्य।

उपदेश देखनेके समय यह बात अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये, कि भिन्न भिन्न ग्रंथोंसे उपदेश लेनेका प्रकार भिन्न भिन्न ही है। जैसा - (१) कानून के ग्रंथमें "चोरी मत कर" ऐसा लिखा नहीं होता, परंतु चोरी करने पर यह दंड होगा, ऐसा लिखा होता है। इससे बोध मिलता है, कि चोरी करना ठीक नहीं। (२) स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र में लिखा होता है कि "चोरी करना बडा पाप है।" इस से भी वहा बोध होता है। (३) काव्य ग्रंथोंमें किसी कथा प्रसंगसे बताया होता है कि चोरी करनेसे किसी व्यक्ति विशेष की कैसी हानि हुई। इससेभी बोध वही होता है। रामायण महाभारत ये दोनों बडे भारी काव्य ग्रंथ हैं, इस लिये काव्यग्रंथों से उपदेश लेनेकी विधिसे ही इनसे बोध लेना उचित है। विवाह करनेके समय राष्ट्रीयता का विचार न रखनेसे किस प्रकार हानि अर्थात् अपने राष्ट्रकी हानि होती है, यह बात उक्त काव्य ग्रंथोंमें लिखी है, यही बातें इस लेखमें बतानी हैं। इस से पूर्व वेदमंत्रोंका उपदेश इस विषयमें देखिये —

(५) राष्ट्रके साथ बढने का उपदेश।

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥
अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ २॥
त्वष्टा जायामजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥ अथर्व. ६।७८

उस (भूतेन हविषा) सुसंस्कृत अन्नसे यह पति पुनः(आ प्यायतां) बढे। (अस्मै) इस पतिको जो (जायां) पत्नी (आवाक्षुः) प्राप्त कराई है, (तां) उस पत्नीको (रसेन) रसों से, अन्नके रसोंसे (अभिवर्धतां) बढावे॥ (पयसा) दूधसे (अभिवर्धतां) बढे,

राष्ट्रके साथ (अभिवर्धतां) बढे, (इमौ) ये दोनों पति और पत्नी सहस्र प्रकारके धनों से (अनुपक्षितौ) भरपूर (स्तां)हों।

(त्वष्टा) ईश्वरने यह (जायां) स्त्री (अजनयत्) उत्पन्न की है, ईश्वरनेही तुझ पतिको यह पत्नी दी है । ईश्वरही सहस्रों शक्तियोंसे युक्त जीवन देकर आपकी दीर्घ आयु करे।

इस दंपतीसूक्तमें (राष्ट्रेण अभिवर्धतां) अपने राष्ट्र के साथ बढो, यह उपदेश दिया है।विवाहित होकर जो बढना है वह अपने राष्ट्रके साथ बढना है , अपनी जाती के साथ बढना है।न कि विवाहित होकर अपने राष्ट्रके विरुद्ध होकर बढनेका यत्न करना। पाठक इस सूक्तके इस उपदेशको अर्थात् अपने " राष्ट्रके साथ बढने " को पूर्णतासे ध्यानमें धरें । अब हम बतायेंगे, कि यह वैदिक उपदेश ध्यान में न रहनेसे क्या बनगया । देखिये वाल्मीकि रामायणकी साक्षी--

(६)रामायण की साक्षी।

(१) ग्रामणी नामक गंधर्वने अपनी पुत्री देववती सुकेश नामक राक्षसको दी, उससे आगे जाकर सुमाली और माली इन राक्षसोंकी उत्पत्ति होगई, जो लंकामें राज्य करने लगे । (रामायण उत्तर कां०स० ५)

(२) राक्षस अपने स्वभाव के अनुसार ही ऋषि और देवोंको सताने लगे। इन से त्रस्त होकर ऋषियोंने और देवोंने एक विचार मे विष्णुकी सहायता लेकर राक्षसों के साथ बडा युद्ध किया, और सब राक्षसों को पाताल में भगाया। (रामा. उ.कां.स० ६—८)

इस प्रकार बडा युद्ध करने के पश्चात् ही देवों और ऋषियोंको शांति प्राप्त हुई।

(७) प्राचीन जातियोंके स्थान।

"असुर्य लोक" वह है कि जिसको आज कल "असीरिया "कहते हैं,यहां असुर राक्षस, रक्षः आदि नामके लोग रहते थे। "सुरलोक" वह है कि जिसको आजकल "तिब्बत" कहते हैं,यही "त्रिविष्टप" है। इस देशमें देवोंका राज्य था। " गंधर्व लोक" वह है कि जो हिमालय की उतराई का स्थान है, यही अप्सराओं अर्थात् सुंदर स्त्रियोंका प्रदेश है ।

यहांसे तिब्बतमें तथा भारतमें अप्सराएं आती थीं और तिब्बतके देवों और भारतीय आर्यो के साथ संबंध करती थीं । हिमालय से नीचे जो सम प्रदेश है वही " आर्य लोक " है इसमें आर्यों की अथवा मनुष्योंकी वस्ती थी । और दक्षिण भारतमें "सर्पजाती" के लोग रहते थे ।

इस प्रकार कल्पना करनेसे मनुष्य लोक, गंधर्वलोक, सुरलोक, असुरलोक और सर्पजन इन देशोंकी कल्पना होगी। आज कलके स्थानों और प्राचीन स्थानों में थोडा भेद भी हुआ होगा, परंतु साधारण कल्पना आने और रामायण

महाभारत तथा अन्य पुराणोंकी कथाएं समझनेके लिये उक्त प्रकार की हुई कल्पना भी पर्याप्त हो जायगी।

असुर और राक्षस ये बलवान, क्रूर, मनुष्य खादक और मांसाहारी थे। सुर और देव ये बुद्धिमान, सभ्य और शाकाहारी थे, कमसे कम नरमांस भक्षक तो नहीं थे। और भारतीय मनुष्य मरियल, दुर्बल तथा राक्षसों और देवों से भी डरने वाले थे। इस सर्व साधारण नियम में कई अपवाद भी हैं, इसीलिये भारतीय सम्राट् देवासुर युद्धोंमें कईवार देवोंकी सहायता करते थे और राक्षसोंको भगा देते थे। परंतु अत्यंत स्थूल भाव देखनेके लिये पूर्वोक्त वर्णन पर्याप्त है।

राक्षस अपनी शक्तिके गर्वसे देवों और मनुष्योंको कोई चीज समझते ही नहीं थे। जिसप्रकार इस समय आफ्रीदी पठाण दुर्बल हिन्दुओंके साथ जैसा जबर्दस्तीका व्यवहार करते हैं, उससेभी भयंकर अत्याचार राक्षस देवों और आर्यों पर करते थे। यह उस समयकी राजकीय और सामाजिक परिस्थिति समझ लीजिये।

पहाडकी उतराई पर गंधर्व लोग भी बडे प्रबल थे, परंतु गाना, बजाना और नांचना करनेवाले ये "मौजी" लोग थे। तथापि चित्रसेन गंधर्व जैसे कई वीर इनमें भी बडे पराक्रमी थे।

(८) गंधर्वी के साथ असुर का विवाह।

अब पूर्वोक्त कथाकी बात ध्यान से देखिये। इस प्रकारके उपद्रवी सुकेश राक्षस को ग्रामणी गंधर्व अपनी पुत्री देता है, इस दम्पतीसे होनेवाली संतान लंकाराज्यकी "जन्मसे हकदार" बन गयी और लंका का राज्य प्राप्त होते ही इन्होंने भारतीय आर्यों और तत्वज्ञानी ऋषियों, हिमालय के गंधर्वों, और तिब्बत के देवोंको बहुतही सताया। अंतमें उक्त तीनों राष्ट्रोंकी जातियोंने मिलकर अपना संघ बनाकर लंका द्वीपके राक्षसों को परास्त किया और उनको पातालमें भगाया। इस समय लंकासे सब राक्षस (पाताल) अमरिका के मेक्सिको नामक देशमें भाग गये।

विदेशी अथवा दूसरे राष्ट्र के मनुष्यको अपनी लडकी विवाहित करनेसे इतने कष्ट होना संभव है। इसलिये विवाह के समय अपनी राष्ट्रीयता के साथ रहनेका अवश्यही यत्न करना चाहिये। अब दूसरी कथा सुनिये।—

(९)असुरकन्यासे विश्रवाका विवाह।

(२) पातालमें भगा हुआ सुमाली कुछ नीति द्वारा राज्य कमानेके उद्देश्यसे आर्यावर्त में बडे गुप्त रूपसे आया और अपने साथ अपनी पुत्री कैकसी को भी लाया। प्रयत्न करके उन्होंने अपनी पुत्रीका विवाह विश्रवाके साथ किया और विश्रवाने भी राष्ट्रीयताका

विचार न करते हुए उस राक्षस कन्याका स्वीकार किया। इसी कैकसीसे रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और बिभीषण उत्पन्न होगये।

इस समय लंकाका राज्य, कुबेर वैश्रवण, जो रावणका सापत्न भाई था, उसके आधीन था। जब रावण जवान हुआ, उस समय लंकाद्वीप के राज्यपर अपना अधिकार कह कर कुबेरके साथ विरोध करने लगा। राक्षसको राज्य प्राप्त होनेपर रावणके कारण आर्यावर्त, गंधर्व लोक और देवलोक को कितना कष्ट हुआ और उक्त सबोंने अपनी संघशक्तिसे किस प्रकार राक्षसोंको परास्त करके भारत की स्वाधीनता प्राप्त की यह बात रामायण में है जो सब जानते ही हैं।

इस कथामें राजकीय घटनाएं बहुत हुई हैं, परंतु यहां उनका विचार करने के लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही देखना है कि राक्षस कन्या के साथ विवाह करनेकी गलती विश्रवाने करनेके कारण जन्मसे ही राक्षसोंका अधिकार भारतीय प्रदेशपर हुआ और जनताको कुटिल राक्षस नीतिके कारण अत्यंत कष्ट हुआ।

पहिले उदाहरणमें भारतके ऊपरके गंधर्व लोकके किसी प्रतिष्ठित गंधर्वकन्यासे एक श्रेष्ठ राक्षस का विवाह हुआ, और इस दूसरे उदाहरण में राक्षसकन्याके साथ प्रतिष्ठित आर्य का विवाह हुआ। दोनों उदाहरणोंमें भारत को दास्य में जाकर अनंत क्लेश भोगने पडे और बडे युद्ध के साथ ही भारतमें स्वतंत्र स्वराज्य पुनः स्थापित हुआ।

देखिये साधारण विवाहमें राष्ट्रीयताका विचार न करनेके कारण कैसे और कितने बडे राष्ट्रीय कष्ट खडे होते हैं, इसी लिये वेदने कहा है कि विवाह करनेके समय "राष्ट्र के साथ बढो।" अब इसविषयमें महाभारत की साक्षी देखिये—

(१०) महाभारत की साक्षी।

आर्य पुरुषका सर्पकन्यासे विवाह।

(१) जरत्कारूका विवाह नहीं होता था, क्यों कि वह निर्धन था, इसलिये कोई मनुष्य उसको कन्या देना नहीं चाहता था। जब जरत्कारू संतान उत्पन्न करनेका अत्यंत अभिलाषी हुआ, तब कन्या प्राप्त करने के लिये इतस्ततः भ्रमण करने लगा!! पश्चात् इसका विवाह सर्पराज वासुकिकी बहिन के साथ हुआ। इससे "आस्तीक मुनि" की उत्पत्ति हो गई। सर्प जातीकी स्त्री और आर्यजातीका पुरुष इनका यह मिश्र विवाह है और इसकी मिश्र संतान "आस्तीक मुनि" है।

आर्यजाति उत्तर भारतमें और सर्पजाति दक्षिण भारतमें वसती थी। इन दोनों जातियोंमें बडा वैमनस्य था। यह वैमनस्य इतना बढ गयाथा, कि एक समय सर्पजातिके कई वीर संन्यासीके वेषमें फलपुष्पोंकी भेंट करनेके मिषसे सम्राट् परीक्षितके राज दरबारमें गये और शामके समय कपटसे

राजाका वध उन्होंने किया !!! इसके अनंतर राजाका वध करनेवाली सर्प जातीके संपूर्ण जनोंका नाश करनेका प्रण आर्य जातीने ठान लिया, इसी का नाम महाभारतमें "सर्पसत्र" है। इस सर्प सत्रमें सर्पजातीके लोगोंकी सर्वसाधारण कतल ही शुरू की गई, इसम छोटे बडे अनंत सर्प लोग नष्ट भ्रष्ट होगये । अंतमें आस्तीक मुनिकी माताके पास जाकर अन्य सर्पोंने कहा कि --

तद्वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम्। ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥

म० भा० आदि' अ० ५३ ।२६

वासुकि अपनी भगिनीसे बोला, कि- " हे बहिन ! अब मेरी और मेरे परिवारोंकी रक्षाके निमित वृद्ध संमत वेदनिपुण अपने बालक पुत्रसे कहो । " यह अपने भाईका भाषण श्रवण कर सर्पकी बहिन अपने पुत्र आस्तीक को बुलाकर बोली-

अयं स कालः संप्राप्तो भयान्मस्त्रातुमर्हसि। भ्रातरं चापि मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात् ॥ म.भा.आदि.अ.५४।१६

सर्पभगिनी अपने पुत्र आस्तीकसे बोली कि "हे पुत्र ! अब वह कठोर काल आ पहुंचा है,इसलिये तुम हमको भयसे बचाओ, मेरे भाइकी रक्षा करो " इसपर मातृस्नेह वश आस्तीक मुनिने उत्तर दिया-

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ॥ १९॥

भव स्वस्थमना नाग नाह ते विद्यते भयम् ॥

प्रयति[illegible] तथा राजन्यथा श्रेयो भविष्यात ॥ २० ॥

म०भा० आदि. अ. ५४

आस्तीक मुनि बोले – " हे सर्पराज वासुके ! म सच कहता हूं, कि तुमको मैं बचाऊंगा। हे राजन् तुम शांत चित्तसे स्वस्थ रहो। अब तुम्हे भय नहीं है, मैं ऐसा यत्न करूंगा कि जिससे तुम्हारा मंगल होगा। "

इसप्रकार मातासे और मातुलों से कहकर आस्तीक मुनि जनमेजय के सर्पयज्ञ में गये और राजासे लेकर संपूर्ण कार्यकर्ताओं की खूब प्रशंसा करने लगे!! स्तुतिसे राजा प्रसन्न हुआ और बोला कि"हे ब्राह्मण! जो चाहे सो मांग लो।"

वहां के कई कार्य कर्ता ओंने राजासे कहा कि अभी थोडे सर्पों का वध होना शेष है, इसलिये इस ब्राह्मणको मनमाना वर न देना। बहुधा ये ज्ञानी ब्राह्मण जानते ही होंगे,कि यह आस्तीक मुनि सर्पी और आर्य के संयोगसे जन्मी हुई मिश्र संतान है, संभवतः यह मुनि महाराजका स्तुतिपाठ करते करते राजासे वर लेकर अपनी माताकी जातीको बचायेंगे,और हमारा इतना बना बनाया कार्य निष्फल हो जायगा। और वैसाही अंतमें हुआ। राजाने उदार भावसे वर दिया और आस्तीक ने उस समय पिताकी जातिके आर्योंका हित

करनेक स्थानपर अपनी माताकी जातीके सर्पोंका हित किया!!!

यह इतिहास महाभारतमें पाठक देख सकते हैं । कवि का अलंकार हटानेसे यह इतिहासिक बात स्पष्ट नजर आती है। आर्य जातीको जैसा राक्षस जातीसे कष्ट होता था, उसी प्रकार सर्प जातीके लोगभी बहुत सताते थे। यह वैर इतना बढगया था कि, एक प्रतिष्ठित आर्य राजाका वध सर्प-जातीके "अराजक" युवकोंने राजमंदिर में मंत्रियों की उपस्थितिमें किया! उत्तंक जैसे सात्विक ब्रह्मचारीकोभी अत्यंत कष्ट दिया!! इसलिये सर्पजाती के कारण जैसे क्षत्रिय वैसे ही ब्राह्मण भी बडे क्लेशित हो गये थे। अंतमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंने मिलकर सर्प जातीका पूर्ण नाश करनेका निश्चय किया। यह सर्पजाती पर आर्यजातीका दिग्विजय था। युद्धमें सर्पजाती पूर्ण परास्त और आर्य करिब विजयी हुए थे। इतनेमें एक आस्तीक नामक युवक-जो सर्प स्त्री और आर्य पतिसे उत्पन्न हुआ था- उसने अपनी माताके मोहके कारण आर्योंके दिग्विजय में बाधा डाली और आर्योंके शत्रुओं को मदत की। यह घोर अनर्थ राष्ट्रीयताका विचार विवाह करनेके समय जरत्कारूके न करनेसे हुआथा। इसलिये वेद कहता है कि "पतिपत्नी राष्ट्रीयताके साथ उन्नत हों" और विवाहमें राष्ट्रीयताका विचार अवश्य हो। नहीं तो राष्ट्रके विविध प्रसंगोंमें किस समय कितनी हानि राष्ट्रको उठानी होगी इसका कोई ठिकाणा नहीं है।

माता का परिणाम संतान पर अत्यधिक होता है, पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव संतान पर होता है,इस लिये विवाह करनेके समय राष्ट्रीयताका विचार अवश्य ही होना चाहिये। इस विषयमें महाभारत में दिया हुआ एक उदाहरण यहां और देखिये---

(११)आर्यराजाका अप्सरासे गांधर्व विवाह ।

(२)राजा विश्वामित्र स्वर्गपद अर्थात स्वर्गका राज्य प्राप्त करनेकी अभिलाषासे बडा प्रयत्न कर रहाथा। आर्यावर्त के प्रतापी राजे तिब्बत के राजाओं पर हमला किया करते थे, और प्रसंग विशेषमें उनको सहायताभी करते थे। राजा विश्वामित्र मंत्रज्ञ और अस्त्रशस्त्रज्ञ होनेके कारण बडा प्रतापी था और यदि उनका कार्य सफल होजाता, तो स्वर्गपद पर अर्थात तिब्बत के राज्य पर आरूढ होना, उनके लिये कोई अशक्य बात नहीं थी।

जो आर्य सम्राट तिब्बतपर चढाई करनेकी तैयारी करतेथे, उनके ऊपर तिब्बतके राजा सबसे पहिले "स्त्री प्रयोग" करते थे!! प्राय हिमाचल की सुंदर अप्सरायें आर्यावर्तमें आकर आर्य राजाओं को मोहित कर उनको उस चढाईके कार्यसे परावृत्त करती थीं। इसी प्रकार देवराज इंद्र महाराजने राजा विश्वामित्रके ऊपर "स्त्रीप्रयोग" किया, अप्सरा मेनका इस

कार्यके लिये भेजी गइ। उसका सुंदर रूप देख कर विश्वामित्र अपने कार्यसे विमुख हो गया और वह उस अप्सराके साथ ही रमने लगा। देखिये साम्राज्य रक्षामें स्त्रियोंका महत्व कितना है। जापान और रूस के युद्ध के पूर्व इसीप्रकार जापानी युवतियां रूसमें जाकर रूसी सरदारोंकी पत्नियां बनकर रहीं थीं,और वहांसे गुप्त संदेश अपने जापानी युद्ध मंत्रीके पास भेजती थीं। इसी प्रकार फ्रांस और जर्मनी के युद्धके पूर्व कई जर्मनी स्त्रियें भिन्न भिन्न मिषसे फ्रांसमें आकर रहींथीं। इसी प्रकार तिब्बत के राजा लोग अपने राज्य संरक्षण के लिये भारतीय बलवान आर्यराजाओंके ऊपर "स्त्री प्रयोग" ही किया करतेथे। वीरके कठोर शस्त्रकी अपेक्षा स्त्रियोंका सुकोमल दिखावटी प्रेमका अस्त्र बडा ही प्रभाव शाली होता है यह बात हरएकके समझमें आसकती है,इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है। अस्तु। इस प्रकार राजा विश्वामित्र मेनकास्त्रसे पराजित हुआ और इस गांधर्व विवाहसे शकुंतला का जन्म हुआ। यह भी मिश्र संतान ही है, पिता आर्य और माता गंधर्वी, इस से यह मिश्रित संतान शकुंतला उत्पन्न हो गई। मिश्रसंततिमें समय समयपर माताका सौंदर्य विशेष उतरता है, विशेषकर बालिकामें तो अवश्यही उतरता है। अप्सरा शीत प्रदेशकी होनेके कारण गौरवर्ण थी आर्य राजाओंका व गन्नमी होता था। वह पिताका वर्ण स्त्री संतानमें न आकर माताका वर्ण शकुंतला में आनेके कारण शकुंतला गौरवर्णकी थी। अब इसका वृत्तांत देखिये —

(१२) आर्य राजाका मिश्रित कन्यासे विवाह।

(३) राजा दुष्यंत एक समय मृगया करते करते वनमें बहुत भ्रमण होनेके कारण अत्यंत थक गये और कुछ विश्राम लेनेकी इच्छासे कण्व ऋषिके आश्रममें गये। उस समय आचार्य कण्व कुछ कार्य के लिये वनमें गये थे और दोचार घंटोंमें वापस आनेवाले थे। इतने में वहां दुष्यंत पहुंचा। उद्यानमें आचार्यकी कन्यायें फुल वाडी को पानी दे रहीं थी अथवा कुछ कार्य कर रहींथीं। उन सब कन्याओंमे शकुंतला गौरवर्ण और रूपसम्पन्न होनेके कारण दुष्यंत राजाने शकुंतलाके साथ गांधर्व विवाह किया। विवाहका सब प्रयोजन सिद्ध होनेके पश्चात् आचार्य कण्वका दर्शन करनेका भी साहस राजा दुष्यंत को नहीं हुआ,क्यों कि उन्होंने अनुचित कार्य किया था। राजा इस प्रकार आश्रमसे चला गया।

पश्चात् कण्व आश्रममें आगये, उनको सब बात विदित हुई। तब उसने यही समझा कि "क्षत्रिय की लडकी क्षत्रिय के पास गयी, यह अच्छा ही हुआ।" क्यों कि अब कोई दूसरी बात बन नहीं सकती थी। पश्चात् शकुंतला प्रसूत होकर पुत्रवती होगई।

कुछ दिन होनेके पश्चात् कण्व ने शकुंतलाको राजाके पास भेजा । राजा बडा लज्जित होगया, लज्जासे मूढ होकर उसने शकुंतलाके साथ गांधर्व पद्धतिसे विवाहित होनेका इन्कार किया। यह शकुंतलाका सचमुच बडा अपमान हुआ इसमें कोई संदेह नहीं, अपमानके साथ साथ शकुंतला निर्दोषी होने परभी राजाने उनको " व्यभिचारिणी मेनका की पुत्री " कह कर धिक्कार किया !! इससे अत्यंत क्रोधित होकर शकुंतला ने जो भाषण किया, वह हरएक तरुण को ध्यानसे पढना चाहिये —

(१३) पतिको धमकी ।

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥ ८३ ॥
मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु-मेनकाम् ।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यंत तव जन्मनः ॥ ८४ ॥
क्षितावटासि राजेंद्र अंतरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरंतरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ८५ ॥
महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनु संयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥८६ ॥
विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ८८ ॥
अनृते चेत्प्रसंगस्ते श्रद्दधासि न चेत्स्वयम् ।
आत्मनो हंत गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ॥ १०९ ॥
त्वामृते चापि दुष्यंत शैलराजावतंसिकाम् ।
चतुरंतामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥ ११० ॥

म० भा० आदि. अ० ७४

शकुंतला बोली कि "हे राजन! पराया दोष सर्सोंके समान होने पर भी देख लेते हैं, पर अपना दोष बेलपतके समान बडा होनेपर भी नहीं देखते । हे दुष्यंत! मेनका देवोंकी प्रेमी है और देवगण मेनकाके प्रेमी हैं, सो आपके जन्मसे मेरा जन्म श्रेष्ठ है । देखिये, मेरु और सर्सों के समान हम दोनों में भेद है, आप धरती पर चलते हैं और मैं अंतरिक्षमें चलती हूं । मेरा प्रभाव कितना है देखिये; मैं महेन्द्र, कुबेर, यम और वरुण इसके मंदिरों में जा सकती हूं । कुरूप जन जबतक दर्पणमें अपना मुख नहीं देखता, तबतक औरोंसे अपनेको सुंदर समझता है, परजब दर्पण में अपना मुख बुरा देखता है, तब जानता है, कि औरोंसे अपना कितना प्रभेद है । अस्तु । अंतमें

इतनाही कहना है कि यदि मिथ्याही पर आपको प्रेम हो और उसमे आप मेरी सत्य बातकी परतीत न करें, तो मैं स्वयं चली जाती हूं; आपसे मेरे मिलनका कोई प्रयोजन नहीं है। हे दुष्यंत! आपके न लेनेसे भी मेरा यह पुत्र शैलराजसे अलंकृता इस पृथीका चारा समुद्रोंतक शासन करेगा।"

यह शकुंतला का भाषण विचार करने योग्य है। परराष्ट्र की और विशेषतः विजयी पर राष्ट्रकी पुत्री इसी प्रकार बोल सकती है। यदि शकुंतलाका भाषण आजकल की परिस्थितिमें बोला जाय तो निम्न प्रकार होसकता है--

यूरोप अमेरिकाकी गोरी तरूणी अपने काले पति के उपर क्रोधित होकर बोलती है कि — "ए काले आदमी! तू क्या समझता है? तू मुझे दोष लगाता है, परंतु तू अपना दोष देखता नहीं! मेरी माता ऐसे विजयी देशकी रहनेवाली और मेरी माताकी पहचान बडे बडे ओहदेदारोंके साथ है। इसलिये मैं जिस समय चाहे किसीभी ओहदेदार को मिल सकती हूं। बडे लाट और छोटे लाटसाहेबके घरों में भी मैं जा सकती हूं, तुझे तो वहां कोई पूछेगा भी नहीं। तूं पैदल चलता है, मन में आया तो मैं उनकी मोटार में भी जासकती हूं। तूं सर्सों के समान क्षुद्र है, मैं पहाडीके समान बडी हूं। तेरे में और मेरें मे यह अंतर है,देख। तू अपना काला मुख तो शीशे में देख और मेरा मुख कैसा है देख, तो तुझे पता लग जायगा कि तू कितना कुरूप है और मैं कैसी रमणी हूं।यदि तू मेरा कथन नहीं मानता, तो मैं इसी समय दूसरे स्थान पर चली जाती हूं। यह मत ख्याल कर कि तेरी क्षुद्र सहायता के विना मेरा गुजारा नहीं चलेगा। मेरा जाना आना बडे ओहदे दारों के पास सहज हो सकता है इस लिये मेरी आजीविका सुगमतासे हो सकती है। यह भी मत ख्याल कर कि तेरे सहारेके विना मेरा पुत्र अनाथ होगा, कदापि नहीं, वह "मेरा पुत्र" होनेके कारण उसका बडे ओहदेपर कार्य प्राप्त होना सुगम है। इस लिये यह खूब ध्यान में धर कि तेरा त्याग करनेसे मेरा कुछभी बिगडता नहीं परन्तु मैं तेरे साथ रहनेसे ही तेरा महत्व बढ सकता है।"

युरोप अमेरिका की तरुणियोंके साथ, अपनी राष्ट्रीयताका विचार छोडकर,विवाह करनेवाले यह शकुंतलाका भाषण वारंवार पढें। हमने कई झगडे, युरोपीयन पत्नी और हिंदी पति के बीचमें हुए,देखे हैं। उनकीभी भाषा इसी प्रकार होती थी। कई वार अंतमें डरकेमारे पतिको अपमान सहन करते हुए गोरी पत्नी का कहना मानना ही पडता था। दुष्यंत के बारेमें भी यही बात हुई, कुबेर आदि देवोंके नाम निकाल ते ही दुष्यंतनेभी शकुंतला की बात तत्काल मानली और अपनी पट्टराणी शकुंतला

को बनाई। अर्थात् पहिली राणीका-एक आर्य स्त्रीका-अधिकार छीनागया और दूसरे अनधिकारी स्त्रीको वह अधिकार दिया गया। इसका परिणाम यह हुवा कि राज्यका अधिकारी शकुंतला का बेटा हुवा न कि पहिली पट्टराणी का। यह अन्याय इस लिये हुआ कि शकुंतला मिश्र जातीकी पर-राष्ट्रीय स्त्रीसे जन्मी हुई थी, और समय आनेपर गंधर्व राजाओं के द्वारा दुष्यंत को भी डर सकती थी।

देखिये कैसे कैसे अनर्थ विजयी राष्ट्र की तरुणी के साथ विवाह करनेसे हो सकते हैं। जिस प्रकार शकुंतला ने कहा कि मैं बडे बडे देवोंके मंदिरोंमें जा सकती हूं, वही बात पूर्वोक्त आस्तीक मुनिकी थी। वह आर्य मुनि होनेके कारण जनमेजय के यज्ञ में विनारोकठोक जा सकता था, उसी प्रकार बडे बडे सर्पराजाओं के घरोंमें भी जा सकता था। आर्य जाती और सर्प जाती का वैर होने पर भी आस्तीक को कोई रोक नहीं सकता था। वह पिता के कारण आर्य था और माताके कारण सर्प था। इसी लिये सुगमतासे जनमेजय के यज्ञमें पहुंच कर उसने अपने मातुलोंका हित साधन किया और पिताकी जातिके लोगों के अहितका कारण बना !!!

(१४) भेद नीतिका साधन।

इस प्रकार के मिश्र विवाह करनेसे घरमें फूट भी हो सकती है क्योंकि पत्नी का मन स्वजातीके हित में होना स्वाभाविक है और उनके पीछे उनकी विजयी जाती होने से उनका बल जन्मसिद्ध ही अधिक होता है। परंतु पतिके पीछे कोई न होनेसे और सर्वदा वह "काला आदमी अथवा निगर" होनेके कारण सदा भयभीत ही रहता है। कई आर्य राजाओंके घरमें इस कारण फूट होनेका भी इतिहास हमारे ग्रंथों में विद्यमान है।

(१५) आर्य राजाका पारसी स्त्रीके साथ विवाह।

इस विषयमें यहां एकही उदाहरण देखिये दशरथ राजाकी धर्म पत्नियां कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी रामायणमें प्रसिद्ध हैं। युवराज रामचंद्रजी के राज्याभिषेकके समय कैकेयी राणीने कितना विघ्न किया था और उनके आग्रहके कारण रामचंद्रजीको चौदह वर्ष वनवास भोगना पडा यह इतिहास सुप्रसिद्ध है। यह कैकेयी भी भारतीय आर्य स्त्री नहीं थी। रावण की माता "कैकसी" दशरथ की स्त्री "कैकेयी" और आजकल के पारसीयों के नामों में "कैकश्रु" आदि नाम होते हैं—

(१) कैक – सी

(२) कैके -- यी

(३) कैक -- श्रु

इन नामोंके प्रारंभमें "कैक" ये अक्षर हैं, इन अक्षरों से नामोंका प्रारंभ केवल पारसी लोगोंकी भाषामें होता है। संस्कृत में इन नामों की कोई व्युत्पत्ति ही नहीं है। इस लिये स्पष्ट है कि, कैकेयी भारतीय आर्य

कन्या नहीं थी, परंतु इराणी असुरोपासकों की कैकेय देशमें जन्मी हुई कन्या थी। पारसी स्त्रियों के समान कैकेयी भी कौसल्यादि गन्नमी रंगवाली आर्य स्त्रियों से विशेष गौरवर्ण और अधिक सुंदर थी। इसी लिये वृद्ध परंतु कामी दशरथ राजा कैकेयी के मंदिर में ही हमेशा पडा रहता था और कैकेयी पर ही उसका अधिक प्रेम था। परन्तु इस परराष्ट्रीय स्त्री के कारण दशरथके घरमें कितना विप्लव हुआ, अंतमें दशरथ को भी स्वयं पुत्रशोकसे मरना पडा, और धर्म परायण आर्य स्त्रियोंको भी कितना दुःख भोगना पडा, यह रामायणमें प्रसिद्ध है। जो फूट का कार्य दशरथ के घरमें कैकेयीने किया वह कौसल्यासे अथवा सुमित्रासे होना संभवही नहीं था, क्यों कि कैकेयी को अपने सौंदर्य का गर्व था, मेरे आधीन राजा है, उससे जो चाहे मैं करवा सकती हूं, यह उसका विश्वास था, तथा अपने पीछे सहायक असुरोपासक सब राजा लोग हैं, यह भी घमंड थी। इस कारण इतना साहस कैकेयीने किया।

घर में फूट कैसी हो सकती है यह इस उदाहरण में देखिये।

विदेशी और परराष्ट्रीय स्त्रीके साथ विवाह करने पर कितने अनर्थ हो सकते हैं, इनका थोडासा वर्णन इस लेख में किया है। वह स्त्री सदा अपने देशका विचार करती रहती है, पुत्रको भी दूध पिलाते पिलाते अपने देशका गौरव सिखाती है, अपने साथ कभी कभी अपने मातापिता के पास ले जाती है। इस कारण उस पुत्रके मनमें भी माताके संबंधियों और माताके देश के साथ प्रेम उत्पन्न होता है। जब कभी माताके देश वालों के साथ पिताके देशवालोंका विप्लव होगा, उस समय यह संभव बहुत अधिक है, जैसा कि आस्तीक आदिके उदाहरणोंमें हमने देखा है; कि वह मिश्रित संतान माताके देशवालों का ही हित देख कर पिताके देशका आहित करने के लिये भी उद्युक्त हो सकती है, क्यों कि माताका प्रभाव संतान पर अधिक हुआ करता है।

महाभारतमें ऐसे मिश्रित विवाह कई हैं। परंतु सब में बात यही है। जबतक माताकी जातिवालोंके साथ पिताकी जातिवालोंका कोई विप्लव नहीं होता, तब तक वे पिताके साथ रहते और बहुत कार्य करते हैं। परंतु जिस समय उक्त प्रकार जाति जातिमें विप्लव हुआ उस समय वह मिश्रित संतान माताकी जातिका हित करनेमें दक्ष होती है। उदाहरण के लिये भीमसेनका हिडिंबा राक्षसीसे जन्मा हुआ घटोत्कच लीजिये। पांडवोंके भाई कौरवों के साथकी आपस की लडाई में वह पांडवोंके साथ ही रहा, क्यों कि कौरव राक्षस जातीके नहीं थे। परंतु यदि पांडवों का युद्ध राक्षसोंके साथ होता, तो यह संभव कम ही था कि घटोत्कच उस समय पांडवों की सहायता करता। इसी

दृष्टिसे महाभारत के मिश्र विवाहोंका परीक्षण करना चाहिये ।

महाभारत में जो वर्णन है वह स्पष्ट बताता है कि सुंदरता आदिसे मोहित होकर पर-राष्ट्र की तरुणी से विवाह कर लेना, अपने राष्ट्र पर आपात्ति ही लाना है। पाठक इस का अधिक विचार करें।

(१६) कौरव पांडवोंके वमनस्य का कारण ।

अब इसी प्रसंगमें कौरव पांडवोंके वैमनस्यका कारण देखने योग्य है । देखनेके लिये तो द्रौपदी के छलके कारण तथा राज्य का भाग न मिलने के कारण कौरव पांडवोंका घोर युद्ध हुआ। परंतु इसका मूल कारण उनकी उत्पात्तिमें और जन्म कथा में है। राष्ट्रीय युद्धादिके लिये बाह्य कारण और आंतरिक कारण भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये देखिये—"गत युरोपके युद्ध का बाह्य निमित्त तो एक छोटेसे राजाके युवराजका वध" हुआ। परंतु आंतरिक-मुख्य कारण युरोपके विभिन्न राज्योंकी व्यापार की स्पर्धा ही था।

इसी रीतिसे कौरव पांडवोंके महायुद्ध का कारण कौनसा है यह विचार की आंखसे देखना चाहिये। (१) सती द्रौपदी का छल और (२) राज्यका अर्धभाग न मिलना ये दो कारण बाहेर बतानेके लिये पर्याप्त हैं। परंतु वास्तविक जो आंतरिक कारण है वह दोनोंकी "मनः प्रवृत्ति की विषमता" है। यह मनःप्रवृत्तिकी विषमता उनके जन्म के साथ संबंध रखती है।

एक वीर्यसे उत्पन्न हुए दो भाई राजा पांडु और राजा धृतराष्ट्र थे। वीर्य में किसी प्रकारका दोष नहीं था क्यों कि श्री वेदव्यास जी का परिशुद्ध वीर्य था। परंतु क्षेत्र भिन्न थे और क्षेत्र में कुछ दोषभी था। इसकारण एक अंधा और दूसरा पांडु रोगी बना था। तथापि वीर्यकी एकता होनेके कारण धृतराष्ट्र और पांडु में बंधुप्रेम अत्यंत उज्वल था। वीर्य की एकता का यह परिणाम पाठक अवश्य देखें।

इसके पश्चात् धृतराष्ट्रके वीर्यसे आर्य स्त्री गांधारी के क्षेत्रमें सौ पुत्र हुए। इस में ध्यानमें रखने की यह बात है कि सबमें एकही वीर्यका संबंध था।

परंतु पांडवोंके विषयमें यह बात नहीं है। जिस वीर्यसे पांडवोंकी उत्पत्ति हुई थी वह वीर्य पांडुका नहीं था। कुंतीके साथ पांडु हिमालयकी पहाडीपर रहता था, क्षयरोगी होनेके कारण हस्तिनापुरमें रहना उनके लिये हानिकारक था। तथा अत्यंत रोगी होने के कारण स्ववीर्यसे संतान उत्पन्न करना उसके लिये अशक्य था। इसलिये उसकी अनुमतिसे कुंतिका नियोग तिब्बत देश निवासी तीन देवलोगों से हुआ और माद्रीका नियोग उसी देशके अश्विनी कुमारोंसे हुआ। इस नियोगसे कुंती को तीन और माद्रीको दो संतान हुए। अर्थात् पांडवोंकी उत्पत्तिमें वीर्यकी विभिन्नता कितनी है यह पाठक देखें।

तिब्बतके लोगोंके वीर्यसे जन्मे पांडव और भारतीय आर्य राजाके औरस पुत्र कौरव इनमें वीर्यकी विषमताके कारण बंधुप्रेम होना अशक्य था। यदि पंडुके निजवीर्य से पांडव उत्पन्न होते तो प्रायःभारतीय महायुद्ध होना ही असंभव था।

इसमें और भी विचारणीय बात यह है, कि जिससमय पांडव जन्मे उस समय तिब्बतके इन्द्रादि देवसम्राट् बलवीर्यादिसे अधिक संपन्न थे। उनके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण रंगरूपमें भी पांडवोंकी विशेषता होना संभव है तथा वीर्यसे जो मनःप्रवृत्ति बनती है वह भी भिन्न ही होगी। जिस प्रकार आजकल विजयी युरोपीयन पुरुष और जित भारतीय स्त्रीसे जन्मी हुई 'युरेशियन" मिश्र संतति अपने आपको वीर्यके गर्व से "बडे साबों"में संमिलित करती है और अन्य काले आदमियों पर हुकुमत करने को प्रवृत होती है, उसीप्रकार महाभारत में भीम और अर्जुन ये दो पांडव कौरवोंको तथा किसी भी अन्य आर्य राजा को कुछभी मूल्य देते ही नहीं थे। देवलोगों के वीर्यके साथ आई हुई दूसरोंसे अपने आप को विशेष समझनेकी प्रवृति पांडवों में थी।

साथ ही साथ पिताके औरस पुत्र कौरव होनेसे उन में " राज्यका मद " जन्मसे-ही था। जिस प्रकार आज कल के रियासती राजाओं के बेटे अपने आपको जन्म से राज्याधिकारी और अन्य साधारण जनों से "उच्च"मानते हैं,ठीक उसी प्रकार कौरव भी अपने आपको जन्मसे हकदार समझते थे। इस में और भी एक बात है वह यह है कि कौरव जन्मसे अपने राज्य में पले थे इस लिये राज्यका मद उन में । कौरव साम्राज्य वादी (Imperialist) इसी कारण बने थे दुर्योधन " साम्राज्य अथवा मृत्यु " दोनों मे से एक पसंद करता था, बीच की अवस्था इसको इसी कारण पसंद नहीं थी।

परंतु पांडवों को देखिये, वे धार्मिक वृत्ति वाले दिखाई देते हैं। ऐसा क्यों हुआ? देखिये इसका कारण – कुंती और माद्रीके साथ पंडु साधुवृत्तिसे तपस्वी ऋषियोंके आश्रमों के बीचमें रहता था। तपोभूमिमें सदा धर्म विचार ही चलता था, इसका परिणाम कुंती और माद्री के ऊपर बहुत हुआ था क्यों कि धर्म भावना की ग्राहकता पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक होती है। धर्म भीमादि पांडव जन्म लेने के पश्चात् बारह वर्षतक ऋषिआश्रमों में ही रहे थे। यह वास्तविक कारण है कि जिससे पांडवोंकी निसर्ग प्रवृत्ति ही धर्म की ओर होगई थी।

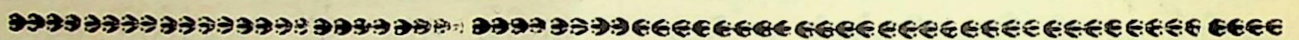
जिनका बालपन ऋषिआश्रममें व्यतीत हुआ है उनकी मित्रता राजधानीके साम्राज्यैश्वर्य में पले हुए कौरवोंसे होनाही असंभव है। इसका हेतु मनःप्रवृत्ति की भिन्नता ही है।

वीर्यका परिणाम देखनेके लिये यहां यह बात भी देखिये कि सब कौरवोंका स्वभाव

करीब एक जैसाही है क्यों कि उन सबोंमें वर्यिकी एकता है। परंतु पांडवों में स्वभाव वैचित्र्य है देखिये — (१) धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रवृत्ति सत्याग्रह करनेमें, (२) भीम सेन का स्वभाव मार पीट में, (३) अर्जुनकी वृत्ति क्षात्र भावना में, (४) नकुल सहदेवों की प्रवृत्ति अन्योंके अनुगामी होनेमें प्रसिद्ध है। इस भिन्न प्रवृत्तिका कारण भिन्न वीर्य ही है। यमधर्मका धार्मिक वीर्य युधिष्ठिरमें, वायुदेव का पहलवानी वीर्य भीममें, देव सम्राट् इंद्र का वीर्य अर्जुन में और औषध की गोलियां बनाने वाले अश्विनीदेवों का वीर्य नकुल सहदेवमें कार्य कर रहा था। इस वीर्य भेदके कारण मनःप्रवृत्तिका भेद पांडवोंमें दिखाई देता है।

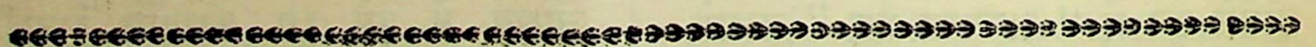
वीर्य की भिन्नता होने पर भी माता की एकता थी इसलिये सब पांडव एक मतसे रहे थे। तथा (Common Cause) समान परिस्थिति के कारण भी उनमें एकता रही थी। अस्तु।

इस विचार से पाठकों के मनमें आजायगा कि कौरवपांडवोंका महायुद्ध होनेमें आंतारिक गुप्त कारण कौनसा था। इसी का सार निम्न लिखित कोष्टक में देखिये-



कौरव--पांडवों के युद्धका मूल कारण।

पांडव ।	कौरव ।
(१) मातापिता वनमें रहते थे ।	(१) माता पिता शहरमें रहते थे।
(२) एक माता और अनेक पिताओं से नियोगनियमानुसार उत्पत्ति ।	(२) एक ही माता पितासे उत्पत्ति।
(३) भिन्न वीर्यके कारण स्वभाव भेद और रुचिभेद ।	(३)समान वीर्य होनेके कारण स्वभाव की समानता।
(४) ऋषिआश्रमों में बालपन व्यतीत होनेके कारण सबोंकी धार्मिक वृत्ति।	(४) शहरमें पले जानेके कारण भोगी प्रवृत्ति ।
(५) न्याय्य मार्गसे अपनी उन्नति करने की इच्छा।	(५) किसी रीतिसे साम्राज्य बढानेकी इच्छा।
(६) नियोगसे संतति।	(६) पितासे औरस संतति ।



माता पिता की परिस्थिति, जन्मके समय की स्थिति, बालपनके समय की अवस्था, वन अथवा नगर का रहना, संगति, सामाजिक तथा राजकीय घटनाएं, तथा अपना पुरुषार्थ इतना मिलकर स्वभाव बनता है। इसविषय का अधिक विचार महाभारत पढते पढते पाठक करें और उचित बोध लें।

विवाह करनेके समय "अपनी राष्ट्रीयताके साथ बढो" यह जो उपदेश वेदने बताया है वह कितना आवश्यक है और वीर्य तथा क्षेत्र का महत्व मानवी स्वभाव बननेमें कितना है, तथा वीर्य भेद और क्षेत्रभेद से राष्ट्र में किसप्रकार विपत्ति उत्पन्न होती है, इत्यादि बातोंका निश्चय महाभारतादि ग्रंथोंमें वर्णित कथाओंका मनन करनेसे उक्त प्रकार हो सकता है।

महाभारत में जो इतिहास है वह काव्यमय वर्णन के अंदर है। विचार और मनन करनेसे काव्यका पडदा हटाना सुगम है। यह परदा दूर करनेसे उस कालका भारत तथा आस पास के अन्य देशोंका सच्चा इतिहास दिखाई देता है। वही देखना चाहिये और इतिहाससे प्राप्त होने वाला उचित बोध लेना चाहिये।

आशा है कि इतिहासिक दृष्टिसे अपने ग्रंथोंका विचार और मनन पाठक करेंगे और उससे योग्य बोध लेंगे और तदनुसार अपना सुधार करेंगे।

दयानन्द जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में पं० अभयद्वारा संगृहीत।

वैदिक उपदेश माला।

(८) चरखा।

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितो ददन्त। तास्त्वा जरसे सं व्ययंत्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः। अ० १४। १। ४५

इस बार जिस विषय पर मैं कुछ शब्द लिखने लगा हूं उस का सम्बन्ध कई कारणों से हमारे वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन से भी हो गया है। इस लिये इस विषय पर कुछ अधिक लिखने की जरूरत नहीं। आपने महात्मा गांधिजीके इस विषय पर बहुत से उपदेश सुने या पढे होंग। और राष्ट्रीय महासभा की इस विषयक आवाज भी आपके कानों तक जरूर पहुंची होगी। इस सम्बन्ध में मैं उनसे अधिक और कुछ नहीं लिख सकता। यदि किसी का ध्यान अभीतक इस तरफ आकृष्ट नहीं हुआ है तो मेरे इस छोटे से लेख से कुछ लाभ होने की संभावना नहीं है। परन्तु तो भी मैं एक अन्य प्रकार से अर्थात् एक वैदिक धर्मी की हैसियत से इस लेख माला में चर्खे के विषय पर कुछ लिखना चाहता हूं। लिखना ही नहीं चाहता किंतु लिखना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूं क्यों कि यह एक ऐसा विषय है जो कि वैदिक धर्मियों के बतलाने के प्रकरण में छोडा नहीं जा सकता।

अतः जो सज्जन इस विषय में विस्तार से (अर्थात् देशसेवा की दृष्टिसे भी) जानना चाहते हों उनकी सेवामें मैं यही कहूंगा कि वे महात्मा गांधिजी के लेखोंको पढें और जो पहले से पढते हैं वे उनका और मनन करें और यह अनुभव करें कि दरिद्र भारत के लिये चर्खा एक अनमोल वस्तु है, यह हममें फिर से जान डालने वाला है और भूखे भारतीयों के लिये सचमुच काम धेनु है। परन्तु इस लेखमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूं वह यह है कि चर्खा एक वैदिक सभ्यता की चीज है, अंग्रेजी राज्य से पहले हमें लडाई आदि के और कई दुःख बेशक थे, परन्तु तब तक भारतवासी भूखे नहीं थे; क्यों कि तब तक हमने वैदिक धर्म के एक छोटे से अंगभूत इस चरखे को नहीं छोडा था। तब तक कपडे जैसी सर्वोपयोगी वस्तु के लिये हम कभी पराधीन नहीं हुवे थे, अतः लडते झगडते हुए भी हम सुखी थे, धनी थे और मानी थे। परन्तु जब से सुस्ती और आरामतलबी के असुर ने हमें बाजारसे बना बनाया कपडा लेना सिखला दिया तभी से हम निःसहाय और भीखमंगे हो गये हैं। साथ ही इस थोडे से समय में चरखे को ऐसा भूल गये हैं कि अब मालूम होता है कि चरखा कोई एक नयी चीज है। अभी ८० या ९० वर्ष पहिले भारतवर्ष बढिया से बढिया हात कते और हाथ बुने पवित्र वस्त्रों से न केवल तीस कोटि भारतवासियों के तन को ढांपता था किंतु अन्यदेशों के शोकीनों के लिये भी हाथ से कात और बुन कर उन्हें यथेच्छ वस्त्र उपलब्ध कराता था। हमारे देश का यह एक खास हुनर था जिसका कि हम अभिमान करते थे। बुद्ध भगवान् जब उपदेश देते हुवे भ्रमण करते थे उस समय का उनका एक स्त्रियों को दिया हुवा उपदेश मिलता है जिस में कि उन्होंने 'सूतकातना, धुनकना, ओटना, सूत रंगना' आदि के विषय में बहुत कुछ कहा है जिससे कि पता लगता है कि उस समय में यह कार्य कितना प्रचलित था और कितना आवश्यक समझा जाता था। उससे पहिले मनुस्मृति और वेदतक सब समयके ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है। मुझे शर्म आती है कि आज हमें इस बातके लिये भी प्रमाण देने की जरूरत हो रही है कि पहिले सदा से चर्खा चला आ रहा है और अभी अंग्रेजी राज्य के जमने पर ही छूटा है। यह तो ऐसा स्वभावतः चला आ रहा है जैसे कि घर घर भोजन पकाना आदिसे चला आ रहा है।

पर शायद आप कहेंगे कि 'अब समय बदल गया है' अब कलायन्त्रों का जमाना है। सूत कातना और बुनना तो कला ओं से भी हो सकता है। पर मैं कलाका खण्डन नहीं करता हूं। चरखा भी एक कल है। बडे बडे पुतलीघरों (कारखानों) के लिये अवश्य वैदिक धर्ममें गुंजायश नहीं हैं बल्कि वे वैदिक धर्म के लिये विपरीत हैं। परन्तु इस विषय में भी मुझे बहुत लिखने की जरूरत नहीं है, क्यों कि कल के भी बहुत

से विचारक आपको अच्छी तरह बतला देंगे कि इन महाकारखानों से संसार को कितनी हानियां हुई हैं, और हो रहीं हैं। तो भी वैदिक दृष्टिकोणसे देखते हुवे मैं संक्षेपसे कहना चाहता हूं कि—

(१) वैदिकधर्मके आदर्शभूत सादगी और जीवन की सरलता के सिद्धान्त के अनुसार चरखा ही जरूरी है। हमने अब अपने जीवन को बहुत विषम कर लिया है इसी लिये इस समय हमें चर्खा समयानुकूल नहीं प्रतीत होता। परन्तु यदि कुछ समय पाहिले चरखे के जमाने में सब लोग सुख से जीवन निर्वाह करते थे तो अब वैसे ही क्यों नहीं कर सकते हैं।

(२) और कपडे जैसी हरएक व्यक्तिके जीवनोपयोगी वस्तु (मिल मालिकों) कारखानासंचालकों के हाथ में नहीं छोडी जा सकती। इस के तो घर घर में चर्खा पहुंचा कर स्वाधीनता प्राप्त करानी चाहिये।

(३) हमारा इस तरफ भी ध्यान जाना चाहिये कि अपने ऊंचे विचारों की और पवित्रता की अनुकूलता के लिये भी हाथ बुने कते वस्त्र ही वांछनीय हैं, ठीक ऐसे ही जैसे कि उच्च जीवन में अनुकूलता प्राप्त करने के लिये शुद्ध और पवित्र भोजन की जरूरत होती है। आशा है वैदिक धर्मी लोग इस बारीकी को भी अनुभव करेंगे। इस प्रकार विचार और तर्कना से भी हम समझ सकते हैं कि वैदिकसभ्यता में वस्त्रों की उत्पत्ति गृहव्यवसाय से ही होनी चाहिये।

परन्तु मैं तो वैदिक धर्मिओं को केवल उनकी एक प्रतिज्ञा स्मरण कराना ही पर्याप्त समझता हूं। अर्थात् शब्द प्रमाण उपस्थित करता हूं। और वह स्पष्ट है। आपमें से जिन का विवाह वैदिक रीति (या हिंदु रीति से भी) हुवा है उन्होंने वहां ऐसी प्रतिज्ञा की है। हर एक वैदिक धर्मी को, चाहे उनका विवाह यथोचित रीति से न हुवा हो, इस प्रतिज्ञा से आपने तईं बद्ध समझना चाहिये। वह जब कन्या को वस्त्र देता है तब कहताहै।

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत्
याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्म-
तीदं परिधत्स्व वासः।

(संस्कार वि० विवाहप्रकरण)
अथर्व० १४ । १ । ४५

'जिन देविओंने काता है और बुना है, ताना किया हैं और उसमें दोनों तरफ से बाना डाला है। वे तुझे बुढापे तक वस्त्र से ढांपती रहें। आयुष्मती होती हुई तू इस वस्त्र को धारण कर।' जन्मभर हाथ कते बुने वस्त्र धारण करने की यह प्रतिज्ञा आप याद करें। इसी प्रतिज्ञा के कारण हमारे विवाहों में यह प्रथा थी और अब भी बहुत जगह प्रचलित है कि विवाह के समय कन्या को एक चर्खा भी भेंट किया जाता है।

इस विषय में और बहुत से वेद मंत्र होते हुवे भी, मैंने इस मंत्र को इस लिये उपस्थित किया है क्यों कि इस मंत्र को बोलकर हर एक गृहस्थ ने प्रतिज्ञा की है। यदि आप

इसे भूल गये हों तो अब फिर याद कर लीजिये। यह प्रतिज्ञा ईश्वर के सामने सब सज्जन मंडली के बीच में हर एक आर्य (हिंदु मात्र) ने विवाह में की गयी है। क्या यह हो सकता है कि आप इस प्रतिज्ञा के निबाहना न चाहेते हो ? तो हमें चाहिये कि यदि अभी-तक ऐसा नहीं किया है तो उस के लिये वह भी प्रायश्चित्त करें और आगे के लिये व्रत लें कि आज से हाथ कता बुना वस्त्र ही पहिनेंगे और वह भी अपने घर की देविओं से काते हुवे सूत का। हमें अपने घरमें देविओं के लिये कातना आवश्यक रखना चाहिये। यदि वे कहीं अपना कर्तव्य नहीं समझतीं तो हमें चाहिये कि हम कातकर उदाहरण उपस्थित करें। हमें आग्रह करना चाहिये कि धर्मपत्नी अथवा दूसरी अवस्थामें माता भगिनी आदि नहीं कातेंगी तो हम वस्त्र नहीं पहिनेंगे। तभी हमें चर्खेको पुनरुज्जीवित कर सकेंगे।

इस मंत्र में कन्या को " आयुष्मती " कहा है। हात कते बुने वस्त्र पहिनने से सचमुच आयु बढती है। जिस सूत को धर्मपत्नी या अपनी बहिनें और मातायें प्रेम से तथा अपने मनके हितभरे भावसे कातेंगी और इन्हीं भावों को वस्त्र में बुन देंगी, वह वस्त्र जरूर हमारे शरीर के लिये कल्याणकारी होगा। इसकी अपेक्षा वह वस्त्र जो कि वर्तमान कारखानों में (चाहें हिन्दुस्थान के कारखानों में ही) बना है जिस में कि मजदूरों ने नाना दुःख क्लेश मानते हुवे और बहुत सी अवस्थाओं में आचार नाश आदि आत्मिक हानितक करते हुवे काम किया है, वह वस्त्र यदि हमारी आयु सर्वथा घटायगा नहीं, तो कमसे कम बढायेगा भी नहीं। इन वस्त्रोंको जो आज कल प्रायः पहिनाये जाते हैं पहिना कर कन्या को ' आयुष्मती ' कहना मुझे बडी क्लेशदायक मालुम होती है।

परन्तु यह सब बात मैंने वैदिकधर्म की दृष्टिसे लिखी है अर्थात् यदि हमारा देश राजनैतिक तौर पर स्वाधीन हो तो भी वैदिक धर्मानुयायिओं को कपडा गृहव्यवसाय से ही बना हुवा पहिनना चाहिये। परन्तु अब जिस समय की हम इतनी बुरी तरह गुलामी में फसे हुवे हैं और चर्खेद्वारा उद्धार हो सकता है तब तो चर्खे के प्रति हमारा कर्तव्य एकदम कई गुणित अनुपात में बढ जाता है। तब तो केवल आर्यस्त्रियों को ही नहीं, परन्तु प्रत्येक आर्यपुरुष को भी आपद्धर्म के तौर पर प्रति दिन कातने के लिये समय देना चाहिये। कुछ भी करते हुवे हम अपनी मातृभूमि की अवस्थाको कैसे भुला सकते हैं। अतएव (यदि हमने देशभक्ति के गुण को कुछ धारण किया है) चर्खे को इस अवस्था में भुलाना, यदि मैं इस के लिये नरम सा शब्द प्रयोग करूं, केवल ' पाप, है।

तो हमें अपने अंतःकरण से पूछना चाहिये और इस का क्रियात्मक उत्तर देना चाहिये; 'क्या मुझ आर्यका घर एक दिन के लिये भी चरखे की गुंजान से रहित रह सकता है ? '

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।

योग द. समा. ३८

(लेखक— श्री पं. प्रियरत्न विद्यार्थी)

भ्रातृवर्ग ! मैं आज फिर इस उक्त पातंजलयोगसूत्रपर कुछ भाव समर्पण रूप में आप के सन्मुख रखता हूं, और आशा करता हूं, कि पातञ्जलयोगानुभवमें अपनी मानसिक प्रवर्तना को उत्साहन करेंगे ॥

सूत्रका स्पष्टार्थ यह है, कि " स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान के आलम्बनसे भी चित्त किसी विशेष स्थितिरूप पद को प्राप्त हो जाता है। " एवं स्वप्नज्ञानालम्बन किंवा निद्राज्ञानालम्बन करना, मानो हृदय देश में मानसिक वृत्ति सहित आत्मा के चिति स्वरूप को बाह्य प्रवृत्ति मार्गसे हटा कर एक विश्राम अवस्था में समाहित करना है। जैसे कि स्वप्न अथवा निद्रामें आत्मा का चितिस्वरूप हृदय देशमें विश्रामको प्राप्त होता है, तथा जैसे मनुष्य पलंग आदिपर लेट करके आनन्द की नीन्द ले सक्ता है, एवं इस आलम्बनीय भावना के लिये भी अपने अनुकूल भुमि आदि समस्थल पर सीधा और चित लेट जावे और दोनों भुजा ओं को दोनों पार्श्वों (आसपास) में भूमिपर टांगों की ओर फैलादेवे और दोनों टांगे भी सीधी हों, तथा दोनों पैर आसपास में झुके हुए हों परन्तु एडी से एडी मिली हुई हों और पैरों की एडियें ही भूमि आदि स्थल को स्पर्श करती हो, बस इस ऐसे लेट जाने को " पर्य्यंकासन "भी कहते हैं, क्योंकि जैसे पलंगपर लेट जाते हैं, उसी प्रकार से यह भी लेटना है। ऐसा करने से दो लाभ होते हैं; एक तो शरीर की थकावट दूर होती है, दूसरे शरीर स्वस्थ (स्थिर) दशा में हो जाता है। इसके पश्चात् अपने दक्षिण हाथ की हथेलीको नाभिके ऊपर रखें, इस अवस्था में भुजा का भार अथवा स्पर्श सम्बन्ध सिवाय नाभिके और किसी स्थान में न हो, और नाभि प्रदेश सम्बधी नाडी की गति को प्रतीत करे, अर्थात् उस समय नाडी की गति स्पष्ट प्रतीत होगी। तदनन्तर शरीर को सर्वथा शिथिल (ढीला) करके अण्डकोश

के मूलस्थान को भीतर की ओर संकोच करे, परन्तु इस संकोच में उदर की कोई भी नाडी कडी (सखत) न होने पावे और साथ में ऐसा समझें, जैसे अण्डकोश पर कोई भार (बोझल वस्तु) रखा हो, एवं कुछ देर संकोच करने से जब दो क्रियाएं स्वयं ही बन जावें, तब समझना चाहिये कि संकोच अपनी यथार्थ अवस्था में आगया । वे दो क्रियाएं हैं, कि एक तो पैरों की ओर कुछ संसनाहटसा होकर प्राण का संचार ऊपर को खींचता हुआ सा प्रतीत होगा, दूसरे उस नाभि प्रदेशपर स्थित हुए हाथसे पूर्व की अपेक्षा तत्रस्थ नाडी की गति न्यून प्रतीत होगी। जब यह लक्षणा हो जावे, तो हाथ को उठाकर जैसे भूमिपर था, वैसे ही रख देवे, एवं इस स्थितिमें हो जाने को " शवासन " कहते हैं, क्योंकि शव मृतक शरीर का नाम है, सो मृतक शरीर के समान यह प्राण का ऊपर को संचार तथा नाडी की अप्रतीति है; इसके करने से भी दो लाभ हैं, एक इंन्द्रियों की थकावट दूर होजाती है और दूसरा उनकी स्वस्थता हो जाती है । एवं इसके पश्चात् संकोच के साथ साथ मानसिक घृत्ति द्वारा दोनों पैरों की ओरसे एक साथ अंगुलियोंसे लेकर एडी तक की स्पर्श मात्रा को खींचले, जैसे शब्द होते हुए भी मन का कर्ण इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न होने से उस वर्तमान शब्द या कर्णेंद्रिय के विषय में कुछ भी परिचय नहीं होता, अर्थात उनकी ओर से मन अभाव वृत्तिमें विराजता है । एवं यहां भी त्वचा इंद्रिय के साथ मन को सम्बद्ध न करते हुए, अंगुलियोंसे एडी पर्यंत तथा उसके साथ जिस भूमि आदिका स्पर्श है, उसका परिचय या प्रतीति न करना । तदनन्तर एडी से जानुपर्यंत की भी इसी प्रकार स्पर्श प्रतीति का अभाव करदो; एवं जानुसे कटिभाग पर्यंत तथा दोनों भुजा ओं का भी विभागशः स्पर्श प्रतीति अभाव करो, पश्चात् कटिभागसे लेकर हृदय पर्यंत अङ्गोंका स्पर्श प्रतीति अभाव करके, शिरसे प्रारम्भ कर हृदय पर्यंत पूर्ववत स्पर्श प्रतीति अभाव कर, हृदय देश में चित्तके सात्विक परिणाम से स्थित हो । स्वप्नज्ञानका आलम्बन अर्थात सोए हुए जैसे सांकल्पिक शुभ व्यापारों की प्रतीति करे अथवा गहरी नींद में सोए हुए के समान अपने आपको समझे, एवं कुछ काल इसका— अभ्यास करे, इस ऐसी अवस्था में हो जाने को " शयनासन" या " विश्रामासन" कहा जा सक्ता है। क्यों कि इस क्रिया से चित्त या मन की थकावट (मस्तिष्क की थकावट) दूर होती है, और मन या चित्त स्वस्थ (स्थिर) हो जाता है, जिससे शोक चिन्ता, विशेष चाञ्चल्यादि की निवृत्ति हो जाती है । ऐसे इस स्वप्नज्ञानालम्बन का निरन्तर अभ्यास विशेष रूपमें करने से विशेषेण उत्तम स्थिति पद का प्राप्त होना निश्चित है। जिसको सूत्रकार पतञ्जलिमुनि वर्णन करते हैं । एवं मनुष्यों को चाहिये, कि इन ऋषिवचनों को अपने जविन में धरें और यथा योगलाभ उठाकर कृतकृत्य हों ।



आनंद।

(लेखक. श्री. म. लालचंदजी)

अग्नि में तेज है, प्रकाश है, संशोधक शक्ति है, जीवन है, प्राण है, प्रगति है, वायु में जीवन है, बल है, प्राण है, सूर्य में प्राण है, प्रकाश है, तेज है, पवित्रता है, किंतु यह सौभाग्य चंद्र को ही प्राप्त है, कि वह आनंद मय है। परमात्मा के सब नामों में आनन्द का द्योतक नाम चंद्र ही है। प्राकृतिक तौर पर चंद्र सब को नैसर्गिक आनंद देता है, बालक चंद्र से प्रसन्न है, देवि. यें चंद्र के गीत गाती हैं, अंधतम निशा में चंद्र की प्रभा ही शीतल मंद सुगंध पवन के मोकों के साथ जीवन रस का संचार करती है, पर्वतों पर छिटकी हुई चांदनी एक विचित्र छटा दिखाती है, नदी के प्रवाह में नौका में भ्रमण करते हुए चांद की चांदनी में जो चित्त प्रसन्न होता है वह सुख नहीं कहा जा सकता। वह अलौकिक आनंद है, जंगल में, खुले मैदान में, अथवा घर की छत पर ही खिली हुई चांदनी में जिस किसीने कभी आनन्दके कारण का चिंतन किया हो, तो चित्त विवश हो, आनंद के स्रोत में डुबकी मारता प्रतीत होता है। चित्त की चंचलता शांत होकर मन में गंभीरता, हृदय में प्रेम और नेत्रों के सामने असीम आकाश का दृश्य जगत् कर्ता के असीम कौशल को दर्शाता है। ऐसे भाव जो मन को एकाग्र, चित्त को स्वस्थ, मस्तिष्क को शांत, हृदय को विशाल और वदन को प्रफुल्लित करते हैं, आनंद कहलाते हैं।

परमात्मा सत्, चित्, आनंद है, जीव सत् और चित् है, प्रकृति सत है। आनंद पूर्णता का द्योतक है, जब मनुष्य का हृदय गद गद प्रसन्न होता है, जब हृदय कमल खिलता है, भय और त्रास दूर होते हैं और चित्त स्थिर होता है, तो वह दशा आनंद की सूचक है, आनंद आत्मा से संबंध रखता है, सुख इंद्रियों तक रह जाता है। किंतु यह भेद बहुत सूक्ष्म है, प्रायः लोग इंद्रिय जन्य सुख को ही आनंद मानते हैं।

जिसे प्रायः मनुष्य आनंद कहते हैं, वह क्षणिक सुख है, वह नश्वर है, आनंद स्थायी है प्रेमी ही आनंद अनुभव कर सकता है, आनंद का रसास्वादन शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जासकता। जिस प्रकार मनकी पवित्रता का कोई आकार नहीं, किंतु अनुभव होता है, सत्य का कोई आकार नहीं किंतु अनुभव होता है, उसी प्रकार आनंद का आकार नहीं परं च अनुभव होता है। आनंद स्वरूप परमात्मा का नाम है। परमात्मा एक रस, अद्भुत, शुद्ध, शिव और

सुंदर है, किंतु यह सब बात एक शब्दमें आजाती है यदि हम कहें कि परमात्मा प्रेममय हैं। प्रेम में अद्भुतता, सौंदर्य, पवित्रता, सरसता, सरलता सभी गुण हैं। प्रेम से पवित्रता हटालें, तो वह मोह रह जाता है, इसी प्रकार आनंद में जो नैसर्गिक अमृत है, वही उसे पार्थिव पदार्थों के द्वारा उत्पन्न सुख से अलग करता है। पार्थिव पदार्थ नश्वर होनेके कारण उन के द्वारा होने वाले सुख और दुःख भी स्थायी नहीं हैं। किंतु आनंद के स्रोतसे प्रेम धारा जब वहने लगती है, जो ज्यूं ज्यूं हृदय स्थल को छू कर चलती है, साथ ही प्रलोभन रूपी मल को बहा ले जाती हैं, आनंद स्रोत से प्रेमकी अजस्त्र धारा इस वेग से बहती है, कि सब मनोविकार और चित्त के रोग दूर होजाते हैं, फिर मनुष्य के शुद्ध अंतःकरण में आत्मा के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। मनुष्य का अंतःकरण मैले दर्पण की भांति मोह, ममता, द्वेष आदि के कारण उतना साफ नहीं रहता, जो उस में आनंद का अनुभव ठीक ठीक हो सके। यही कारण है, कि प्रायः मनुष्य आनन्द के अस्तित्व तक को भूल जाते हैं और सदैव निराशा सूचक शब्द उच्चारण करते हैं और वैसा ही व्यवहार करते हुए दिखाई देते हैं।

आशावाद और आनन्द का घनिष्ठ संबंध है। उत्साही, संयमी और यत्नशील ही जीवन संग्राम में विजयी हो कर आनन्द प्राप्त करते हैं। जो लोग सदा भयभीत रहते हैं, जिन्हें पग पग पर त्रास दिखाई देते हैं, वे न जो जीवन में सफलता लाभ करते हैं और न जीवनके रहस्यको समझ सकते हैं। जीवन भी एक पहेली है, एक बडी बिकट समस्या है। ऐसा अनुभव में आया है, कि जिसे प्रायः जविन समझा जाता है वह वास्तव में विषय परायणता होती है और उस का परिणाम दुःख हुआ करता है। आनंदमय प्रेममय परमात्मा की सृष्टि कदापि दुःख का कारण नहीं हो सकती, कर्तव्य परायण पुरुष प्रत्येक कर्तव्य में अपने इष्ट देव की आज्ञा की पूर्ति देखता है और सदैव प्रत्येक कर्तव्य पूर्ण श्रद्धा और प्रेम के साथ करता है।

कर्म पथ के यात्री के लिये श्रद्धा और प्रेम से अधिक साथी और कोई नहीं हो सकते। कर्म का सिद्धांत जितना कठिन दिखाई देता है, वैसा नहीं है। बात वहीं है, कि शुद्ध सत्य के दर्शन मलिन अंतःकरण में होते ही नहीं और समझा यह जाता है, कि कर्म-पथ बिकट है। सीधा मार्ग सदैव सुगम होता है, जिन गृहस्थों का जीवन सुनियमित है, उन्हें जीवन आनन्दमय ही दिखाई देता है, उस में कमी, संकीर्णता, और तुच्छता के लिये स्थान ही नहीं और नाहीं कर्तव्य परायण को इन कुव्यवहारों में पडने का समय ही है।

आनन्द सुनियमित जीवन की सफलता का द्योतक एक भाव है, जो अनुभव से संबंध रखता है। नियम पर चलना उतना ही सुगम है जैसे की रेल की लाइन पर गाडी चली जाती है, किंतु जो कभी मनुष्य नियम से च्युत होता है, तो उस की अवस्था लाइन से नीचे हुई रेल

गाडीसेभी अधिक भयानक और शोचनीय हो जाती है । दुःख और शोक में निमग्न उत्साह हीन मुरझाए हुए वही लोग होते हैं जो युक्त आहार, विहार, कर्म चेष्टा, स्वप्न और जागरण नहीं करते । समता का जीवन व्यतीत करना और आनंद लाभ करना एक ही बात है। समता में जीवन है, आनंद है; विषमता में मृत्यु है, दुःख है । संसार में आनंद का संचार समता के विकाश से करना है, प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है, कि वह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ आनन्द लाभ करे; किंतु उन्नति में यद्यपि बहुत सी बाधाएं मनुष्य स्वयं डालता है किंतु कुछ एक समाज, और राज्य के कारण भी होती हैं । परन्तु यह सत्य है, कि मनुष्यों के समूह जैसा राज्य चाहें, बना सकते हैं । यदि मनुष्यों में एक दूसरे के स्वत्व छीनने का भाव प्रबल है, तो राज्य भी निरंकुश होगा। जिस अवस्था की समाज होगी, उसी अवस्था का राज्य होगा । पैशाचिक कर्म करने वाले लोग राम राज्य अथवा धर्म राज्य का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सकते, वास्तव में जो व्यापार मनुष्य के हृदय स्थल में हो रहा है इसी का प्रतिबिंब उसकी बाहिरी अवस्था है, जो अंदर है वही स्पष्ट रूप से देखने वाले को बाहिर दिखाई देता है ।

यदि हम उन्नत समाज चाहते हैं, तो हमें अपनी उन्नति के लिये कटिबद्ध होना चाहिये, यदि हम यह चाहते हैं, कि संसार में बली निर्बली पर अत्याचार न करें तो पाहिले हमें अपना अंदर संशोधन करना होगा । लोग कहते हैं, कि यह कलियुग है, पाप का समय है, पर गहरी दृष्टि से देखें; तो यह समय कृतयुग अथवा धर्मयुग है । क्या कभी यह हो सकता है, कि परमात्मा की सृष्टि जिस में इतना असीम सौन्दर्य हो, इतना अनन्त आनद हो, इतना महान विस्तार हो, इतनी अद्भुत विचित्रता हो, वह मनुष्य की गिरावट का हेतु हो । परमात्मा पूर्ण हैं, उन की सृष्टि पूर्ण है, परमात्मा शिव हैं, सुन्दर हैं; उन के कृत्य कल्याणमय सौंदर्य दर्शा रहा हैं । देखने को आंखें चाहियें । परमात्मा की विपुल सृष्टि मनुष्य की अपार उन्नति का साधन है, इसे अवनति का मूल कहना भ्रम है, बडी भारी भूल है ।

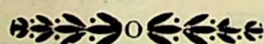
परमात्मा की सुंदर सृष्टिमें उनके अनुपमदर्शन को अनुभव करना आनंद का मूल मंत्र है। आनंद परमात्मा की दान है। आत्मा अर्पण करनेसे परमात्मा की प्रसन्नता लाभ होती है । परमात्मा प्रसन्न होकर आत्मा को स्वीकार करते हैं तत्पश्चात् आमोन्नति में बाधा नहीं होती । जो मन परमात्मा के अर्पण हो चका है, वह निश्चित आनंद के स्रोत से आनंद लाभ करता है, उस मन में समुद्र की गंभीरता, वायु का वेग, अग्नि की ज्योति और सूर्य के प्रकाश की झलक दिखाई देती है । प्राणों के प्राण परमात्मा की दिव्य जीवन शक्ति को जो भक्त प्राणायाम द्वारा अपने अंदर ग्रहण करता हैं, वह जविन संग्राम में सदा विजयी होता है । उस के अंदर मल

उत्पन्न ही नहीं होते । यदि होते भी हैं तो परमात्मा के प्रकाश से भस्मी भूत होजाते हैं । वही आनंद का भागी है।

प्राणायाम के अनेक लाभ हैं, किंतु सब से विचित्र लाभ निर्भयता है । प्राणायाम करने वाला सत्यनिष्ठ सत्यपराक्रमी और सत्यार्थी होजाता है ।

प्रत्येक मनुष्य को आनंद लाभ करना चाहिये । विना आनंद प्राप्त किये जीवन नीरस और निकम्मा है । जीवन की सार्थकता तभी होती है जब मनुष्य निर्भय, निर्मम, शांत और संतुष्ट होता है । आलस्य का नाम संतोष नहीं । जिस प्रकार हीनता और नम्रता पृथक् पृथक् हैं, उसी प्रकार संतोष और आलस्य में भेद है । प्रायः आजकल जिसे संतोष के नाम से पुकारा जाता है वह पुरुषार्थ हीन लोगों की कायरता और आलस्यपरता हैं । केवल पुरुषार्थी कर्मयोगी ही संतोषी हो सकता है । पुरुषार्थी कर्मयोगी कभी हीन दीन नहीं होता, नम्र होता है । नम्रतामें आनंद है हीनता में क्षोभ है । नम्रता पूर्णता की द्योतक है, हीनता पतित अवस्था की सूचना देती है । नम्रता स्वर्गीय है । हीनता पैशाचिक है । नम्र मनुष्य आनंद लाभ करता है दीन और हीन केवल स्वयं दुःखी रहता, परं च अन्य लोगों को भी दुःखी करता है ।

मनुष्य तुझे क्या हुआ? अमृत पुत्र होकर भी अमृत पान नहीं करता । प्रेम मय परमात्मा से घनिष्ठ संबंध होने पर भी कटुता का दास है ! आर्य होकर भी नर पिशाच है । तुझे तो ब्राह्मण होना था, ब्रह्मचारी होना था, ब्रह्मपरायण होना था तुझे क्या होगया ? अब भी परमात्मा की वाणी को सुन, वह स्नेहमयी दृष्टि से तेरी ओर दया के भाव प्रकट कर रहे हैं, तुझे बुलाते हैं । यहां भी अमृत का भागी बन ॥



वैदिक धर्मकी तुलना ।

(४) मै. ५।६, १० में जीसस ने शिष्यों के प्रति कहा है ।

" Blessed are they which do hunger and thirst after righteousess ... Blessed are they that are persecuted for righteousness 'sake; for theirs is the Kingdom of heaven

अर्थात् जिन लोगों को धर्मके लिये कष्ट उठाने पडते हैं और अत्याचार सहन करने पडते हैं वे लोग धन्य हैं ।

धम्मपद पण्डित वग्ग में बुद्ध भगवान ने पण्डितों

अथवा बुद्धिमानों का स्वभाव बताते हुए कहा है-

सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन, न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥ न अत्त हेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं। न इच्छे अधम्मेन समिद्धिमत्तनो, स सीलवा पञ्ञवा धाम्मिको सिया ॥ ९ ॥

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि बुद्धिमान् पुरुष वे हैं जो सुख हो वा दुःख हो सदा एक रूप रहते हैं और किसी तरह का विकार नहा सूचित करते। जो पुरुष न अपने लिये न दूसरों के लिये या पुत्र धन अथवा राष्ट्र की प्राप्ति के लिये अधर्म करता है। जो कभी अधर्म से अपनी समृद्धि नहीं चाहता वही सदाचारी और धर्मात्मा है। तात्पर्य यह है कि सदा धर्म का ही पालन करना चाहिये कितनी भी आपत्ति क्यों न आए, कितना बडा प्रलोभन क्यों न सामने उपस्थित हो, पर धर्म को नहीं छोडना चाहिये । वेद में सदा ऋत सत्य के मार्ग पर चलने से ही कल्याण हो सकता है इस तत्व का '**सुगः पंथा अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते।नात्रावखादो अस्ति वः॥**' इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन किया है। किस प्रकार देव अर्थात् ज्ञानी लोग सदा सत्य के ही व्रत का पालन करते हैं यह बात "**ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ॥**" इत्यादि मंत्रों की व्याख्या करके अनेक स्थानों पर दिखाई जा चुकी है, अतः फिर उन मंत्रों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। उपर के मंत्र में देवों को अनृतद्विषः अर्थात Un-righteousness का घोर द्वेषी बताया है यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। इस विषय में महाभारत के'—

'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।'

इत्यादि वचन भी स्मरण करने योग्य हैं जिन में काम भय लोभ के वश में होकर और यहां तक कि अपने जीवन तक की रक्षाके लिये भी धर्म को नहीं छोडना चाहिये यह साफ शब्दों मे बताया गया है।

(५) मै. अ. २३ में जीसस ने उस समय के याजक पुरोहित लोगों को धमकाते हुए कहा है —

" woe unto you, Scribes and Pharisees, hypocrites for ye make clean the outside of the cup, but within they are full of extortion and excess "

अर्थात तुम्हें धिक्कार है ऐ दम्भी लोगो! तुम प्याले के बाहर खूब मांज लेते हो पर उसका अन्दर का भाग मैल से भरा रहता है। इस प्रकारके वाक्यों में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि बहुत आवश्यक है इस बात को सूचित किया गया है। धम्म पदमें भगवान् गौतम बुद्ध ने भी सर्वत्र बाह्य चिन्हों और आडम्बरों को तुच्छ बताते हुए अन्दरूनी शुद्धि पर जोर दिया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वग्ग श्लोक १२ में कहा है—

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिन साटिया। अब्भन्तरं हनं, बाहिरं

परिमज्जासि ॥

अर्थात ऐ मूर्ख ! जटाओं और चर्म वस्त्रादि से तेरा क्या बनेगा ? तेरे अन्दर तो बडा मैल भरा हुआ है बाहेर से तू शुद्ध दिखाई देता है। भाव में समानता स्पष्ट है।

दण्ड वग्ग श्लो. १३—१४ में इसी आंतरिक शुद्धि के भाव को प्रधानता देते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है कि नग्न चर्या, जटा, उपवास, यज्ञवेदिमें शयन इत्यादि उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सकते जिस ने तृष्णा का परित्याग नहीं किया। इसके विपरीत जो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ शान्त दान्त सब भूतों पर दया दृष्टि रखता हुआ वस्त्रादि से सुशोभित हो कर भी विचरण करता है वही ब्राह्मण श्रमण और भिक्षु है। वेद के अन्दर- ' भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्, 'तन्मे मनः. शिवसंकल्पमस्तु,' अगन्महि मनसा सं शिवेन मागन्महि मनसा दैव्येन' इत्यादि मंत्रों द्वारा साफ शब्दोंमें मन की पवित्रता पर ही अधिक जोर दिया गया है। अच्छे वस्त्रादि धारण करने का वेद में न केवल कहीं निषेध नहीं किया गया बल्कि ' युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ॥ ' इत्यादि द्वारा अच्छे वस्त्र धारण करने को भी एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है

(६) मै ६ । १९ के अनुसार जीसस ने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहा हैं

" Lay not upfor yourselves treasures upon earth"

अर्थात अपने लिये तुम कोई भौतिक खजाना न रखो। अ, १० । ९ में

Provide neither gold, nor silver nor brass in your purses.

मैं भी उसी बातको फिर दुहराया है। एक दूसरे स्थान पर उस ने यहां तक कहा है कि एक धनी पुरुष के स्वर्ग वा ईश्वर राज्य में जाने की अपेक्षा ऊंटका सुई की नोक में से निकलना सुगम है।

भगवान् गौतम बुद्धने भी धम्म पदमें अनेक स्थानों पर इसी बात का उल्लेख किया यथा ब्राह्मण वग्ग में कहा है—

अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

अर्थात जिस के पास कुछ धन नहीं और

यस्य पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किंचनं । अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥

अर्थात् जिस के पास पूर्व पश्चिम और मध्य में कुछ भी धन नहीं है तिस पर भी जो दूसरों से धन नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं ॥ इस प्रकार इन दोनों भावों की समानता है। अन्य भी निष्काम भावादि अनेक विषयों में बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रन्थों की शिक्षाओंकी समानता दिखाई जा सकती है पर निबन्ध विस्तारके भय से इस समानता के विषय को हम नहीं समाप्त करते हैं। अब बौद्ध धर्मके कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्वों की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ तुलना करेंगे जिस से इन दोनों का सम्बन्ध निश्चय करने

में कुछ सहायता मिल सकेगी ।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की मूलभूत दो बातों का निर्देश करना यहां आवश्यक है (१) चार आर्य सत्य (२) आर्य अष्टांग मार्ग ॥ धम्म पद बुद्ध वग्ग में इनका इस प्रकार निर्देश किया गया है :-

चत्तारि अरिय सच्चानि सम्मपञ्ञाय पस्सति ।। दुःखं दुःखसमुत्पादं दुक्खस्य च अतिक्कम । अरियं चऽट्ठाङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥ १३ ॥ एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं । एतं सरणमागम्म सब्ब दुक्खा प्रमुच्चाति ॥ १४ ॥

इन श्लोकों में बताये हुए ४ आर्यसत्य निम्न हैं।

(१) संसार में दुःख है ।

(२) दुःखका मूल कारण तृष्णा है।

(३) तृष्णा के नाश से ही दुःखका निरोध हो सकता है।

(४) दुःख के नाशके लिये अष्टाङ्ग मार्ग है।

अष्टाङ्ग मार्ग बौद्ध ग्रंथों में निम्न प्रकार बताया है-

(१) सम्मा दिट्ठि (सम्यग् दृष्टि) ठीक दृष्टि वा ज्ञान ।

(२) सम्मा संकप्प (सम्यक् संकल्प) शुद्ध संकल्प ।

(३) सम्मा वाचा = शुद्ध वाणी ।

(४) सम्मा कम्मन्त = शुभ कर्म ।

(५) सम्मा आजीव = शुद्ध आजीविका ।

(६) सम्मा व्यायाम = शुद्ध व्यायाम वा परिश्रम ।

(७) सम्मा सति = शुद्ध विचार ।

(८) सम्मा समाधि = शुद्ध ध्यान वा मन की शान्त स्थिति ।

बुद्ध भगवान ने इन सत्यों को आर्य सत्य और इस मार्ग को आर्य अष्टाङ्ग मार्गका नाम दिया है । पंडित वग्ग श्लो. ४ में कहा है

"अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पंडितः"

अर्थात पंडित सदा 'आर्य प्रवेदित' अथवा आर्यों द्वारा बताये हुए धर्म में रमण करता है। मग्ग वग्ग श्लो. ९ में कहा है कि-

वाचानुरक्खीमनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिर । एते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्ग मिसिप्पवेदितं ॥

इस का अर्थ यह है कि वाणी मन शरीर किसी से कोई पाप न करे और सदा 'ऋषियों द्वारा बताये हुए मार्ग' पर चलता रहे । इस का संस्कृत रूप 'आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितं' है जिस का अर्थ यह है कि ऋषि प्रोक्त मार्ग पर चले । इस से यह बात स्पष्ट है कि यह अष्टाङ्ग मार्ग जिस का यहां उपदेश किया गया है कोई नवीन नहीं किन्तु वैदिक साहित्य से ही लिया हुआ है । तुलनात्मक विचार करने पर हमें साफ मालूम होता है कि कर्तव्य शास्त्र विषयक गौतम बुद्ध की शिक्षाओंका आधार प्रायः पतञ्जलि मुनिके योग दर्शन पर है । पांच यमों के अनुसार बुद्धकी आज्ञाओं का निर्देश किया जा चुका है । ४ आर्य सत्योंका मूल भी योगदर्शन के

परिणाम--ताप--संस्कार--दुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' प्रकृति

पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट पाया जाता है। व्यास मुनिने अपने भाष्यमें 'एवमिदमपि योगशास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा हेयं, हेयहेतुः, हानं, हानोपायः' यह कहकर बिल्कुल स्पष्ट आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है। सम्यग्दर्शनादि के विषय में भी व्यास मुनि का लेख योग भाष्य में देखने योग्य हैं 'एवमनादि दुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारिणं **सम्यग्दर्शनं** शरणं प्रतिपद्यते ॥ (साधन पाद सू० १५ का व्यास भाष्य) यहां सम्यग्दर्शन को सर्वदुःख नाश का कारण बताया है इसी को बुद्ध ने सम्मा दिष्टि का नाम दिया। योगदर्शन के इस आधार पर गौतम बुद्ध ने इन आर्य सत्यों और अष्टाङ्ग मार्गादि का उपदेश किया, इसके लिये अन्य भी अनेक प्रमाण पेश किये जा सकते हैं उदाहरणार्थ दण्ड वग्ग में दुःख से छूटने का उपाय बताते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है—

सद्धाय सलिेन च विरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च । सम्पन्न विज्ञाचरणा परिस्सुता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकम् ॥ १६ ॥

इस का तात्पर्य यह है कि तुम श्रद्धा शील, वीर्य, समाधि, धर्म, निश्चय और विद्या के द्वारा दुःख का परित्याग कर सकोगे। योगदर्शन के 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्, इत्यादि साधन पाद के सूत्रों के साथ इस की अद्भुत समानता है । इसी प्रकार बुद्ध वग्ग में लिखा है —

अपिदिव्वेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति । तण्हक्खय रतो होति ,सम्मासं बुद्ध सावको ॥ ९ ॥

इस में बुद्धोपासक तृष्णा क्षय में निरंतर तत्पर रहता है और दिव्य कामों में भी वह रति को नहीं प्राप्त होता । व्यास भाष्य में प्राचीन किसी ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया गया है —

(साधनपाद सू० ४२ का भाष्य)

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

अर्थात् जो कुछ भी दिव्य बडा भारी सुख है वह तृष्णाक्षय से जो सुख प्राप्त होता है उस का १६ वां हिस्सा भी नहीं है । इसी तरह योगदर्शन के 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इस सूत्र में बताई हुई भावनाओंके अनुसार धम्म पदादि बौद्ध ग्रंथोंमें ब्रह्मविहारा के नाम से मेत्ता विहारा,करुणा मुदिता उपेक्खा इन चार भावना ओंका उपदेश पाया जाता हैं । भिक्खु वग्गमें 'मेत्ता विहारी यो भिक्खु प्रसन्नो बुद्ध सासने' इत्यादि शब्द आये हैं । इन सब उदाहरणोंसे यह बात साफ जाहीर होती है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्र का आधार आधिक तर आर्ष साहित्य पर ही था । मरते समय तक बुद्ध भगवान ने शिष्यों को साफ कहा कि मैं किसी नवीन धर्म का प्रचार नहीं कर रहा किन्तु प्राचीन धर्मके तत्त्वों को ही लोगों के सामने रख रहा हूं । ब्राह्मण धाम्मिक सुत्त

आदि में इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है इसलिये यह मानना असङ्गत न होगा कि सीधे रूप म चाहे न हो पर बुद्ध की शिक्षा ओंका आधार वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर अवश्य था । वैदिक कर्तव्यशास्त्र के अन्दर जिस कर्म नियमका प्रतिपादन है उस को बौद्ध ग्रन्थोंमें कितने जोरदार शब्दों म बताया है । पाप वग्ग म बुद्ध भगवान ने उपदेश किया है-

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बता नां विवरं पविस्स। न विज्जतीसो जगतिप्प देसो यत्थट्ठितो मुंचेय पाप कम्मा ॥

अर्थात अन्तरिक्षमें समुद्रके मध्य में पर्वतों की गुफा ओं में, सारे संसार में कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहां बैठ कर पापी अपने पाप के परिणाम से बच जाए । इस के साथ वेदके—

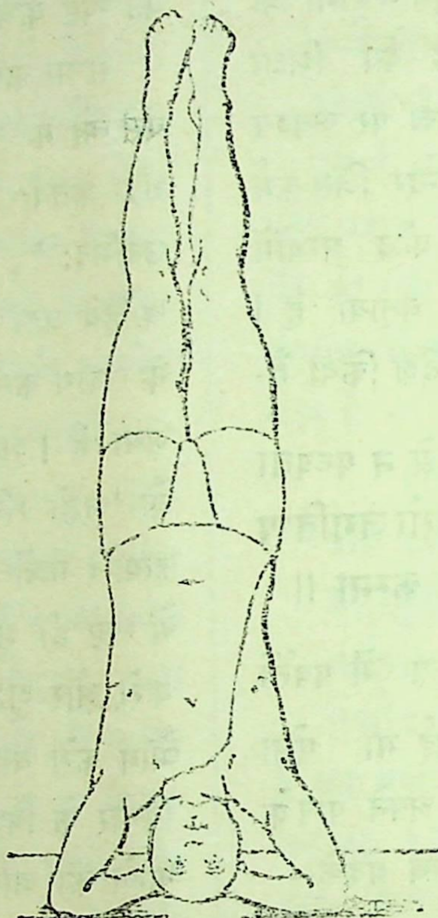
'यस्तिष्ठति चरति, उत यो द्यामतिसर्पात्' इत्यादि की तुलना करनी चाहिये । अष्टांग मार्ग का आधार भी वेद में स्पष्ट पाया जा सकता है । सम्यग् दर्शन के विषय में 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' यह ऋ. १० । ९० इत्यादि में आया हुआ वेद मन्त्र उधृत किया जा सकता है जिस में यथार्थ ज्ञान को मोक्षके लिये आवश्यक बताया गया है । सम्मा संकल्प का आधार 'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । इत्यादि वेंदमंत्रों पर हो सकता है ! सम्मा वाचा के लिये 'अन्यो अन्यं वल्गु वदन्त एत' (अथर्व ३ । ३० । ४) वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं, देवानां देवहूतिषु (अ० ५ । ७ । ४) इत्यादि वेदमन्त्रों को देखना चाहिये जिन में मीठे उत्तम वचन बोलने का स्पष्ट कथन है ।

सम्मा कम्मन्तके लिये 'परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज (यजु४।२८)' आनो भद्रा क्रतवो यंतु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्‌भिदः', इत्यादि मन्त्रों पर विचार करना चाहिये जहां दुष्ट आचरणों का परित्याग कर के उत्तम कर्म करने का निश्चय प्रकट किया गया है । शुद्ध आजीविका के लिये ऋग्वेद, के 'शुद्धो रयिं निधारय, शुद्धो ममद्धि सोम्यः' इत्यादि मंत्रों को स्मरण करना चाहिये जिस में स्पष्ट ही शुद्ध हो कर तुम धन को धारण करो और शुद्ध और सौम्य गुण युक्त होकर भोग करो यह आदेश है । शुद्ध ध्यान और विचार के विषय में फिर से वेद मंत्र उधृत करने की आवश्यकता नहीं क्यों कि दूसरे परिच्छेद में पर्याप्त वेद मन्त्रों का इस के बारे में उल्लेख किया जा चुका है । सामाजिक कर्तव्योंके विषयमें भगवान् गौतम बुद्ध के विचार भी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ ही बहुत कुछ् समानता रखने वाले हैं। वैदिक वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हुए बुद्ध भगवान् ने ब्राह्मण वग्ग में बताया है —

न जटा हि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो । यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

अर्थात् जटाए धारण करने गोत्र अथवा जाति से कोई ब्राह्मण नहीं होता । जिसमें सत्य और धर्म हैं वही पवित्र है वही ब्राह्मण है ।

शीर्षासन का अनुभव ।

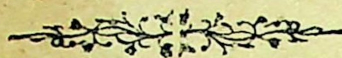


मैं गुलमर्ग (काश्मीर) में घोडा दौडाता हुया घोडे परसे घोडे समेत सडक पर गिरपडा मेरे दूसरे साथीका घोडा (वहभी दौडा रहा था) मेरे ऊपरसे होकर गया उसके घोडेका पैर मेरे पैर पर लगा। उस समय चोट लगी थी, ज्यादा दर्द न हुई, मैं थोडासा घोडेके ऊपर घूमकर जलदी ही मकान पर चलागया । ज्यूंज्यूं देर होती गई दर्द बढता गया। रात को सखत दर्द हुई, निद्रा आनी कठिन होगई, सबेरे दर्द कम हुवा, लेकिन मैं अच्छी तरह चल नहीं सकता था । घोडेपर बैठकर मकानसे बाहर जाताथा । इसी तरह दो तीन दिन गुजारे । फिर मैं श्रीनगर (काश्मीरका शहर) आगया। वहां आकर दो तीन दिनके बाद फिर तकलीफ ज्यादा हो गई । अगर मैं दस कदमभी दौडता तो पैरको मचकोड आजाती । मैंने सोचा कि पैर खराब न होजावें,इस लिये मैंने पैर पर मालिश करनेके लिये तेलके वास्ते अमृतसर लिख दिया। तेल मुझे जलदी पहुंचनेकी उमैद न थी । मेरे दिलमें शीर्षासनका ख्याल आया, मैंने शर्षासन करना शुरू कर दिया, लगातार १५ दिन थोडा थोडा शर्षासन करने से मुझे १५ दिनमें बिलकुल, आराम आगया और मैं अच्छी तरह दौडने लग गया । आराम आये को अब दो अढाई महीने हो गये हैं, लेकिन फिर किसी प्रकार का दुख नहीं हुआ।

भवदीय

दिवानचंद अगरवाल

उत्कृष्ट वैदिक साहित्य।

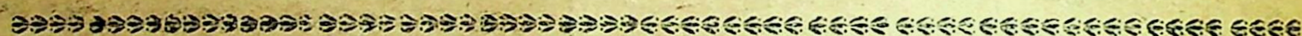


लेखक राज्यरत्न आत्मारामजी।

संस्कारचन्द्रिका का शताब्दीसंस्करण बहुत उत्तम छपकर तय्यार है। मनुष्यमात्र के उपयोगीग्रन्थ है। इस में हमारे जीवन में जो महत्व पूर्ण संस्कार होते हैं उनकी वैज्ञानिक खोज उनको कहां तक करने के लिए बाधित करती है यह सविस्तर बताया है। महर्षि दयानन्त प्रणीत संस्कारविधिकी विस्तृत व्याख्या है। प्रत्येक संस्कार की फिलासफी युक्ति तथा प्रमाणोंद्वारा बडी विद्वत्ता से सिद्ध की है। मू० ४) डा० व्यय ||=) तथा ३||)

सृष्टिविज्ञान पुरुषसूक्त का स्वाध्याय तथा वेदो त्पत्ति संबंधी मंत्रों की व्याख्या मू० २) **तुलनात्मकधर्मविचार** मू० १) ब्रह्मयज्ञ |||) शरीरविज्ञान |=) आत्मस्थानविज्ञान -) गीतासार |-) गुजरातीहिंदीकोष ६) नीतिविवेचन १|) अवताररहस्य |||) समुद्रगुप्त ||-) आरोग्यता ||) श्रीहर्ष ||) महजबेइस्लामपर एक नजर-) ऋषिपूजाकी- वैदिक विधि -) विज्ञापक के ग्राहकोंको-) रुपया छूट। वा मू० २

जयदेवब्रदर्स, बडोदा



ईश्वर उपासना करनेके समय।
वायु शुद्धि से चित्त प्रसन्न करनेकेलिये **अगरबत्ती!**

सब नमूने मिलकर २० तोले। वी. पी. से १||) रु.

सब विशेष नमूने मिलकर ६० तोले वी. पी. से ५) रु!



हमारी इस मुद्राकी अगरबत्ती लगाइय।

मिलनेका स्थान- **सुगंध-शाला,** डाकघर किन्ही KINHI (जि. सातारा)

स्वाध्याय के ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वधर्म। " एक ईश्वरकी उपासना। " मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। " सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १

(६) योग के आसन। मू. २

(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)

(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)

(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ।)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)

(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. -)

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥।=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री--स्वाध्याय--मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :-- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

बुद्ध आस्तिकता

Registered No B. 1463

वर्ष ५ अंक १२
क्रमांक ६०



मार्गशीर्ष सं. १९८१
दिसंबर स. १९२४

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वैदिक धर्मका शताब्दी अंक।



शताब्दी महोत्सव के निमित्त वैदिक धर्मका विशेष अंक (क्रमांक ६२) प्रसिद्ध होगा। इस में लेख, चित्र तथा बाह्य और अंतरंग की विशेषता विशेष रूपसे होगी। यह अंक ग्राहकों को विनामूल्य प्राप्त होगा परंतु अन्यों को एक रु. मूल्य देनेपर प्राप्त होगा।

वैदिक धर्मका पूर्व (क्रमांक ५०) विशेषांक जिन्होंने देखा है उनको इस "शताब्दी अंक" के विषयमें अधिक परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है।

मंत्री --स्वाध्याय मंडल
(औंध जि. सातारा)



वर्ष ५
अंक १२
क्रमांक
६०

मार्गशीर्ष
सं० १९८१
दिजंबर
स० १९२४

वैदिकधर्म.

वैदिक तत्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मातृभूमिका सुपुत्र ।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः । तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः॥ पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥

अथर्व० १२।१।१२

हे (पृथिवि) मातृभूमे ! जो तेरा मध्य है और जो तेरा (नभ्यं) नाभिस्थान है, तथा जो (ऊर्जः तन्वः) तेजस्वी शरीर अथवा बलशाली शक्तियां तेरे से (संबभूवुः) उत्पन्न हुई हैं, उनमें(नः अभि धेहि) हमको रख दो और (नः पवस्व) हमको पवित्र कर । भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वीका पुत्र हूं । पर्जन्य मेरा पिता है वह (नः) हमको (पिपर्तु) तृप्त करे, हमारा पालन करे, हमारी पूर्णता करे ।

मैं मातृभूमिका पुत्र हूं, इस लिये मातृभूमिके लिये अपने सर्वस्व का अर्पण करना मेरा कर्तव्य है, यह बात हरएक मनुष्यको सदा ध्यानमें रखना चाहिये ।

बकासुर की लीला ॥



[१] भारतकालीन विविध देश ।

महाभारत का पाठ इतिहासिक दृष्टि-से जो करते हैं, उनको उसी समय पता लगता है, कि असुर, सुर, गंधर्व, किन्नर, भूत, आर्य, सर्प, वानर आदि अनेक जातीके लोगोंका संबंध महाभारत की कथामें आगया है । विशेष आंदोलन के पश्चात् हमने निश्चय किया है कि (१) "असुर लोक" अथवा असुरदेश आजकलका बॅक्ट्रीया तथा असीरिया है। बॅक्ट्रीया देशसे "बक" नामक असुर आते थे जिनको उस समयके लोग बकासुर कहा करते थे । (२) "सुरलोक" अ-थवा सुरों किंवा देवोंका प्रदेश "त्रिविष्टप" किंवा आजकल का तिबत है; (३) "गंधर्वलोक" अथवा गंधर्वजातीका रहने का स्थान हिमालयकी उतराई ही है; (४) "किन्नर लोक" गंधर्व देशके निचले स्थान पर है , (५) "भूत लोक" अथवा भूत जातीके लोगोंका स्थान आजकल का "भूतान" है जिसका नाम भूत स्थान ही है(६) "आर्य लोक" आर्यावर्त ही है (७) "सर्प लोक" किंवा सर्पजाती के लोगोंका स्थान दक्षिण भारत और(८)दण्डकारण्यके कुछ हिस्सोमें "वानर" जातीके लोगोंका स्थान है। इनके स्थाननिर्देश नियत करने का कार्य चल रहा है, वह समाप्त होनेपर पाठकोंके पास उसके चित्रभी दिये जायंगे।

[२] बनावटी मुख पहननेकी प्रथा ।

असुरलोग नरमांस खानेवाले, क्रूर और अत्याचारी थे, सुर अथवा देव 'लोग' गणसंस्था के अनुसार रहते थें और इनमें गणस्त्रियों की रीति थी। गणसंस्था का वर्णन हम एक स्वतंत्र लेखमें करेंगे। गंधर्वलोग नाचने गाने और बजानेमें कुशल थे। किन्नर लोग प्रायः जंगली थे। भूतलोग विविध पशुपाक्षियोंके बनावटी मुख लगा कर घूमते थे, इसलिये इनको "काम-रूपी" कहा जाताथा। राक्षस लोग भी इन रीतियोंका प्रयोग करते थे। अश्व-

मुख, उष्ट्रमुख, व्याघ्रमुख आदि पशुओं के मुख बनावटी लगाना और लोगों को डराना इनकी हमेशा की पद्धति थी। दशमुख रावण भी संभवतः अपने सिरपर दस मुखोंकी बनावटी शक्ल लगाताही होगा। भूतान और हिमालयके कई भागोंमें इस प्रकार बनावटी मुख लगानेकी रीति इस समय भी है। यह रीति महाभारतीय समय में बहुत थी!

इसका उद्देश्य साधारण मूढ जनोंको डराना था। इस समय भी हमारे काले भाई गोरे लोगोंका बूट सूट हॅट आदि लगाकर अपने आपको 'बडा साब' बताते हुए रेलोंमें सवार होकर अपनेही गरीब और मूढ भाइयोंको कितना सताते और डराते हैं, यह बात सुप्रसिद्ध है। यही मानवी स्वभाव पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व पूर्वोक्त बनावटी मुखोंके ढांचोंसे व्यक्त होता था। आर्यावर्तके अनपढ लोगों को डराने के लिये और इनसे अपना मनमाना मनोरथ सिद्ध करने के लिये यह कियाजाता था।

आर्यलोग न तो राक्षसों के समान नर मांस भोजी थे; न देवोंके समान गणसंस्थासे रहनेवाले, और न भूतों के समान डरावेके लिये बनावटी मुख धारण करने वाले थे। परंतु ये लोग राक्षसोंका शौर्य, देवोंकी सभ्ययुक्ति और भूतों का युद्धकौशल अपना कर अपनी पूर्ण उन्नति करनेमें दक्ष थे। तथापि साधारण जनता थोडीसी बातसे डरनेवाली, मरियल, दुर्बल और अज्ञानी ही थी।

सर्पजातीके लोग छिपकर हमला करने वाले थे और वानरजाती प्रायः नंगी ही रहती थी। इनमें बहुत थोडे लोग वस्त्रादिसे आच्छादितभी होते थे। यह जाती इस समयभी म्हैसूर राज्यके जंगलोंमें विद्यमान है, ये कपडा देने परभी उस को पहनना "अधर्म" समझते हैं और अपना छप्पर वृक्षपर ही बनाकर रहते हैं।

पांच सहस्र वर्षोंके समय इतनी जातियोंके लोगोंसे आर्योंका राजकीय, धार्मिक तथा अन्य संबंध होता था। इस समय का मनोरंजक इतिहास महाभारत में पाठक देख सकते हैं, उदाहरण के लिये "बकासुर" की कथा लीजिये। आदिपर्व के १५९ अध्यायसे १६६ अध्याय तक यह कथा है और इसके पढनेसे उस समयके समाजका चित्र पाठकोंके सामने आजाता है। कथा इस प्रकार है—

[३] वेत्रकीय राज्य।

वेत्रकीयगृह नामक एक छोटासा स्थान अथवा छोटीसी रियासत गंगा नदीके उत्तर किनारे और हिमाचलसे दक्षिण दिशामें थी। यह प्रांत आजकल के संयुक्त प्रांत में लखनौ की उत्तर दिशामें था। यहां एक छोटासा दुर्बल और अनपढ राजा राज्य करता था। इसका वर्णन यह है—

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयं मिहास्थितः। उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मंदधीः॥९॥ अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम् ॥१०॥ एतदर्हा वयंनूनं वसामो दुर्बलस्य ये । विषये नित्यमुद्विग्नाः कुराजानमुपाश्रिताः॥ ११ ॥
म.भा.आदि.अ.१६२

"इस स्थान में वेत्रकीयगृह नामक एक स्थान है वहां इस देशका राजा रहता है, वह बुद्धिहीन राजा राजनीतिका आश्रय नहीं करता। यद्यपि राक्षसोंके वध के लिये वह स्वयं असमर्थ है, तथापि यत्नसे ऐसा कोई उपाय नहीं ढूंढता, कि जिससे इन सब लोगोंके लिये सदा कुशल हो जाय। हम लोग उस दुर्बल और बुरे राजाके भरोसे पर सदा भयभीत होकरके भी उसके ही अधिकारमें रहते हैं, इसलिये हम ऐसे दुःखके भोगनेके योग्य ही हैं।"

[४] पांडवोंका निवास।

इस वेत्रकीयगृह नामक छोटीसी रियासतमें एकचक्रा नामक एक नगरी थी, इस नगरीमें एक विद्वान ब्राह्मणके घरमें गुप्तरूपसे कुंतिसहित पांचों पांडव विद्याध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे गुजारा करते हुए रहते थे। दुष्टदुर्योधनकी लाक्षागृहमें पांडवोंको जला मारनेकी युक्तिको पहिले जानकर, गुप्त रीतिसे महामना विदुरजीका सहाय्य लेकर, उस लाक्षा गृहको स्वयं ही आग लगाकर, छिपाछिपकर पांडव भागे थे; वे जंगलों और वनोंमें भ्रमण करतेकरते इसएकचक्रा नगरीमें धीमान व्यास मुनिकी प्रेरणासे इसी ब्राह्मण के घरमें रहेथे। सब लोग पांडवोंको जले और मरे ही मानते थे, परंतु केवल महामना विदुर और धीमान व्यासदेव ये ही दो तथा तीसरा विदुरका शिल्पी इतने तीनलोग पांडवोंका जीवित रहना जानते थे। यदि कौरव इन पांडवोंका अस्तित्व जानते, तो उनको युक्ति प्रयुक्ति से नष्ट करनेके लिये वे कटिबद्ध ही थे,इसी लिये इस समय पांडवोंको ब्राह्मणोंके पहनावसे वेदाध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे आजीविका करते हुए इस एकचक्रा नगरीमें रहना आवश्यक हुआ था। राजकीय घटनाओंके कारण समय समयपर इस प्रकार गुप्तभाव रखनेके लिये वेषांतर से रहना बडे बडे लोगोंको, भी आवश्यक होता ही है।

जिस ब्राह्मणके घर में पांडव रहते थे, उस ब्राह्मणके कुंतिके साथ के भाषणमें पूर्वोक्त श्लोक आगये हैं। उन श्लोकोंमें जो इतिहास है, उससे निम्न राजकीय घटना का पता स्पष्ट लगता है—

[५] वेत्रकीय रियासतका दुर्बल राजा।

(१) वेत्रकीयगृह नामक रियासत का राजा अत्यंत दुर्बल, राजनीति न जाननेवाला, स्वयं राक्षसों के साथ युद्ध

करनेमें असमर्थ, कि एक राक्षस का मुकाबला करनेके लिये भी असमर्थ, तथा दूसरे रियासतों की मदत से राक्षसों को हटाने में भी असमर्थ था।

(२)इस रियासत में नगर नगरमें राक्षस रहते थे। वे नगरके बाहिर वनों और उद्यानों में अपने डेरे लगाकर रहते थे और जिस नगर के पास वे अपना डेरा जमा लेते थे, उस नगरसे अपनी आजीविकाके लिये आवश्यक भोजनादिके सब पदार्थ जबरदस्तीसे लेते थे। और न देनेपर उस नगरके लोगोंपर मनमाना अत्याचार करते थे।

(३) इन राक्षसोंको दंड करनेका सामर्थ्य उन रियासती राजाओं में न था। इसकारण सर्व साधारण जनता के पीछे एक तो अपने निजू रियासती राजाका भय रहता था और दूसरा राक्षसोंका उपद्रव हमेशा रहता था।

(४) इस कारण जनता अत्यंत दुःखी और दीन बनी थी।

जिस एकचक्रा नगरीमें पांडव गुप्त भावसे रहते थे, उस नगरके समीपके वनमें " बकासुर" नामक एक राक्षस अपने बडे परिवार समेत रहता था, देखिये इसका वर्णन—

[६] नगरके रखवारअसुर।

समीपं नगरस्याऽस्य बको वसति राक्षसः। ईशो जनपदस्याऽस्य पुरस्य च महाबलः

॥३॥पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः। रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली॥४॥ नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः। तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम्॥ वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्। महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥६॥एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्। स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥७॥

[म०भा०आदि०अ०१६२]

"इस नगरके निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है। वह पुरुष खादक इस नगर और प्रदेश का अधीश सा रहता है; मनुष्य के मांससे पुष्ट, बली दुष्टबुद्धि वह असुरराज सदा इस देश की रक्षा करता है। इस देशके राक्षसी बलसे रक्षित होनेके कारण अन्य देशसे वा किसी प्राणियोंसे या भूतोंसे हमारे भय की संभावना नहीं है। एक गाडी अन्न, दो भैसे और एक मनुष्य जो उन्हें ले जाता है, यह सब उस राक्षसके भोजन के लिये वेतन के स्वरूपमें निर्दिष्ट हैं। इस देशका हरएक गृहस्थ अपनी अपनी बारीमें एक एक दिनके हिसाबसे नित्य वह भोजन पहुंचाता है। बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थके लिये यह कठोर बारी आजाती है।"

इस ब्राह्मण के कथनसे राक्षस के वेतन का स्वरूप ज्ञात होजाता है, तथा कई अन्य बातोंकाभी पता लगजाता है ।

(१) अपने असुर देशसे कई राक्षस इस आयावर्त में आकर कई ग्रामोंमें अथवा ग्रामोंके बाहर रहते थे ।

(२) इन असुरोंका-एक एक काभी-बल इतना अधिक होता था, कि उनके सामने ग्रामों और नगरोंके लोग अपने आपको बिलकुल दुर्बल समझते थे ।

(३) उस समयके भारत वर्षीय रियासतोंके राजा महाराजा भी इन निशाचरोंके सामने अपने आपको दुर्बल समझतेथे ।

(४) किसी भी रियासती राजाके नगरमें ये राक्षस आकर रहे, तो वह राजा इनको हटानेमें बिलकुल असमर्थ था । इसलिये प्रायः रियासती राजा लोग इनको किसभी प्रकार का प्रतिबंध कर नहीं सकते थे । इस कारण नगरवासी जनोंपर इनका अत्याचार अत्याधिक होता था ।

(५) ये राक्षस ग्राम और नगरोंकी सर्व प्रकारसे रक्षा करने का कार्य अपने ऊपर लेते थे और इनमें यह एक गुण भी था, कि जिस ग्राम की रक्षा करनेकी जिम्मेवारी ये अपने ऊपर लेते थे, उसकी पूर्ण रीतिसे रक्षा कर लेते थे। उस ग्रामपर परशत्रु का हमला होवे, व्याघ्रसिंह आदिका उपद्रव होवे, भूत लोग अर्थात् भूतानी लोग आदिकों का हमला होवे, सबप्रकारके हमलोंसे ये राक्षस उस ग्राम की पूर्ण रक्षा करते थे और स्वयं शत्रुसे लडतेथे। इसी कारण वह ब्राह्मण कुंतिसे कहता है कि इस बकासुरके कारण परचक्र आदिसे हमें भय नहीं है, यहउसके अनुभवकी ही बात थी ।

[७] नगरकी दुर्बलता ।

(६) इस कारण होता यह था, कि प्रतिदिन नगरवासी लोग अधिकाधिक दुर्बल होजाते थे और उसी प्रमाणसे राक्षस अधिकाधिक बलवान होते थे । क्योंकि यदि नगरवासी लोग अपनी रक्षा स्वयं करनेका यत्न करेंगे, तोही साहस, शौर्य,धैर्य,आदि गुण उनमें बढ सकेंगे; यह काम नगरवासियोंने राक्षसों पर सौंप दिया था, इस लिये नगरवासी दिन प्रति दिन दुर्बल हो जाते थे, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । जो कोई राष्ट्र अथवा रियासत अपनी रक्षा स्वयं नहीं करेगा, और वह कार्य दूसरों पर सौंप देगा, वह भी इसी प्रकार दुर्बल होता जायगा । जिस प्रमाणसे नगरवासी दुर्बल होते थे, उसी प्रमाणसे राक्षस, रक्षक होते हुएभी अधिक बलवान होनेके कारण, ग्रामवासियों पर अत्याचार भी करनेमें निःशंक हो जाते थे । क्योंकि उनको अपना शक्तिका विश्वास था और नागरिकों की कमजोरीका भी पूर्ण ज्ञान था ।

(७) ऐसी अवस्था में दिन प्रतिदिन राक्षसोंके अत्याचारों की मात्रा बढ जानी स्वाभाविकही है । नगरवासी पूर्ण परावलंबी और राक्षसों की रक्षासे सुरक्षित होनेके कारण राक्षसोंके अत्याचारोंकी कोई सीमा नहीं थी । राक्षस भी मनमें यही समझते थे कि, हमें अब कोई प्रतिबंध करनेवाला नहीं है, ये ग्राम के लोग हमारी दयापर ही जीवित रहने वाले हैं, इसलिये इनसे तो हमें कोई डरही नहीं है ।

(८) इस कारण राक्षसोंका स्वभाव यही बनता जाता था, कि "जितनी मौज हो सकती है करो, अब हम ही इस नगर के अधीश हैं, न तो ये लोग हमारा कुछ कर सकते हैं और न तो इस रियासतका राजा हमारा कुछ बिगाड सकता है । इनको तो अपनी रक्षा के लिये हमारीही शरण लेनी चाहिये । राक्षसोंके ऐसे हार्दिक भावके कारण लोगोंके दुःखकी कोई सीमा नहीं थी ।

[८] बकासुरका वेतन ।

(९) इसी कारण एकचक्रा नगरीके रक्षक बकासुर ने उस नगरीके लोगोंसे यह निश्चय कराया था कि प्रतिदिन बारी बारीसे एक एक घरवाला एक गाडीभर अन्न, दो भैंसे और एक आदमी वेतन के रूपमें देवे । आज के बाजारभावसे इस वेतन का मूल्य निम्न लिखित हो सकता है ।

३० तीस गाडे अन्नका मू. १५००)रु.
६० साठ भैंसोंका मू. ३०००)"
३० तीस मनुष्योंका " १५०००)"
बकासुरका मासिक वेतन १९५००)"

दो भैंसा की एक गाडीमें कमसे कम ५०) पचास रु. का अन्न रहता है, दो भैंसोंका मूल्य १००) सौ रु. है, और आदमी का मूल्य साधारणतः ५००) पांचसौ रु. होगा । अर्थात् प्रतिदिनका बकासुरका वेतन ६५०) रु. होता है । इस हिसाब से उसका मासिक वेतन १९५०० रु० आजकलके बाजार भावसे होता है । किसी स्थानपर धान्य, भैंसे और मनुष्य का मूल्य न्यून वा अधिक भी हो सकता है । परंतु उसका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कई कहेंगेकि उस समय धान्य और भैंसे बहुतही सस्ते होंगे । यह सत्य है, परंतु उसमें बात यह है कि जो कोई मूल्य इन वस्तुओंका उस समय हो, उससे उन नागरिकों पर उतना ही बोझ हो सकता है, कि जितना आज कल हमारे नगरपर साडे उन्नीस हजार रु०का बोझ होता है । यदि आजकल किसी नागरिकों को प्रतिमास इतना रु. देकर अपनी रक्षा मोल लेनी पडे, तो जितना उनको कष्ट होगा, उतनाही कष्ट एकचक्रा नगरी निवासियोंको होता था ।

[९] एकचक्रा नगर की आबादी ।

(१०) अब विचार करना है कि एकचक्रा नगरीमें आबादी कितनी थी ? इसका भी अंदाजा हम उक्त ब्राह्मणके

वचनसे कर सकते हैं ।

स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसु-
करो नरैः ॥

म.भा.आदि.अ. १६२।७

"बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थी के लिये यह कठोर बारी आजाती है।"

संस्कृत भाषामें केवल 'वर्षैः' यह प्रयोग कमसे कम तीन वर्षोंके लिये होता है और "बहुभिः वर्षैः" यह प्रयोग कमसे कम तीन गुणा तीन अर्थात् नौ वर्षोंके लिये होना संभव है। तथापि नौ दस वर्षोंतक की अवधिके लिये कोईभी मनुष्य "बहुतही वर्ष" नहीं कहता। "बहुत वर्ष" कहनेके लिये कमसे कम बीस वर्ष व्यतीत होने चाहिये। यह बात दूसरे-भी प्रमाणसे सिद्ध होती है देखिये। उक्त ब्राह्मण अपनी पत्नीके साथ किये भाषणमें कहता है कि—

क्षेमं यतस्ततो गंतुं त्वया तु
मम न श्रुतम् ॥ इह जाता
विवृद्धाऽस्मि पिता चापि म-
मेति वै । उक्तवत्यसि दुर्मेधे
याच्यमाना मयाऽसकृत्२७

म.भा.आदि.अ.१५९।२७

"हे ब्राह्मणी! यह कुबुद्धि तेरीही है, जबकि मेरे बारबार अन्य स्थानमें जानेको चाहनेपरभी तुमने कहा था कि- 'यह मेरी पैत्रिक भूमि है यहां मैं जन्म लेकर बुढिया होगई हूं, इसको त्याग नहीं सकती'" अर्थात् इसकी स्त्री वृद्धा बनगई थी। विवाहके बाद इसको दो संतानभी होचुके थे कि जिस दिन इस ब्राह्मण पर भोजन देनेकी बारी आगई थी। यह ब्राह्मण पर पहिलीही बारीथी और अपनी स्त्रीके कारण ही इस नगरमें वह रहाथा, नहीं तो छोडकर दूसरे स्थानपर जाना चाहताथा। स्त्रीका विवाह कन्या होनेके समय अर्थात १५। १६ वर्षकी आयु में हुआ होगा और इससमय वह स्त्री कमसे कम ३५ वर्ष की अवस्थामें होगी। अर्थात् कमसे कम २० वर्षोंकी अवधि में ब्राह्मणपर एकबार बारी आगईथी। संभवतः अधिक समय व्यतीत हुआ होगा। परन्तु उस नगरकी आबादीका हिसाब लगानेके लिये हम बीस वर्षमें एक बार बारी आती है ऐसा समझेंगे। प्रतिवर्षमें ३६० दिन के हिसाबसे बीस वर्षोंके ७२०० दिन होगये। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम सातआठ हजार घर उस एकचक्रा नगरीमें होंगे। और प्रतिघर पुरुष स्त्री, दो बच्चे और एक वृद्धमनुष्य ऐसे पांच आदमी औसद मान लिये जांय, तो आठ हजार घरोंके ग्राममें चालीस हजार की आबादी होना संभव है।

चालीस हजार की आबादीके ग्रामसे साडे उन्नीस हजार रु. का वेतन प्रतिमास राक्षस लेताथा, अर्थात् प्रति आदमी प्रतिमास आठ आने देने पडतेथे, इसके अतिरिक्त उस रियासत के राजा का करभार होगा, तथा स्थानिक व्यय और

ही होगा । जो ग्राम स्वयंसेवकों द्वारा अपनी रक्षा कर नहीं सकता, उनको इसीप्रकार जुर्माना देना ही पडता है ।

(११)प्रतिदिन एक घरसे भोजन भेजनेका नियम था । नियम पूर्वक भोजन भेजागया तो ठीक, नहीं तो वह राक्षस उस घरका नाश जैसा मर्जी आये करता था । इस प्रकार उस नगरी के लोग अपना अपना भोजन भेजकर अपना बचाव कर लेते थे । यदि किसीके घर भेजने योग्य मनुष्य न हो अथवा बारीवाला मनुष्य धनाढ्य हो, तो वह किसी दूसरे मनुष्यको मोल लेकर भी अपना काम चला लेता था ।इसी लिये ब्राह्मण रोतेसमय कहता है कि—

[१०] आदमीका विक्रय ।

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः । भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया १५ न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित् ।

म.भा.आदि.अ.१६२

" आज हमारी कुलनाशी वह बारी आयी है, राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें एक मनुष्य मुझको देना पडेगा । पर मेरे पास इतना धन नहीं है, कि किसी स्थानसे एक मनुष्यको मोल लेकर दूं । "

(११) अर्थात् धनिक लोग मोलसे मनुष्य खरीद कर राक्षसके भोजनके लिये अर्पण करते थे और उस समय मनुष्य भी इस प्रकार बेचे जाते थे! आज कल विवाहके लिये लडकी मोल लेनेकी निंद्य रीति कई स्थानोंपर है, परंतु मर जानेके लिये आजकल आदमी मोल से नहीं मिल सकेगा । परंतु उक्त ब्राह्मण के भाषणसे पता चलता है कि, उस समय आदमी मोलसे मिलनेकी भी संभावना थी !!

(१२) इतना विचार होनेके पश्चात् यह प्रायः निश्चय हुआ कि, उस एकचक्रा नगरीमें कमसे कम चालीस हजार की आबादी थी, और प्रतिदिन उक्त वेतन उस राक्षसको पहुंचाना पडता था । न देनेपर वह राक्षस उस बारीवाले गृहस्थीका पूरा नाश कर डालता था। एक असुरजातीका मनुष्य और उसके साथ तीस चालीस छोटे मोटे असुर होंगे, इनका अत्याचार चालीस हजार नगरवासी चुपचाप सहन करते थे। चालीस हजार नगरवासी लोग बक राक्षसकी सहायताके विना स्वयं अपना बचाव कर नहीं सकते थे । और उस राक्षसको हटाना भी उस नगरकी शक्तिके बाहर था । विचार कीजिये कि उस नगरके लोग कैसे दुर्बल होंगे ।

[११] राक्षस के विरोध का फल ।

(१३) समय समय पर कई नागरिक उस राक्षससे बचजानेका यत्नभी

करते थे, परंतु उनकी बडी दुर्गति होती थी, देखिये—

तद्विमोक्षाय ये केचिद्यतन्ति पुरुषाः क्वचित् । सपुत्रदारांस्तान्हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत ॥ ८ ॥

म.भा.आदि.अ.१६२

"यदि कभी कोई इससे बचनेकी चेष्टा करता है, तो वह राक्षस स्त्रीपुत्रोंके साथ उसको मारकर खाजाता है" यह अवस्था थी । अर्थात् उक्त नियमसे बचने की चेष्टा करनेपर वह राक्षस उस रियासती राजा की अदालत में नालिश नहीं करता था, परंतु उस राजा से विना पूछेही नगरमें आकर उस बारीवाले घरके सब आदमियों को मारकर खा लेता था और उसका सब घर ही नष्टभ्रष्ट कर लेता था । और यह सब अत्याचार अन्य नागरिक देखते रहते थे, इतनी दुर्बलता उन नागरिकोंमें थी । यदि उनमें संघशक्ति होती, और शौर्यवीर्यादि गुण थोडे भी रहते, तो उस राक्षसको हटाना चालीस हजार आबादी वाले नगरको कोई अशक्य नहीं था । परंतु संघशक्तिके अभाव के कारण ही वह नगर इतना कमजोर बनगया था । हरएक मनुष्य केवल अपना हित ही साधन करनेमें दत्तचित्त था और सब मिल कर संघशक्ति बनाकर अपनी रक्षा के लिये तैयार होनेकी बुद्धि किसीमें भी नहीं थी ।

[१२] मनकी दुर्बलता ।

चालीस हजार आबादीका नगर असुरदेशके एक राक्षस के भयंकर अत्याचार सहन करता है, और उसके विरुद्ध अपना हाथ तक नहीं उठाता, इससे अधिक उस नगर वासियोंको लज्जास्पद बात तो कौनसी हो सकती है? देखिये उसी ब्राह्मणके शब्दोंमें उस समयकी अवस्था —

न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥

म.भा.आदि.अ.१६२

"यह दुःख दूर करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है ।" अर्थात् यदि कोई दूसरा "राक्षस" लाया जाय, अथवा कोई तिब्बत का "देव" आजाय तो ही उस राक्षसको हटाया जा सकता है, इस नगर का कोई भी मनुष्य राक्षस का प्रतिबंध नहीं कर सकता । यह हरएक के मनमें निश्चित भाव रहना ही उन नागरीकों की हद्द दजका कमजोरीका पर्याप्त प्रमाण है ।

इस बकासुरका वध भीमसेन ने किया । अर्थात् कीकर सिंग जैसा अकेला मनुष्य भी उस राक्षस को मार सकता था परंतु शोककी और साथ साथ लज्जा की बात यही है कि, चालीस हजार आबादीके नगरमें समय पर दस पांच भी पहिलवान नहीं निकल सके!! यह

उस नगरकी कमजोरी थी । इससे अधिक कमजोरी होना ही संभव नहीं है।

[१३] शस्त्रास्त्रोंसे अनभिज्ञ असुर ।

भीमसेन ने मल्लयुद्ध अर्थात् कुस्ती करके बकासुर को मारा । इस समय बकासुरके अनुयायियोंने अथवा स्वयं बकासुरने किसी भी शस्त्र या अस्त्रका प्रयोग भीमसेन पर नहीं किया । यदि बकासुरके डेरेमें शस्त्रास्त्र रहते, तो वे उस के अनुयायी अपने बक राजाके मृत्यु-के समय भी शत्रुपर प्रयुक्त न करते, यह संभव ही नहीं था । अर्थात् ये असुर कमसे कम बकासुर और उसके अनुयायी शस्त्रास्त्र जाननेवाले नहीं थे । केवल शारीरिक बल, लाठी, पत्थर तथा इसी प्रकारके अन्य साधनों से लडनेवाले क्रूर आदमी थ । इस प्रकारके पचीस तीस क्रूरकर्मा असुरों का भय चालीस हजार की आबादीके नगरवासीयोंको कई साल सता रहा था और वे इसका बिलकुल प्रतीकार कर नहीं सके थे । पाठक ही सोच सकते हैं, कि इस प्रकार के कमजोर और दुर्बल नगरवासियोंको जीवित रहनेका भी अधिकार क्या है? चालीस हजार लोगोंने संघशक्तिके साथ एक एक तिनका भी फेंकदिया होता, तो उस के नीचे वह राक्षस दब जाता, परंतु संघ शक्तिके अभाव के कारण ही वह राक्षस इस ग्रामको इतना सता रहा था। भीमसेन ने उसको मारा और उस एकचक्रा नगरीको तथा उस वेत्रकीयरियासतका असुरके भयसे मुक्त किया ।

जिस भयको अकेला तेजस्वी वीर हटा सकता है, उसको चालीस हजार डरपोक दुर्बल आदमी भी हटा नहीं सकते । जिस समय भीमसेन ने बकासुर का वध किया, उस समय बकके सभी अनुयायी घबराये, देखिये इसका वर्णन—

[१४] बकासुरका वध ।

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम् । शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद्बकः ॥ १ ॥ तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः । निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः ॥ २ ॥ तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः । सान्त्वयामास बलवान्समये च न्यवेदयत् ॥ ३ ॥ न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित । हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४ ॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत । एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५ ॥ ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत । नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ६ ॥ म.भा.आदि. १६६

" बडे भारी बक राक्षसने देह टूटने पर बडा कोलाहल मचाता हुआ प्राण छोडा । उसके परिवार वर्ग उस शब्दसे भय खा कर नौकर चाकरोंके साथ घरसे निकलकर भीमके पास आ गये । मारनेमें तेज महाबली भीमसेनने उनको भयभीत और ज्ञानरहित देखकर समझाया और यह कहकर उनसे प्रतिज्ञा करा ली, कि तुम फिर कभी मनुष्य न मारना, यदि मारोगे, तो तुमकोभी तुरन्त ही इस प्रकार नष्ट होना पडेगा । राक्षसोंने वृकोदर की यह बात सुनकर, उस बात को मान करके उस नियमको स्वीकार किया । तबसे नगरवाले उस नगरमें राक्षसोंको शांतस्वभावी देखने लगे !! "

(१) भीमसेनके उस बकासुर को मारने पर वहांके अन्य सब राक्षस जिन में (दाक्षिणात्य महाभारतके अनुसार) बकासुर का एक भाईभी था, सबके सब डर गये और भीमसेन को शरण आगये । बडे नरम हुए । इस वर्णन से पता लगता है, कि वे राक्षस भी अपने जीव को अन्य मनुष्योंके समानही सुरक्षित रखना चाहते थे । जबतक मनुष्य डरते थे, तबतक ही उनका अत्याचार चलता था; परंतु जब मनुष्य भी उनको ठोक देनेको तैयार हो जाते थे, तब वेभी मनुष्यों के समानही डर जाते थे । अर्थात् ये राक्षस मनुष्यों के समान ही थे, परंतु थोडे अधिक क्रूर थे। अतः यह स्पष्ट है कि, चालीस हजार आबादीके नगरवासियोंको इतने साल डरानेवाली कोई बात उनमें नहीं थी । परतु शहर वासियोंकी अक्षम्य बुझदिलीके कारण ही वे शहर को सता रहे थे !

[१५] असुर नरम हुए ।

(२) भीमसेन ने उन राक्षसोंका संहार नहीं किया, प्रत्युत एक प्रशंसनीय आर्य वीर के योग्य ही उन सब राक्षसों को समझाया और उनसे प्रतिज्ञा करवायी, कि " वे इस समयके पश्चात् किसी मनुष्यका वध न करें । " सब राक्षसोंने भीमसेन के सामने "मनुष्य वध न करनेकी प्रतिज्ञा की " और अपनी जान बचाई !! भीमसेन ने यह भी उनको निश्चयके साथ कहा कि, यदि फिर मनुष्यवध करोगे, तो उसीसमय तुम सबको इसी प्रकार मार देगें । इसप्रकार राक्षसों को आर्यसभ्यता सिखानेवाला, यही पहिला आर्यवीर था । इसका परिणाम भी उन राक्षसोंपर अच्छाही हुआ ।

(३) उस दिनसे वहांके सब राक्षस नम्र हुए । शहरमें घूमने के समय राक्षस नीचे मुह करके चलने लगे । नहीं तो पहिले उस शहरमें राक्षस छाती ऊपर करके घूमते थे और किसी भी आदमी का अपमान करनेमें उनको कोईभी संकोच नहीं होता था । किसी गृहस्थने यदि उनको पूर्वोक्त वेतन न दिया, तो उस के सर्वस्वका नाश करने और उसके

घरके सब आदमियोंको मारकर खानेमें भी उनको कोई संकोच नहीं होता था। परंतु वेही राक्षस उसी शहरमें आनेके समय डरने लगे !! परिवर्तन केवल अकेले नगरवासी के धैर्य दिखानेसे हुआ। यदि उस नगरमें इस प्रकार धीरवीर दो चार भी पुरुष रहते, तो उनको कोई कष्ट होना संभव ही नहीं था। परंतु इस घटना से भी उस नगरके आदमियोंने कोई बोध नहीं लिया, देखिये—

[१६]कर्तव्यमूढ जन।

तत्राऽऽजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः॥ १२॥ ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम्। दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशांपते १३

म.भा.आदि अ०.१६६

" स्त्री, वृद्ध, बालक, तरुण आदि सब नगरवासी लोग उस मरे हुए बक राक्षस को देखनेके लिये वहां आगये और वह अमानुष कर्म देखकर सभी विस्मित हुए। उसके बाद सब लोग देवतों की उपासना करने लगे। "

देखिये, बकासुर का वध एक मनुष्य ने किया, यह देखनेके बाद भी उस नगरके निकम्मे लोग अखाडे खोल कर और अपने आपको मल्लयुद्ध में प्रवीण बनानेका यत्न न करते हुए, मंदिरोंमें देवताओंकी पूजा करने और घंटे बजानेमें मस्त रहे ! हमारा यह विचार नहीं है, कि आनंद होने पर अपनी इष्ट रीतिसे ईश्वरकी उपासना कोई न करे; परंतु यहां बताना यह है कि, एक बलवान मनुष्य द्वारा उस राक्षस का वध होने की बात प्रत्यक्ष देखने पर भी अपना बल और अपनी संघशक्ति बढाने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई, उन्होंने नगरमें आखाडे नहीं खोले, नवयुवकोंको व्यायाम और कुस्ती करके बल बढाने में उत्तेजित नहीं किया, परंतु अपने अपने मंदिरोंमें जाकर केवल पूजा पाठ ही करने लगे और खूब प्रार्थना भी उन्होंने की होगी!!

तात्पर्य प्रत्यक्ष बनी हुई घटनासे भी लेने योग्य बोध नहीं लिया !! क्या जो लोग इस प्रकारके कर्तव्य-शून्य होंगे, वे कभी भी अपनी रक्षा कर सकते हैं ? कभी नहीं। उनपर यदि बकासुर न रहा, तो दूसरा हिडिंबासुर आकर हुकुमत चलायेगा ही। इस बकासुर की लीलासे अपनी शक्ति बढानेका बोध हरएक ग्राम निवासीको लेना चाहिये, अपनी रक्षा स्वयं करना चाहिये, इत्यादि भाव स्पष्ट ध्यान में आसकते हैं।

[१७] इस कथासे बोध।

बकासुर की कथा का निरीक्षण करनेसे उस समय की सामाजिक स्थिति का जो चित्र मनके सन्मुख खडा होता है, वह ऊपर दियाही है। पाठक ही विचार करें कि क्या यह चित्र समा-

धान कारक है ? जो न्यूनता उस नगर वासियोंमें थी, वह अपनेमें है वा नहीं, इसका विचार पाठकों को करना चाहिये। यदि उस प्रकारकी न्यूनता होगी, तो उसको दूर करना चाहिये। यही बोध प्राचीन कथाके पढनेसे लेना उचित है।

पाठक पूछेंगे कि अब राक्षस ही नहीं हैं, इस लिये अब हमें बल बढाने की क्या आवश्यकता है ? जो मनुष्य आजकी स्थितिभी देखेंगे, अपने आंख खोलकर चारों ओर देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि इस समयका हरएक नगर, उतनाही कमजोर है, कि जितने एकचक्रा नगरीके लोग थे। कलकत्ते जैसे बडे भारी नगर, कि जिसकी आबादी दस लाख से भी अधिक है, वहां के लोग सौ पचास पठाणोंके दंगेके समय भी अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते हैं, उतनाही बडा बम्बई शहर है, वहां भी पठाणोंका उपद्रव इतना है कि लोक बडे ही क्लेशित हुए हैं और अंतमें अखबारोंमें "लेख" पठाणोंके विरोधमें लिख मारते हैं !! उस लेखसे पठाणोंका बिगडना क्या है ? बंबईके कई मूर्ख धनिक इस समय भी यह समझते हैं, कि अपने घरकी रखवारी पठाण के द्वारा ही अच्छी होती है, इसका परिणाम उनको अंतमें बहुतही बुरीरीति से भोगना पडता है ! महाराष्ट्रमें प्रायः छोटे मोटे ग्रामों में दोचार पठाण रहते ही हैं और लेनदेनका व्यवहार करते हैं। जो गरीब लोग विशेषतःगरीब औरतें उनसे रुपये लेती हैं, उन को इतने कष्ट भोगने पडते हैं कि, उनका वर्णन यहां करना असंभव है। यह बीमारी यहां तक ही समाप्त नहीं होती। पूनाके पेशवाओं के देवता मंदिरकी रक्षा के लिये रखवारे पठाण अथवा रोहिले ही थे। पेशवाओं का धुरंधर दिवान नाना फडनवीस की आत्मरक्षा के लिये भी वेही नियुक्त थे। इससे यह होता था कि जिस समय ये पठाण लोग बिगड बैठते थे, उस समय स्वयं पेशवाओं परभी बडी भारी आफत मच जाती थी !! जिसप्रकार पांडवोंके समय वेत्रकीय रियासतमें एकचक्रा नगरी का रक्षण ये असुर देशीय राक्षस कर रहेथे उसी प्रकार स्वयं पेशवाओंके भवन पर ये विदेशी पठाण और रोहिले ही रक्षक थे। देखिये ये रक्षक कहांतक फैले हैं !!

जो अवस्था महाराष्ट्रकी है वही मध्य प्रांत और युक्तप्रांतमें अंशतः है। पंजाब के लोग बहुत बीर हैं,परंतु सीमाप्रांतके ग्रामोंमें आफ्रीडी पठाणों के कारण इनको इतने कष्ट इस समयभी होते हैं कि, उनका वर्णन सुननेसे हृदय फट जाता है।

जब इस बीसवीं सदीमें संपूर्ण सभ्यता इतनी बढ जानेपर और शस्त्रास्त्र इतने उन्नत होनेपर भी पठाणादिकोंसे भारतीय जनताको इतने क्लेश सांप्रतमें हो रहे हैं, तो सहस्रों वर्षोंके पूर्व जिससमय

जनतामें कई प्रकार की कमजोरियां थीं। उस समय पठाणों और रोहिलों की अपेक्षा सेकडों गुणा क्रूर और नरमांसभोजी खून पीनेवाले असुर देशीय राक्षसोंसे पूर्वोक्त प्रकार एकचक्राके नगरवासियोंको कष्ट हुए, तो कमसे कम आजकलके भारतीय नागरिकोंको अपने पूर्वजोंकी हंसी करने का अधिकार तो बिलकुल नहीं है। क्यों कि एकचक्रानगरी के रहिवासियों के समानही आजकलके हिंदुस्थानी अपने ग्राम, नगर, प्रांत और राष्ट्र का संरक्षण करनेमें वैसेही असमर्थ हैं। भेद इतनाही है कि उस समय उनके पास एक भीम था और इस समय कोई भीम नहीं है और इसके साथ भारतीय जनता आपस की फूटसे शतधा विदीर्ण है। इसलिये पाठकही विचार कर सकते हैं कि गत पांच सहस्र वर्षों में स्वसंरक्षण करने के विषयमें हम सुधर गये हैं या बिगड गये हैं? इस का विचार करने के पश्चात् इस कथासे उचित बोध हरएकको लेना चाहिये। वह बोध यही है कि, हरएक व्यक्ति, कुटुंब, ग्राम, नगर, प्रांत और देशको अपना संरक्षण करनेकी और दूसरोंकी रक्षा करनेकी शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। कमजोर रहने वालों का जीवित वैसाही कष्टमय होगा जैसा कि एकचक्रा नगरीनिवासियोंका होगया था। बकासुर सदा सर्वत्र रहते ही हैं, यदि पूर्वकाल में बकासुर मनुष्योंका रक्त प्रत्यक्ष पीते थे, तो इस समय अन्य रीतिसे सताते होंगे और भविष्य में कोई दूसरीही रीति ढूंढेंगे, सतानेकी रीति भिन्न होनेपर भी क्लेशोंकी मात्रा न्यून नहीं होती, यह ध्यानमें धरना चाहिये। बकासुर जनताको क्यों सताते हैं? इसका उत्तर यही है कि जनता वैदिक उपदेशानुसार चलती नहीं। वेदका उपदेश बलसंवर्धन के विषयमें प्रसिद्ध ही है, उनमेंसे यहां नमूनेके लिये एकही मंत्र देखिये-

[१८] वैदिक उपदेश।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥

अथर्व. १२।१।५४

मैं इस (भूम्यां) अपनी मातृभूमिमें (उत्तरः नाम) अधिक श्रेष्ठ हुआ हूं, मैं (सहमानः) विजयी हूं, मैं (अभीषाड्) सबप्रकार से शत्रुका पराजय करनेवाला (विश्वाषाट्) सर्वत्र विजयी और (आशामाशां) प्रत्येक दिशामें (विषासहिः) विजयी हूं।"

जो नागरिक इस प्रकार अपने आपको विजयी बनने योग्य बलवान बना सकते हैं, वेही बकासुरको हटासकते हैं, जो नहीं बना सकते वे बकासुर के पेटमेंही चले जांयगे।

महाभारत के कथाप्रसंगोंमें राजनीति की शिक्षा किस ढंगसे होती है, वह इस

कथाके मनन से पाठक देख सकते हैं। इसलिये निवेदन यह है, कि इन कथाओं को गपोडे कहके झटपट फेंक देना उचित नहीं है, परंतु मननद्वारा इन कथाओंसे उचित बोधही लेना चाहिये।

वैदिक उपदेशानुसार न चलनेसे एकचक्रा नगरीको कैसा दुःख उठाना पडा था और वैदिक उपदेशानुसार अपना बल बढानेवाला अकेला भीमसेन उस नगरके रहिवासियोंका हित किस प्रकार कर सका, यही बात इस कथामें देखनी है और इससे उचित बोध लेना है। आशा है कि पाठक इससे अपना लाभ होने योग्य बोध लेंगे।

दम्मा और शीर्षासन।

(लेखक-श्री० रामचंद्र वा० कापरे ।चित्रकार. कऱ्हाड)

सन १९१५ के अगस्त मासमें मुझे दम्भाका कष्ट प्रारंभ हुआ। इससे पूर्व मुझे इस प्रकार की कोई बीमारी नहीं थी। खांसी, बलगम आदि से मुझे कभी कष्ट नहीं हुए।

जब दम्माका कष्ट बढ गया तब मैं डा० वाटवे महोदय जी के पास गया और उसने बडे परिश्रम से मेरी शरीरावस्थाकी परीक्षा करके कहा कि- "यह दम्मा आपके पूर्वजोंसे आपके शरीर में आगया है, इसलिये आपको बडे पथ्य से आहार विहार करना चाहिये। अन्यथा आपकी शक्ति क्षीण होते ही इस बीमारीके कष्ट आपको बहुत ही सहने पडेंगे।"

दम्माकी बीमारी शुरू होनेके पूर्व मेरी दिनचर्या निम्न प्रकार थी। मैं बंबईमें माधवाश्रम में रहाता था। वहां दोपहर के तथा रात्रीके भोजनके समय भी मैं दही, छाछ आदि बहुत पीताथा। छाछके साथही दूध भी पीताथा। रोटीके साथ भी दही और मिश्री मिला कर खाता था। रात्रीमें दूध पीने के पश्चात् नियम से पानी पीता था। और कभी व्यायाम नहीं करता था। इस प्रकार खासीकी बीमारी होने के लिये जिस प्रकारका अपथ्य करना चाहिये वह मैं नियमसे करता था। अंतमें अपथ्यकी मर्यादा समाप्त होगई और दम्माकी बीमारीने मेरे शरीर पर बडे जोर से आक्रमण किया।

मेरी माता दम्माके रोगसे बहुत रोगी थी और उनके दोषके कारण वह रोग मेरे शरीर में आगया था। सन १९१४के अगस्तसे यह दम्मा मुझे सताने लगा। डाक्टरों और वैद्यों के अनेक औषधोपचार किये परंतु यत्किंचितभी आराम नहीं हुआ। होते होते मेरी अवस्था यहां तक पहुंची कि "अब मरता हूं वा घडी भरके पश्चात् मरता हूं" इसका ही विचार मेरे सामने उपस्थित हुआ।

बंबई छोडकर पूनामें आगया, परंतु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। वहांसे भी सब कारोबार छोड छाड कर अपनी जन्मभूमि कऱ्हाडमें

आगया और वहां आर्य वैद्यक के उपचार श्री० श्रीपतराव वैद्य जी के द्वारा करता रहा जिससे थोडा आराम प्राप्त होने के पश्चात मैं बंबईमें गया, परंतु वहां जाते ही दम्मा फिर शुरू हुआ। इस प्रकार कुछ महिने बंबईमें और कुछ मास कन्हाडमें रहता रहा। इस कारण मेरे चित्रकारी का व्यवसाय चलानेमें बडी कठिनता होने लगी। इस प्रकार सन १९१७ तक अत्यंत कष्ट हुए। किसीभि दवासे कोई गुण नहीं हुआ।

सन १९१७ के जून महिनेमें बंबईमेंएक योगी संन्यासी आयेथे। उनका एक व्याख्यान हुआ जिसमें योगी महाराजनें कहा कि "शीर्षासन का अभ्यास करनेसे आंख निर्दोष होते हैं, मस्तिष्क उत्तम कार्य करता है, बाल काले होते हैं, पहिले पंद्रह दिन पांच मिनिट दूसरे पंद्रह दिन दस मिनिट इस रीतिसे क्रमपूर्वक बढाना और एक घंटा तक अपना अभ्यास बढाना चाहिये। भोजन उत्तम सात्विक और स्निग्ध होना चाहिये। प्रतिदिन संभव हुआ तो केले खाने चाहिये। इस अभ्याससे सब शरीर सुधरजाता है।"

यह व्याख्यान का वृत्तान्त मुझे मित्रों द्वारा विदित हुआ। इसी दिन मैनें शीर्षासन लगाना प्रारंभ किया। प्रति पंद्रह दिन पांच मिनिट बढाते बढाते एक घंटा तक अभ्यास मैंने बढाया। पश्चात् मैं सवेरे एक घंटा और शाम को एक घंटा करने लगा। कुछ दिनोंके बाद मैं सवेरे ही दो घंटे लगातार करने लगा।

जब मेरा अभ्यास आध घंटेसे अधिक हुआ तबसे मेरा दम्मा कम होने लगा। गुण प्रतीत होते ही मेरा विश्वास अधिकाधिक जमने लगा। दो घंटे अभ्यास होते ही दमाका नाम निशान भी न रहा। मैंने और अभ्यास बढाया और तीन घंटे तक शीर्षासन करने लगा। इससे बहुत ही उत्साह बढा और सवातीन घंटे तक मैंने अभ्यास किया।

प्रातः चार बजेसे सवासात बजेतक मैं वह आसन करता था।

जब दम्माकी बीमारी पूर्ण रूपसे दूर हो गई तो फिर मैं केवल दोघंटे का ही अभ्यास करने लगा। जो दम्मा तीन साल औषध खाते खाते भी नहीं गयाथा, वही दमा शीर्षासन के अभ्याससे हटगया। अब इस बातको छह वर्ष हुए हैं। मैं प्रतिदिन दो घंटे शीर्षासन करता हूं और एक दिन भी दमा का कष्ट नहीं हुआ।

परंतु कुछदिन हुए मेरे डाक्टरोंने कहा और मेरे मित्रोंकी भी संमति हुई कि अब शीर्षासन करना छोडना चाहिये। मुझेभी वैसाही प्रतीत होता था। इसलिये मैनें एक दम शीर्षासन करना बंद किया। १५।२० दिन कोई कष्ट नहीं हुए परंतु २० दिनोंके पश्चात् दम्माका बिकार फिर प्रारंभ हुवा।

इस समय मैं एक अपथ्य भी कर रहाथा। इन दिनों मैं नदी के शीत जलमें खूब तैरताथा। जिन दिनोमें मैं शीर्षासन करता रहता था, उन दिनोंमें नदीमें तैरने से भी दम्मा नहीं हुआ। परंतु शीर्षासन का अभ्यास बंद होते ही शीतजलकी बाधा होगई और दम्मा शुरू होगया।

इसलिये मैनें शीर्षासन का अभ्यास फिर

शुरू किया परंतु दम्माका जोर इतना बढ गया कि किसी दिन शीर्षासन करना भी असंभव होजाता था । परंतु अन्य उपायों के साथ जब लगातार १५।२० दिन शीर्षासन किया तब दम्माका जोर फिर कम होगया । इससे स्पष्ट होता है कि शीर्षासन से दम्मा हट जाता है । परंतु अपथ्य नहीं करना चाहिये ।

शीर्षासन से मुझे बहुत ही अन्य लाभ हुए हैं । गत छह वर्षोंमें मुझे किसी प्रकार की बीमारी नहीं हुई । आयनक न लगाते हुए भी मैं चित्रोंका बारीक काम कर सकता हूं, ऐसे मेरे आंख उत्तम हैं । मेरी आयु इस समय ४५ वर्ष की है, परंतु मेरी शक्ती कम नहीं हुई । मैं अबभी बढईका लकडीका काम चोखटे आदि बनाना स्वयं ही करता हूं । दम्मा के बीमारको नदीके शीत-जलमें स्नान करना निःसंदेह हानिकारक है, परंतु शीर्षासनके बलसे मैं वह कर रहा हूं।

गत इन्फ्लुएन्झा के समय मुझे वह ज्वर हुआ परंतु मैंने औषध लिया नहीं, केवल शीर्षासन किया और ज्वर को हटाया ।

इस प्रकार अनेक रीतिसे मुझे इस शीर्षासन से बहुत ही लाभ हुए हैं ।

इन्फ्लुऐंझाका ज्वर १०५डीग्री था उस समय मैंनें शीर्षासन करना शुरू किया । बडी देर के पश्चात ज्वर उतरने लगा । इस दिन मैंने थोडा थोडा मिलकर कई घंटे शीर्षासन किया था। ज्वर बहुत हटगया और मुझे भूख लगी।उस समय मैंने थोडासा अन्न भी खालिया। इस प्रकार मैं तीन दिन करता रहा । तीसरे-दिन मैं बिलकुल अच्छा हुआ ।

इसके पंद्रह दिन के पश्चात् फिर वही बुखार हुआ । उस समय भी मैंने यही उपाय किया । तबसे जो बुखार हटगया है वह इस समय तक मेरे पास आयाहि नहीं ।

साधारण ज्वरोंपर भी शीर्षासन का परिणाम अछा होता है । सिरदर्दपर इसके समान दूसरा उपाय ही नहीं है ।

दयानन्द जन्म शताब्दी के उपलक्ष्यमें पं० अभयद्वारा संगृहीत ।

वैदिक उपदेश माला।

(१) श्रद्धा ।

" श्रद्धया विन्दते वसु । "

प्रायः सुना जाता है कि हम आर्यसमाज के सभासदों में श्रद्धा की कमी होती है । यह कहां तक ठीक है यह तो पाठकों को अपने हृदयों से पूछना चाहिये । कई बार स्वयं इस लेख के लेखक का ऐसा दौभार्ग्य हुआ है कि कई अन्यमतावलम्बी बडे भद्र पुरुषोंने केवल यह जानकर कि आर्यसमाजी है यह निश्चय से मान लिया था कि यह अवश्य श्रद्धा रहित है और इसमें बडी कठिनाई उपस्थित हुई । जरा बिचारिये यह हम

पर कितना भारी लांछन है। इस ऋषि-स्मरण के सुअवसर पर हमें चाहिये कि हम अपने परसे यह लाञ्छन भी शीघ्रसे शीघ्र दूर करने का प्रबल यत्न करें । आशा है कि यदि हम इस दिशामें थोडासा भी यत्न करेंगे तो आसानी से इस श्रद्धा प्राप्ति में हम कृत कार्य हो सकेंगे ।

हम में श्रद्धा की कमी क्यों है ? कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जिस जमाने में आर्यसमाज का उदय हुआ उस समय अन्ध विश्वास का सर्वत्र राज्य था । इस लिये आर्यसमाज को तर्कका विशेषतया अवलम्बन करना पडा। परन्तु यह तर्क शायद हममें इतना बढ गया है कि अपनी सीमा को उलंघन कर गया है और इस लिये श्रद्धा

समझनेके लिये हमें श्रद्धाका स्वरूप देखना चाहिये। श्रद्धा का सरल भाषार्थ है "सत्यमें विश्वास" इसका शब्दार्थ भी श्रत्+धा अर्थात् सत्य की धारणा ऐसा होता है । जब तक हमारी किसी सत्य में श्रद्धा नहीं होती तब तक वह सत्य हमारे हृदयमें पूर्ण तरह नहीं जमता । श्रद्धा ही हमारे अन्दर सत्य को दृढता से जमा देती है । और जब हममें कोई सत्य जम जाय तभी हम उस के आधारपर तर्क द्वारा अगला ज्ञान प्राप्तकर सकते हैं ।उदाहरणार्थ–यदि हमें इस प्रसिद्ध व्याप्ति में कि 'जहां जहां धुआं होता है वहां अवश्य आग होती है' श्रद्धा न हो तब हम इस आधार पर कोई ज्ञान नहीं पा सकते–तर्क नहीं कर सकते । अतः तर्क के लिये श्रद्धा जरूरी

श्रद्धासे कार्य करनेसे सफलता प्राप्त होती है ।

देवता हमसे रुष्ट हो गई हैं । क्या हमारी श्रद्धा विहीनता का यही कारण नहीं है ?

इस लिये हमें श्रद्धा और तर्क का ठीक ठीक स्थान समझ लेना चाहिये । आवश्यक तो ये दोनों वस्तुएं हैं । उनको दो विरोधी वस्तुयें समझना बडी भूल है । ये दोनों तो भाई और बहनें हैं और परस्पर अत्यंत साहाय्यक हैं। एक सूत्र में कहा जाय तो श्रद्धा होनेपर ही हम अगला तर्क ठीक कर सकते हैं तथा तर्क द्वारा श्रद्धा स्थापित होती है। इसके

है । और श्रद्धा भी तर्क से होती है । जब हमें किसी मनुष्य में या ग्रन्थमें श्रद्धा होती है तो असल में हमारा मन पहले तर्क करता है कि ऐसे मनुष्य की या इस मनुष्यकी, ऐसे ग्रंथ की या इस ग्रंथकी बातें सच्ची ही होती हैं अतः यह जो कुछ कहता है वह ठीक है । नहीं तो हर एक आदमी या हर एक बात में हमारी श्रद्धा क्यों नहीं हो जाती । वस्तुतः जहां कहीं हमारी श्रद्धा जमती है वहां पहले तर्क काम कर चुका

होता है । अतः यह स्पष्ट है श्रद्धा और तर्क परस्पर अत्यंत संबद्ध हैं । जिस में जितनी अधिक श्रद्धा होगी वह उतना ही उच्चतप कर सकेगा और ठीक सत्य प्राप्त कर सकेगा। हम में श्रद्धा की कमी है अतः हमारा तर्क भी हमें बहुत दूर नहीं पहुंचाता और हमारे लिये उच्च सत्य को नहीं प्रकाशित करता।

इस लिये जरा ऋषिबोध की घटना पर ही विचार कीजिये । बालक मूलशंकर के रूपमें विद्यमान उस भावी ऋषिने उस रात बेशक यह तर्क किया कि जो अपने शरीर पर से चूहे को भी हटा नहीं सकता वह शिव नहीं हो सकता । परंतु हमें इसका यह तर्क ही दिखाई देता है इसकी आधारभूत जो गहरी श्रद्धा उसमें विद्यमान थी उस पर हमारी दृष्टि नहीं पहुंचती । उस महान् बालक को पता लगा कि उसदिन शिव के उपलक्ष्यमें उपवास करना चाहिये उसने माताद्वारारोके जाने परभी श्रद्धावश उपवास किया। उसे बडों से पता लगता था कि इस शिवरात्रि को जागरण करना चाहिये, बस उसने रातभर जागरण व्रत का निश्चय करलिया और संपूर्ण रात्रि आंखों पर पानी के छींटे डाल डाल कर अपने व्रतको निबाहा ।

उस छोटेसे बालक की यह श्रद्धा अनुभव करने ही योग्य है । इसी श्रद्धा का बल था कि वह ऐसा महान् तर्क कर सका जो कि पीछे सहस्रों की आंखे खोलने वाला हुआ। यदि तर्क न्याय शास्त्र पढलेनेसे ही आ जाता हो तो उन पुजारियों में भी कई न्याय के पढे हुए पण्डित होंगे जो कि वहां शिवमन्दिर में उस रात पडे सोते रहे, जब कि श्रद्धामय मूलशंकर पास जागता रहा । इसीलिये चाहे उन्होंने सैकडों बार शिवमूर्ति पर चूहे चढने जैसे दृश्य देखे होंगे परन्तु फिरभी वे मूलशंकर जैसा तर्क न कर सके । इसका कारण यही है कि बिना श्रद्धा के ठीक तर्क किया ही नही जा सकता । असली तार्किक वही है जो कि श्रद्धालु है इस अश्रद्धालु-ओं के तर्क प्रायः कुतर्क होते हैं और वे हमें सत्य पर नहीं पहुंचाते तथा वहीं ओर भटका देते हैं ।

अतएव भगवान् व्यास ने लिखा है "तर्काप्रतिष्ठानात्" यदि हम हर एक बात सचमुच तर्क से ही निश्चय करने लगें तो हम एक छोटसी क्रिया भी नहीं पूरी कर सकेंगे । परन्तु मनुष्य स्वभावतः बहुत सी बातों को बिना तर्क के मान लेता है । "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" हमारे शायद तीन चौथाई काम जरूर केवल श्रद्धा के बल पर होते हैं । यदि हम हर एक बात में तर्क करने लगें तो हमारा जीवन ही असंभव हो जाय। हम सब तर्क द्वारा जान ही नहीं सकते इसी लिये शब्द प्रमाण मानने की आवश्यकता होती है नहीं तो बौद्धों की तरह प्रत्यक्ष और अनुमान ही हमारे लिये काफी थे। परंतु हमें चूंकि तर्क के अप्रतिष्ठान आधार पर नहीं रह सकते इसलिये हमें अनुभवी पुरुषों की, आप्त जनों की बात मान लेनी आवश्यक होती है और वह प्रामाणिक होती है । ऐसी

अवस्थाओं में सत्य जाननेका और कोई तरीका ही नहीं होता। यदि मैं जन्म से अन्धा हूं तो स्पष्ट है कि मैं किसी वस्तु के रूपको नहीं देख स ता और उसके आधार से किये जानेवाला तर्क भी नहीं कर सकता। तो जो चीज आंखसे देखने की हैं उन्हें मैं सब आंख वालों के कहने पर यदि श्रद्धा कर न मान लूं, और इस दर्शन से अनुमित वालों को भी मैं न मानलूं, तो मैं केवल अपनेको ज्ञानसे वंचित करूंगा और हानि उठाऊंगा। इसी तरह असल में हम सब लोग बहुत सी बातों के लिये अन्धे हैं-जिन उच्च अवस्था ओं को हमने प्राप्त नहीं किया है वहां के सत्यों को हम नहीं जान सकते और इन सत्यों के आधार पर तर्क करके जानी हुई बातों को भी नहीं जान सकते। इसलिये यदि इस स्थिति को प्राप्त कोई आप्त पुरुष हो या फिर उस के वचन हों तो हमें उसकी बात पर श्रधा ही करनी चाहिये। वहां तर्क करना वृथा है। यदि हम उस की बात नहीं मानेंगे तो हमारी ही हानि है और कुछ नहीं। इस लिये ऋषि मुनि महात्मा ओं पर श्रद्धा करनी चाहिये। वेदपर श्रद्धा करनी चाहिये। उन आप्तों की कही बातें यदि पूरी तरह नहीं समझमें आती हो तो भी कुछ देर तो श्रद्धा पूर्वक आचरण करते हुवे उन्हें समझाने का यत्न करना चाहिये। यह बात व्यर्थ है कि हमें तर्कसे यह समझ में नहीं आयी। वहां श्रद्धा ही तर्क है। एक कथा है कि एक कुवें के मेंढक के पास एक समुद्र का मेंढक गया। समुद्र के मेंढक ने कहा कि समुद्र बहुत बडा है। पास पडे हुवे पत्थरकी तरफ इशारा करके कूपमण्डूकने पूछा 'क्या इससे भी बडा है?' उसने कहा 'इससे क्या इस कुवेंसे भी न जाने कितना बडा है।' इस पर इस कुवे के मेंढक को बडा घुस्सा आगया और उसने कहा 'जा झूठे, तू यहां से चल जा।' यह बिचारा कुवें का मेंढक जिसने कि कुवेंके सिवाय कभी कुछ वस्तु नहीं देखी कैसे मान सकता है कि कुवें से भी बडी वस्तु कोई होगी। यही हालत बहुत बार हमारी होती है। कई बार सचमुच किसी सूक्ष्म सत्य के बताये जाने पर हमें क्रोध आया करता है, जहां कि असलमें हमें श्रद्धा होनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये श्रद्धा और शब्द प्रमाण कितने आवश्यक हैं यह पाठक समझ गये होंगे।

साथ ही सत्य में श्रद्धा होने से बडा बल प्राप्त होता है। श्रद्धा के बल पर हम दुनिया में जम जाते हैं। यदि हम तर्क करें तो हमें खडे खडे होने को जगह नहीं है। ऐसी हालत में हम सदा संशयित अवस्थामें रहेंगे इसलिये हमें चाहियें, कि जिस चीज का ज्ञान हो जाय कि यह सत्य है उस पर हम श्रद्धा करें-इस पर दृढ विश्वास जमावें। यदि हमारी किसी एक सत्यपर ही पूरी श्रद्धा हो जाय तो हममें इतना बल प्रगट हो जायगा कि बडा आश्चर्य होगा। सब महापुरुष दुनियाकी किसी एक सचाई में अगाध विश्वास

रखने के कारण ही महापुरुष हुये हैं। ऋषि दयानन्द की सत्यपर श्रद्धा थी- परमात्मापर अटल श्रद्धा थी, इस लिये वे परमात्मा को सदा अपने साथ अनुभव करते थे और उस की सर्व शक्तिमत्ता की छाया अपने ऊपर समझते हुये सत्य का प्रचार करते थे। इसीलिये वे इतने बली थे निर्भीक थे प्रतापी थे। यदि हमें पूर्व जन्ममें विश्वास हो आत्मा की अमरता में विश्वास हो, कर्मों के अटल फलमें विश्वास हो, सत्य की ही जय होने में विश्वास हो, तप की शक्तिमें विश्वास हो इनमेंसे किसी एक बात में अटल श्रद्धा हो तो हम असाधारण पुरुष बने विना नहीं रह सकते। श्रद्धामें ऐसा ही बल है। इस श्रद्धा से विपरीत है अविश्वास संशयात्मता। भगवान् कृष्णने चौथाई श्लोकमें कह दिया है "संशयात्मा विनश्यति" संशयस्वभाव पुरुष का नाश होता है। हमारी किसी भी सत्यमें दृढ श्रद्धा न होने के कारण हम हरएक बातमें शंकित रहते हैं, "इससे न जाने क्या होगा इसका कुछ फल होगा या नहीं।" हमारे सब काम इसी संशयात्मतामें किये जाने के कारण वे सब निर्बल होते हैं और उन का कुछ फल नहीं होता अथवा बहुत अपर्याप्त फल होता है। इसी लिये वेदने बतलाया है।-

श्रद्धया विन्दते वसु।

हर एक प्रकार की सफलता श्रद्धासे मिलती है। परमात्मा की भिन्न भिन्न शक्तियों में विश्वास ही " देवताओं में श्रद्धा " है। जिसका जितने बडे सत्य में विश्वास होगा उसमें उतना ही अधिक बल प्रगट होगा और सफलता मिलेगी। जहांतक मनुष्यें में श्रद्धा होती है, निःसंशयावस्था रहती है वहां तक वह बडे वेगसे और शक्तिसे काम करता है यह सभी के अनुभव की बात होगी। इसलिये श्रद्धा जमाने का सरल उपाय यह है कि हम दिन में जो भी काम करें हर एक काम श्रद्धासे करें - **इससे यह जरूर फल होगा** इस विश्वास के साथ करें। **श्रद्धा विहीन** होकर, उसके लाभ में सन्देह रखते हुए या उसे निष्फल समझते हुये अप्रसन्न मनसे कोई भी काम न करे। हर एक कार्य का " वसु " तो श्रद्धासे हि प्राप्त होता है। यह बात किसकी अनुभव की हुई नहीं है कि यदि एक ही काम और समान कालमें एक बार अश्रद्धासे और एक बार श्रद्धासे किया जाय तो उसका फल क्रमशः " बहुत कम लाभ " " बहुत अधिक लाभ " होता है। तो हम यदि निष्फल कार्य नहीं करना चाहते तो हमें अपने सब कर्म श्रद्धासे करने चाहिये। संध्या श्रद्धासे कीजिये, व्यायाम श्रद्धा से कीजिये, शयन श्रद्धासे कीजिये, अपना हर एक काम श्रद्धासे कीजिये। चौबीसों घंटे हमारे अन्दर श्रद्धाका राज्य रहे। तब हम इस वेदोक्त प्रार्थना में संमिलित हो सकेंगे कि -

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ऋ० १०।१५१।५

अर्थात्-प्रातः हम अपने में श्रद्धा को

बुलावें, दिनभर हममें श्रद्धा रहे, सायं को भी श्रद्धा का आह्वान करें, हे श्रद्धे ! तू हमें सदा श्रद्धायुक्त रख।

यदि हम इस प्रकार अपना जीवन श्रद्धामय बनावेंगे तो हम श्रद्धामूर्ति दयानन्द के शिष्यों पर कोई लाञ्छन न लगा सकेगा कि आर्य समाज के लोक साधारणतः अश्रद्धालु होते हैं।

उत्साह।

[लेखक—श्री. जयंत जी।]

उत्साह धर्म का चिन्ह है। धर्म केवल ज्ञान से ही नहीं बरन कर्तव्य परायणता से ही मुख्यतः संबंध रखता है। परंतु कर्तव्य परायणता के लिए उत्साह अत्यंत ही अनिवार्य है, अतएव धर्म के लिए उत्साह की आवश्यकता प्रतीत होती है। केवल धर्म के लिए ही नहीं बरन मनुष्य की प्रत्येक क्रिया चाहे धार्मिक, राजनैतिक या सामाजिक हो, उत्साह की आवश्यकता रखती है। उत्साह से रहित धर्म और जीवन दोनों भाररूप हैं। उत्साह ही केवल मरते हुवे मनुष्य में जीवन का संचार कर सक्ता है, सूखते हुए शरीर में प्रफुल्लितता और शक्तिका संचार कर सक्ता है, और मरे हुए राष्ट्रका फिर भी पुनर्जीवन कर सक्ता है। जो मनुष्य इसकी शक्तिको जानता है और तद्वत् इसके बढानेका प्रयत्न करता रहता है, वही मनुष्य जातिके हितके लिए, राष्ट्र तथा संसार के लिए कुछ कर सक्ता है। बरन उत्साह विहीन मनुष्यों में इन से बढकर कई गुनी शक्ति विधमान रहती है। यदि एक ओर उत्साह आनंद की वर्षा कर सकता है दूसरी ओर उत्साह विहीनता मनुष्यको दुःख सागर में कुचलकर मारने की शक्ति अवश्य रखती है। यदि एक ओर उत्साह राष्ट्र में उन्नतिकर सक्ता है, तो दूसरी ओर उत्साह विहीनता उन्नत हुए को क्षण भर में रसातल पहुंचा सक्ती है। जिस उत्साह को कोई कार्य पूरा करने में हजारों वर्षोंका घोर तप करना पडता है, वही उत्साह हीनता क्षण भरमें विपरीत कर देती है।

जब तक इस देव भूमि पर उत्साह का

साम्राज्य रहा तब तक भारत देवी अपने गर्भ से राम और कृष्ण जैसे आदरणीय तथा आदर्श पुरुष उत्पन्न करती रही। परंतु जब से उत्साह जाता रहा, तबसे भारत वर्ष सभी कुछ खो बैठा और यह वही समय है, जब से भारत वर्ष में गुलाम और कायर पुरुष भार रूप उत्पन्न होने लगे। हम उत्साह से वंचित पुरुष समाज और धर्म के कितने घातक हैं, इसका विचार कर आज भी यह लेखनी कंपित हो जाती है, कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आज भी इन बातों को सुन कर दुःखित और व्याकुल न हो जब कोई उन्नति का प्रश्न हमारे संमुख आता है तब व्यथित हृदयसे कातर और मर्मभेदी वाणी निकलती है "भगवान ही मालक है!"

असंख्य रुपये व्यय हो चुके, अनगिनती मनुष्य उद्यमकर कर कालके पथिक बन गये, हजारों हजारों के पुकार पुकार कर गले बैठ गये, प्रत्येक बात जो कुछ भी संभव थी कर दिखाई, परंतु हाय मृत काष्टवत् भारत संतान अब भी जागृत न हुई। यदि किसी में कुछ कुछ चमकती हुइ ज्योति दिखाई भी देती है, तो वह केवल अल्पकालीन रहकर मेघच्छन्न गगन में विलीन हो जाती है। क्या आप इसका कारण कुछ सोच सक्ते हैं ? जहांतक मेरा विचार है, इन उद्यम शील मनुष्यों ने जितना प्रयत्न कार्य की नीव डालने में किया है, उतना यदि उत्साह का पनर्जीवन कराने में करते, तो अवश्यमेव ही कई कार्य हस्तामलकवत् हो जाते, अर्वाचीन धर्म-शिक्षा विहीन पाठशालाएं मनुष्योंको उत्साह-हीन बनाने का सर्व श्रेष्ठ यंत्र है। जब हम किसी विद्यार्थी को उसके पढने का कारण पूछते हैं तो उसके मुख से "नौकरी" शब्द निकलता है जब हम किसी नौकर के पास जाकर उससे पूछते हैं, कि क्या आपको आनंद है, तो रोदनमयी आवाज से हृदय विदारक प्रलाप सुनाई देता है।

आजकलके युवक प्रलापी कितने हैं, यह सर्व ज्ञात है। अतएव पुष्टिकरण की आवश्यकता नहीं रखता। मैं यह स्पष्टतया कहता हूं और अन्यत्र साबित कर दिखाऊंगा कि प्रलाप कायरता का अन्तिम परिणाम है। जिस में जितनी कायरता अधिक होती, उसमें उतनी ही प्रलाप करने की शक्ति अधिक होती। कहां शिक्षा का ध्येय स्वतंत्रता, स्वावलंबन और आत्मिक विकास था, और कहां शिक्षासे कायर, प्रलापी और परावलंबी मनुष्य बनने लगे !

क्या अबभी यही मानेंगे कि वर्तमान शिक्षालय वस्तुतः शिक्षालय है, या कायर बनाने की मशीन है। क्या इसे आप अब भी वर्तमान शिक्षा कहेंगे; किंचित नहीं कही जा सक्ती। भाइयो! यदि आप मनुष्य का ध्येय सुख और आत्म-कल्याण मानते हैं, या इस में सहमत भी हैं, तो कहिये कि बिना धार्मिक शिक्षाके इन उद्देशों की पूर्ति किस प्रकार हो सक्ती है? विषय बडा गंभीर है, चाहे जितना भी लिखा जाय, इसके लिए थोडा होगा

अतएव कतिपय शब्द और लिखकर इसे यहां ही समाप्त कर दूंगा और आगामी किरण में उत्साह किसप्रकार बढाया जा सक्ता है, इसका विवरण लिखूंगा। यह याद रहे कि यदि हमारा ध्येय सुख और आत्मकल्याण है, और यह बिना धर्म्म के नहीं प्राप्त हो सक्ता है, धर्म बिना शिक्षा के नही रह सक्ता, और धर्म और शिक्षा दोनों ही बिना उत्साह के जीवित कदापि नहीं रह सकते। उत्साह विहीन धर्म धर्म नहीं रहा जा सक्ता और उत्साहके बिना धर्म रहा तो वाणीतक ही और अल्प कालीन रहकर वाणीसे भी परे हो जायगा। अतएव प्रत्येक कार्य्य में चाहे किंचित से भी यत्किंचित हो. और महान् से भी महान हो उत्साह के अस्तित्व रखने में दृढ प्रयत्न करो।

वैदिकधर्म की तुलना।

(श्री. पं. धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार)

अककसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये। याय नाभिसजे किञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्"

जो कोमल,शिक्षादायक सच्ची बात को बोलता है और किसी कार्य वा वस्तु में आसक्त नहीं होता उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

श्लोक २१ में कहा है जो गंभीर बुद्धि वाला मेधावी, मार्ग और अमार्ग जानने वाला और उत्तम अवस्था को प्राप्त हुआ हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। श्लोक ९ में कहा है, काय वचन और मन से जिसके अन्दर किसी तरह का पाप नहीं तीनों को जिसने से संवृत अर्थात गुप्त-सुरक्षित करके रखा हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। सुत्त निपात ६५० में कहा है—

न जच्चा ब्राह्मणो होति,न सच्चा होति अब्राह्मणो। कम्मणा ब्राह्मणो होति, कम्मणा होति अब्राह्मणो।

६५५ श्लो. में कहा है

तपेन ब्रह्मचरियेण, संयमेन दमेन च। एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मण मुत्तमम् ॥

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता किन्तु कर्म से ही अब्राह्मण होता है। तप ब्रह्मचर्य संयम दम इन के द्वारा पुरुष ब्राह्मण बनता है ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम है। तृतयि परिच्छेद में वेद के अनुसार ब्राह्मणों के जो लक्षण और कर्म बताये गये

हैं उन के साथ इन वाक्यों की तुलना करने पर बडी समानता दिखाई देती है। वेदके अन्दर शारीरिक वाचिक और मानसिक पवित्रता को सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य बताया गया है **इस बात को** सप्रमाण द्वितीय परिच्छेद में दिखाया जा चुका है इसी बात को भगवान् गौतम बुद्ध ने क्रोध वर्ग में---

काय दुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥ ११ ॥ वचो दुच्चरितं हित्वा,वाचाय सुचरितं चरे॥१२॥ मनो दुच्चरितं हित्वा ,मनसा सुचरितं चरे ॥ १३ ॥

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बताया है। शरीर वाणी मन से सब प्रकार की अपवित्रता दूर कर के सदा उत्तम योग्य व्यवहार करना चाहिये ऐसा इन श्लोकों का तात्पर्य है।

जीवन का उद्देश्य यह कर्तव्य शास्त्र का अत्यावश्यक प्रश्न है जिसके सम्बन्ध में वैदिक भाव का प्रथम परिच्छेद में निर्देश किया जा चुका है। बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के अनुसार निर्वाण प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है। कइयों का विचार है कि शून्य रूप हो जाना ही निर्वाण है पर वास्तव में यह बात सत्य नहीं मालूम देती। निर्वाण का मुख्य तात्पर्य दुःख के नाशसे अवश्य है पर उस में पूर्णानन्दकी प्राप्ति का भाव भी जरूर मिला हुआ है। सुख वग्ग के ८ वे श्लोक में बुद्ध भगवान् ने कहा है–

आरोग्य परमा लाभा,सन्तुट्ठि परमं धनं। विस्सास परमा ञाति, निब्बाणं परमं सुखं ॥

इस का अर्थ यह है कि स्वास्थ्य की प्राप्ति बडा भारी लाभ है, संतोष बडा भारी धन है, विश्वास ही बडा भारी सबन्धी है और निर्वाण परम सुख है। इसी वर्गके सातवें श्लोक में भी निब्बाणं परमं सुखं ये शब्द आये हैं। अप्पमाद वग्ग में निर्वाण के विषय में कहा है-

ते झायिनो साततिका निच्चं दळह परक्कमा। फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरम् ॥ ३ ॥

इस श्लोकमें निरन्तर ध्यान करने वाले धीर पुरुष निर्वाण की तरफ जाते हैं जो निर्वाण अनुत्तर योगक्षेम है अर्थात् जिस से श्रेष्ठ सुख और कोई नहीं है ऐसा बताया है। इस प्रकार के श्लोकों से यह बात साफ है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्रोंमें उपदिष्ट निर्वाण शून्य रूप अवस्था नहीं बल्कि अलौकिक स्थिर सुख की कल्पना है अतः इस विषय में भी वैदिक और बौद्ध शास्त्रोंका समान ही अभिप्राय है। दान के विषय में वैदिक उपदेशों के समान ही ' न वे कदरिया देवलोकं वजंति, बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं' इत्यादि उपदेश धम्मपद लोक वग्ग आदि में पाये जाते हैं जिन में स्पष्ट कहा है कि कृपण लोग देव लोक में कभी नहीं जाते अर्थात सद्गति नही प्राप्त करते और मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते किंतु धीर पुरुष दान करते हुए परलोकमें सुखी होते हैं इत्यादि। इन सब

समानता ओं को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि बाद्ध कतव्य शास्त्र का भी वैदिक कर्तव्य शास्त्रके साथ सीधा या दूर का सम्बन्ध जरूर है। बुद्ध की जीवानियों में वेदाध्ययन का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है इस लिये कोई आश्चर्य नहीं कि इन में से कई बातें उसने सीधी वेद के आधार पर कही हों और कुछ अन्य पातञ्जल योगदर्शनादि के आधार पर बताई हों। कम से कम गैातमबुद्ध ने इस बात क तो कभी दावा नहीं किया कि वह जिन अहिंसादि तत्वों का प्रतिपादन करता था, वे प्राचीन आर्यों को ज्ञात न थे। ब्राह्मण धर्मिक सूत्र में बुद्ध ने स्पष्ट बताया है कि बहुत प्राचीन समय में ये हिंसात्मक यज्ञ न किये जाते थे, उस समय याज्ञिक लोग धान्य से हि होम करते थे, पीछे से ब्राह्मणों ने अधिक दक्षिणा के लोभ से यज्ञों में पशुहिंसा चलाई इत्यादि।

पर एक बडा भारी प्रश्न हमारे सामने यहां पर उपस्थित होता है। कहा जाता है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्र में परमात्मा के लिये कोई स्थान नहीं, बुद्ध भगवान् ने स्पष्ट ही ईश्वर की सत्ता तक से इन्कार कर दिया ऐसी अवस्था में ईसाई मतका बौद्धमत से और बौद्ध मत का वैदिक धर्म से किसी तरहका सम्बन्ध माना ही कैसे जा सकता है। स्वयं बिल्कुल निष्पक्षपात रीतिसे पाली भाषा में लिखे हुए प्राचीन सभी बौद्ध ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन किये बिना इस विषय में निश्चयात्मक उत्तर देना मेरे लिये कठिन है तो भी निम्न लिखित प्रमाणों से मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध ईश्वर की सत्ता से बिल्कुल इन्कार करने वाले न थे यद्यपि ईश्वरादि विषयक जटिल प्रश्नों पर बहुत विचार करना वे अनावश्यक और अनुपयोगी मानते थे। धर्म के क्रियात्मक भाग और चरित्र शुद्धि को ही वे प्रधान और अन्य सब बातों को वे गौण मानते थे इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध होने के कारण इस परिच्छेद में प्राय: धम्म पद से ही उद्धरण दिये गये हैं अत: इस विषय में भी हमें फिर एक बार धम्मपद पर दृष्टि डालनी चाहिये। (१) धम्म पद में ईश्वर की सत्ता का कहीं खण्डन नहीं किया गया यह बात निर्विवाद है अब अत्तवग्ग का चतुर्थ श्लोक देखिये जो इस प्रकार है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि
नाथो परोसिया। अत्तना हि
सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥

अर्थात आत्मा ही का नाथ आत्मा है। आत्मा को संयम में कर के दुर्लभ नाथ की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में दुर्लभ नाथ को आत्मा के द्वारा प्राप्त किया जाता है ऐसा लिखा है। क्या इस का यही अभिप्राय नहीं निकलता कि आत्मसंमय के द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और वह आत्मा (परमात्मा) ही इस जीवात्मा का नाथ है। मैं समझता हूं यही श्लोक का सीधा अर्थ है जिस में कोई

खैंचातानी नहीं मालूम होती ।

(२) धम्मपद नाग वग्ग का १२वां श्लोक इस प्रकार है ।

सुखा मत्तेयता लोके, अथो पेत्तेयता सुखा । सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥

इस श्लोक के पहले तीन चरणों में माता पिता का संमान करना और श्रमणों का सत्कार करना सुख दायक है यह बताते हुए अन्तिम चरण में कहा है कि 'अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा' अर्थात् ब्रह्मको जानना यह बडा भारी सुखका कारण है। मेरे विचार में इसका यही सीधा अर्थ है। इस से बुद्ध भगवान् ईश्वर की सत्ता से सर्वथा इन्कार न करते थे बल्कि उस में विश्वास करते थे यह बात स्पष्ट सूचित होती है। जरा वग्ग में 'अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा यौवने धनम्' इत्यादि श्लोकों में ब्रह्मचर्य शब्द आया है जिस का मुख्य शब्दार्थ वेद का अध्ययन अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिये यत्न यह है उस से भी कुछ न कुछ इस ऊपर कहे हुए भाव की पुष्टि होती है। अब अन्य ग्रन्थों के वाक्यों को लेंगे।

(३) दीर्घ निकाय संवाद १३ (तेविज्जसुत्त) में कथा आती है कि एक वार वसिष्ठ भरद्वाज नामक दो ब्राह्मण ब्रह्मके विषय में वाद विवाद करते हुए निर्णय के लिये बुद्ध भगवान् के पास आये। दोनों का अभिप्राय सुन लेने पर बुद्ध ने कहा कि क्या उन दोनों में से किसी ने ईश्वर को देखा है, उत्तर नहीं में मिला। तब गौतम बुद्ध ने पूछा कि क्या किसी वेदज्ञाता पंडित ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है, फिर 'नहीं' में उत्तर मिला, तब प्रश्न करते करते बुद्ध ने कहा कि ब्रह्म के अन्दर ईर्ष्या द्वेष क्रोध मत्सरादि नहीं, वेद जानने वाले पंडितों के अन्दर भी जब ये सब बातें हैं वे किस तरह ब्रह्म दर्शन कर सकते हैं। तब उन दोनों ब्राह्मणों ने कहा कि हमने सुना है तथागत (गौतम बुद्ध) ब्रह्म के साथ मिलने के मार्गको जानता है तो कृपया हमें वह मार्ग दिखाइये। इस पर गौतम बुद्ध ने जो उत्तर दिया वह विशेष ध्यान देने योग्य है उसका अंग्रेजी अनुवाद- Sacred Books of The East Series Vol. XI. इस प्रकार पाया जाता है —

That man born and brought up at Manasakta (name of the village) might hesitate or falter when asked the way there to. But not so does the Tathagat (Bubdha) hesitate when asked of the Kingdom of God, for, I know both GOD AND THE KINGDOM OF GOD and the path that goes theer to; I know it even as one who hath entered the Kingdom and been born there ."

ये वाक्य यहां Buddhist and Christien Gospels by Edmunds M .A . VolI. P . 89 से उधृत किये गये हैं। यह सारी कथा पालकेरस की सुप्रसिद्ध पुस्तक Gospel of Buddha के पृ. ११८–१२२ में पाई जाती है । ऊपर

दिया हुआ अनुवाद दोनों में लग भग समान है। इन वाक्यों का अर्थ यह है कि जो पुरुष मनसा कृत नामक ग्राम में पैदा हुआ और वहां पाला गया है वहभी चाहे उस ग्राम के रास्तों के बारे में पूरे निश्चय से कभी न कह सके (यद्यपि वैसी संभावना नहीं) पर तथागत (बुद्ध) से जब परमेश्वर के साम्राज्य के विषय में प्रश्न किया जाता है तो वह भूल नहीं कर सकता। क्यों कि मैं परमेश्वर उस के साम्राज्य और उस की प्राप्ति के मार्ग को वैसे ही जानता हूं जैसे कि एक उसी साम्राज्यके अंदर पैदा और प्रविष्ट हुआ हुआ पुरुष जानता है अर्थात् मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता।

इस कथा में दो ब्राम्हणों का ब्रह्म विषयक वाद विवाद में निर्णय के लिये बुद्ध के पास जाना, हम ने सुना है कि गौतम बुद्ध ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग को जानता है यह कहना, तथा बुद्ध का निश्चयात्मक कथन, ये सब इस बात के अत्यन्त प्रबल प्रमाण हैं कि गौतम बुद्ध नास्तिक न थे। ईर्ष्या द्वेष क्रोधादि के कारण बडे बडे वेद ज्ञानी भी ब्रह्म को देख नहीं सकते। अत: उन्ही दुर्गुणों को दूर करने और चरित्र शुद्ध करने की बडी भारी जरूरत है यह उन का मुख्य तात्पर्य था, न कि ब्रह्म की सत्ता से इन्कार करना। इस प्रकार के केवल दार्शनिक प्रश्नों को वे यत: अनुपयोगी समझकर उन्हें सुलझाने का विशेष यत्न न करते थे इस लिये उन के अनुयायियों में धीरे धीरे नास्तिकता के भावों का प्रचार हो गया ऐसा मालूम होता है।

(४) प्रसिद्ध विद्वान् राइस डेविड ने ब्रह्मजाल सुत्त नामक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थका अंग्रेजी में अनुवाद किया है उस में Dialogues Vol.I Pp ३०के निम्न वाक्य देखने योग्य हैं

He (the enlightened) says to himself "That illustrious Brahma, the great Brahma, the Supreme, one, the Mighty, the All Seeing, the Ruler, the Lord of all. the Maker, the Creator, the chief of all, the Father of all that are and that are to be, He by whom we were created, He is steadfast, immutable eternal, of a nature that knows no change."

येउद्धरण यहां The Buddhist and Christean Gospel by Edmonds Vol.1.P 142 से लिये गये हैं। इन वाक्यों के अन्दर ब्रह्म को स्पष्ट ही सबसे बडा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबका स्वामी, कर्ता, अधिष्ठाता और सबका पिता बताया गया है और साथ ही यह कहा है कि वह सर्वोत्पादक स्थिर, नित्य और अपरिणामी तथा एक रस है। जब तक यह न सिद्ध हो जाए कि यह भाषान्तर अशुद्ध है तब तक यही मानना सर्वथा योग्य मालूम होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध तथा उनके प्रारम्भिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता में अवश्य विश्वास करते थे। कई स्थानों पर जहां बुद्धने ईश्वरका खण्डन किया है वह ईश्वर की सत्ता मात्र का नहीं बल्कि उसे उपादान कारण मानने वा पुरुषके समान मानने की कल्पना का है ऐसा हमें प्रतीत होता है।

(५) दीर्घ निकाय संवाद १९ में बुद्धने उपदेश दिया है कि जो ध्यानाभ्यास करता है वही परमात्म दर्शन कर सकता है और अंगुत्तर निकाय ४। १९० के ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस प्रश्न के उत्तर में बुद्धने दया करुणा न्यायादि का उपदेश दिया है।पालीमें"ब्रह्म पात्तो होती"अर्थात् ब्रह्म प्राप्तो भवति, ये शब्द वहां आये हैं जिन से साफ जाहिर होता है कि गौतम बुद्ध को ईश्वर की सत्ता स्वीकृत थी, यद्यपि पुरुषाकार शरीरधारी ईश्वर वा personal God को वे न मानते थे।

(६) इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक उल्लेख योग्य घटना इस सम्बन्धमें यह है कि सन् १९१२ के दिसम्बर मासके शिकागो से निकलने वाले open court magazine नामक मासिक अखबार में एक डा. मजीना नन्द स्वामी एम. ए. नामक बौद्ध भिक्षुने तिब्बत के कई स्थानों में प्रचलित सन्ध्या को अर्थ सहित प्रकाशित कराया था। इस सन्ध्या में"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, हिरण्मयेन पात्रेण,"इत्यादि वेद मन्त्रोंके अतिरिक्त "शंनो देवीरभिष्टये, वाक् वाक्, प्राणःप्राण, उद्वयं तमसस्परि" से "तच्चक्षुर्देवहितं" तक उपस्थान मन्त्र, गायत्री, "नमःशंभवाय च"इत्यादि वैदिक सन्ध्या के मनसा परिक्रमाको छोडकर प्रायः सब मन्त्र पाये जाते हैं। उन के अर्थ भी जैसे डाक्टर महोदय ने वहां दिये थे सब ईश्वर परक हैं Open court magazineका अंक मैं ने स्वयं देखा है। जब तक पुष्ट प्रमाणोंसे यह न सिद्ध हो जाए कि यह सब डा० मजीदानंद स्वामी की अपनी मनगडन्त कल्पना है तब तक यह साक्षि भी बडी प्रबल है। १९२० ई० के सितंबर मास में जब मुझे शांति निकेतन बोलपुर जानेका अवसर प्राप्त हुआ था तो मैंने वहां के एक उपाध्याय बौद्ध भिक्षु से इस विषय की सत्यता के बारे में पूछा था तब उन्होंने बताया कि सब बौद्ध तो नहीं पर नागार्जुनादि ब्राह्मणधर्म से बौद्ध मत स्वीकार करने वाले कई पण्डितों के चेलों में अब तक उस प्रकारकी मन्त्र सन्ध्या का प्रचार जरूर चला आता है। इस लिये इस साक्षिको भी यों ही नहीं टाला जा सकता।

इन सब प्रमाणों से मुझे यह विश्वास होता है कि बुद्ध भगवान् और इनके प्रारंभिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता से इन्कार करने वाले न थे। इस में संदेह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र का आधार ही अधिक तर ईश्वर विश्वास इत्यादि पर है वैसे बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का नहीं। प्रायः बौद्ध ग्रंथोंमें कर्म स्वयं ही फल देने वाले हैं ऐसा माना गया है जो विशेष युक्ति युक्त कथन नहीं मालूम देता। कर्तव्य शास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाओं के होने पर भी बौद्ध धर्म में जो ईश्वर विश्वास भक्ति इत्यादि को विशेष स्थान नहीं दिया गया वह उस की बडी भारी निर्बलता को सूचित करता है क्यों कि यदि कर्म फल दाता कोई सर्व शक्तिमान ईश्वर नहीं है तो क्यों हम अच्छे कार्य करें इस का कोई संतोष जनक उत्तर नहीं

दिया जा सकता। इस प्रसंग को यहां समाप्ति करते हुए अब हम अहिंसा के तत्व विषय में वैदिक कर्तव्यशास्त्र की अन्यों के साथ थोडी तुलना करेंगे।

मैथ्यू. ५। ३९ के अनुसार जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश किया है कि "Resist not evil, but whosoever shall smite thee on thy right cheek, turn to him the other also."

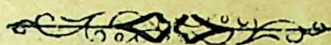
अर्थात् बुराई का प्रतिरोध न करो किंतु यदि कोई तुम्हारी दाहिनी गाल पर चपेट लगाये तो बाईं गाल भी इस के सामने कर दो। बौद्ध ग्रन्थों में भी कई स्थान पर इसी तरहके उपदेश पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ मज्झिम निकाय संवाद २१ में बुद्धने कहा है कि यदि तुम्हारे गालों पर कोई चपेट लगाए तो भी तुम क्रोध में बुरे शब्द न कहो किन्तु उस के प्रति भी करुणा दृष्टि जारी रक्खो।

वेदों के अन्दर यह अहिंसा का तत्व कितने स्पष्ट शब्दोंमें पाया जाता है यह **प्रथम परिच्छेद** में सप्रमाण दिखाया जा चुका है। द्वेष भाव को दूर करके प्रेम भाव की वृद्धि करने का सदा प्रयत्न करना चाहिये यह वेदके उन मंत्रों में बार बार उपदेश किया गया है। प्रश्न यह है कि संसार में सब प्राणी धर्मात्मा नहीं, सब अहिंसाव्रत के पालक नहीं, ऐसी अवस्थामें सब जगह सत्याग्रह से ही क्या काम चल सकता है। इस का उत्तर हां' में देना जरा कठिन है। अपने सामने एक पतिव्रतादेवी का अपमान होते हुए अथवा किसी दुष्ट को पतिव्रता सती के धर्म को बलात्कार से भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हुए देख कर भी क्या हम चुप चाप बैठे रहें? इस प्रकार करना पाप न होगा इस पर हाथ चलाने की अपेक्षा देवी के पातिव्रतधर्म को बचाने के लिये अपने शरीर तक को देने के लिये उद्यत रहना अधिक अच्छा है। इस बात को मान भी लिया जाए तो विदेशी शत्रु हमारे देश पर आक्रमण करें क्या उस समय भी हम केवल भगवान् के भरोंसे बैठे रहें वेद इस बात की आज्ञा नहीं देता। उस के अनुसार अच्छे प्रयोजन की सिद्धि के लिये आवश्यकता पडने पर शस्त्र पकडना क्षत्रियोंका धर्म ही है। जीसस तथा बुद्ध ने जो निष्प्रतिरोध वा non-resistance का उपदेश किया है वह ब्राह्मणों और संन्यासियों के लिये तो ठीक है, पर यदि सब उसी का पालन करने लगें तो उस का परिणाम समाज के लिये घातक होगा। उस अवस्था में दुष्टों का दबदबा जम जाएगा, अतः वेदमें जहां ब्राह्मणों के लिये यह कहा है कि वे 'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्' अर्थात मनुष्यों द्वारा ज्ञान वा अज्ञान से की हुई (अभिशस्ति) हिंसा को अथवा अपमानादि को (तितिक्षन्ते) वे सहन करते हैं, वहां क्षत्रियों के लिये शत्रु नाशके लिये शक्ति भर कार्य करने का स्पष्ट उपदेश है। क्षत्रियों के कर्तव्य का वर्णन करते हुए जो 'वृजनेन वृजिनान् सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभि

भूत्योजाः ॥' अ. २०।११।६ इत्यादि मंत्र उधृत कर चुके हैं उन में इंद्र अर्थात् शूरवीर सेनापति अपने बल से पापियों को चूर चूर करता और अपनी चतुरता से दस्युओं पर विजय प्राप्त करता है, यह भाव अनेक वार सूचित किया गया है । 'उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि' इत्यादि में जो राक्षसों के नाश का इंद्र अर्थात शूरवीर सेनापति को उपदेश किया गया है, वह भी इसी लिये है कि वेदकी दृष्टि में शस्त्र पकडना कोई पाप नहीं । नीच पुरुषों का नाश करना यह क्षत्रियों का परम धर्म है । इतना अवश्य है कि न्याय कार्य हो और जब यह देख लिया जा चुका हो कि शांतिस्थापना के लिये अन्य सब उपायों का अवलम्बन करने पर भी असफलता हुई है और युद्ध अनिवार्य है। महाभारत युद्धके समय श्रीकृष्ण ने मामले को शान्त करने के लिये अपनी तरफ से पूरी कोशिश की और जब दुर्योधन ने 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' अर्थात् मैं युद्ध के बिना एक सूई की नोक जितनी जमीन भी न दूंगा । ऐसे कह डाला तभी श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को युद्ध द्वारा अपने अपने जन्मसिद्ध अधिकार को सुरक्षित करने का उपदेश किया। यही वैदिक भाव है। इस दृष्टि से जब तक वेदका अध्ययन न किया जाए तब तक उस का भाव अच्छी प्रकार समझ में नहीं आसकता । एक बात और इस विषय में उल्लेख के योग्य है । क्षत्रियों को अवश्यकता पडने पर अवश्य युद्ध करना चाहिये, यह वेद में बार बार कहा है । पर युद्धादि कर्तव्य जान कर करते हुए भी उन्हें मन के अन्दर द्वेष का भाव यथा संभव नहीं आने देना चाहिये, यह भाव भी वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है। उदाहरणार्थ अ. १९।१४।१ में विजय के अनन्तर विजयी राजा हारे हुए पुरुष को सम्बोधन करते हुए कहता है " असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु" अर्थात मेरे लिये सब दिशाएं शत्रु रहित हों। तेरे साथ भी हम द्वेष नहीं करते। सब ओर से हमें निर्भयता प्राप्त होवे। जिस प्रकार एक न्यायाधिश वा जज किसी अपराधी को कैद वगैरह का दण्ड देते हुए भी उस व्यक्ति के लिये किसी तरहका द्वेष नहीं रखता वैसे ही क्षत्रियों को दुष्ट दमन रूप धर्म पालन करते हुए और शस्त्रादि ग्रहण करते हुए भी द्वेष का भाव न रखना चाहिये। यह वैदिक भाव यहां स्पष्ट शब्दों में सूचित किया गया है जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है । वास्तव में देखा जाए तो यही सब से अधिक क्रियात्मक और श्रेष्ठ शिक्षा है इस में कोई संदेह नहीं हो सकता । इस तरह से वैदिक कर्तव्य शास्त्र की ईसाई और बौद्ध कर्तव्य शास्त्रों के साथ संक्षेप से तुलना करते हुए और यह दिखाते हुऐ कि इन की सब उच्च शिक्षाओं का मूल वेद में पाया जाता है, इस परिच्छेद को समाप्त किया जाता है ॥

———:———

आनंद समाचार।



अथर्ववेद पूरा छप गया, शीघ्र मंगाईये।

अथर्ववेद का अर्थ अब तक यहां की किसी भाषा में नहीं था और संस्कृत में भी सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपासे इस वेदका हिन्दी संस्कृत में प्रामाणिक भाष्य पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ बीसों कांड, विषयसूची, मंत्र सूची, पदसूची, आदि सहित २३ भागों में पूरा छप गया है। मूल्य ४७॥) [डाक व्यय लगभग ४)] रेलवे से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें, बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेर है। अलग भाग यथासम्भव मिल सकेंगे। जिन पुराने ग्राहकों के पास पूरा भाष्य नहीं है,वे शेष भाष्य और नवीन ग्राहक पूरा भाष्य शीघ्र मंगालें। पुस्तक थोडे रह गये है, ऐसे बडे ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है।

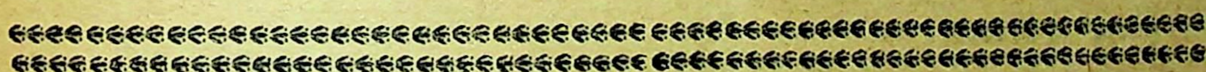
हवन मंत्रा:-धर्मशिक्षा का उपकारी पुस्तक चारों वेदों के संगृहित मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्य गान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित संशोधित गुरुकुल आदिकों में प्रचालित। मूल्य ।-

रुद्राध्यायः-प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ [ब्रह्म निरूपक अर्थ] संकृत हिन्दी अंगरेजि में। मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः- मूल मात्र। मूल्य)॥ वा २) सैंकडा।

वेद विद्यायें-कांगडी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ आतिथि, सभा ब्रह्मचर्यादि का वर्णन। मू० -)॥

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकर गंज, अलाहाबाद



दिया सलाई का धंदा।

हम दिया सलाई का धंदा सिखाते हैं। अनेक देसी लकडियों से दियासलाईयां बनाना, बक्स तैयार करना, ऊपर का मसाला लगाना आदि कार्य एक मास में पूर्णता से सिखाये जाते हैं। सिखलाने की फीस केवल ५०)पचास रु०है। हमारी रीतिसे दियासलाई का कारखाना ५००) से७००) रु० में भी शुरू किया जा सकता है और लाभ भी होता है।

मोहिनीराज मुले एम्० ए०
स्टेट लैबोरेटरी, औंध
(जि० सातारा)

स्वाध्यायके ग्रंथ

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन। १)

(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वधर्म। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)

(४) देवताविचार। मू. ≡)

(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥)

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)

(५) योग साधन की तैयारी। मू. १)

(६) योग के आसन। मू. २)

(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)

(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)

(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम-निबंध-माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।)

(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)

(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)

(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)

(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)

(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)

(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)

(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)

(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)

(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू. ॥)

(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)

(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)

(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)

(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. -)

(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)

(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)

(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥।=)

(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

